वेद विशेष

‘मैं इष्ट वरदान देने वाली वेदमाता की स्तुति करता हूं’

MAY 28, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

‘मैं इष्ट वरदान देने वाली वेदमाता की स्तुति करता हूं’

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

अथर्ववेद ईश्वर प्रदत्त ज्ञान है। सृष्टि के आरम्भ में अंगिरा ऋषि को ईश्वर ने अथर्ववेद का ज्ञान दिया था। 20 काण्डो वाले अथर्ववेद में कुल 731 सूक्त और 5977 मन्त्र हैं। उन्नीसवीं शताब्दी व उसके बाद अथर्ववेद के हिन्दी भाष्यकारों में पं. क्षेमकरणदास त्रिवेदी, पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार, पं. जयदेव शर्मा विद्यालंकार, पद्मविभूषण डा. दामोदर सातवलेकर आदि भाष्यकार प्रमुख हैं। स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती और स्वामी ब्रह्ममुनि जी ने भी अर्थववेद का आंशिक भाष्य किया है। अथर्ववेद का अंग्रेजी में अनुवाद डा. सत्यप्रकाश सरस्वती और पंडित उदयवीर विराज ने संयुक्त रूप से किया है। अथर्ववेद के पाश्चात्य अंग्रेजी अनुवादकों में व्हिटनी, ब्लूमफील्ड और ग्रिफीथ महानुभाव सम्मिलित हैं। आज हम इस लेख में अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड के इकहत्तरवें सूक्त का प्रथम वा एकमात्र मन्त्र प्रस्तुत कर उसका हिन्दी मे पदार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं। वेदों के अनेक शब्द हिन्दी में ज्यों के त्यों व कुछ पाठ व प्रकार भेद से प्रचलित हैं जो अत्यन्त सरल एवं सुबोध हैं। यदि संस्कृत का व्याकरण जान लिया जाये तो वेद के मन्त्रों का अर्थ जानना व समझना सरल हो जाता है। हिन्दी भाष्यों के माध्यम से भी प्रत्येक हिन्दी पठित व्यक्ति वेदों का अध्ययन कर सकता है। अथर्ववेद का 19/71/1 मन्त्र निम्न हैः

ओ३म् स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।

आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।

मह्यं दत्तवा व्रजत ब्रह्मलोकम्।।

इस मन्त्र के प्रत्येक पद वा शब्द का पं. विश्वनाथ विद्यालंकार कृत अर्थ हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। (मया) मैंने (वरदा) इष्टफल देनेवाली (वेदमाता) वेदरूपी माता का (स्तुता) स्तवन अर्थात् अध्ययन कर लिया है। (प्र चोदयन्ताम्) हे गुरुजनो ! इस का मुझे और प्रवचन कीजिये। (द्विजानाम् पावमनी) द्विजन्मों वा द्विजों को यह वेदमाता पवित्र करती है। (आयुः) स्वस्थ और दीर्घ आयु, (प्राणम्) प्राणविद्या, (प्रजाम्) उत्तम सन्तानों, (पशुम्) पशुपालन, (कीर्तिम्) पुण्य और यश, (द्रविणम्) धनोपार्जनविद्या,

(ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्म के तेजस्वरूप का परिज्ञान व इनका सदुपदेश (मह्यं दत्तवा) मुझे देकर, हे गुरुजनों ! (ब्रह्मलोकम्) आलोकमय ब्रह्म तक (व्रजत=वाज्रयत) मुझे पहुंचाइये।

पण्डित विश्वनाथ जी ने मन्त्रस्थ वेदमाता पद पर विचार करते हुए लिखा है कि ''वेदमाता'' शब्द द्वारा वेदरूपी माता अर्थात् ''वेदवाणी'' ही अभिप्रत है। वेदवाणी मातृसदृश उपकारिणी है। इस वेदमाता का ही स्तवन अर्थात् अध्ययन अथर्ववेद के 1 से 19 काण्डों तक अभिप्रत प्रतीत होता है जिसकी ओर कि निर्देश ''स्तुता मया वरदा वेदमाता'' द्वारा किया गया है। उनके अनुसार मन्त्रस्थ शब्द ब्रह्मलोकम् का अर्थ ब्रह्म का दर्शन है। दर्शन शब्द का अर्थ साक्षात् ज्ञान लेना समीचीन है। आंखों से निराकार वस्तुओं को नहीं देखा जा सकता। इसी प्रकार सूर्यसम व उससे अधिक प्रकाशवान् पदार्थों को भी आंखों से समुचित रूप से नहीं देखा जा सकता व देखें तो आंखों को हानि की सम्भावना होती है। अतः ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान ही ब्रह्मलोकम् शब्द से अभिप्रेत प्रतीत होता है। पं. विश्वनाथ जी ने यह भी लिखा है कि अभी तक मन्त्र के स्तोता वा उपासक ने आयुः, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविणं का प्रवचन गुरुमुख से सुना है। बह्मदर्शन (=ब्रह्मलोक) का वह मुख्यरूप से प्रवचन अभी तक नहीं सुन पाया, जिसका कि वर्णन अथर्ववेद के बीसवें काण्ड में है।

मन्त्र को साधारण व्यक्ति की भाषा मे इस प्रकार भी कह सकते कि मैंने वरदान देने वाली वेदमाता की स्तुति अर्थात् उसका यथोचित गुण कीर्तन व अध्ययन किया है। यह वेदवाणी अध्ययन करने वालों को प्रेरणा देने वाली है और उन अध्ययनकर्ता द्विजों को पवित्र करती है। इस वेदमाता वेदवाणी के अध्ययन से अध्येता को लम्बी आयु, स्वस्थ प्राण वा जीवन, प्रकृष्ट योग्य सन्तानें, दुग्ध देने वाली गाय, भेड़, बकरी व अश्व आदि पशु, यश व कीर्ति, भौतिक व आध्यात्मिक साधना रूपी धन सहित ब्रह्मवर्चस प्राप्त होता है। ब्रह्मवर्चस् हमें सब प्रकार के ज्ञान जिसमें आध्यात्मिक ज्ञान प्रमुख है, प्रतीत होता है जो कि वेदमाता के अध्ययनकर्ता को ही प्राप्त होता है। अन्त में वेदमाता के स्तोता की मृत्यु के समय वेदमाता अर्थात् परमात्मा अपने उस प्रिय अध्ययनकर्ता पुत्र को अपने पास ब्रह्लोक वा मोक्ष में ले जाती है। हमने यह अर्थ साधारण लोगों के लिए किया है। इतने अधिक लाभ वेदों को पढ़ने, अध्ययन, स्वाध्याय व स्तुति आदि प्रशंसा करने से मनुष्यों को प्राप्त होते हैं। अतः संसार के प्रत्येक मनुष्य को वेदमाता का स्वाध्याय नित्य प्रति अधिक से अधिक समय करना चाहिये जिससे उसे मन्त्रस्थ सभी प्रकार के लाभों व धनों की प्राप्ति हो।

इन पंक्तियों को लिखने का हमारा प्रयोजन वेदमाता विषयक वेदमन्त्र के अर्थ को पाठकों को परिचित कराना है जिससे पाठक वेदमन्त्र निहित विचारों से लाभान्वित हो सकें। अपनी जन्मदात्री माता से भी इसी प्रकार के अनेकानेक लाभ सन्तान को प्राप्त होते हैं। अतः हमें अपनी माता की भी सेवा व प्रशंसा तथा उसको अपना सर्वस्व अर्पण कर उसकी स्तुति करनी चाहिये। आशा है कि पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

ध्फोनः**09412985121**

सृष्टि का आरम्भ और कृषि विज्ञान

MAY 27, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

'सृष्टि का आरम्भ और कृषि विज्ञान'

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

ज्ञान और विज्ञान परस्पर पूरक शब्द हैं। वस्तुओं का साधारण ज्ञान सामान्य ज्ञान के अन्तर्गत आता है और उनका विशेष ज्ञान विज्ञान कहलता है। कृषि का तात्पर्य मनुष्यों के आहार के पदार्थो यथा फल, वनस्पतियां व अन्न आदि का अच्छा व गुणवत्तायुक्त प्रचुर मात्रा में उत्पादन करने को कह सकते हैं। सृष्टि के आरम्भ मे जब प्रथम मनुष्यों अर्थात् स्त्री व पुरुषों का जन्म हुआ होगा तो उन्हें श्वांस के लिए वायु, पिपासा की शान्ति के लिए शुद्ध जल व क्षुधा निवृत्ति के लिए भोजन की आवश्यकता पड़ी होगी। हम वेदादि ग्रन्थों के अध्ययन से यह समझ पायें हैं कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य युवावस्था में उत्पन्न हुए थे। इसका कारण यह है कि यदि वह बच्चे होते तो उनका पालन-पोषण करने के लिए माता-पिता की आवश्यकता होती जो कि आरम्भ में नहीं थी और यदि वह वृद्ध उत्पन्न होते तो उनसे सन्तानों आदि के न होने से सृष्टि का क्रम आगे नहीं चल सकता था। अतः यह मानना होगा और यही सत्य है कि सृष्टि क आरम्भ में मनुष्य युवावस्था में पृथिवी माता के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। दूसरा प्रश्न यह है कि पृथिवी की आरम्भ अवस्था कैसी थी और सृष्टि कहां उत्पन्न हुई थी। इसका उत्तर यह मिलता है कि मानवोत्पत्ति के समय पृथिवी पूर्णतयः निर्मित होकर सामान्य स्थिति में आ चुकी थी। इस पर वायु सर्वत्र बह रही थी, शुद्ध जल भी यत्र-तत्र वा स्थान-स्थान पर नदियों, नहरो व जल स्रोतों में उपलब्ध था। मनुष्यों के निकट ही फलों के वृक्ष थे जिनमें नाना प्रकार के फल लगे हुए थे। आस पास गौवें भी थी जो दुग्ध देने वाली थी। मनुष्यों के उत्पत्ति स्थान तिब्बत वा त्रिविष्टिप के पास की समतल भूमि पर खाद्य अन्न व वनस्पतियां भी लहलहा रहीं थी। सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा को चार वेदों का ज्ञान ईश्वर से मिला। इस वेद ज्ञान को ईश्वर ने चार ऋषियों के अन्तःकरणों में स्थापित किया। वेदों की भाषा व वेदों के अर्थ का ज्ञान भी ऋषियों को प्राप्त हुए ज्ञान में सम्मिलित था। हम समझते हैं कि ऋषियों से इतर स्त्री व पुरुषों को भी आवश्यकतानुसार परस्पर व्यवहारार्थ भाषा ज्ञान सहित भोजन आदि करने कराने का ज्ञान भी सृष्टिकत्र्ता द्वारा अवश्य दिया गया होगा। जिस ईश्वर ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड वा सृष्टि सहित मनुष्य आदि सभी प्राणियों को बनाया वह आदिकालीन मनुष्यों को भोजन व परस्पर व्यवहार का ज्ञान उनके अन्तःकरण वा आत्मा में न दे, ऐसा मानना यथार्थ को झुठलाने के समान है। यह ज्ञान भी अवश्य ही दिया गया था। इस तथ्य को मानने पर सृष्टि के आदि काल संबंधी सारी

गुत्थियां सुलझ जाती है। विधि वा कानून का सिद्धान्त है कि वह Benefit of doubt का लाभ पीड़ित व्यक्ति को देता है। सृष्टि के आरम्भ में जिन प्रश्नों के उत्तर नहीं मिलते उसका लाभ ईश्वर विषयक सिद्धान्त को मानकर ही करना होगा। संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद और वैदिक साहित्य इस विषय में प्रमाण हैं और इसका अन्य कोई विकल्प हमारे व किसी के पास नहीं है। संशय पालने व नाना कल्पनायें करने से कोई लाभ नहीं है। इस प्रकार ईश्वर से वेदों का ज्ञान, मनुष्यों को व्यवहार व भोजन आदि का ज्ञान तथा सृष्टि में उत्पन्न व उपलब्ध भोज्य व अन्य पदार्थों का ज्ञान आरम्भ में ईश्वर वा वेदों से ही मिला था जिसमें कृषि का ज्ञान भी सम्मिलित है।

वेद मन्त्रों के अर्थ जानने की अपनी प्रक्रिया है। इसके लिए अध्येता को संस्कृत की आर्ष व्याकरण पद्धति से मन्त्र का पदच्छेद कर उसके सम्भावित अर्थों पर विचार करना पड़ता है। वर्तमान में निरुक्त एवं निघण्टु ग्रन्थ हैं जिससे पदों के अर्थ व उनके निर्वचन देख कर सार्थक अर्थ ग्रहण किये जाते हैं। अर्थ जानने के लिए बुद्धि की ऊहा शक्ति से चिन्तन, मनन कर व ध्यान द्वारा अर्थ में प्रवेश करना होता है। यदि पूर्व ऋषियों व विद्वानों के लिए हुए अर्थ उपलब्ध हो तो उनका भी सहयोग लेकर यथार्थ अर्थ ग्रहण किया जाता है। ऐसा ही कुछ-कुछ वेदार्थ का प्रकार सृष्टि के आरम्भ व उसके बाद रहा है। वेद के अध्येता को यह भी निश्चय करना चाहिये कि वेद ईश्वरीय ज्ञान होने सहित सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। इसमें सृष्टि क्रम वा ज्ञान-विज्ञान विरुद्ध कोई बात नहीं है। यदि कहीं भ्रम हो तो उसे अपनी ऊहा व चिन्तन-मनन आदि से दूर करना चाहिये। विचार व चिन्तन करने पर यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने कुछ सौ या कुछ हजार की संख्या में स्त्री व पुरुषों को उत्पन्न किया होगा। उस ईश्वर ने चार ऋषियों को वेद ज्ञान दिया तथा इन चार ने अन्य ऋषि ब्रह्मा को इन चारों वेदों का ज्ञान दिया। परस्पर संवाद व संगति से पांचों ऋषि वेदों के पूर्ण ज्ञानी हो गये थे, यह अनुमान होता है। इन पांच ऋषियों ने शेष मनुष्यों को एकत्र कर भाषा व वेदों का आवश्यकतानुसार ज्ञान दिया होगा। इस कार्य के अतिरिक्त इन पांच ऋषियों के पास अन्य कोई कार्य करने के लिए था ही नहीं। यह भी ज्ञात होता है कि यह पांचों ऋषि योगी थे। यह प्रातः व सायं ईश्वर का घंटों ध्यान व चिन्तन करते थे। इस अवस्था में इन्हें ईश्वर से अपने सभी प्रश्नों व शंकाओं के उत्तर मिल जाते थे। इससे कृषि कार्य सम्पादित करने में इन्हें किसी विशेष समस्या से झूझना नहीं पड़ा होगा। आज भी हम यही तो करते हैं कि हमें जिस बात का ज्ञान नहीं होता उसके लिए हम अन्य अनुभवी व वृद्धों की शरण में जाकर पूछताछ कर व निजी ध्यान-चिन्तन-मनन से समस्या का हल करते हैं। इसी प्रकार से कृषि विज्ञान विकसित हुआ और महाभारत काल तक उन्नति को प्राप्त होता गया।

आईये ! कुछ वेद प्रमाणों पर भी विचार करते हैं। यजुर्वेद 23/46 में कहा गया है 'भूमिरावपनं महत्' अर्थात् (बीज) बोने का–कृषि का–महान् स्थान भूमि ही है। इससे हमारे प्रथम पीढ़ी के पूवर्जों को यह ज्ञान मिल गया कि अन्न आदि खाद्य पदार्थ प्राप्त करने के लिए उन्हें पृथिवी में बीज वपन करने होंगे। यजुर्वेद के मन्त्र 4/10 में कहा गया है 'सुसस्याः कृषीस्कृधि' अर्थात् उत्तम अन्नों की कृषि करें एवं करावें। मंत्र में सुसस्या कहकर खराब अन्न उत्पन्न करने का निषेध किया गया है। खराब अन्न की उत्पत्ति का समाज के जीवन पर प्रतिकूल ही प्रभाव पड़ता है। 'अन्नं

वै प्राणिनां प्राणाः' कहकर बताया गया है कि अन्न प्राणियों का जीवन है अर्थात् प्राण है। प्राण ही जीवन एवं जीवन ही प्राण होता है। प्राण नहीं तो जीवन नहीं और जीवन नहीं तो प्राण नहीं। 'अन्नं प्राणस्य षड्विंशः' अन्न हमारे प्राण का छब्बीसवां भाग बनता है, अतः यदि हम खराब-दूषित या मलिन अन्न का सेवन करेंगे तो उसका प्रभाव हमारे जीवन पर अनिवार्य रूप से खराब ही पड़ेगा। जिस प्रकार विषयुक्त अन्न के सेवन से शरीर विषाक्त हो जाता है और जीवन की हानि होती है उसी प्रकार दूषित अन्न के सेवन करने से समाज के व्यक्तियों के शरीर एवं मन के संस्कार भी दूषित हो जाते हैं। बुद्धि भी दूषित हो जाती है। अतः कृषि के कार्य को उत्तम रीति से एवं सुसंस्कारपूर्वक करना चाहिए। यहां यह भी ध्यातव्य है कि वर्तमान समय में अधिकाधिक कृषि उत्पादन पर ही ध्यान दिया जाता है न कि अन्न की गुणवत्ता, पवित्रता, शुद्धता व विषमुक्तता पर जिसके बुरे परिणाम रोगों व अल्पायु के रूप में हमारे सामने हैं।

कृषि को अच्छी प्रकार करने के वेदों ने अनेक उपाय बतायें हैं वा मनुष्यों का मार्गदर्शन किया है। वेद के अनुसार कृषि कार्य में यज्ञ का उपयोग करना चाहिये। यजुर्वेद 18/9 में कहा है 'कृषिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्' अर्थात् कृषि के लिए भूमि को उपयोगी बनाते समय यज्ञ का प्रयोग करो। यज्ञ से भूमि कृषि कार्य में समर्थ व शक्तिशाली बनेगी। यज्ञ करने से भूमि की उत्पादन सामर्थ्य में वृद्धि होगी। कृषि कार्य में असमर्थ भूमि में यज्ञ करने से वह कृषि के लिए समर्थ होगी और कृषि भूमि में यज्ञ करने से उसकी उर्वरा शक्ति में वृद्धि होगी। यज्ञ से भूमि माता कृषि के लिए समर्थ बने, यह प्रार्थना यजुर्वेद 18/22 मन्त्र 'पृथिवी च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।' में की गई है। यज्ञ किए बिना पृथिवी को जीवन नहीं मिलेगा। यज्ञ करने से भूमि में विद्यमान तत्व एवं द्रव्य शक्ति सम्पन्न होते हैं। कृषि का वृष्टि वा वर्षा से गहरा सम्बन्ध है। यजुर्वेद 18/9 मन्त्र में कहा गया है 'वृष्टिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्' कृषि के लिए वर्षा जल की आवश्यकता है वह वर्षा जल भी यज्ञ के द्वारा समर्थ होना चाहिये। कृषि के लिए जो जल वृष्टि से प्राप्त हो वह यज्ञ से सुसंस्कृत हो और उसी वृष्टि जल से पूर्ण नदी, तालाब, कूवे, बावड़ी, झीलें भी हों जिससे वृक्ष, वनस्पतियों को सदा यज्ञ का जल प्राप्त होता रहे। प्रकृतिस्थ वृक्ष व वनस्पतियों को जो वायु प्राप्त हो वह भी यज्ञ द्वारा सुसंस्कृत हो। इस विषयक यजुर्वेद मन्त्र 18/17 'मरुतश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।' अर्थात् वायु भी यज्ञ के द्वारा समर्थ हो। कृषि कार्यों से संबंधित यजुर्वेद का एक मन्त्र 9/22 'नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या ..... कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।।' भी महत्वपूर्ण है। इसमें कहा गया है कि हे भूमि माता ! तुझे प्रणाम हो। हे भूमि माता ! तुझे शतशः वन्दन है। तुझे कृषि के लिए हम स्वीकार करते हैं। तुझे अपनी रक्षा के लिए ग्रहण करते हैं। तुझे ऐश्वर्य के लिए हम चाहते हैं और तुझे अपने पोषण के लिए माता क तुल्य वन्दनीय समझते हैं।

इस लेख में हमने जो विवरण प्रस्तुत किया है उसके आधार पर यह निश्चित है कि कृषि का आरम्भ सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा के मिले वेदों के ज्ञान वा उनकी शिक्षा से हुआ। वेदों के आधार पर सृष्टि के आरम्भ में हमारे पूर्वजों ने कृषि करके कृषि विषयक अपने ज्ञान व अनुभव को बढ़ाते हुए प्रगति करते रहे। महाभारतकाल के बाद आलस्य व प्रमाद के कारण वैदिक ज्ञान का सूर्य लुप्त हो गया जिससे सभी क्षेत्रों में अवनति हुई। कृषि क्षेत्र में भी ज्ञान की न्यूनता आई। आज सौभाग्य से सभी क्षेत्रों में ज्ञान की निरन्तर वृद्धि हो रही है अर्थात् विलुप्त ज्ञान का प्रकाश हो रहा है। आज भी कृषि के क्षेत्र में शुद्ध, पवित्र तथा दूषित अन्न के परस्पर भेद का हमारे कृषकों व देशवासियों को ज्ञान नहीं है। यज्ञ व कृषि का परस्पर गहरा

सम्बन्ध है, इससे भी विश्व अनभिज्ञ है। यज्ञ व कृषि पर अनुसंधान कर वेद वर्णित विज्ञान को समझना आज के समय की मुख्य आवश्यकता है। यदि हमें वेदानुसार यज्ञ का अनुष्ठान करते हुए कृषि करेंगे तो हमें शुद्ध अन्न प्राप्त होगा जिससे रोग न्यूनातिन्यून होंगे। कृषि कार्यों में वेदों से मार्गदर्शन लिया जाना चाहिये। हमने इस लेख में आर्यजगत के विद्वान स्व. श्री वीरसेन वेदश्रमी जी के ग्रन्थ वैदिक सम्पदा की सामग्री का उपयोग किया है। उनका धन्यवाद कर इस लेख को विराम देते हैं।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून**-248001**

फोनः**09412985121**

‘सृष्टि उत्पत्ति विषयक वैदिक सिद्धान्त और महर्षि दयानन्द’

MAY 26, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

‘सृष्टि उत्पत्ति विषयक वैदिक सिद्धान्त और महर्षि दयानन्द’

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में महाभारत काल के बाद उत्पन्न मत-मतान्तरों के साहित्य में अनेक प्रकार की अवैज्ञानिक व अविश्वनीय विचार पायें जाते हैं। महर्षि दयानन्द इन सबमें अपवाद हैं। उनके जीवन में शिवरात्रि को घटी चूहे की घटना बताती है कि उन्होनें किशोरावस्था में ही जीवन की सभी बातों को तर्क व युक्ति के आधार पर सिद्ध होने पर ही स्वीकार करने का मन बना लिया था। यही कारण था कि वइ ईश्वर, जीव, प्रकृति व सृष्टि विषयक सत्य ज्ञान की खोज में अनेक वर्षों तक अध्ययन व अनुसंधान आदि करते रहे। उन्होंने सृष्टि की उत्पत्ति विषयक अपने विचार मुख्यतः सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में व्यक्त किये हैं जिनका आधार वेद, दर्शन व उपनिषद आदि ग्रन्थ हैं। हमनें भी महर्षि दयानन्द के इस विषय के विचारों का अनेक बार पाठ व मनन किया है और हमारा विश्वास है कि आने वाले समय में विज्ञान इन विचारों को पूर्णतः स्वीकार कर लेगा जिसका कारण वेदों का ईश्वर प्रदत्त होने से निर्भ्रांत होना व वैदिक साहित्य अल्पज्ञ वैज्ञानिकों से भी कहीं अधिक उच्च ज्ञान व विज्ञान के उच्च कोटि के चिन्तक मनीषी ऋषियों की देन है।

सत्यार्थप्रकाश में ऋग्वेद 12/129/7 मन्त्र के आधार पर महर्षि दयानन्द कहते हैं कि यह विविध सृष्टि इस जगत के स्वामी ईश्वर से प्रकाशित हुई है। वह इस जगत् का धारण व प्रलयकर्त्ता है। इस सृष्टि को बनाने वाला ईश्वर इस जगत में व्यापक है। उसी से यह सब जगत उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय को प्राप्त होता है। मनुष्य अर्थात् आत्मा को उस परमात्मा को जानना चाहिये और उसके स्थान पर किसी अन्य को सृष्टिकर्त्ता नहीं मानना चाहिये। ऋग्वेद के मन्त्र 10/29/3 में बताया गया है कि जगत की रचना से पूर्व सब जगत् अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य, आकाशरूप तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सम्मुख एकदेशी आच्छादित था। पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से इस कारणरूप जगत् को कार्यरूप कर दिया अर्थात् बना दिया। ऋग्वेद के मन्त्र 10/129/1 में कहा गया है कि सब सूर्यादि तेजस्वी पदार्थो का आधार और जो यह जगत् हुआ है और होगा उस का एक अद्वितीय पति परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था और जिस ने पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त जगत् को उत्पन्न किया है, हे मनुष्य ! उस परमात्म देव की प्रेम से भक्ति किया करें। यजुर्वेद के मन्त्र 31/2 में ईश्वर ने बताया है कि जो ईश्वर सब सृष्टिगत पदार्थों में पूर्ण पुरुष है, जो नाशरहित कारण जड़ प्रकृति और जीव का स्वामी है तथा जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है, हे मनुष्य ! वही पुरुष इस सब भूत, भविष्यत् और वर्तमानस्थ जगत् का बनाने वाला है, ऐसा सब मनुष्यों को जानना चाहिये। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि जिस परमात्मा द्वारा रचना करने से ये सब पृथिव्यादि भूत व पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिस से जीते और जिससे व जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं, वह ब्रह्म है। उस को जानने की इच्छा सभी मनुष्यों को करनी चाहिये। शारीरिक सूत्रों में कहा गया है कि इस जगत् का जन्म, स्थिति और प्रलय जिस से होता है, वह ब्रह्म है और वह जानने के योग्य है।

प्राचीन वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार यह समस्त जगत् इसको बनाने वाले निमित्त कारण परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है। परमेश्वर ने इस जगत् को उपादान कारण अर्थात् सत्व, रज व तम गुणों वाली सूक्ष्म व मूल प्रकृति से बनाया है। इस मूल प्रकृति को ईश्वर ने उत्पन्न नहीं किया। यह भी जानने योग्य है कि संसार में ईश्वर, जीव व प्रकृति, यह तीन पदार्थ अनादि व नित्य हैं। इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस संसार में पापपुण्यरूप फलों को अच्छे प्रकार भोक्ता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को न भोक्ता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर व बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप व तीनों अनादि हैं। उपनिषद् में बताया गया है कि प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिन का जन्म कभी नही होता और न कभी यह तीन पदार्थ जन्म लेते हैं अर्थात् ये तीन पदार्थ सब जगत् के कारण हैं। इन का कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ शुभ व अशुभ कर्म के बन्धनों में फंसता है और उस में परमात्मा नहीं फंसता क्योंकि वह प्रकृति व उसके पदार्थों का भोग नहीं करता।

प्रकृति क्या है, इसका वर्णन सांख्य दर्शन में है। इसके अनुसार प्रकृति (सत्व) शुद्ध (रजः) मध्य (तमः) जाड्य अर्थात् जडता गुणों से युक्त है। यह तीन गुण मिलकर इनका जो संघात है उस का नाम प्रकृति है अर्थात् सत्व, रज व तम गुणों का संघात प्रकृति के सूक्ष्तम कण की एक इकाई के समान है। सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर इस प्रकृति के सूक्ष्म सत्व, रज व तम कणों में अपनी मनस शक्ति से विकार व विक्षोभ उत्पन्न कर इनसे महत्तत्व बुद्धि, उससे अर्थात् उस महतत्व बुद्धि से अहंकार, उस से पांच तन्मात्रा सूक्ष्म भूत और दश इन्द्रियां तथा

ग्यारहवां मन, पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांच भूत ये चौबीस पदार्थ बनते हैं। पच्चीसवां पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर हैं। इनमें से सत्व, रज व तम गुणों वाली प्रकृति अधिकारिणी और महतत्व बुद्धि, अहंकार तथा पांच सूक्ष्म भूत प्रकृति का कार्य हैं। यही पदार्थ इंद्रियों, मन तथा स्थूल भूतों के कारण हैं। पुरुष अर्थात् जीवात्मा न किसी की प्रकृति, न किसी का उपादान कारण और न किसी का कार्य है। एक उपनिषद वचन में कहा गया है कि हे श्वेतकेतो ! यह जगत् सृष्टि के पूर्व सत्, असत्, आत्मा और ब्रह्मरूप था। वही परमात्मा अपनी इच्छा से प्रकृति व जीवों के द्वारा बहुरूप वा जगतरूप हो गया।

जगत् की उत्पत्ति के तीन कारण क्रमशः निमित्त, उपादान तथा साधारण, यह तीन कारण होते हैं। निमित्त कारण उसको कहते हैं कि जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने, आप स्वयं बने नहीं और दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे। दूसरा उपादान कारण उस को कहते हैं जिस के बिना कुछ न बने, वही अवस्थान्तर रूप होकर बने व बिगड़े भी। तीसरा साधारण कारण उस को कहते हैं कि जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो। निमित्त कारण दो प्रकार के होते हैं। एक-सब को कारण से बनाने, धारण करने और प्रलय करने तथा सब की व्यवस्था रखने वाला मुख्य निमित्त कारण परमात्मा। दूसरा-परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर बनाने वाला साधारण निमित्त कारण जीव। सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति को कहते हैं। प्रकृति वा परमाणुरूप प्रकृति जिस को सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं। वह जड़ होने से अपने आप न बन और न बिगड़ सकती है किन्तु दूसरे के बनाने से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है। कहीं–कही जड़ के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ भी जाता है। जैसे परमेश्वर के रचित बीज पृथिवी से गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं और अग्नि आदि जड़ के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं। परन्तु इनका नियमपूर्वक बनना और वा बिगड़ना परमेश्वर और जीव के आधीन है।

जब कोई वस्तु बनाई जाती है तब जिन-जिन साधनों का प्रयोग करते हैं वह ज्ञान, दर्शन, बल, हाथ और नाना प्रकार के साधन कहलाते हैं और दिशा, काल और आकाश साधारण कारण होते हैं। जैसे घड़े का बनाने वाला कुम्हार निमित्त कारण, मिट्टी उपादान कारण और दण्ड चक्र आदि सामान्य कारण। दिशा, काल, आकाश, प्रकाश, आंख, हाथ, ज्ञान, क्रिया आदि साधारण और निमित्त कारण भी होते हैं। इन तीन कारणों के बिना कोई भी वस्तु नहीं बन सकती और न बिगड़ सकती है।

इस प्रकार से यह समस्त जगत् जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारें, पृथिवी व पृथिवी के सभी पदार्थ तथा प्राणी जगत सम्मिलित है निमित्त कारण ईश्वर द्वारा उपादान कारण परमाणु रूप प्रकृति से बनाये गये हैं। परमात्मा के सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अनादि, नित्य आदि गुणों से युक्त होने से उसके द्वारा सृष्टि बनाने व उसे संचालित करने में असम्भव जैसा कुछ भी नहीं है। यह वर्णन पूर्णतः सत्य, वैज्ञानिक, तर्क संगत, विश्वसनीय, निभ्रान्त व वेदों के प्रमाणों से पुष्ट है। अतः इस सिद्धान्त को सभी आध्यात्मवादियों व भौतिक विज्ञान के वैज्ञानिकों को मानना चाहिये। इसके विपरीत वैज्ञानिकों के पास अभी तक सृष्टि उत्पत्ति का

कोई सन्तोषजनक उत्तर इसलिए नहीं है कि यह सृष्टि अनादि निमित्त कारण ईश्वर द्वारा अनादि उपादान कारण प्रकृति से निर्मित की गई है जिसका उद्देश्य अनादि जीवात्माओं को उनके पूर्वजन्मों के कर्मों का सुख व दुःखरूपी फल प्रदान करना है। सृष्टि रचना विषयक इस ज्ञान के विस्तार व संशयों के निवारण के लिए महर्षि दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश का आठवां समुल्लास व ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के सृष्टि की रचना व उत्पत्ति के प्रकरणों को देखना चाहिये। वेद, उपनिषदों व दर्शनों का अध्ययन भी इस विषय की सभी शंकाओं को दूर करता है। योग का अभ्यास, ध्यान व समाधि से भी ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना का यह गुप्त व सूक्ष्म विषय जाना जा सकता है। हम आशा करते हैं कि पाठक इस लेख से लाभान्वित होंगे। इसी के साथ लेखनी को विराम देते हैं।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून**-248001**

फोनः**09412985121**

ईश्वर अवतार नहीं लेता

MAY 18, 2016 LEAVE A COMMENT

ईश्वर अवतार नहीं लेता

– डॉ. ब्रजेन्द्रपाल सिंह

ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, अनादि व अनन्त अजन्मा आदि गुणों वाला है, ऐसा वेद में वर्णन है, परन्तु पौराणिक भाई मानते हैं कि ईश्वर जन्म लेता है, जिसे अवतारवाद कहते हैं। राम को ईश्वर का अवतार मानते हैं, कृष्ण को भी ईश्वर का अवतार मानते हैं। यह भी मानते हैं कि किसी भी रूप में ईश्वर धरती पर जन्म लेकर आता जाता है।

अवतारवाद पूर्णतः वेद विरुद्ध है। वेद में ईश्वर के जन्म लेने व अवतार का कहीं वर्णन नहीं, अपितु वह अजन्मा है, जन्म नहीं लेता, अनादि है। उसका न आदि है, न अन्त है। वह एक स्थान पर नहीं रहता, सर्वव्यापक है, कण-कण में समाया है। हमारे अन्दर बाहर है, आकाश-जल- थल- पृथ्वी- चन्द्रमा- सूर्य और उससे आगे तक भी है, जहाँ हमारा मन नही पहुँचता, वहाँ भी है। पहले से है, सृष्टि की उत्पत्ति से पहले भी रहता है, प्रलय के बाद भी रहता है, सर्वशक्तिमान् है, अपनी शक्ति से ग्रह, तारों को घुमा रहा है। यह सब जगत् उसी का है, उसने ही तो बनाया है, नियम से चला रहा है-

ईशावास्यमिदं सर्वयत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन व्यक्तेन भुञ्जीथा मा ग्रधः कस्यस्विद्धनम्।।

– ईशोपनिषद्

अर्थात् इस संसार में जो भी यह जगत् है, सब ईश्वर से आच्छादित है, अर्थात् ईश्वर सृष्टि के कण-कण में बसा है, सर्वव्यापक है। यह सब धनादि जिसका हम उपयोग कर रहे हैं, सब उसका ही है। हम यह सोच कर प्रयोग करें कि यह हमारा नहीं है। जो कुछ हमें उस प्रभु ने दिया है, उस सबका त्याग के भाव से प्रयोग करें।

सृष्टि में जो कुछ भी है, उसी का है। ग्रह, उपग्रह, पृथ्वी व चन्द्रमा आदि निश्चित वेग से घूम रहे हैं, एक नियम से चक्कर काट रहे हैं, गति कर रहे हैं। समय पर ऋतुएँ आती है, जाती हैं। वह जगत् को नियम में चला रहा है।

वह बिना जन्म लिए ही सब काम कर रहा है। उसे जन्म लेने की क्या आवश्यकता है? कहते हैं, रावण को मारने के लिए राम के रूप में ईश्वर ने अवतार लिया या जन्म लिया- ये सब बातें काल्पनिक हैं, मन गढ़न्त हैं। पूरी सृष्टि को चलाने वाला बिना जन्म लिये ही सब कार्य कर रहा है, सब पर उसकी दृष्टि है, सब देख रहा है। ब्रह्माण्ड में ग्रह तारे सब गति कर रहे हैं, कभी किसी से टकराते नहीं, जैसे कि चौराहे पर ट्रैफिक कण्ट्रोलर यातायात को कण्ट्रोल करता रहता है। यदि यातायात को नियन्त्रण न किया जाय तो यातायात अवरुद्ध हो जाएगा, गाड़ियाँ आपस में टकराएँगी, परन्तु यातायात नियंत्रक के कारण सब ओर की गाड़ियाँ बिना अवरोध के ही आती-जाती रहती हैं। यही प्रक्रिया सृष्टि को चलाने वाले उस परमात्मा की है, वह सबको देखने वाला है, कर्मों के अनुसार फल देने वाला है, जो हम सोचते हैं वह सब जानता है, परन्तु वह भोक्ता नहीं, वह सत्य चेतन आनन्द स्वरूप है। यहाँ जन्म तो वही लेगा, जिसे कर्मों का फल भोगना है। जीव बार-बार जन्म लेता है, मोह माया में बँधा हुआ है। ईश्वर मोह माया में बँधा नहीं, वह तो जगत् नियन्ता है, जगत् को चला रहा है, सबको देख रहा है, अनादि है, अनन्त है। तीन तत्त्व अनादि अनन्त है- परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नवन्यो अभिचाक शीतिः।

– ऋग्वेद 1/164/20

यहाँ यही बताया है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं, उनमें एक उस वृक्ष के खट्टे-मीठे फलों का स्वाद चख रहा है, दूसरा उस पक्षी को देख रहा है, स्वाद नहीं चख रहा। आलंकारिक भाषा में यहाँ त्रिविध अनादि तत्त्व ईश्वर, जीव व प्रकृति का वर्णन है। वृक्ष प्रकृति के रूप में दर्शाया है, देखने वाले पक्षी का संकेत ईश्वर के लिए तथा फल खाने वाला पक्षी का जीव की ओर संकेत है। ईश्वर इस प्रकृति में जीव के कर्मों को देख रहा है। वह कर्मों का भोक्ता नहीं है। जब भोक्ता नहीं तो जन्म किसलिए? वह तो सर्वव्यापक विभु है, सर्व शक्तिमान् है, अपनी शक्ति से सृष्टि को चला रहा है। रावण हो या दुर्योधन, सबने अपने कर्मों को भोगा। ईश्वर के अवतार से राम का कोई समबन्ध नहीं। वे कौशल्या के गर्भ से पैदा हुए, संसार में आए और उन्होंने अपने कर्म किए। उनका कर्म उनके साथ था। वे दशरथ के पुत्र थे। ईश्वर किसी का पुत्र नहीं, अपितु सबका पिता है। कर्मफल भोक्ता तो गर्भ में भी रहेगा, जन्म भी लेगा, दुःख भी सहेगा, क्लेश भी सहेगा, माया-मोह के बन्धन में भी रहेगा, मृत्यु भी होगी। यह गुण कर्मफल भोक्ता जीव के तो हैं, ईश्वर के नहीं, अतः राम को ईश्वर बताना न तर्कसंगत है, न युक्ति युक्त। राम

दशरथ नन्दन थे, राजा मर्यादा पुरुषोत्तम थे। वेदानुसार चलने वाले थे। उनका जीवन हमारे लिए प्रेरणा प्रदान करता है।

एक ओर हम महापुरुषों को अवतार बताते हैं, दूसरी ओर उनके चरित्र पर लांछन लगाते हैं। जिन राम का हम सुबह-शाम, उठते-बैठते जागते-सोते समय नाम लेते हैं, उनके आचरणों का पालन नहीं करते, उनके जीवन से शिक्षा नहीं लेते। मुँह में पान, तबाकू, बीड़ी, सिगरेट, हुक्का लगा रहता है और राम का नाम लेते हैं। उससे क्या लाभ? राम तो धूम्रपान नहीं करते थे, मद्य नहीं पीते थे, हुक्का, तमबाकृ नहीं लेते थे, फिर हम क्यों करते हैं? हमें इन मादक द्रव्यों को त्याग कर जैसा आचरण राम का भाइयों के साथ माताओं के साथ प्रजा के साथ था, वैसा करना चाहिए। राम मनुष्य थे, राजा थे, कर्त्तव्य परायण थे, माता पिता के आज्ञाकारी थे, धर्म व मर्यादा पालक थे, निराभीमानी थे, प्रजा वत्सल थे, जन-जन के प्यारे थे, वह ईश्वर नहीं थे, अवतार नहीं थे।

हमें सत्यासत्य का विवेकपूर्ण निर्णय लेना चाहिए और अपने सत्याचारी वेदानुयायी महापुरुषों को जैसे थे वैसा ही मानकर उनके सद्गुणों को जीवन में उतारने का प्रयत्न करना चाहिए।

– चन्द्रलोक कॉलोनी खुर्जा (बुलन्दशहर)

मो. **8979794715**

सरमा पणि संवाद – एक विवेचन

MAY 17, 2016 LEAVE A COMMENT

सरमा पणि संवाद – एक विवेचन

– उदयन आर्य

विश्व के पुस्तकालय में उपलबध प्राचीनतम ग्रन्थ वेद है। प्राचीन भारतीय ऋषियों का मन्तव्य है कि सृष्टि के आदि में परमपिता परमात्मा ने ऋषियों के माध्यम से यह ज्ञान मनुष्यों को प्रदान किया। ये वेद परम पिता के निःश्वास के समान हैं। इन ऋचाओं का मुखय विषय स्तुति है और इस स्तुति के माध्यम से ऋषि परमात्मा के गुणों को अपने अन्दर धारण करने का प्रयास करते हैं। मंगलेच्छुक मनुष्य परम पवित्र इन ऋचाओं का अध्ययन करता है और स्वयं परमात्मा से ऋचाओं में स्थापित रस का आनन्द लेता है।**1**

कालान्तर में जब वेदों का साक्षात् दर्शन कठिन हो गया तो अन्य ग्रन्थ लिखे गये**2**। ब्रह्मा का (वेद) व्याखयान ही ब्राह्मण कहलाता है। इन ब्राह्मणों में वेदों के भावों को योगों में विनियोग के साथ-साथ मन्त्रों की व्याखया को रोचक बनाने के लिए नाटक का रूप दिया गया और इन नाटकों को जन तक पहुँचाने के लिए आखयान के रूप में व्याखयायें की गईं।

सरमा तथा पणि संवाद– सरमा शबद निर्वचन प्रसंग में उद्धृत ऋग्वेद 10/108/01 के व्याखयान में प्राप्त होता है। आचार्य यास्क का कथन है कि इन्द्र द्वारा प्रहित देवशुनी सरमा ने पणियों

से संवाद किया।3पणियों ने देवों की गाय चुरा ली थी। इन्द्र ने सरमा को गवान्वेषण के लिए भेजा था। यह एक प्रसिद्ध आखयान है।

आचार्य यास्क द्वारा सरमा माध्यमिक देवताओं में पठित है। वे उसे शीघ्रगामिनी होने से सरमा मानते हैं। वस्तुतः मैत्रायणी संहिता के अनुसार भी सरमा वाक् ही है।4 गाय रश्मियाँ हैं।5 इस प्रकार यह आखयान सूर्य रश्मियों के अन्वेषण का आलंकारिक वर्णन है। निरुक्त शास्त्र के अनुसार ''ऋषेः दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्यायानसंयुक्ता''6अर्थात् सब जगत् के प्रेरक परमात्मा अद्रष्ट अर्थों को आखयान के माध्यम से उपदिष्ट करते हैं। वेदार्थ परमपरा के अनुसार मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं- आधिभौतिक, आदिदैविक, आध्यात्मिक। तीनों दृष्टियों से इस सूक्त के पर्यालोचन से सिद्ध होता है कि यह सूक्त किन्हीं विशेष अर्थों को कहता है। विश्लेषण के लिए इस समवाद में प्रयुक्त शबदों के अर्थों को व्याकरण और निरुक्त के अनुसार समझने की आवश्यकता है।

क्रमशः एक-एक शबद पर विचार करते हैं।

1. पणयः- ऋग्वेद में 16 बार प्रयुक्त बहुवचनान्त पणयः शबद तथा चार बार एकवचनान्त पणि शबद का प्रयोग है। पणि शबद पण् व्यवहारे स्तुतौ च धातु से अच् प्रत्यय करके पुनः मतुबर्थ में अत इनिठनौ से इति प्रत्यय करके सिद्ध होता है। यः पणते व्यवहरति स्तौति स पणिः अथवा कर्मवाच्य में पण्यते व्यवह्रियते सा पणिः''। अर्थात् जिसके साथ हमारा व्यवहार होता है और जिसके बिना हमारा जीवन व्यवहार नहीं चल सकता है, उसे पणि कहते हैं । इस प्रकार यह पणि शबद मेघ का वाचक है अथवा वायु का वाचक है। इस पणि को वृत्र अथवा 'असुर' कहा गया है। आचार्य यास्क के वृत्रं वृणोतेः कहकर जो आवरण करता है, ढक लेता है, उसे वृत्र कहते हैं। वही वृत्र वरण कर लेने वाला मेघ जब वारिदान करता है, तब देव कहलाता है, किन्तु जब जल को सुरक्षित कर लेता है बरसने नहीं देता, तब वह असुर कहलाता है। इसकी व्याखया इस प्रकार कर सकते हैं- राति ददाति इति रः सु शोभनं रति ददाति इति सुरः नु सुरः असुरः अर्थात् इस यौगिक अर्थ के अनुसार असुर शबद पणि के प्रसंग में अवरोधक मेघ है। **(2)** इन्द्र, निरुक्तकार यास्क के अनुसार इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति इति इन्द्रः इराम् जलानां आनेता इन्द्रः= सूर्य। इसी तरह आदि दैविक अर्थ में इन्द्र सूर्य का वाचक है, आध्यात्मिक अर्थ में इन्द्र जीवात्मा और परमात्मा को कहते हैं। इन्द्र सूर्य की गावः = रश्मयः गावः इति रश्मि नामसु पठितम् (निरुक्त)। अब इस कथा का भाव हुआ कि इन्द्र= सूर्य की गावः, रश्मियों को जल न देने वाले असुरों= मेघों ने आच्छन्न कर लिया है। इन्द्र के बार-बार सूचना देने पर भी पणियों ने इन्द्र की गायों को नहीं छोड़ा और जिससे प्रजा व्याकुल होने लगी, जब इन्द्र ने दूती भेजी। दूती को यहाँ पर देवशुनी सरमा कहा गया है। सरति गच्छति सर्वत्र इति सरमा, देवानां सुनी सूचिका दूती वा देवसूनी सरमा कही गई है। इस प्रकार देवशुनी बादल की गड़गड़ाहट रूपी ध्वनि के साथ पणियों से संवाद करती है और कहती है कि हमारे राजा की गौओं को छोड़ दो, नहीं तो हमारा बलवान राजा दण्ड देगा। पणियों ने देवशुनी की बात नहीं मानी, तब इन्द्र ने वज्र प्रहार कर अर्थात् वायु के प्रहार के माध्यम से पणियों को मारकर धरती पर सुला दिया और अपनी गायों को मुक्त करा लिया। सारा संसार वृष्टि से सुखी हुआ और सूर्य की किरणें चारों ओर फैल गईं। वैदिक आखयानों को सामान्य अर्थों में ग्रहण न करके विशिष्ट

एवं यौगिक अर्थों में ही ग्रहण करना चाहिए। शबदों के यौगिक अर्थों के आलोक में इन आखयानों को देखने पर वेदार्थ की उत्तम, आदर्श, नव्य और दिव्य प्रक्रिया का ज्ञान होता है।

अन्त में प्रश्न आता है कि वैदिक आखयानों की वास्तविकता स्वीकरणीय है अथवा अस्वीकरणीय? तो इसका संक्षेप में उत्तर यह है कि यदि रूपकालंकार की दृष्टि से वे आखयान मन्त्रार्थ से संगत होते हैं तो वे आलंकारिक रूप से अथवा शाश्वत घटित होने वाली घटनाओं के ऐतिहासिक शैली के चित्रण के रूप में ग्राह्य एवं स्वीकरणीय हैं, परन्तु यदि मन्त्र सूक्त गत संवादादि का समबन्ध किसी अवरकालिक पुराण महाभारतादि ग्रन्थों में वर्णित अनित्य इतिहास से बलात् जोड़ा गया है और वह गठजोड़ असंगत और अटपटा लग रहा है तो उसे वास्तविक रूप में स्वीकार न करके सर्वथा अवास्तविक ही मानना चाहिए। तत्र नामान्यायातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च7 तथा नाम च धातुजमाह निरक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्8 के धातुज वैयाकरणों में विशेषः शाकटायनाचार्य तथा सपूर्ण नैरुक्त समुदाय वेद के शबदों को धातुज अर्थात् यौगिक मानते हैं। इस दृष्टि से वेद मन्त्रों से कोई रुढ़ि अर्थ या मानवीय अनित्य इतिहास के वर्णन की समभावना वहाँ नहीं हो सकती है, अतः सारमेयाश्वानी, यम-यमी, अश्विनी, देवापि, सरमा, पणि, विश्वामित्र, गृस्तमद इन्द्र आदि पदों से किसी लौकिक कथानक की कल्पना वेदों में करना अन्धाधुन्ध है। ऐसे शबदों और उनसे अभिव्यक्त होने वाले कथोपकथन से किसी अन्य प्राकृतिक व वैज्ञानिक तथ्य का अनुसन्धान करना ही युक्ति संगत होगा। यदि कोई आखयान मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए कल्पित किये गये हैं तो उनको आलंकारिक दृष्टि से संगत मानना चाहिए। मन्त्रों में उपमा, रूपक, श्लेषादि अलंकारों का प्रयोग प्राचीन और अर्वाचीन प्रायः सभी भाष्यकारों ने स्वीकार किया। वैदिक आखयानों में प्राकृतिकता, अलोकिकता आदि का वर्णन मिलता है। उर्वशी आखयान में मेघों का और विद्युत और मेघ के युद्ध का वर्णन है। वैदिक ग्रन्थों ने इनका प्राकृतिक अर्थ किया है।

उपरिगत विवेचन से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्रगत इतिहास अथवा आखयान तत्त्वतः औपचारिक, अर्थवादात्मक, उपमार्थक अथवा आलंकारिक हैं, आधुनिक अर्थ में ऐतिहासिक नहीं, अतः उनके समयक् अवगम एवं विश्लेषण में अतीव सावधानी तथा चिन्तन की अपेक्षा है।

पाद टिप्पणी

1. यः पावमानीरध्येतृषिभिः सभतं रसम्-ऋग्वेद 9.67.31
2. साक्षात्कृतधर्माण ऋ षयो बभूवुः तेऽवरेयोऽसाक्षात् कृत धर्मय उपदेशेन मंत्रान् सप्रादुः।

उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म ग्रहणाय ग्रन्थं समाम्नासिषु वेदं च वेदांगानि च। निरुक्त। 1.21

3. निरुक्त 11.25 देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूढ इत्यायानम्।
4. वाग् वै सरमा।
5. निरक्त 2.7 सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यते।
6. निरुक्त 10.46
7. निरुक्त 1/12
8. पातंजल महाभाष्य 3.31

– दयानन्द वैदिक अध्ययन पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़।

प्राणोपासना-2

MAY 16, 2016 LEAVE A COMMENT

प्राणोपासना-2

– तपेन्द्र कुमार

महर्षि दयानन्द जी महाराज ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि मुनष्य प्राण द्वार से प्राण को परमात्मा में युक्त करके तथा योगाभयास द्वारा प्राण नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं। महर्षि यह भी घोषणा करते हैं कि हृदय देश के अतिरिक्त दूसरा परमेश्वर के मिलने का कोई उत्तम स्थान व मार्ग नहीं है। पूर्व उल्लेख अनुसार प्राण अचेतन भौतिक तत्त्व है, शुद्ध ऊर्जा है तथा हृदय प्राण का केन्द्र है। यह हृदय स्थूल इन्द्रिय नहीं है। प्राणों में जीवात्मा प्रतिष्ठित है तथा परमात्मा हृदयाकाश में रहने वाले जीवात्मा के मध्य रहता है।

1. श्वास-प्रश्वास एवं प्राण- जो वायु बाहर से भीतर को जाता है, उसको श्वास और जो भीतर से बाहर आता है, उसको प्रश्वास कहते हैं। परन्तु श्वास के द्वारा जो वायु शरीर में जाती है तथा जो वायु बाहर आती है, वह प्राण नहीं है। सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास प्राणाऽपान-निमेषजीवन………चात्मनो लिङ्गानि। (वैशेषिक) की व्याखया करते हुए महर्षि लिखते हैं, ''(प्राण) जो भीतर से वायु को बाहर निकालना, (अपान) बाहर से वायु को भीतर लेना…….।'' सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास में प्राणमय कोश के समबन्ध में लिखा है, ''दूसरा'' 'प्राणमय' जिसमें 'प्राण' अर्थात् जो भीतर से बाहर आता, 'अपान' जो बाहर से भीतर आता……प्रच्छर्दनविधारणायां वा प्राणस्य। योग के भाषार्थ में भी भीतर के वायु को बहार निकालकर सुखपूर्वक रोकने का अभयास बार-बार करने से प्राण उपासक के वश में होने जाने का उल्लेख महर्षि ने किया है। स्वामी सत्यबोध सरस्वती जी के अनुसार ये (श्वास-प्रश्वास की) क्रियाएँ शरीर में प्राणों का कथित ऊपर व नीचे की गति कराने का एक मात्र साधन है। जब प्राणी श्वास लेता है तो वायु शरीर में जाती है तथा शरीर की प्राण नाड़ियों में प्राण की गति नीचे की ओर हो जाती है- यह अपानन क्रिया है। जब प्राणी प्रश्वास लेता है, अर्थात् दूषित वायु बाहर निकालता है तो शरीर की प्राण नाड़ियों में प्राण की गति उर्ध्व गति होती है-यह प्राणन क्रिया है। इस प्रकार श्वास-प्रश्वास प्राण क्रियाओं का साधन है। श्वास-प्रश्वास में शरीर के भीतर जाने वाली वायु तथा बहार आने वाली वायु प्राण नहीं है, वह आक्सीजन आदि गैसों का मिश्रण है। प्राण किन्हीं गैसों आदि का मिश्रण नहीं है बल्कि शुद्ध ऊर्जा है।
2. प्राण के पाँच भेद-एषोऽणुरात्मा चेतसा विदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश। मुण्डकोपनिषद् 3.1.9 के भाषार्थ में पण्डित भीमसेन शर्मा लिखते हैं, ''(यस्मिन्) जिस शरीर में (प्राणः) प्राण (पञ्चधा) प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान नाम पाँच प्रकार के भेदों से (संविवेश) अच्छे प्रकार प्रविष्ट हो रहा है…..।''

यथा सम्राद्देवाधिकृ तन्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेष्मेवैष प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते। (प्रश्न 3.4) का अर्थ करते हुए डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार लिखते हैं, ''जैसे सम्राट् अपने अधीन कर्मचारियों को अपने-अपने काम में नियुक्त करता है, किसी को इस तथा किसी को उस ग्राम में अधिष्ठाता बनाता है, इसी प्रकार यह प्राण अन्यप्राणों को पृथक्-पृथक् अपने-अपने काम में नियुक्त करता है।'' स्वामी सत्यबोध सरस्वती जी के अनुसार जीवों के शरीरों में प्राणतत्त्व तो एक ही है, कार्य भेद से उसके अनेक नाम हो जाते हैं। -प्र+अन=प्राण, उप+अन=अपान, सम+आ+अन =समान, उद+आ+अन= उदान, वि+आ+अन= व्यान। इस प्रकार प्र, अप आदि उपसर्गों को 'अन' के साथ जोड़ने से प्राण, अपान, समान,उदान और व्यान शबद सिद्ध हो जाते हैं।

वृहदारण्यक उपनिषद् 1.5.3………प्राणोऽपानोव्यान उदानः समानोऽन इत्येत्सर्व प्राण एव…… का अर्थ करते हुए महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज लिखते हैं, ''(प्राणः अपानः व्यानः उदानः) प्राण, अपान, व्यान, उदान, (समानः अनः इति) और समान 'अन'- प्राण है। (एतत् सर्वं प्राणः एव) ये सब (पाँचों) प्राण ही हैं।'' इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राणतत्त्व एक ही है जो शरीर में अपने को पाँच भागों में विभक्त कर पाँच प्रकार के कार्यों को समपादित करता है। प्राण का शास्त्रीय नाम 'अन' ही है।

3. प्राणों की स्थिति एवं कार्य- प्रश्नोपनिषद् त्रितीय प्रश्न में ''पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रेमुखनासिकायां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते मध्ये तु समानः। **…….**अत्रैतदेकशातं नाडीनां**……** भवन्त्यासु व्यानश्चरति। अथैकयोर्ध्वम् उदानः पुण्येन पुण्यंलोकं नयति पापेन पापयुभायामेव मनुष्यलोकम्।।शांकरभाष्यार्थ में उक्त की व्याखया इस प्रकार है- यह प्राण अपने भेद अपान को पायूपस्थ में – पायु (गुदा) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) में मूत्र और पुरीष (मल) आदि को निकालते हुए स्थित यानी नियुक्त करता है तथा मुख नासिका इन दोनों से निकलता हुआ सम्राट् स्थानीय प्राणचक्षुः श्रोत्रे – चक्षु और श्रोत्र में स्थित रहता है। प्राण और अपान के स्थानों के मध्य नाभि देश में समान रहता है। ……..इस हृदय देश में एक शत यानी एक ऊपर सौ (एक सौ एक) प्रधान नाड़ियाँ हैं। उनमें से प्रत्येक प्रधान नाड़ी के उन सौ-सौ भेदों में से प्रत्येक से बहत्तर बहत्तर सहस्र अर्थात् दो ऊपर सत्तर सहस्र प्रतिशाखा नाड़ियाँ हैं। …..इन सब नाड़ियों में व्यान वायु संचार करता है तथा उन एक सौ एक नाड़ियों में से जो सुषुमणा नाम्नी एक उर्ध्वगामिनी नाड़ी है, उस एक के द्वारा ही ऊपर की ओर जाने वाला तथा चरण से मस्तक पर्यन्त सञ्चार करनेवाला उदान वायु (जीवात्मा को) पुण्य कर्म यानी शास्त्रोक्त कर्म से देवादि-स्थान रूप पुण्य लोक को प्राप्त करा देता है……।''

महर्षि सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास में प्राणमय कोश के समबन्ध में लिखते हैं, ''दूसरा 'प्राणमय' जिसमें 'प्राण' अर्थात् जो भीतर से बाहर जाता, 'अपान' जो बाहर से भीतर आता, 'समान' जो नाभिस्थ होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुँचाता, 'उदान' जिससे कण्ठस्थ अन्न-पान खैंचा जाता और बल पराक्रम होता, 'व्यान' जिससे सब शरीर में चेष्ठा आदि कर्म जीव करता है।'' महात्मा नारायण स्वामी जी अनुसार अपान नामक प्राण मल और मूत्रेन्द्रिय विभाग में रहकर अपना काम करता है। मुख, नासिका, आँख और कान के क्षेत्र में प्राण स्वयं रहकर उनके कार्यों का साधन बनता है। शरीर के मध्य नाभि क्षेत्रादि में समान नामक प्राण रहता है और खाये हुए अन्न को पचाता है। हृदय की प्राण नाड़ियों में व्यान नामक प्राण परिभ्रमण

करता है तथा हृदय की एक सौ एक नाड़ियों में से एक के द्वारा ऊपर जानेवाले प्राण का नाम उदान है, जो मृत्यु समय जीव को कर्मानुसार भिन्न-भिन्न स्थानों को पहुँचाया करता है।

स्वामी सत्यबोध सरस्वती जी के शबदों में, ''मुखय प्राण हृदय (यह हृदय रक्त प्रेषण करने वाले अवयव से भिन्न है) में स्थित होकर मुख नासिका पर्यन्त प्राण नाड़ियों में ऊर्ध्व गति करता है। 'अपान' पायु तथा उपस्थ इन्द्रियों में स्थित होकर नासिका, मुख, कण्ठ, हृदय, नाभि से लेकर पायु इन्द्रिय तक प्राण नाड़ियों में नीचे की ओर संचरण करता है। 'नाभि जो प्राण और अपान का सन्धि स्थल है, में स्थित होकर भुक्त आहार के रस आदि धातुओं को शरीर के समस्त अवयवों में पहुँचाने का काम करता है। 'उदान' पाद तल से लेकर शिर के शीर्ष पर्यन्त नाड़ियों में उर्ध्व गति का हेतु है। 'व्यान' समस्त शरीर में नाड़ियों में व्याप्त पवन को कहते हैं।'' उपरोक्त उद्धरणों से शरीर में प्राणों की स्थिति तथा कार्य स्पष्ट है। उदान प्राण के द्वारा, उदान वृत्ति होने पर आत्मा/परमात्मा का साक्षात्कार संभव है, अतः उदान प्राण के बारे में पृथक् से विचार किया जावेगा।

4. प्राण की उत्पत्ति –

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीमिन्द्रियम्।

मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपोमन्त्राः कर्मलोका लोकेषु च नाम च।।

– प्रश्न.6.4

परमेश्वर ने प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्मलोक और नाम-इन सोलह कलाओं की रचना की।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वोन्द्रियाणि च।

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीविश्वस्य धारिणी।।

– मुण्डक 2.13

द्वितीय मुण्डक प्रथम खण्ड में चेतन सत्ता रूप विराट पुरुष की व्याखया करते हुए कहा गया है कि

प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल, विश्व को धारण करने वाली पृथिवी उसी से उत्पन्न होती है।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रपगस्यति।

मध्ये वामनासीनं विश्वे देवा उपासते।।कठो. 2.2.3

जो प्राण को ऊपर की ओर ले जाता है और अपान को नीचे की ओर ढकेलता है, हृदय के मध्य में हरने वाले उस वामन-भजनीय की सब देव उपासना करते हैं।

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेदयस्य प्राणः शरीरं।

यः प्राणमन्तरोय मयत्येष स आत्मान्तर्यायमृतः।

– वृहद्. 3.7.16

जो प्राण में रहता हुआ भी प्राण से अलग है, जिसको प्राण नहीं जानता, परन्तु प्राण ही जिसका शरीर है, जो प्राण के भीतर रहता हुआ उसका नियमन कर रहा है, वही सर्वान्तर्यामी परमात्मा है।

इस प्रकार प्राण चेतन सत्ता नहीं है, अपितु भौतिक तत्त्व है जो परमात्मा से उत्पन्न होता है तथा परमात्मा ही जिसका नियमन करता है। परमात्मा प्राण में रहता हुआ भी प्राण से अलग है तथा प्राण उसको नहीं जानता है। प्राण पाँच प्रकार से विभाजित हो जिन क्रियाओं को करता है, उनका कराने वाला परमात्मा है। बाह्य प्राण जीवों को सूर्य रश्मियों के माध्यम से नेत्रों द्वारा प्राप्त होता है तथा सर्वत्र व्याप्त है । इसको विद्वान् आधिदैविक प्राण के नाम से कहते हैं। दूसरा- जीवों के शरीर में स्थित परमात्मा वैश्वानराग्नि रूप से अन्नपानादि आहार को पचाता है, जैसा कि वृहदारण्यक उपनिषद् 5.11 में कहा गया है-

अयमग्निवैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषेयेनेदमन्नं पच्यते सदिदमद्यते।।

परम पिता परमात्मा ही अन्न, जल और घृतादि तैजस् आहार के अणुतम भाग से मन, प्राण और वाग् बलों को उत्पन्न करता है।

अन्नमयं हि सोमय मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति।

– छान्दोग्य.6.5.4

अन्न से मन की शक्ति के अतिरिक्त स्थूल बल की भी प्राप्ति होती है जो प्राणबल का अधिष्ठान है-

प्राणः स्थूणाऽन्नं दाम। वृहद.2.2.1

इस प्राण को आध्यात्मिक प्राण भी कहा जाता है, यह प्राण ऊपर उठकर हृदय में आधिदैविक प्राण से मिल जाता है-

अपां सौमय पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदिशति स प्राणो भवति।

इस प्रकार प्राण परमात्मा से ही उत्पन्न होता है तथा परमात्मा से ही इसका नियमन होता है।

– 53/203, वी.टी.रोड**,** मानसरोवर**,** जयपुर**,** राज.

पुरी में रहने वाले ‘पुरुष’ दो हैं

MAY 14, 2016 LEAVE A COMMENT

पुरी में रहने वाले ‘पुरुष’ दो हैं

– इन्द्रजित् देव

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी अपने क्रान्तिकारी ग्रन्थ ‘‘सत्यार्थप्रकाश’’ के प्रथम समुल्लास में लिखते हैं कि ईश्वर के अनेक नाम हैं। ये नाम गुणवाचक, सबन्धवाचक, कर्मवाचक हैं। इनके अतिरिक्त एक नाम मुखय व निज (= ओ3म्) है। इसी समुल्लास में एक नाम ‘पुरुष’ भी है। इस नाम के आधार पर एक पौराणिक विद्वान् प. गिरिधर शर्मा ने एक शास्त्रार्थ में तत्कालीन आर्य प्रतिनिधि सभा, पञ्जाब के प्रधान महात्मा मुंशीराम (=स्वामी श्रद्धानन्द जी) से एक शास्त्रार्थ में प्रश्न किया था- ‘‘स्वामी दयानन्द ने ईश्वर को पुरुष घोषित किया है। यह प्रमाण वेद में नहीं है तो स्वामी जी ने क्यों ऐसा घोषित किया?’’ इस प्रश्न के उत्तर में महात्मा मुंशीराम जी ने कहा कि वेद में ईश्वर को पुरुष कहा गया है-

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्

तमेवविदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

– यजुर्वेद 31-18

अर्थात् मैं ऐसे महानतम् पुरुष को जानता हूँ जो आदित्य-सूर्य के समान तेजस्वी, अन्धकार से परे है। वे ब्रह्माण्ड रूपी नगरी में निवास करने वाले प्रभु पुरुष हैं, सर्वव्यापक हैं, सर्वाधिक महान् हैं ,विभू हैं अथवा ‘मह पूजायाम्’ पूजा के योग्य हैं। उस ज्योतिर्मय प्रभु को जानकार ही मनुष्य मृत्यु को लाँघ जाता है तथा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अन्य कोई उपाय या मार्ग नहीं है।

वेद से कुछ अन्य मन्त्रों में भी ईश्वर को पुरुष कहा गया है। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिंविश्वतो वृत्वात्यतिष्ठदशाङ्गुलम्।

– ऋ. 10-90-1

भावार्थः–वे पुरुष विशेष प्रभु ‘अनन्त सिरों, आँखों व पाँव’ वाले हैं। सारे ब्रह्माण्ड को आवृत करके इसको लाँघ कर रह रहे हैं।

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यज्ज भव्यम्।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिहति।

– ऋ. 10-90-2

भावार्थः– ब्रह्माण्ड नगर में निवास व शयन करने वाले प्रभु सब प्राणियों पर शासन करने वाले हैं। इनके जो कर्मानुसार जन्म को ग्रहण कर चुके हैं तथा जो समीप भविष्य में ही जन्म ग्रहण करेंगे, इन प्राणियों के भी वे प्रभु ईश हैं।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

– ऋ. 10-90-3

भावार्थः– समस्त ब्रह्माण्ड पुरुष विशेष प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहा है। वे प्रभु इस ब्रह्माण्ड से बहुत बड़े हैं। यह ब्रह्माण्ड तो प्रभु के एक देश में ही है।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्युपुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।

– यजुर्वेद 31/4

भावार्थः– यह पूर्वोक्त परमेश्वर कार्य जगत् से पृथक् तीन अंश से प्रकाशित हुआ।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षण पुरुषं जातमग्रतः

– यजुर्वेद 31/9

भावार्थः– हम अपने हृदयों को पवित्र बना वहाँ प्रभु की ज्योति को जगाएँ।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।

– य. **31/3**

भावार्थः–सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एक देश में है।

ततो विराडजायत विराजोऽअधि पूरुषः।

– य. **31/5**

भावार्थः– यह संसार प्रभु द्वारा प्रारमभ में एक विराट् पिण्ड के रूप में उत्पन्न किया जाता है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।

– ऋ. 1-90-2

भावार्थः– यह जो कुछ भूत, वर्तमान और भविष्य है, यह सब उपलबध जगत् इस जगत् के आधार सनातन भगवान् में ही है।

वेदों में अन्य प्रमाण भी उपलबध हैं, परन्तु विस्तार भय से वेद-प्रमाण और न देकर दर्शनों के कुछ प्रमाण उद्धृत हैं-

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।

– योगदर्शनम् 1/24

अर्थः- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश- इन पाँच क्लेशों, शुभाशुभ कर्मों, कर्मफल तथा वासनाओं से असमबद्ध पुरुष विशेष ईश्वर कहलाता है।

आत्मा का भी यत्र-तत्र पुरुष अर्थ में प्रयोग किया गया हैं-

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। – वेद

अर्थः – हे जीव! तुम ऊर्ध्वगतिवाला हो। तेरा नाम ‘पुरुष’ है। तेरी सार्थकता पुरुषार्थ करने में है।

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः।

– सांखयदर्शन 1/1

अर्थः–आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक- इन तीन प्रकार के दुःखों से अतिशय निवृत्ति परम पुरुषार्थ (=पुरुष का प्रयोजन) है। इसका प्रतिपादन करने वाले शास्त्र का प्रारमभ करते हैं।

न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादि दोषात्।

– सांखयदर्शन 5/74

अर्थः– आत्मा और अनात्मा सबका उच्छेद (= नाश) भी मोक्ष नहीं है, अपुरुषार्थता होने आदि दोष से।

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः। – सांखयदर्शन 6/45

अर्थः–पुरुष (= आत्माएँ) बहुत हैं, व्यवस्था के कारण ।

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्।

– सांखयदर्शन 5/46

अर्थः– शबद राशि वेद भी पौरुषेय नहीं है (=किसी पुरुष अर्थात् आत्मा द्वारा रचे नहीं गए) उसकी रचना करने वाले पुरुष के न होने से।

ना पौरुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवत्।

– सांखयदर्शन 5/48

अर्थः–किसी पुरुष (= आत्मा) द्वारा न लिखे होने से वेदों का नित्य होना नहीं कहा जा सकता, अङ्कुरादि के समान।

यस्मिन्नदृष्टेऽपिकृतबुद्धिरुपजायते तत् पौरुषेयम्।

– सांखयदर्शन 5/50

अर्थः– जिस वस्तु में कर्त्ता के द्वारा अदृष्ट होने पर भी यह रची गई है, ऐसी बुद्धि होती है, वह वस्तु पौरुषेय (= आत्मा द्वारा रची गई) कही जाती है।

सत्व पुरुषयोः शुद्धिसामये कैवल्यम्।

– योगदर्शनम् 3/54

अर्थः– सत्व और पुरुष (= आत्मा, जीव) की शुद्धि समान होने पर कैवल्य (= मोक्ष) हो जाता है।

ब्राह्मणः पुरं वेदेति पुरष उच्यते।

-अर्थववेद 10/2/30

अथर्व. की दृष्टि से ''पुरं वेत्तीति पुरुषः' 'ऐसा पुरुष निर्वचन है। श्रुति की दृष्टि से यह निर्वचन जीव (= आत्मा) का ही प्रतीत होता है, क्योंकि ब्रह्मपुर का ज्ञान वही करेगा। जहाँ ब्रह्म ओत-प्रोत है, वह सब ही ब्रह्म का पुर हुआ तथा वह है सर्व जगत्, उसे समपूर्णतः प्रभु ही जानते हैं, इस दृष्टि से वे भी पुरुष कहे जा सकते हैं।

आत्मा को 'पुरुष' क्यों कहते हैं? वह पूः अर्थात शरीर में रहता है, अतः पुरिषादः कहाता हुआ पुरुष कहा जाने लगा अथवा उसमें सोता है, वह पुरिशय होता हुआ 'पुरुष' हो गया- पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः।

पूरयति अन्तः अन्तर पुरुषम् अभिप्रेत्य- अर्थात् अन्दर से समपूर्ण जगत् को भरपूर कर रहा है, अन्तर्यामी होने से सर्वत्र व्याप्त है, ऐसा विग्रह परमेश्वर को लक्ष्य करके ही किया जाता है।

इससे सिद्ध होता है कि 'पुरुष' शबद का अर्थ प्रसंग व परिस्थिवशात् आत्मा तथा परमात्मा – इन दोनों में से कोई भी अर्थग्रहण किया जाना चाहिए।

आत्मा रूपी 'पुरुष' और परमात्मा रूपी 'पुरुष' में अन्तर भी समझना अपेक्षित है। इस विषय में निवेदन यह है परमात्मा विशेष महान्तम् पुरुष है। यह यजुर्वेद के मन्त्र 31/18 में तथा योगदर्शन के सूत्र 1/24 में इस लेख में उद्धृत किया जा चुका है, जबकि आत्मा सामान्य है। परमात्मा व आत्मा काल की दृष्टि से अनन्त हैं, परन्तु व्यापकता की दृष्टि से परमात्मा सर्वत्रव्यापक है और आत्मा की व्यापकता सीमित है। आत्मा सत्वचित् है तो परमात्मा सत्, चित्त था आनन्द स्वरूप है। आत्मा सर्वशक्तिमान् नहीं है, अर्थात् उसे करणीय कार्य करने के

लिए दूसरे व्यक्तियों तथा परमात्मा से सहायता लेनी पड़ती है, जबकि परमात्मा अपने कार्य करने के लिए किसी की भी सहायता की आवश्यकता नहीं समझता। परमात्मा अनुपम है, परन्तु आत्मा अनुपम नहीं है। परमात्मा सृष्टिकर्त्ता है, परन्तु आत्मा ऐसा नहीं है।

ईश्वर अभय है तो जीव अधिकतर भयशील ही रहता है। परमात्मा सर्वान्तर्यामी है, परन्तु आत्मा अन्तर्यामी हो नहीं सकता। परमात्मा सर्वज्ञ है, परन्तु आत्मा अल्पज्ञ है। आत्मा शरीर को प्राप्त करता है, परन्तु परमात्मा ने कभी शरीर धारण नहीं किया तथा न ही ऐसा करेगा। परमात्मा अकाम है, परन्तु आत्मा ऐसा नहीं हो सकता। कुछ अन्य भी परस्पर भेद हैं।

– चूनाभट्ठियाँ, सिटी सेन्टर के निकट, यमुनानगर (हरियाणा)

हृदय की साक्षी-सद्ज्ञान वेदः प्रा राजेन्द्र जिज्ञासु

MAY 7, 2016 LEAVE A COMMENT

हृदय की साक्षी-सद्ज्ञान वेदः- पं. गंगाप्रसाद जी चीफ जज की पुस्तक 'धर्म का आदि स्रोत' की कभी धूम थी। मेरे एक कृपालु मौलाना अदुल लतीफ प्रयाग ने भी इसे पढ़ा है। निश्चय ही वह इससे प्रभावित हैं। ईश्वर सर्वव्यापक है। उसके नियम तथा ज्ञान वेद भी सर्वव्यापक हैं। कोई ऋषि की बात माने अथवा न माने, परन्तु ''दिल से मगर सब मान चुके हैं योगी ने जो उपकार कमाये।''

देखिये, इस समय मेरे सामने लण्डन की ईसाइयों की सन् 1871 की एक पत्रिका है। इसमें लिखा है, The land is honestest thing in the world, whatever you give it you will get back again:. So in a far more certain sense, is it with the sowing of moral seed the fruit is certain अर्थात्- भूमि संसार में सबसे प्रामाणिक (सत्यवादी) वस्तु है। आप इसे जो कुछ देंगे, यह आपको उपज के रूप में वही लौटायेगी। इससे भी बड़ा अटल सत्य यह है कि जो नैतिक बीज (कर्म) आप बोओगे, उसका फल भी अवश्य भोगोगे, पाओगे। इस अवतरण का प्रथम भाग वहाँ के कृषकों की लोकोक्ति है। पूरे कथन का अर्थ या सार यही तो है, जो करोगे सो भरोगे। वेद की कई ऋचाओं में कर्मफल सिद्धान्त को कृषि के दृष्टान्त से ही समझाया है। पं. गंगाप्रसाद जी उपाध्याय ने वेद प्रवचन में एक मन्त्र की व्यााया में लिखा है कि ईश्वर के कर्म फल के अटल नियम का साक्षी, सबसे बड़ा साक्षी और विश्वासी किसान होता है। जुआ व लाटरी में लगे लोग इससे उलट समझिये। ईसाइयों की पत्रिका का यह अवतरण वैदिक कर्मफल सिद्धान्त की गूञ्ज नहीं तो क्या है? धर्म का, सत्य का स्रोत वेद है- यह इससे प्रमाणित होता है। ऐसी-ऐसी कहावतें वैदिक धर्म की दिग्विजय हैं।

हमारी विदेश मन्त्री सुषमा स्वराज जी ने टी.वी. पर एक करवा चौथ उपवास की बड़े लुभावने शदों में वकालत की थी। दैनिक पत्र-पत्रिकायें भी इसे सुहागनों का त्यौहार प्रचारित करती हैं। पत्नी के कर्मकाण्ड से पति की आयु बढ़ जाती है। कर्म पत्नी ने किया, फल पति को मिलता है। इन्हीं सुषमा जी ने गीता को राष्ट्रीय ग्रन्थ घोषित करके तालियाँ बटोरी थीं। गीता कर्मफल सिद्धान्त का सन्देश देती है। करवा चौथ जैसे कर्मकाण्ड या इस प्रकार के अंधविश्वासों से गीता के मूल सिद्धान्त का खण्डन है या नहीं? इसी प्रकार पापों के क्षमा होने या क्षमा करवाने की मान्यता का उपरोक्त अवतरण से घोर खण्डन होता है । इस कथन में तो कर्म के फल की प्राप्ति Certain (सुनिश्चित) बताई गई है। कोई मत इस वैदिक सिद्धान्त के सामने नहीं टिकता

। इसके अनुसार कुभ स्नान, तीर्थ यात्रायें व हज आदि सब कर्मकाण्ड ईश्वरीय आज्ञा के विपरीत हैं।

योग रहस्य

APRIL 21, 2016 3 COMMENTS

योग रहस्य

– स्वामी वेदानन्द सरस्वती

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत् विजानतः।

तत्र कः मोह कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।

– यजु. 40.7।।

शदार्थः– (यस्मिन्) जिस (विजानतः) ज्ञानी के ज्ञान में (सर्वाणि भूतानि)सभी प्राणी (आत्मा) परमात्मा (एवं) ही (अभूत्) हो गए, ऐसे (एकत्वमनुपश्यतः) एकत्व दर्शी व्यक्ति को (तत्र) वहाँ (कः मोह) किस का मोह और (कः शोकः) किस का शोक रहेगा, अर्थात् वहाँ न मोह रहता है, न ही शोक रहता है |

यह असमप्रज्ञात समाधि अवस्था का चित्रण खींचा गया है, जहाँ योग युक्त आत्मा को सर्वत्र एक ब्रह्म ही नजर आता है। असमप्रज्ञात समाधि में आत्मा रूप को भी विस्मृत कर सर्वत्र एक विभु आत्मा का ही दर्शन करता है। इस अवस्था को पाने के लिये जिज्ञासु जनों के लिये हम एक क्रम का दिग्दर्शन कराते हैं।

1. योग परिभाषा- 'योगश्चित वृत्ति निरोधः। योगः समाधि।'अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध कहें या समाधि कहें, वह योग ही है।
2. समाधि प्राप्ति का फल- (क) इससे साधक का मन पूर्णतया निर्मल और स्थितप्रज्ञता को प्राप्त होता है। (ख) सब कषायों का क्षय हो जाता है। (ग) व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होता है। (घ) व्यक्ति को अपार आनंद की अनुभूति होती है। (ङ) मन और इन्द्रियों पर पूर्ण संयम हो जाता है। (च) सुन्दर स्वास्थ्य और कुशाग्र बुद्धि प्राप्त होती है। (छ) प्रसुप्त शक्तियाँ जाग्रत होती हैं। (ज) आत्म साक्षात्कार और प्रभु दर्शन होता है। (झ) मृत्यु विजय की उपलबधि होती है।

समाधि प्राप्ति के लिये प्रक्रियाः–

1. **1**. वर्तमान में जीना सीखें। अतीत की स्मृतियों में और भविष्य की कल्पनाओं में समय न खोवें।
2. **2**. जो भी कर्म करें, पूरे मनोयोग से करें। सब काम धर्मानुसार ही करें।
3. **3**. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने के लिये सदैव तैयार रहें। प्रमादी न बनें।
4. **4**. शुद्ध सात्विक आहार और मित भाषण करें।

5. **5**. सज्जनों से मैत्री और दुर्जनों से उपेक्षा का भाव रखें।
6. **6**. यम-नियमों का नियमित पालन करें। उससे मन स्वच्छ और स्वस्थ होगा।
7. **7**. योगासनों का नित्य अभयास करें। इससे शरीर स्वस्थ निरोग बनेगा। ध्यान के समय किसी स्थिर आसन पर बैठें जिस आसन पर दो घंटे तक स्थिरता पूर्वक बैठ सकें।
8. प्राणायाम- स्थिर आसन पर बैठ कर प्राणायाम का अभयास करें। लमबे और गहरे श्वास-प्रश्वास का अभयास करें। प्राणायाम से मन को एकाग्रता मिलती है। शरीर को आरोग्यता प्राप्त होती है।
9. प्रणव ध्वनि- लमबा गहराश्वास अन्दर लेकर ऊँचे स्वर से ओङ्कार का नाद करें। इस क्रिया को 9 से 11 बार दोहराएँ।

प्रणव ध्वनि के लाभ– **1.** आस्तिक भावना की दृढ़ता होती है। **2**. इष्ट की स्मृति होती है। **3**. तनावों से मुक्ति मिलती है। **4**. रोगों का शमन होता है। **5**. आनन्द की अनुभूति होती है। **6**. मन की एकाग्रता बढ़ती है। 7. बुद्धि की शुद्धि होती है। **8**. प्राणशक्ति प्राप्त होती है। **9**. स्मरण शक्ति की वृद्धि होती है। **10**. नाद से उत्पन्न प्रकपनों से भीतरी अवयवों की मालिश होकर वे स्वास्थ्य लाभ करते हैं। **11**. सूक्ष्म उत्तकों तक भी रक्त का संचार सहज गति से होने लगता है।

प्रणव ध्वनि करते समय अपने अन्दर-बाहर शुक्ल वर्ण के परिचक्र की भावना करें।

10. **10**. मन की एकाग्रता को पाने के उपाय-
11. **1**. मन की स्थिरता या एकाग्रता के लिये शरीर की स्थिरता अनिवार्य है। शरीर से जैसे वस्त्र को निकाल अलग कर देते हैं, वैसे ही मन से शरीर को पृथक्देखें। शरीर के थकान रहित, शान्त, स्वस्थ होने की भावना करें।
12. **2**. फिर शरीर के नाड़ीतन्त्र पर ध्यान लगायें। सुषुम्ना के निचले छोर से लेकर ऊर्ध्वगमन करते हुए सहस्रसारचक्र तक ध्यान करें। इससे शरीर की प्राण ऊर्जा ऊर्ध्वगमन करने लगती है, जिसे कुछ लोग कुण्डलिनी जागरण का नाम देते हैं।
13. **3**. प्राणायाम मन की एकाग्रता का एक प्रधान साधन है। विधिवत् रूप से नियमित प्राणायाम का अभयास करें। इस विषय पर विस्तार से जानने के लिये हमारी 'संध्या से समाधि' पुस्तक पढ़ें।
14. **4**. शरीर की कोशिकाओं में होने वाले सूक्ष्म प्रकमपनों की भी अनुभूति करें। पैर से लेकर सिर तक ध्यानपूर्वकदेखेंगे तो यह प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है। फिर ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान लगाने पर सारे शरीर का स्पंदन एक साथ देखा जा सकता है। इस प्रकार के अभयास से शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है।
15. **5**. इससे अगले क्रम में शरीर के अन्दर अन्तःस्रावी और बहिस्रावी ग्रंथियों का भी अवलोकन करें। इन ग्रंथियों में रसायनों का निर्माण होता है। नाड़ीतन्त्र में उन रसायनों का प्रभाव देखा जाता है। इन रसायनों के बदलने से व्यक्ति का स्वभावभी बदल जाता है। हृदयदेश में तथा आज्ञाचक्र में ध्यान केन्द्रित करने से रसायनों के स्राव बदल जाते हैं।
16. **6**. रंगों का ध्यान-मानसिक विचारों के भी अपने रंग होते हैं। जैसे सूरज की रष्मियों के सात रंग इन्द्रधनुष में देखे जाते हैं, वैसे ही मानसिक भावों के कृष्ण, नील, जामुनी, लाल, गुलाबी, शुक्ल और हरा रंग भेद होते हैं। शुभ भावों के रंग पृथक् होते हैं। अशुभ भावों के रंग पृथक्होते हैं। अपने-अपने रंगों के साथ मन के भाव व्यक्ति के समग्र व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। उज्जवल व्यक्तित्व के निर्माण के अभिलाषी व्यक्ति को शुभ विचारों के

शुक्ल रंग का ध्यान करना चाहिए। ओङ्कार के जाप के साथ भी शुक्ल रंग का ध्यान करें।

17. **7**. क्लेशों से मुक्ति-मानसिक भावों के साथ जब राग-द्वेष पैदा हो जाते हैं तो वे ही क्लेशों को जन्म देते हैं। राग-द्वेष पैदा ही न हो इसके लिये आत्मा-परमात्मा का ध्यान करें। चेतन की भावना से राग-द्वेष पैदा नहीं होते।
18. **8**. श्रद्धा- व्यक्ति को अपनी श्रद्धा के अनुसार ही फल मिलता है। ईश्वर की भक्ति श्रद्धापूर्वक ही करें। वेद शास्त्रों, ऋषिमुनियों और गुरुजनों के प्रति की गयी श्रद्धा व्यक्ति को उसके लक्ष्य तक पहुँचा देती है।
19. आत्म-संयम- आत्मा में परमेश्वर ने अद्भुत शक्तियाँ रखी हैं, किन्तु जनसामान्य उनसे अनभिज्ञ बना रहता है। शक्तियों का जागरण योगाङ्गों के अनुष्ठान से हो जाता है। शक्ति प्राप्त करके भी साधक व्यक्ति मन की धाराओं में नहीं बहता। आत्म-संयम के द्वारा शक्तियों का सदुपयोग ही करता है। शक्तियों का सदुपयोग लक्ष्य-प्राप्ति के लिये ही होना चाहिए।
20. आत्म-दर्शन- आत्मा ही द्रष्टा, श्रोता, वक्ता, मन्ता और सभी भावों का साक्षी होता है। जब आत्मा स्वयं को भावों से अलग देखने लगता है तो वह उस अभयास से अपने आत्म-स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। 'द्रष्टा शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।'आत्मा अपने स्वरूप में शुद्ध होते हुए भी बुद्धि के ज्ञान का साक्षी मात्र होता है।
21. असमप्रज्ञात समाधि- योगाङ्गों के अनुष्ठान से जब बुद्धि में सत्त्व गुण की प्रबलता हो जाती है तो वह राग-द्वेष से ऊपर उठ कर आनन्द की अनुभूति करने लगती है। उसमें स्थैर्य उत्पन्न होता है, जो आत्मा की कैवल्य प्राप्ति में सहायक बनता है। समप्रज्ञात समाधि की अवस्था में आत्मा अपने को मन, बुद्धि, आदि से पृथक् देखने लगता है, किन्तु असमप्रज्ञात् समाधि में अपने स्वरूप को पृथक् नहीं देखता, उसे सर्वत्र एक विभु परमपिता परमेश्वर के ही दर्शन होते हैं। उस अवस्था में द्रष्टा और दृश्य का भेद भी समाप्त हो जाता है। इसी अवस्था का उल्लेख यजु. 40.7 मन्त्र कर रहा है। उस अवस्था में द्वैत कुछ देखने या सुनने के लिये शेष नहीं रह जाता। जिस स्थिति में एकमात्र ब्रह्म रह जाये वहाँ भय, शोक, मोह कैसा?
22. मुक्तावस्था- जब मन में कोई कामना शेष नहीं रहती, तब सभी राग-द्वेष, मोह, आदि क्लेश समाप्त हो जाते हैं। अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। सभी विषयों से पूर्णतया वैराग्य हो जाता है, उस अवस्था में योगी पुरुष जीवन मुक्त होकर जीने लगता है। प्रारबध अभी शेष हैं, उसके अनुसार जीवन की गाड़ी चल रही होती है, किन्तु अपने जीवन से दूसरों को कोई कष्ट न हो तथा दूसरे भी अपनी साधना में बाधक न बन सकें, इसलिये योगी पुरुष घर परिवार से दूर एकान्त स्थान में जाकर रहने लगता है। प्रारबध समाप्ति पर वह आत्मा मुक्त अवस्था को प्राप्त होकर मुक्ति का आनन्द लेती है। यही योग मार्ग की अंतिम मंजिल है। – उत्तरकाशी

23. क्या ईश्वर के दर्शन होते हैं?: अभिषेक कुमार

24. APRIL 18, 2016 LEAVE A COMMENT
25. प्रश्न: क्या ईश्वर के दर्शन होते हैं?
26. उत्तर : अवश्य होते हैं पर वैसे नहीं जैसे आप इस समय सोच रहे हैं!
27. * ईश्वर स्वभाव से चेतन है और चेतन तत्त्व निराकार होता है इसलिए ईश्वर का दीदार, देखना या दर्शन करने का तात्पर्य होता है – उसकी सत्ता का ज्ञान होना, उसकी

अनुभूति (feeling) होना! इसी feeling को दार्शनिक भाषा में 'ईश्वर साक्षात्कार' कहते हैं।

28. * "दृश्यन्ते ज्ञायन्ते याथातथ्यत आत्मपरमात्मनो बुद्धिन्द्रियादयोतिन्द्रियाः सूक्ष्मविषया येन तद दर्शनम् "॥
अर्थात् जिससे आत्मा, परमात्मा, मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि सूक्ष्म विषयों का प्रत्यक्ष = ज्ञान होता है, उसको दर्शन कहते हैं। इसलिए कहते हैं कि ईश्वर को देखने के लिए ज्ञान-चक्षुओं की आवश्यकता होती है, चरम-चक्षुओं (भौतिक नेत्रों) की नहीं!।
29. * पदार्थ दो प्रकार के होते हैं – 1) जड़ और 2) चेतन। जड़ वास्तु ज्ञानरहित होती है और चेतन में ज्ञान होता है। प्रकृति तथा उससे बनी सृष्टि की प्रत्येक वास्तु जड़ होती है। परमात्मा और आत्मा दोनों चेतन हैं।
30. * चेतन (आत्मा) को ही चेतन (परमात्मा) की अनुभूति होती है। चेतनता अर्थात् ज्ञान।
31. * हमारे नेत्र जड़ होते है, देखने के साधन हैं और जो उनके द्वारा वस्तुओं को देखता है वह चेतन (जीवात्मा) होता है। जह वस्तुचेतन को नहीं देख सकती क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं होता पर चेतन वास्तु (आत्मा और परमात्मा) जड़ और चेतन दोनों को देख सकती है।
32. * अतः ईश्वर का साक्षात्कार आत्मा ही कर सकता है शर्त यह है कि आत्मा और परमात्मा के बीच किसी भी प्रकार का मल, आवरण या विक्षेप न हो अर्थात् वह शुद्ध, पवित्र और निर्मल हो अर्थात् वह सुपात्र हो।
33. * ईश्वर की कृपा का पात्र (सुपात्र) बनाने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने अमूल्य जीवान को वैदिक नियमों तथा आज्ञाओं के अनुसार बनाए, नियमित योगाभ्यास करे और अष्टांग योग के अनुसार समध्यावस्था को प्राप्त करे। समाध्यावास्था में ही ईश्वर के साक्षात्कार हो सकते हैं, अन्य कोई मार्ग नहीं है।
34. * इस स्थिति तक पहुँचने के लिए साधक को चाहिए कि वह सत्य का पालन करे और किसी भी परिस्थिति में असत्य का साथ न दे। जब तक जीवन में सत्य का आचरण नहीं होगा ईश्वर की प्राप्ति या उसके आनन्द का अनुभव (feeling) नामुमकिन है जिस की सब को सदा से तलाश रहती है।
35. **See translation:-**
36. योग के सन्दर्भ में, स्वस्थ जीवन, आध्यात्मिक ज्ञान, तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिये आवश्यक यम- नियमः–

The 5 (यम)Yamas listed by Patañjali in Yogasūtra are:

–**Ahiṃsā (अहिंसा)**: Nonviolence, non-harming other living beings.

–**Satya (सत्य)**: truthfulness, non-falsehood.

–**Asteya (अस्तेय)**: non-stealing.

–**Brahmacharya (ब्रह्मचर्य)**: chastity, marital fidelity or sexual restraint.

–**Aparigraha (अपरिग्रहः)**: non-avarice, non-possessiveness.

37. The 10 (यम) Yamas listed in Śāṇḍilya Upanishad, are:

–**Ahiṃsā (अहिंसा)**: Nonviolence.

–**Satya (सत्य)**: truthfulness.

–**Asteya (अस्तेय)**: not stealing.

–**Brahmacharya (ब्रह्मचर्य)**: chastity, marital fidelity or sexual restraint.

–**Kṣamā (क्षमा)**: forgiveness.

–**Dhṛti (धृति)**: fortitude.

–**Dayā (दया)**: compassion.

–**Ārjava (आर्जव)**: non-hypocrisy, sincerity.

–**Mitāhāra (मितहार)**: measured diet.

–**Sauch (शौच)**: purity, cleanliness.

38. The 5 (नियम) Niyamas listed by Patañjali in Yogasūtra are:

–**Śaucha(शौच)**: purity, clearness of mind, speech and body.

–**Santoṣha(सन्तोष)**: contentment, acceptance of others and of one's circumstances as they are, optimism for self.

–**Tapas(तपस)**: accepting and not causing pain.

–**Svādhyāya(स्वाध्याय)**: study of self, self-reflection, introspection of self's thoughts, speeches and actions.

–**Īśvarapraṇidhāna(ईश्वरप्रणिधान)**: contemplation of the Ishvara (God/Supreme Being, True Self, Unchanging Reality).

39. The 10 (नियम) Niyamas listed in Śāṇḍilya Upanishad/Varuha Upanishad/ Hatha Yoga Pradipika are:

–**Tapas(तपस)**: persistence, perseverance in one's purpose, austerity.

–**Santoṣa(सन्तोष)**: contentment, acceptance of others and of one's circumstances as they are, optimism for self

–**Āstika(आस्तिक्य)**: faith in Real Self (jnana yoga, raja yoga), belief in God (bhakti yoga), conviction in Vedas/Upanishads (orthodox school).

–**Dāna(दान)**: generosity, charity, sharing with others.

–**Īśvarapūjana(ईश्वरपूजन)**: worship of the Ishvara (God/Supreme Being, Brahman, True Self, Unchanging Reality).

–**Siddhānta vakya śrāvaṇa(सिद्धान्तवाक्यश्रवण)**: listening to the ancient scriptures.

–**Hrī(ह्री)**: remorse and acceptance of one's past, modesty, humility.

–**Mati(मति)**: think and reflect to understand, reconcile conflicting ideas.

–**Japa(जाप)**: mantra repetition, reciting prayers or knowledge.

–**Huta(हुत)**: rituals, ceremonies such as yajna sacrifice.

40. *[REGVEDA–1-164-44–N —1-164-1–N 10-5-7–N 164-22 N 10-177-1 N 10-177-2 N ATHARWAVED KA PARMAN –10-8-17 AND 1-164-20 YA]*
41. धन्यवाद।
42. आर्य समाज द्वारा वैदिक धर्म के उत्थान के लिए।
43.
44. Author can be reached at

45. अथर्ववेद मे यथार्थ स्वर्ग का वर्णन'

46. APRIL 18, 2016 LEAVE A COMMENT
47. ओ३म्
48. 'अथर्ववेद मे यथार्थ स्वर्ग का वर्णन'
49. –मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।
50.
51. अथर्ववेद के मन्त्र 6/120/3 में यथार्थ स्वर्ग का वर्णन हुआ है। लोगों ने पुराणों के आधार पर मिथ्या स्वर्ग की कल्पना कर रखी है और उसी को मानते हैं। वैदिक

साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि पुराण वर्णित स्वर्ग संसार व ब्रह्माण्ड में कहीं नहीं है। हम एकमात्र यथार्थ वैदिक स्वर्ग पर पहले आर्यजगत के एक महान संन्यासी स्वामी वेदानन्द तीर्थ जी का संक्षिप्त वेदव्याख्यान दे रहे हैं। इसके बाद वेदमन्त्र व उसके पदों वा शब्दों का अर्थ भी प्रस्तुत है।

52.

53. यथार्थ स्वर्ग का व्याख्यान

54.

55. स्वर्ग किसी देशविशेष (स्थान विशेष) या लोकविशेष का नाम नहीं है, वरन् उस अवस्था को स्वर्ग कहते हैं, जिस अवस्था मे मनुष्य को शारीरिक, आत्मिक, पारिवारिक आदि सब प्रकार के सुख प्राप्त हैं, जिस अवस्था में मनुष्य को कोई शारीरिक क्लेश, मानसिक पीड़ा नहीं सताती, माता–पिता तथा सन्तान का सुख प्राप्त हो, शरीर सुन्दर तथा सुडौल हो, कोई त्रुटि न हो, इसकी प्राप्ति का साधन सद्विचार तथा उत्तम सदाचार है। दूसरे शब्दों में रोग, दुःख, अंग–भंग, कुरूप शरीर आदि पापों का फल है। संक्षेप में 'सुखविशेष भोग तथा उसकी सामग्री' का नाम स्वर्ग है। (यह स्वर्ग मनुष्य के अपने भीतर, अपने निवास, परिवार, समाज व देश में ही होता है व माना जा सकता है। वाल्मीकी रामायण में भी मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम लक्ष्मण जी से कहते हैं कि 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' पूरे श्लोक का भाव है कि मैं जानता हूं कि लंका सोने की है परन्तु फिर भी मुझे यह अच्छी नहीं लगती। क्योंकि अपनी माता और मातृभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर हैं। यह इसलिए कि जो सुख विशेष अपनी माता और अपनी जन्म व देश भूमि में मनुष्य को प्राप्त होता व हो सकता है, वह अन्यत्र नहीं मिल सकता। –लेखक)

56.

57. अथर्ववेद का मन्त्र संख्या **6/120/3**

58.

59. यात्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।

60. अश्लोणा अंगैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्।।

61.

62. मन्त्र का पद वा शब्दार्थ

63.

64. यत्र=जिस अवस्था में सुहार्दः=उत्तम हृदयवाले अपने तन्वः=शरीर के रोगम्=रोग को विहाय=छोड़कर, अर्थात् पूर्णतया नीरोग होकर अंगैः अश्लोणाः=अंग-भंगरहित, अर्थात् पूर्णांगवयवयुक्त शरीरवाले तथा अह्रुताः=शरीर, आत्मा तथा मन की कुटिलता से विरहित हुए मदन्ति=सुखी रहते हैं तत्र स्वर्गे=उस स्वर्ग में हम पितरौ=माता-पिता च=और पुत्रान्=पुत्रों-सन्तान को पश्येम=देखें, अर्थात् हमारे माता-पिता तथा सन्तान सदा सुखी रहे।

65. –मनमोहन कुमार आर्य

66. पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

67. देहरादून-**248001**

68. फोनः**09412985121**

69.

70. 'वैदिक प्राचीन पर्व नव संवत्सर'

71. APRIL 17, 2016 LEAVE A COMMENT

72. ओ३म्

73. 'वैदिक प्राचीन पर्व नव संवत्सर'

74. –मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

75. मनुष्य के जीवन में पर्वों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वर्ष या संवत्सर के रूप में पर्व को इस रूप में जान सकते हैं कि एक वर्ष की समाप्ती व उसके अगले दिन से दूसरे वर्ष का आरम्भ। मनुष्य जीवन में एक शिशु के रूप में जन्म लेता है और समय के साथ शिशु की अवस्था समाप्त होकर बाल व किशोरावस्था आ जाती है। इसके बाद युवावस्था, फिर प्रौढ़ावस्था और अन्त में वृद्धावस्था आती है। यह जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का आना व पिछली का पूरा होना एक प्रकार का पर्व ही होता है परन्तु हमें इसका पता ही नहीं चलता और न इसे मनाने की परम्परा ही हैं। हां, इसका एक अन्य रूप जन्म दिवस को मनाने की परम्परा को कह सकते हैं। मनुष्य की आयु एक-एक दिन, एक-एक माह और एक-एक वर्ष करके बढ़ती है। हर दिन और हर माह तो पर्व व उत्सव मना नहीं सकते, अतः वर्ष में एक दिन जन्मोत्सव मनाने की परम्परा कुछ समय से चल पड़ी है। लोगों को इस दिवस को मनाने का कोई ज्ञान भी नहीं है। लोग सोचते हैं कि मित्रों व सम्बन्धियों को एकत्रित कर केक आदि काटकर व प्रीतिभोज करा दिया जाये। वैदिक परम्परा के आधार पर दृष्टि डाले तो जन्म दिवस मनाने में कोई आपत्ति नहीं है परन्तु इसको मनाने के रूप में गुणवर्धन किया जा सकता है। यदि जन्म दिवस के दिन लोग वृहत यज्ञ करें तो यह जीवन में अनेक दृष्टियों से लाभप्रद व प्रेरणादायक हो सकता है। सुधी आर्य परिवारों में यज्ञ के द्वारा ही जन्म दिवस व अन्य पर्व मनाये आते हैं। यह अल्पव्यय साध्य तो हैं ही, साथ ही परिणाम में और अनुष्ठानों की तुलना में अधिक लाभदायक हैं। ऐसे ही अनेक पर्व हैं जिनमें से एक नव-संवत्सर का पर्व भी होता है। यह भारतीय परम्परा का पर्व है जो प्रत्येक वर्ष चैत्र माह के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को मनाया जाता है। यह नवसंवत्सर एक प्रकार से इस सृष्टि व ब्रह्माण्ड का जन्म दिवस है। इससे हमें यह लाभ होता है कि अनेक तथ्यों का स्मरण इस पर्व को मनाकर हो जाता है। मुख्य तथ्य तो यह है कि हमारी सृष्टि चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन आज से **1,96,08,53,116** एक अरब छियानवे करोड़ आठ लाख त्रेपन हजार एक सौ सोलह वर्ष पूर्व आरम्भ हुई थी। आज चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को इस सृष्टि में मानव उत्पत्ति का **1,96,08,53,117** हवां वर्ष आरम्भ हुआ है। यह तथ्य है और यह सारे विश्व के लिए मार्गदर्शक होना चाहिये। हमें ज्ञात है कि सृष्टि में मानव धर्म, सभ्यता व संस्कृति का सर्वप्रथम आविर्भाव व विकास भारत में ही हुआ। संसार के जितने भी देश हैं उनका इतिहास कुछ सौ या हजार वर्ष पुराना है जबकि भारत का इतिहास 1.96 अरब वर्ष पुराना है। सृष्टि के आरम्भिक काल में लिखी गई मनुस्मृति के एक श्लोक को भी स्मरण कर लेते हैं। 'एतददेशस्य प्रसुतस्य सकाशाद अग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्याम् सर्वमानवाः।।' इस श्लोक में महर्षि व राजा मनु जी ने आर्यावर्त्त देश की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि प्राचीन काल से हमारा देश ही संसार के अग्रणीय मनुष्यों को जन्म देता, उत्पन्न करता अर्थात् शिक्षित कर अनका निर्माण करता आ रहा है। संसार के देशों के लोग हमारे देश में अपने-अपने योग्य चरित्र व ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा लेने हमारे देश में ही आते थे। इससे यह अनुमान होता है कि सृष्टिकाल के आरम्भ से लेकर कुछ हजार वर्ष पूर्व तक हमारा भारत वा आर्यावत्र्त देश ही संसार के लोगों को ज्ञान-विज्ञान सहित परा व अपरा विद्या एवं चरित्र आदि की शिक्षा दिया करता था और संसार के लोग अध्ययन के लिए भारत में ही आया करते थे। यह इस कारण से सम्भव हुआ था कि सृष्टि के आरम्भ

में प्रथम दिन ही ईश्वर ने मनुष्यों को युवावस्था में अमैथुनी सृष्टि कर आर्यावत्र्त में जन्म दिया था और साथ हि उन्हें सभी सत्य विद्याओं से सम्पन्न कराने के लिए वेदों का ज्ञान भी दिया था।

76.

77. हिमाद्रि ज्योतिष का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में एक श्लोक आता है 'चैत्रे मासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि। शुक्लपक्षे समग्रन्तु, तदा सूर्योदये सति।।' इसका अर्थ है कि चैत्र शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन सूर्योदय के समय ब्रह्मा ने जगत की रचना की। प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य भास्करार्चा रचित ''सिद्धान्त शिरोमणि'' का एक श्लोक 'लंकानगर्यामुदयाच्च भानोस्तस्यैव वारं प्रथमं बभूव। मघोः सितादेर्दिनमासवर्षयुगादिकानां युगपत्प्रवृत्तिः।।' है। इसका भावार्थ है कि लंका नगरी में सूर्य के उदय होने पर उसी सूर्य के वार अर्थात् आदित्यवार को चैत्र मास, शुक्ल पक्ष के आरम्भ में दिन, मास, वर्ष व युग आदि (अर्थात् सृष्टि संवत्सर) एक साथ आरम्भ हुए। आज भी संसार के अधिकांश विद्वान इन तथ्यों से अपरिचित है। जिन को इसका ज्ञान भी होता है तो वह संस्कृत में होने के कारण इसे स्वीकार नहीं करते। हां, यदि इसी प्रकार का कोई लेख अंग्रेजी व अन्य किसी यूरोपीय भाषा के पुराने ग्रन्थ में होता तो सारा विश्व इसे कभी का एक मत से स्वीकार कर लेता। कोई स्वीकार करे या न करे परन्तु यह दोनों श्लोक व इसमें लिखी व कहीं बातें आप्त-प्रमाण, सृष्टि क्रम, युक्ति, तर्क व ज्ञान विज्ञान के आधार पर सत्य सिद्ध होती हैं। इन तथ्यों व पूर्व से चली आ रही परम्पराओं से यह ज्ञात होता है कि चैत्र शुक्ला प्रतिपदा के इस दिवस से ही ब्रह्म दिन, सृष्टि संवत्, वैवस्वतादि मन्वन्तर का आरम्भ, सतयुग आदि युगारम्भ, कलिसंवत्, विक्रम संवत् का आरम्भ होता है।

78.

79. आर्यसमाज के विद्वान पं. भवानी प्रसाद लिखते हैं कि आदि सृष्टि से ही आर्य जाति में नवसंवत्सरारम्भ का वर्ष मानने की प्रथा प्रचलित है। मुसलमानी राज्य में आर्यों की सनातन संस्थाएं अस्त–व्यस्त होने पर भी नवसंवत्सरोत्सव को समारोहपूर्वक मनाने की परिपाटी बराबर बनी हुई थी। इसका प्रमाण देते हुए उन्होंने दूसरे मतों के प्रति असहिष्णु, पक्षपाती व अत्याचारी मुगल सम्राट् औरंगजेब के अपने ज्येष्ठ पुत्र युवराज मुहम्मद मोअज्जम के नाम लिखे एक पत्र से मिलता है। अपने पत्र में औरंगजेब ने धृणा के शब्दों में लिखा था कि 'ईरोज ऐयाद मजू सअ स्त, व एकाद–कफ्फार ह–नूद रोज ए जलूस विक्रमाजीत लाईन व मबदाए तारीख ए हिंदू।' अर्थात् यह दिन अग्निपूजक (पारसियों) का पर्व है, और काफिर (धर्मशून्य) हिन्दुओं के विश्वासानुसार धिक्कृत विक्रमाजीत की राज्याभिषेक तिथि है और भारतवर्ष का नव संवत्सरारम्भ दिवस है।

80.

81. नवसंवत्सर-आरम्भ-उत्सव संसार की प्रायः सब सभ्य जातियों में मनाया जाता है। ईसाइयों के यहां उसको न्यू इयर्स डे (New Years Day) कहते हैं और वह पहली जनवरी को होता है। फारस देश के पारसियों के यहां वह जश्न नौरोज के नाम से प्रसिद्ध है। अन्य जातियों में जहां इस अवसर पर केवल प्रसन्नता प्रदर्शन और रंग-रेलियां मनाने की रीति है, वहां धर्मप्राण आर्य जाति में आनन्दानुभव के साथ-साथ यज्ञ आदि धर्मानुष्ठानपूर्वक इस उत्सव को मनाने की परम्परा है। पं. भवानी प्रसाद जी ने आगे लिखा है कि प्रतीत होता है कि सृष्टि के आरम्भ के प्रथम दिन चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन सौर मेष संक्रान्ति एक साथ ही पड़ी थी, किन्तु पीछे से सौर और चान्द्र वर्षों की दो प्रकार की गणना संसार में प्रचलित होने पर सौर और चान्द्र

संवत्सरों का नवसंवत्सरारम्भ भी पृथक् पृथक् तिथियों पर होने लगा। चान्द्र संवत्सरारम्भ चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को और सौर संवत्सरारम्भ मेष संक्रान्ति के दिन होता है। अतः ऋतुओं की गणना सौर वर्ष के अनुसार ही होती है, इसलिए भूमण्डल की अधिकांश सभ्य जातियों में सौर संवत्सर प्रचलित है। भारतवर्ष के भी अधिकांश प्रांतों में सौर वर्ष का ही व्यवहार है। बंगाल प्रांत में बंगाब्द, दक्षिण में शालिवाहन शक और पंजाब में प्रविष्टा सौर वर्ष गणना पर ही चलते हैं। अतएव आर्य जाति में जहां चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को चान्द्र नव-संवत्सरारम्भ का समारोह होता है, वहां मेष संक्रांति के दिन सौर संवत्सरेष्टि भी की जाती है। अतएव जिन प्रांतों में चान्द्र संवत्सर का व्यवहार होता हो, वहां चैत्र सुदि प्रतिपदा को नवसंवत्सरारम्भोत्सव वा संवत्सरेष्टि पर्व मनाना चाहिए। इस दिवस को वृहत यज्ञ कर मनाने के साथ सामूहिक प्रीतिभोज वा लंगर तथा काव्य गोष्ठी सहित बालक-बालिकाओं एवं युवाओं की अनेक प्रतियोगितायें आयोजित कर मनाया जा सकता है। इस पर्व के महत्व को जानकर और इसे सामूहिक रूप से वृहत यज्ञ, सामूहिक प्रीतिभोज व अनेक प्रतियोगिताओं के आयोजन के साथ मनाने से समाज में अच्छी परम्पराओं के स्थापित होने से लाभ मिल सकता है।

82.

83. समय के साथ नववर्षाभिनन्दन के इस दिन से अनेक ऐतिहासिक महत्वपूर्ण घटनायें जुडती व विस्मृत होती गई हैं। सम्प्रति सुप्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य का राज्याभिषेक भी इस नववर्षारम्भ के दिन से जुड़ा हुआ है जो अब से 2072 वर्ष पूर्व हुआ था। महाभारत युद्ध के बाद महाराज युधिष्ठिर जी ने भी इस नवसंवत्सराम्भ के दिवस पर ही राज्यारोहण किया था। ऐसी अन्य कई घटनायें हो सकती हैं परन्तु इस दिन मुख्य महत्व इस दिन से इस सृष्टि, मानवोत्पत्ति व ईश्वर से सब सत्य विद्याओं की पुस्तक वेदों का चार ऋषियों अग्नि, वायु,आदित्य व अंगिरा को ज्ञान प्राप्त होना है जो हमारे ऋषि व पूर्वजों की तपस्या से आज तक सुरक्षित है। यही वेद ज्ञान आज सभी परा व अपरा अर्थात् आध्यात्मिक व भौतिक विद्याओं का आधार है। इस नववर्ष को मनाते हुए यदि हम वेदाध्ययन का संकल्प लें और वेदों के संरक्षण की योजना बनायें, तो यह भी उचित होगा।

84. –मनमोहन कुमार आर्य
85. पताः **196** चुक्खूवाला-**2**
86. देहरादून-**248001**
87. फोनः**09412985121**

88. वैदिक मान्यतायें ही धर्म व इतर विचारधारायें मत-पन्थ-सम्प्रदाय

89. APRIL 13, 2016 LEAVE A COMMENT

90. ओ३म्

91. 'वैदिक मान्यतायें ही धर्म व इतर विचारधारायें मत–पन्थ–सम्प्रदाय'

92. –मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

93. धर्म शब्द की उत्पत्ति व इसका शब्द का आरम्भ वेद एवं वैदिक साहित्य से हुआ व अन्यत्र फैला है। संसार का सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद है। वेद ईश्वर प्रदत्त वह ज्ञान है जो सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। यह ज्ञान सृष्टि के आरम्भ में इस संसार के रचयिता

परमेश्वर वा सृष्टिकर्त्ता से आदि चार ऋषियों वा मनुष्यों को मिला था। परमात्मा ने वेदों का ज्ञान क्यों दिया और इस बात का क्या प्रमाण है कि वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है? वेदों का ज्ञान परमात्मा ने दिया है, इसका प्रमाण यह है कि ज्ञान व विज्ञान का धारक व पालक संसार में एकमात्र ईश्वर है, अन्य कोई नहीं है। मनुष्यों को सिखना पड़ता है। यह उन्हीं से सीख सकता है जो पहले से कुछ सीखे हुए होते हैं। अब प्रश्न होता है कि सृष्टि के आरम्भ में जो मनुष्य उत्पन्न हुए उनको सिखाने वाला कौन था? इसका उत्तर एक ही है कि वह इस सृष्टि की रचना करने वाला ईश्वर ही था। उसने ज्ञान, विज्ञान व अपनी सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमतता से इस समस्त अनन्त संसार को पूर्व कल्प के अनुसार रचा है। मनुष्य को आंख, नाक, कान, जिह्वा व त्वचा आदि ज्ञानेन्द्रियां भी उसी ने अपने ज्ञान, विज्ञान, सर्वज्ञता व सर्वशक्तिमतता के गुण से ही बनाकर मनुष्यों को प्रदान की हैं। मनुष्य सृष्टि के आरम्भ काल में अब प्रथम उत्पन्न हुआ तो उसका पालन करने के लिए माता व पिता तथा ज्ञान व शिक्षा देने के लिए गुरु, अध्यापक व आचार्य संसार में नहीं थे। उत्पन्न हुए सभी युवा स्त्री-पुरुष भाषा व ज्ञान से शून्य थे क्योंकि बिना पढ़े कोई ज्ञानी नहीं हो सकता अर्थात् जन्म से ही कोई भी मनुष्य भाषा व ज्ञान से युक्त नहीं होता। भाषा मनुष्यो को सीखनी पड़ती है। पहले माता-पिता व बाद में विद्यालय मे आचार्य व गुरु भाषा सिखाने के साथ ज्ञान व विज्ञान पढ़ाते हैं। संसार के आरम्भ में माता-पिता व आचार्यों के न होने के कारण एक ईश्वरीय सत्ता ही बचती है जिनसे मनुष्य को भाषा व ज्ञान प्राप्त होता व हो सकता है। यह इस कारण से आदि सृष्टि के मनुष्यों को भाषा व धर्माधर्म का ज्ञान ईश्वर से मिलना ही प्रमाणित तथ्य है। इसका अन्य कोई उत्तर नहीं है। ईश्वर से मनुष्यों को ज्ञान मिलना निर्दोष उत्तर है तथा अन्य सभी कल्पनायें व अनुमान दोषपूर्ण हैं जो परीक्षा करने पर असत्य व प्रमाणहीन सिद्ध होते हैं। ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी व सर्वज्ञ सत्ता होने के कारण जीवात्मा की आत्मा में ही ज्ञान को भाषा सहित स्थापित करती है व देती है। ज्ञान भाषा में ही निहित होता है, अतः ज्ञान के साथ भाषा का मिलना भी सुनिश्चित है। आजकल भी सम्मोहन द्वारा प्रेरणा करके ज्ञान के उदाहरण मिलते हैं। बहुत से लोग इस विद्या को सीख लेते हैं और इसी से अपनी आजीविका चलाते हैं। ईश्वर तो जीवात्मा के भीतर भी विद्यमान और सर्वज्ञ है तो वह जीवात्मा को आत्मस्थ होने से प्रेरणा क्यों नहीं कर सकता? यह सर्वथा सम्भव है। हम जानते हैं कि माता का गर्भस्थ शिशु माता के व्यवहार के अनुरूप गुण-कर्म-स्वभाव वाला बनता है। इसका कारण है कि गर्भ में होते हुए जबकि उसका शरीर निर्माणाधीन होता है वह अपनी माता के आचार, विचार, भाषा व भोजन आदि से प्रभावित होता रहता है। जन्म के बाद माता की गोद में वह स्वयं सुरक्षित अनुभव करता है और शान्त रहता है जबकि अन्य किसी के लेने पर वह प्रायः रोना आरम्भ कर देता है। यह भी एक प्रकार का विज्ञान है जिससे पता चलता है कि माता के साथ बच्चे का तादात्मय अर्थात आत्मा का आत्मा के साथ वाला सम्बन्ध होता है। शरीर से पृथक होने पर भी दोनों आत्मा से आबद्ध रहते हैं। अतः सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर का वेदों का ज्ञान देना सत्य सिद्धान्त है।

94.

95. वेदों की संहितायें, उनके संस्कृत व हिन्दी भाषा में भाष्य तथा वेदों के अनेक व्याख्या ग्रन्थ 4 ब्राह्मण ग्रन्थ, 6 दर्शन, 11 मुख्य उपनिषदें, मनुस्मृति आदि ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं। इनका अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि मनुष्य को जितना सत्य-

सत्य ज्ञान आवश्यक है वह चार वेदों में सृष्टि के आदि काल से ही विद्यमान है। सभी प्राचीन ऋषियों से लेकर महर्षि दयानन्द तक ने वेदों को सब सत्य विद्याओं का कोष व ग्रन्थ स्वीकार किया है। वेद में आध्यात्म के साथ सभी भौतिक विद्याओं का भी सूत्र रूप में समावेश है। इसका सविस्तार उल्लेख महर्षि दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ग्रन्थ में किया है। अतः वेद ज्ञान-विज्ञान सहित कर्तव्याकर्तव्य वा धर्माधर्म के ग्रन्थ सिद्ध होते हैं। धर्म उस ज्ञान को ही कहते हैं जिससे मनुष्य को अपने कर्तव्य व अकर्तव्य का बोध होता है व जिसका पालन करने से अभ्युदय व निःश्रेयस की सिद्धि हो। क्या वेदों में व वैदिक साहित्य में कहीं किसी मान्यता व सिद्धान्त की कोई कमी थी जिसकी देश-देशान्तर के किसी मनुष्य ने अनुसंधान व खोज की हो जिसने अधूरे वेद ज्ञान को पूर्णता प्रदान की हो? जब ऐसा कोई सन्दर्भ व प्रमाण किसी मत व पन्थ में उपलब्ध नहीं होता और व वह इसका दावा ही करते हैं तो फिर विश्व के मनुष्यों के लिए किसी नवीन मत की आवश्यकता ही नहीं रहती। मनुष्य के सभी कर्तव्य व अकर्तव्य वेदों व महाभारत के पूर्व काल के वैदिक साहित्य में सर्वांगपूर्ण रूप से विद्यमान होने के कारण वेद अपने आप में पूर्ण मनुष्य जाति का धर्म है। वेदों की सर्तमान समय में विद्यमानता के कारण मनुष्यों के लिए किसी नये मत की आवश्यकता ही नहीं है। वेद धर्म ईश्वर द्वारा प्रादूर्भूत धर्म है और सभी मनुष्यों के लिए यही धर्म आचरणीय व कर्तव्य है। हमारे मनुस्मृति, उपनिषद्, दर्शन, रामायण, महाभारत व अन्य जितने भी ग्रन्थ हैं उनमें धर्म शब्द का प्रयोग वेद के सिद्धान्तों के आचरण करने से ही सम्बन्ध रखता है। वेदों का धर्म सर्वथा पूर्ण धर्म है। यही कारण है कि सृष्टि के आरम्भ से महाभारत काल तक और महाभारत काल के भी बहुत बाद तक वैदिक धर्म ही भारत सहित विश्व का एकमात्र धर्म रहा है। महाभारत काल तक अन्य किसी धर्म के अस्तित्व का उल्लेख व विवरण विश्व के साहित्य में उपलब्ध नहीं है।

96.

97. महाभारत काल के बाद संसार में अनेक मत-मतान्तर जिन्हें रिलीजन, मजहब, सम्प्रदाय व पन्थ भी कह सकते हैं, अस्तित्व में आये। कारणों पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि महाभारत के महायुद्ध के बाद आलस्य व प्रमाद के कारण वैदिक धर्म व वैदिक सामाजिक व्यवस्था विशृंखलित हो गई। समयानुसार जैमिनी ऋषि पर आकर ऋषियों की परम्परा भी समाप्त हो गई और वेदों के पारदर्शी विद्वानों की संख्या भी नगण्य हो गई। विश्व में वेदों का प्रचार बन्द हो गया। देश के अल्पज्ञानी विद्वान मनमानी करने लगे और सर्वत्र अल्पज्ञता से पूर्ण नये नये अवैदिक विधान दिखाई देने लगे। अन्धकार बढ़ता गया और कुछ अच्छे आशय वाले सज्जन पुरुषों ने देश व विदेश मं समाज के हित की दृष्टि से अपनी-अपनी योग्यता व क्षमता के अनुसार लोगों को अपने मत में संगठित व दीक्षित किया। यह सभी लोग वेदों के ज्ञान से परिचित नहीं थे। उन लोगों के सम्मुुख वेदों का पुराना आचार, विचार व व्यवहार ही अनेकों विकृतियों के साथ प्रचलित था। उन्हें जो उचित लगा उन्होंने प्रचलित किया और उन-उन के नये मत, पन्थ, सम्प्रदाय ही प्रचलित होकर विस्तार को प्राप्त हुए। अनेकों प्रकार के चमत्कार आदि भी इन वेदेतर नये मतों के अनुयायियों ने समय-समय पर अपने-अपने मत में मिला लिए। नये मतों की संख्या समय व स्थान के अनुसार वृद्धि को प्राप्त होती रही। यह मत व पन्थ धर्म न होकर मत, पन्थ, रिलीजन, मजहब व सम्प्रदाय आदि श्रेणी में आते हैं। भारत से इतर मत व पन्थ जिस भाषा

का प्रयोग करते हैं उन भाषाओं में धर्म नाम का शब्द भी नहीं है। धर्म वेद, वैदिक साहित्य व संस्कृत का शब्द है। अन्य मतों की अपनी-अपनी भाषायें होने से उनके अपने-अपने शब्द हैं, उन्हीं से उनको सम्बोधित किया जाना चाहिये। भारत में यह कुछ फैशन सा हो गया है कि देशी व विदेशी सभी मतों व पन्थों को धर्म मान लिया गया है जिससे यथार्थ व सदधर्म वैदिक धर्म के बारे में अनेक प्रकार की भ्रान्तियां फैल गई हैं। वैदिक धर्म जो कि वेद व वेदानुकूल वैदिक साहित्य पर आधारित है औरयुक्ति, तर्क व प्रमाणों पर आधारित जो सत्य मान्यतायें व सिद्धान्त है, वही वैदिक धर्म है। इससे इतर देश व विश्व में जितने भी मत व सम्प्रदाय हैं वह धर्म न होकर, मत-पन्थ-सम्प्रदाय-रिलीजन-मजहब आदि श्रेणी में ही आते हैं और उनके लिए उनकी भाषाओं के उपयुक्त शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिये।

98.

99. हमारा इस लेख को लिखने का अभिप्राय यही है कि सत्य, सनातन, ईश्वर प्रदत्त वेद व इसकी शिक्षाओं, मान्यताओं, सिद्धान्तों व विधानों का पालन ही वैदिक धर्म है। इससे इतर, विपरीत, सत्यासत्य मिश्रित आध्यात्मिक व सामाजिक मान्यतायें धर्म नहीं हैं। जो सिद्धान्त व मान्यतायें वेद, ज्ञान व पूर्ण सत्य के अनुरूप व अनुकूल है, वह वैदिक धर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं। वैदिक मत से इतर मान्यता व सिद्धान्तों वाले सभी संगठन व समुदाय मत व पन्थ की ही श्रेणी में आते हैं। अतः सुधी व विज्ञ लोगों को वेद से इतर मत-पन्थों के लिए धर्म का प्रयोग न कर उनके लिए उचित व यथार्थ शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिये जिससे धर्म विषयक यथार्थ स्थिति का सबको ज्ञान रहे। धर्म संस्कृत भाषा का शब्द है और इसका प्रयोग मनुस्मृति, दर्शन, उपनिषद, रामायण व महाभारत आदि ग्रन्थों में वेद मत व वैदिक मान्यताओं व सिद्धान्तों के लिए ही हुआ है। इस स्थिति को जान व समझ कर ही सभी मनुष्यों को धर्म शब्द का प्रयोग करना चाहिये।

100. –मनमोहन कुमार आर्य

101. पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

102. देहरादून-**248001**

103. फोनः**09412985121**

104. ‘ईश्वर अनादि काल से अनन्त काल तक सबका एकमात्र साथी’

105. APRIL 7, 2016 LEAVE A COMMENT

106. ओ३म्

107. ‘ईश्वर अनादि काल से अनन्त काल तक सबका एकमात्र साथी’

108. –मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

109.

110. मनुष्य जन्म व मरण धर्मा है परन्तु मनुष्य शरीर में निवास करने वाला जीवात्मा अजन्मा व अमर है। जीवात्मा अनादि व अनुत्पन्न होने के अविनाशी व अमर भी है। हमारे इस इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ईश्वर किसी जीवात्मा का साथ कभी नहीं छोड़ता। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ईश्वर किसी जीवात्मा का साथ कभी नहीं छोड़ता। जन्म के माता-पिता, भाई-बहिन, सगे-संबंधी व इष्ट-मित्र आदि जन्म व उसके बाद हमसे जुड़ते हैं तथा उनकी व हमारी मृत्यु होने पर यह सभी

सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। यह हम सबका अनुभव है और हमें लगता है कि इस मान्यता व सिद्धान्त पर किसी को कोई आपत्ति व आक्षेप नहीं है। क्या हमारा कोई स्थाई साथी भी है जो हमारे इस जन्म से पहले भी हमारे साथ रहता आया हो और मृत्यु के बाद भी रहेगा? अध्ययन व विचार करने पर ऐसा एक ही साथी ज्ञात होता है और वह है परमात्मा वा ईश्वर। ईश्वर भी इस ब्रह्माण्ड में अनादि, अनुत्पन्न, अजन्मा, नित्य, अविनाशी, अमर धर्म व गुणों वाली सत्ता है। यह सच्चिदानन्द (सत्य+चित्त+आनन्द) ईश्वर हर क्षण, हर पल, हर जन्म, हर युग में हमारा साथी, मित्र, माता–पिता, आचार्य व रक्षक रहा है व भविष्य में भी रहेगा।

111.

112. ईश्वरीय ज्ञान वेदों में इन दोनों मित्रों को 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति। **(ऋग्वेद 1/164/20)**' कहा है जिसका अर्थ है कि ईश्वर व जीवात्मा दो सुन्दर पंख वाले पक्षी के समान हैं जो कि प्रकृति रूपी एक ही वृक्ष पर बैठे हुए हैं। जीवात्मा इस वृक्ष के फल खाकर इसमें फंसता है परन्तु ईश्वर फल नहीं खाता, वह जीवात्माओं के कर्मों का साक्षी और फल प्रदाता है। ईश्वर अजन्मा होने से जन्म नहीं लेता। इस कारण उसका भौतिक शरीर भी नहीं होता। मनुष्य के जन्म-मरण धर्मा होने से इसे पंचभौतिक शरीर की आवश्यकता होती है। संसार में यह तीसरा भौतिक पदार्थ प्रकृति के गुणों की विषम अवस्था है जो कि चेतनशून्य वा जड़ तत्व है जबकि ईश्वर व जीवात्मा दोनों ही चेतन तत्व हैं। जीवात्मा संख्या में अनन्त और ईश्वर एक है। ईश्वर ही अपने सनातन सखा जीवात्मा को सुख प्रदान करने के लिए इस सृष्टि की रचना व पालन करता है और जीवात्माओं को उनके कर्मानुसार सुख-दुःख रूपी फल सहित जन्म-जन्मान्तर में भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म देता है। ईश्वर व इसका स्वरूप कैसा है**?** ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, सर्वातिसूक्ष्म, सृष्टिकर्ता, जीवों के कर्मों का साक्षी व फल प्रदाता है। जीवात्मा सत्य, चित्त, आनन्दरहित, अल्पशक्तिवान्, अनुत्पन्न, अनादि, ईश्वर से व्याप्य, सूक्ष्म, अजर, अमर, नित्य, ईश्वर की व्यवस्था से जन्म लेने व मृत्यु को प्राप्त होने वाला, कर्म करने में स्वतन्त्र तथा फल भोगने में परतन्त्र, वेदादि साहित्य का अध्ययन कर ईश्वर के सत्य स्वरूप को जानने वाला और योगादि साधना से ईश्वर का साक्षात्कार एवं मोक्ष की प्राप्ति करने आदि गुणों वाला है।

113.

114. जीवात्मा व ईश्वर अनादि व नित्य हैं, इसका उल्लेख किया जा चुका है। इन गुणों के कारण जीवात्मा के अनन्त बार जन्म व मृत्यु हो चुकी हैं। वह प्रायः निम्न, मध्यम व मनुष्य की उच्च सभी योनियों सहित अनेकानेक बार मोक्ष में भी जा चुका है। इन सभी जन्मों में उसका एकमात्र साथी व संगी ईश्वर ही रहा है जिसे वह वर्तमान भौतिक युग व मत-मतान्तरों के मिथ्या जाल में फंस कर उसको भुला हुआ है। जीवात्मा व ईश्वर के बीच जो आवरण है उसे काटने का एक ही उपाय है और वह है वेदाध्ययन और वेद व योग विधि से ईश्वरोपासना करना। योग की ईश्वरोपासना विधि में मनुष्य को पांच यम (अंहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), पांच नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान), आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि का अभ्यास करना होता है जिससे ईश्वर का साक्षात्कार होकर विवेक की

प्राप्ति होती है और जीवात्मा मृत्यु के होने पर जन्म-मरण के चक्र से 31 नील 10 खरब वर्षों की अवधि के लिए अवकाश पाकर ईश्वर के सान्निध्य में सुख व आनन्द का भोग करता है। इसके बाद पुनः मोक्ष के पूर्व के अवशिष्ट कर्मों के अनुसार मनुष्य जन्म होता है और वह पुनः अन्य जीवों की भांति कर्म-फलों में आबद्ध हो जाता है। किसी विद्वान का एतद् विषयक एक प्रसिद्ध श्लोक 'पुनरपि जन्मं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनं।' है जिसमें बताया गया है कि मैंने बार-बार जन्म लिया है, बार-बार मृत्यु को प्राप्त किया है, अनेक जन्मों में अनेक माताओं की कोख में शयन किया है, आदि। यही अवस्था हमारी व सभी जीवात्माओं की है।

115.

116. मनुष्य को जन्म व मृत्यु ईश्वर की कृपा से प्राप्त होती है। जब हमारा शरीर पुराना व वृद्ध हो जाता है तो पुराने वस्त्रों का त्याग कराकर ईश्वर हमें नये वस्त्र के रूप में नया शरीर प्रदान करता है। हमारी आत्मा शस्त्रों से काटी नहीं जा सकती, अग्नि इसे जला नहीं सकती, जल इसे गिला नहीं कर सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती। इन गुणों वाली जीवात्मा का ईश्वर हर जन्म, हर क्षण व पल का साथी रहा है और आगे भी रहेगा। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ईश्वर किसी जीवात्मा का साथ कभी नहीं छोड़ता। अतः इस नाशवान भौतिक संसार में न फंसकर हमें इस विवेक ज्ञान को अपनी जीवात्मा के दुःखों से मुक्ति वा मोक्ष का साधन मानकर हर पल व क्षण वा अधिकाधिक ईश्वर का स्मरण व उसका ध्यान कर व समाधि लगा कर धन्यवाद करना चाहिये जिससे हम अपने प्रिय सनातन साथी ईश्वर के गुण–कर्म–स्वभाव के अनुसार अपने को बनाकर उसकी मोक्ष रूपी कृपा के अधिकारी बन सकें।

117. –मनमोहन कुमार आर्य

118. पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

119. देहरादून-**248001**

120. फोनः**09412985121**

121. 'मैं महानतम पुरुष ईश्वर को जानता हूं'

122. APRIL 5, 2016 2 COMMENTS

123. **'मैं महानतम पुरुष ईश्वर को जानता हूं'**

124. –मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

125. यदि किसी मनुष्य ने ईश्वर या सृष्टि आदि विषयों को जानना है तो उसे इन विषयों के जानकार विद्वान व ज्ञानी पुरुषों की शरण लेनी होगी। किसी एक ज्ञानी पुरुष को प्राप्त होकर हम उससे, जितना वह ईश्वर वा सृष्टि के बारे मे जानता है, ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अब यदि हम उससे पूछे कि आपको यह ज्ञान कहां से प्राप्त हुआ तो वह परम्परा का उल्लेख करेगा व कुछ अपने ऊहापोह, चिन्तन-मनन व अन्वेषण की बात कह सकता है। यह सृष्टि वैदिक मान्यताओं के अनुसार विगत 1.96 अरब वर्षों से अस्तित्व में है। इस अवधि में लगभग 49 करोड़ मनुष्यों की पीढ़ियां उत्पन्न होकर कालकवलित हो चुकी हैं। मनुष्य का आत्मा सत्य का जानने वाला होता है परन्तु अविद्या आदि अनेक दोषों के कारण वह सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि यदि मनुष्य अपनी अविद्या को दूर कर दे तो वह सत्य व ईश्वर एवं सृष्टि का यथावत ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अविद्या को हटाने का एक ही मार्ग है कि हम विद्या प्राप्ति का संकल्प लेकर विद्या से युक्त विद्वानों की संगति करें और अपनी सभी शंकाओं को दूर करने सहित ईश्वर, जीवात्मा व सृष्टि के कारण व

कार्य रुप को जानें। स्वयं को, सृष्टि व ईश्वर को जानने की इच्छा व आवश्यकता सृष्टि की प्रथम पीढ़ी में उत्पन्न स्त्री वा पुरूषों को भी अवश्य हुई होगी क्योंकि हम जानते हैं कि आत्मा चेतन तत्व वा पदार्थ है और ज्ञान व कर्म इसके दो स्वाभाविक धर्म वा गुण हैं। ज्ञान की पिपास व जिज्ञासु स्वभाव इसका शाश्वत् गुण वा स्वभाव है।

126.

127. सृष्टि के आरम्भ में पहली पीढ़ी के लोगों के लिए आचार्य व गुरु कहां से आये थे? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है कि उन्हें भी अन्य सामान्य मनुष्यों की भांति ईश्वर ने ही उत्पन्न किया था। इन आचार्यों को ईश्वर ने चार वेदों का ज्ञान दिया और उन्हें इस वेदों के ज्ञान की अन्य मनुष्यों में प्रचार व उपदेश की प्रेरणा की। उन्होंने ऐसा ही किया। परम्परा से ज्ञात होता है कि ईश्वर ने चार ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा को क्रमशः चार वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का शब्दार्थ वा वाक्य-पद-अर्थ सहित ज्ञान दिया था। इन चार ऋषियों में अन्य उत्पन्न मनुष्यों में सबसे योग्य ब्रह्मा नाम के ऋषि को क्रमशः एक-एक करके चारों वेदों का ज्ञान दिया। इस प्रकार अन्य मनुष्यों को शिक्षित करने के लिए पांच ऋषि, शिक्षक व आचार्य उपलब्ध हो गये थे जिनसे अध्ययन कर सृष्टि की पहली पीढ़ी के सभी मनुष्य ज्ञानी बने थे। तभी से वेदाध्ययन की परम्परा आरम्भ हुई जो अबाध रूप से महाभारतकाल व उससे कुछ समय पूर्व तक सुचारु रूप से चलती रही। महर्षि दयानन्द के अनुसार यह परम्परा ब्रह्मा से लेकर जैमिनी ऋषि पर्यन्त चली और उसके बाद अवरोध उत्पन्न हुआ। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में महर्षि दयानन्द ने अपने पुरुषार्थ और वैदुष्य से उस परम्परा का पुनरुद्धार किया और आज उनके मार्गदर्शन के अनुसार संस्कृत व्याकरण की अष्टाध्यायी-महाभाष्य-निरुक्त पद्धति पर संचालित गुरुकुलों में उस वेदाध्ययन की परम्परा पुनः विद्यमान है। महर्षि दयानन्द को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने वेदाध्ययन की प्राचीन विलुप्त असम्भव परम्परा को अपने पुरुषार्थ एवं वैदुष्य से पुनः प्रवर्तित व प्रचलित किया। महर्षि दयानन्द का यह ऋण संसार कभी चुका नहीं सकता।

128.

129. वेद ईश्वर का ज्ञान है जो सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर आदि चार ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा को देता है। वेद के मन्त्रों के सत्यार्थ का दर्शन पूर्ण योगी, ज्ञानी, विद्वान व व्याकरण के आचार्यों को होना ही सम्भव होता है। अतः हमारे सभी वेदाचार्य व ऋषि ब्रह्मचारी, ज्ञानी, विद्वान, योगी व व्याकरण ज्ञान से सर्वथा सम्पन्न हुआ करते थे और ऐसे ही महर्षि दयानन्द सरस्वती भी थे। महर्षि दयानन्द ने वेदों के बारे में, वेदों का तलस्पर्शी अध्ययन कर, घोषणा की कि वेद सर्वव्यापक, निराकार, सच्चिदानन्दस्वरुप आदि ईश्वर का ज्ञान हैं और यह चार वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक हैं। इस निष्कर्ष पर पहुंच कर उन्होंने संसार के लोगों के उपकारार्थ यह भी कहा है कि वेदों का पढना व पढ़ाना तथा सुनना व सुनाना सभी आर्यों अर्थात् श्रेष्ठ मनुष्यों का परम धर्म है। महर्षि दयानन्द जी ने यह नियम इस लिए बनाया है कि जिससे संसार से अज्ञान का नाश व ज्ञान की वृद्धि हो। इसी बात को उन्होंने एक अन्य नियम में भी कहा है। आर्यसमाज के इस आठवें नियम में कहा गया है कि सभी मनुष्यों को ''अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।" आईये ईश्वर, वेद और महर्षि दयानन्द विषयक उपर्युक्त विचारों के प्रकाश में वेदों के एक प्रसिद्ध मन्त्र पर विचार करते हैं जिसमें ईश्वर के सत्य स्वरुप का प्रकाशन किया गया है। यह ईश्वर

का स्वरुप ऐसा है, जैसा कि अन्य किसी मत व सम्प्रदाय में नहीं पाया जाता। यह मन्त्र यजुर्वेद के अध्याय 31 का 18 हवां मन्त्र है जा निम्नवत् हैः

130.

131. ओ३म् वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

132. तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।

133.

134. इस मन्त्र का भावार्थ यह है कि मैंने जान लिया है कि परमात्मा महान् है, सूर्यवत् प्रकशमान है, अन्धकार व अज्ञान से परे है। उसी को जानकर मनुष्य दुःखदायी मृत्यु से तर सकता है, बच सकता या पार हो सकता है। मृत्यु से बचने व उससे पार होने का संसार में अन्य कोई उपाय नहीं है। मृत्यु से बचने का अर्थ है कि जन्म-मरण से अवकाश अर्थात् जीवात्मा की मुक्ति वा मोक्ष। मृत्यु पर विजय व मोक्ष अर्थात् 43 नील वर्षों की दीर्घावधि तक ईश्वर के सान्निध्य में रहकर पूर्णानन्द की उपलब्धि करना।

135.

136. हमें यह मन्त्र ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का आधार भी लगता है। मृत्यु से बचने के लिए स्वप्रकाशस्वरुप, ज्ञानस्वरुप, सब सृष्टि और विद्या का प्रकाश करने वाले परमेश्वर वा परमात्मा को जानकर ही हमारी अविद्या व अज्ञान का अन्धकार दूर होता है व हो सकता है। इसके लिए वेदाध्ययन अपरिहार्य है। वेदाध्ययन से ईश्वर का सत्य वा प्रमाणिक स्वरुप विदित होकर मनुष्य ईश्वर को प्राप्त कर लेता है अर्थात् उसे ईश्वर के सत्य स्वरुप का ज्ञान, प्रत्यक्ष व साक्षात्कार हो जाता है। महर्षि दयानन्द एवं अनेक ऋषि-मुनियों व योगियों के जीवनादर्श हमारे सामने हैं। सम्भवतः वेद की इसी शिक्षा को विस्तार देने के लिए महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन का प्रणयन किया था जिससे ध्याता योगी अपनी जीवात्मा में निभ्रान्त रूप से ईश्वर के प्रकाश व स्वरुप को अनुभव कर उसका प्रत्यक्ष व साक्षात्कार कर सके। योगदर्शन के अनुसार साधना करने व उसके आठवें अंग समाधि की सिद्धि होने पर ईश्वर का साक्षात्कार होता है। समाि‍ध अवस्था में ईश्वर साक्षात्कार का वर्णन करते हुए मुण्डकोपनिषद के साक्षात्धर्मा ऋषि का निम्न वाक्य वा श्लोक उपलब्ध होता है जिसे प्रमाण मानकर महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में उद्धृत किया है।

137.

138. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

139. क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे पराऽवरे।

140.

141. अर्थात् जब इस जीव के हृदय की अविद्या व अज्ञानरूपी गांठ कट (खुल) जाती है, (तब) सब संशय छिन्न होते (हो जाते हैं) और दुष्ट (अशुभ वा पाप) कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं। तभी उस परमात्मा जो कि अपने (ध्याता, उपासक व योगसाधक की) आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है, (जीवात्मा व योगी) उस (परमात्मा) में (निभ्रान्त ज्ञान सहित) निवास करता है। इस स्थिति के प्राप्त होने पर मनुष्य को सत्य व असत्य का विवेक प्राप्त हो जाता है जो कि मृत्यु से पार होने अर्थात् मोक्ष प्राप्ति की अर्हता है। कालान्तर में म्ृत्यु आने पर मनुष्य जन्म व मरण के, कर्म–फल–भोग के, चक्र से **43** नील वर्षों के लिए मुक्त हो जाता है।

142.

143. आजकल मनुष्य जिस प्रकार अर्थ वा धन तथा सुख-सुविधाओं रूपी भोगों का जीवन व्यतीत कर रहा है उससे वह कर्म-फल बन्धन में फंसता जाता है जिससे

मृत्योपरान्त उसकी उन्नति होने के स्थान पर अवनति होती है। किस प्रवृत्ति के मनुष्य का अगला जन्म किस-किस पशु-पक्षी आदि निम्न योनी में हो सकता सकता है इसका अनुमान मनुस्मृति एव दर्शन आदि ग्रन्थों सहित महर्षि दयानन्द के साहित्य को पढ़कर लगाया जा सकता है। इस लेख को लिखने का हमारा प्रयोजन पाठकों का ध्यान वेदों की बहुमूल्य शिक्षाओं की ओर आकर्षित करना है जिससे वह अभ्युदय व निःश्रेयस को प्राप्त कर सके। आशा है कि यह लेख सामान्य पाठको के लिए उपयोगी होगा। यह भी कहना है कि लेखक एक साधारण व्यक्ति है जिसने यह लेख अपने स्वाध्याय व उससे प्राप्त किंचित विवेक के आधार पर लिखा है। इस विषय में पाठक महर्षि दयानन्द व वेदादि ग्रन्थों का स्वाध्याय कर लाभान्वित हो सकते हैं। इति

144.

145. -मनमोहन कुमार आर्य

146. पताः 196 चुक्खूवाला-2

147. देहरादून-248001

148. फोनः09412985121

149. 'क्या हमारा पहले एक व अनेक बार मोक्ष हुआ है?'

150. APRIL 4, 2016 LEAVE A COMMENT

151. ओ३म्

152. **'क्या हमारा पहले एक व अनेक बार मोक्ष हुआ है?'**

153. –मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

154. मनुष्य योनि मोक्ष का द्वार है। मोक्ष दुःखों से सर्वथा निवृत्ति और जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति को कहते हैं। मनुष्य व अन्य प्राणियों की आत्माओं का जन्म उनके पूर्व मुनष्य जन्मों के शुभ व अशुभ कर्मों के फलों के भोग के लिए होता है। ऐसी शास्त्रीय मान्यता है कि जब मनुष्य के शुभ कर्म अशुभ कर्मों की अपेक्षा 50 प्रतिशत से अधिक होते हैं तो मनुष्य जन्म और जब शुभ कर्म 50 प्रतिशत से कम होते हैं तो अन्य योनियों में कर्मानुसार जन्म होता है। अब यदि इस ईश्वरीय व्यवस्था को जानकर कोई मनुष्य दृण संकल्प कर शुभ व अशुभ कर्मों का ज्ञान प्राप्त कर ले और अशुभ कर्म करना छोड़ दे तथा सभी शुभ कर्म यथा ईश्वरोपासना-योगाभ्यास-ध्यान व समाधि का अभ्यास, दैनिक अग्निहोत्र, पितृ यज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ और अतिथि यज्ञ सहित राष्ट्र धर्म का पालन और परोपकार व सेवा आदि के कर्म करे, अज्ञान, अन्धविश्वास और कुरीतियों से सर्वथा पृथक रहे तो क्या होगा? इसका एक ही परिणाम है कि उसका मनुष्य जन्म होगा। पशु व पक्षियों आदि निकृष्ट प्राणी योनियों में इस लिए जन्म नहीं होगा क्योंकि उसके शुभ कर्म 50 प्रतिशत कर्मों से कहीं अधिक हैं। अब यदि वह व अनेक मनुष्य वेदोक्त कर्म-फल सिद्धान्त को जानकर अपने सभी शुभ कर्म ज्ञानपूर्वक करते है और उसमें फल की आसक्ति का त्याग करते हुए करते हैं तो उसका मोक्ष होना निश्चित होता है। ऐसे मनुष्य की अवस्था को जीवनमुक्त अवस्था कहते हैं जो उसे मृत्यु के पश्चात मोक्ष प्रदान कराती है। यह अवस्था एक जन्म वा अनेक जन्मों में प्राप्त हो सकती है।

155.

156. सृष्टि में ईश्वर, जीव व प्रकृति अनादि, नित्य व अनुत्पन्न हैं। इसका यह अर्थ भी है कि हमारी इस सृष्टि से पूर्व अनन्त बार यह सृष्टि बनी और प्रलय को प्राप्त हुई है और आगे भी ऐसा ही होगा। सृष्टि और प्रलय का यह प्रवाह सदैव चलता रहेगा। यदि हम एक ही सृष्टि के 4.32 अरब वर्षों की अवधि की बात करें और यह अनुमान व कल्पना करें कि हर बार हम मनुष्य बने हों और हमारी औसत आयु 100 वर्ष रही हो तब भी एक ही सृष्टि काल में हमारे 4 करोड़ 32 लाख बार जन्म व मृत्यु होना निश्चित होता है। इस सृष्टि से पूर्व अनन्त बार सृष्टि होने के सिद्धान्त से तो हमारे अब तक अनन्त जन्म हो चुके हैं, अनुमान होता है। अतः हम सब मनुष्य व जीवात्माओं के अनन्त जन्म होने से अनेक बार हमारा मोक्ष होना भी सम्भव है। इस अनुमान से यह भी पता चलता है कि शायद ही कोई जीवयोनि ऐसा हो जिसमें हमारा कई-कई बार जन्म और मुत्यु न हुई हो। हमारे विद्वान बताते हैं कि मनुष्य को मृत्यु से जो भय लगता है उसका मुख्य कारण उसका मृत्यु का पुराना संस्कार है। प्रत्येक जीवात्मा अपने पूर्व जन्मों में अनेक बार मर चुका है, इसलिए पूर्व जन्मों के संस्कारों व स्मृति के कारण वह इस जन्म में मरने से डरता है। यदि जीवात्मा का पूर्व जन्म न होता तो वह मरने से क्यों डरता क्योंकि जिसका अनुभव न हो उसके प्रति प्रसन्नता व भय नहीं हुआ करता। अतः हमारी आत्मा का अनेक बार मोक्ष होना अनुमान के आधार पर सम्भव व सिद्ध है।

157.

158. अब हम एक प्रश्न पर और विचार करते हैं कि जब हमारा अनेक बार मोक्ष हो चुका है और शास्त्रीय आधार पर 36,000 बार सृष्टि होने और प्रलय के काल तक की अवधि के 8.64 अरब वर्षों तक मोक्ष में रह चुके हैं तो मोक्ष के बाद जन्म होने पर हम व अन्य प्राणी व जीवात्मायें शुभ कर्मों का त्याग और बुरे कर्मों को करके इतने गिर गये कि वह आज मनुष्य व अन्य योनियों में पहुंच गये हैं जहां उनको नानाविध असहनीय दुःख भोगने पड़ रहे हैं और फिर भी वह स्वार्थान्ध होकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। शायद इसी लिए हमने अनेक वैदिक विद्वानों के प्रवचनों में सुना है कि मनुष्य के गिरने की भी कोई सीमा नहीं है, यह सिद्ध हो रहा है और महर्षि दयानन्द व उनके अनुयायी कुछ विद्वानों को देखकर यह भी अनुभव होता है कि मनुष्य की उन्नति व ऊपर उठने की भी कोई सीमा नहीं है। आज का मनुष्य कितना गिर चुका है, यह इस बात से ज्ञात होता है कि यदि कोई किसी मनुष्य को मोक्ष व जीवन की उन्नति विषयक वैदिक सत्य विचारों से परिचित कराना चाहें तो वह सुनने को तैयार नहीं होता है। आज सभी मनुष्य धर्म-मत-मजहब-गुरु-रिलीजन आदि में बंटे हुए हैं और अपने अपने मत में सन्तुष्ट हैं। उन्हें जो बताया गया है उसमें उन्हें कभी शंका ही नहीं होती जबकि वैदिक दृष्टि से विचार करने पर उनकी मान्यतायें असत्य वा अधूरी पाई जाती हैं। इसे संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य कह सकते हैं कि मनुष्य जिसको परमात्मा ने सत्य व असत्य के विवेक की बुद्धि दी हुई है वह अपने यथार्थ हित मोक्ष व जीवनोन्नति की बातों को भी जानबूझकर दृष्टि से ओझल करता है। इसका परिणाम जो हो सकता है वह वैदिक मत के लोग भली प्रकार से जानते हैं। इतना सब होते हुए भी महर्षि दयानन्द सरस्वती (1825-1883) अपने समय में सत्य वैदिक मत वा धर्म के प्रचार के इस महान कार्य में प्रवृत्त हुए थे और उन्होंने अपने प्राणों की चिन्ता न कर अपना एक-एक क्षण मनुष्यों के कल्याण के लिए समर्पित किया था। धन्य हैं महर्षि दयानन्द व उनकी पहली व दूसरी पीढ़ी के अनुयायी जिन्होंने एक आदर्श

उपस्थित किया था। आज भी हमारी दृष्टि में अनेक विज्ञ लोग इस मोक्ष मार्ग के पथ के अनुगामी हैं जिनमें हम स्वामी सत्यपति जी, स्वामी चित्तेश्वरानन्द जी और श्री सत्यजित् आर्य जी के नाम ले सकते हैं। हम अनुभव करते हैं कि आज का समय भौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति व सुख भोग का है। लोगों की प्रवृत्ति सत्य धर्म व उसके पालन में बहुत कम है। हमें लगता है कि अब लोग भौतिकवाद से ऊबने लगे हैं। आने वाला समय आध्यात्मवाद अर्थात् यौगिक जीवन व इससे मानसिक सुख शान्ति प्राप्त करने का होगा। स्वामी रामदेव जी का आन्दोलन भी लोगों को इसी दिशा में आगे बढ़ा रहा है। यह भी निश्चय है कि बड़े से बड़ा भौतिक सुख आध्यात्मिक आनन्द, ईश्वर के सान्निध्य का आनन्द, से बड़ा नहीं हो सकता। अतः वैदिक धर्म का प्रचार व प्रसार हर युग व समय की आवश्यकता है।

159.

160. लेख को विराम देने से पूर्व हम महर्षि दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश में वर्णित मुक्ति में बिना शरीर के आनन्द भोगने के समाधान विषयक विचारों को प्रस्तुत करते हैं। वह लिखते हैं कि जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है वैसे परमेश्वर के आधार मुक्ति के आनन्द को जीवात्मा भोगता है। वह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टिविद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक लोकान्तरों मे अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं, और नही दीखते उन सब मे घूमता है। वह सब पदार्थों को जो कि उस के ज्ञान के आगे हैं सब को देखता है। जितना ज्ञान अधिक होता है उसको उतना ही आनन्द अधिक होता है। मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी होकर उस को सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है। यह जानने योग्य है कि मनुष्य जब तक मुक्त नहीं होगा तब तक जन्म मरण व नाना योनियों में भ्रमण करेगा जिससे वह दुःखों से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकता। मुक्ति किसी भी मत व मतान्तर वाले को प्राप्त हो सकती है। इसके लिए मोक्ष के साधनों को अपनाना होगा जो केवल वेदों व वैदिक जीवन पद्धति में ही उपलब्ध हैं। हम मनुष्य हैं, अतः हम सबको मनन कर हमें जीवन-मृत्यु व मोक्ष के रहस्य को यथार्थ रूप में जान व समझकर अपने दुःखों का अधिकाधिक निवारण करने हेतु ययोग्य प्रयास करना समीचीन है।

161. –मनमोहन कुमार आर्य

162. पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

163. देहरादून**-248001**

164. फोनः**09412985121**

वैदिक त्रैतवाद (वेद मन्त्र भावार्थ)

MARCH 31, 2016 LEAVE A COMMENT

वेद मन्त्र भावार्थ

-लालचन्द आर्य

आप परोपकारी के सभी अंकों में अनेक स्थानों पर महर्षि दयानन्द जी के वेद मन्त्रों के भावार्थ प्रकाशित करते हो, जिनसे पाठकों को ऋषि की विशेष मान्यताओं का बार-बार बोध

होता रहता है। यह वेद प्रचार की एक उत्तम क्रिया है। मैं महर्षि दयानन्द के पाँच वेद मन्त्रों के भावार्थ परोपकारी में प्रकाशन के लिये भेज रहा हूँ, जिनके अध्ययन से वैदिक त्रैतवाद अर्थात् जीव, प्रकृति और परमात्मा के विषय में मेरी सभी शंकाओं का समाधान हो गया है। इन मन्त्रों के भावार्थ में ऋषि की विशेष मान्यतायें हैं-

1. भावार्थ- जो मनुष्य विद्या और अविद्या को उनके स्वरूप से जानकर, इनके जड़-चेतन साधक हैं, ऐसा निश्चय कर सब शरीरादि जड़पदार्थ और चेतन आत्मा को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये साथ ही प्रयोग करते हैं, वे लौकिक दुःख को छोड़कर परमार्थ के सुख को प्राप्त होते हैं जो जड़, प्रकृति आदि कारण वा शरीरादि कार्य न हो तो परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति और जीव कर्म, उपासना और ज्ञान के करने को कैसे समर्थ हों? इससे न केवल जड़ और न केवल चेतन से अथवा न केवल कर्म से तथा न केवल ज्ञान से कोई धर्मादि पदार्थों की सिद्धि करने में समर्थ होता है। – महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ 40-14
2. भावार्थ- इस मन्त्र में उपमालंकार है। जैसे अग्नि के कारण सूक्ष्म और स्थूल रूप हैं, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के भी हैं, वैसे सब उत्पन्न हुए पदार्थों के तीन स्वरूप हैं। हे विद्वन्! जैसे तुमहारा विद्या जन्म उत्तम है, वैसा मेरा भी हो। -महर्षि दयानन्द, ऋग्वेद, भावार्थ- मं. 1 सू. 163 म. 4
3. भावार्थ-हे मनुष्यो! इस शरीर में दो चेतन नित्य हुए- जीवात्मा और परमात्मा वर्तमान है, उन दोनों में एक अल्प, अल्पज्ञ और अल्प देशस्य है। वह शरीर को धारण करके प्रकट होता, बुद्धि को प्राप्त होता और परिणाम को प्राप्त होता तथा हीन दशा को प्राप्त होता, पाप और पुण्य के फल का भोग करता है। द्वितीय परमेश्वर ध्रुव निश्चल, सर्वज्ञ, कर्म फल के समबन्ध से रहित है, तुम लोग निश्चय करो। – महर्षि दयानन्द ऋग्वेद म. 6, सु. 9, म. 4 भावार्थ
4. भावार्थ- हे मनुष्यो! इस शरीर में सच्चिदानन्द-स्वरूप अपने से प्रकाशित ब्रह्म-द्वितीय, तृतीय-मन, चौथी- इन्द्रियाँ, पाँचवें- प्राण, छठा- शरीर वर्तमान है। ऐसा होने पर समपूर्ण व्यवहार सिद्ध होता है, जिनके मध्य में सबका आधार ईश्वर, देह, अन्तरण, प्राण और इन्द्रियों का धारण करने वाला और जीवादिकों का अधिष्ठान शरीर है, यह जानो। – महर्षि दयानन्द ऋग्वेद म. 6, सु. 9, म. 5 भावार्थ
5. भावार्थ- जो ज्ञानी धर्मात्मा मनुष्य मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं, उनका उस समय ईश्वर ही आधार है। जो जन्म हो गया- वह पहला और जो मृत्यु वा मोक्ष हो के होगा- वह दूसरा, जो है वह तीसरा और जो विद्या वा आचार्य से होता है- वह चौथा जन्म है। यह चार जन्म मिलके एक जन्म, जो मोक्ष के पश्चात् होता है, वह दूसरा जन्म है। इन दोनों जन्मों के धारण करने के लिये सब जीव प्रवृत्त हो रहे हैं, यह व्यवस्था ईश्वर के अधीन है। – महर्षि दयानन्द ऋग्वेद म. 1, सु. 31, म. 7
6. भावार्थ- हे परमेश्वर और जीव! तुम दोनों में बल, विज्ञान तथा कर्मों की प्रेरणा एक साथ होते हैं। – महर्षि दयानन्द ऋग्वेद म. 1, सु. 16, म. 4

– म.नं. **1223/34,** शीतलनगर**,** बागवालीगली**,** झज्जररोड**,** रोहतक**,** हरि.**-124001**

‘होली और उसके पूर्व महाभारतकालीन स्वरुप पर विचार’

ओ३म्

‘होली और उसके पूर्व महाभारतकालीन स्वरुप पर विचार’

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

भारत और भारत से इतर देशों में जहां भारतीय मूल के लोग रहते हैं, प्रत्येक वर्ष फाल्गुन माह की पूर्णिमा के दिन रंगों का पर्व होली हर्षोल्लास पूर्वक मनाया जाता है। होली के अगले दिन लोग नाना रंगों को एक दूसरे के चेहरे पर लगाते हैं, मिठाई व पकवानों का वितरण आदि करते हैं और कुछ हुड़दंग भी करते हैं। क्या होली का प्राचीन स्वरुप भी वर्तमान जैसा था? इससे कुछ भिन्न था वा यह वर्तमान स्वरूप पूर्व की विकृति वा रूपान्तर है?

विचार करने पर ज्ञात होता है कि भारत की धर्म व संस्कृति 1.96 अरब पुरानी है। महाभारत काल, आज से लगभग 5000 वर्ष पूर्व, तक वैदिक संस्कृति अपने मूल स्वरूप में देश देशान्तर में विद्यमान रही। इसका प्रमाण है कि भारत में वेदों के साक्षात ज्ञानी, ऋषि, मुनि व योगी महाभारत काल तक बहुतायत में रहे हैं। दूसरा प्रमाण यह है कि न भारत में और न हि विश्व के किसी अन्य देश में आज से पांच हजार वर्ष पूर्व की किसी अन्य धर्म, संस्कृति का कोई प्रमाण मिलता है। महाभारत ग्रन्थ में ऐसे अनेक प्रमाण है कि प्राचीन काल में भारत के लोग विश्व वा यूरोप के प्रायः सभी देशों में आते जाते थे। मनुस्मृति ग्रन्थ सृष्टि के आदि में रचा गया जिसमें वर्णन है कि यह आर्यावर्त्त देश ही संसार का अग्रजन्मा देश है। संसार के सभी देशों के लोग यहां विद्यार्जन करने आते थे और अपने योग्य चरित्र आदि की शिक्षा लेते थे। यहां से वेदों आदि व सभी विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर अपने देश में उसका प्रचार व उपयोग करते कराते थे।

वेद मनुष्य के जीवन को सुखमय बनाने के लिए ईश्वरोपासना सहित पंचमहायज्ञों का विधान करते हैं। इन पंच महायज्ञों में मनुष्यों के अनेक व अधिकांश कर्तव्य आ जाते हैं। वैदिक धर्म व संस्कृति “वसुधैव कुटुम्बकम” की भावना को मानने वाली संस्कृति है। यहां सभी लोग सृष्टि के आदि काल से ‘सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।’ की प्रार्थना करते आ रहे हैं। अतः आज जैसी होली महाभारतकाल तक भारत व विश्व में कहीं होने की कोई सम्भावना नहीं है। अनुमान है कि वर्तमान जैसी होली का प्रचलन मध्यकाल में पुराणों की रचना से कुछ समय पूर्व व रचना होने से प्रचलित हुआ। प्राचीन काल में तो प्रत्येक माह पूर्णमास पर बड़े-बड़े यज्ञों का प्रचलन होने का अनुमान होता है। वृहत यज्ञों के उस प्राचीन स्वरूप का अनुसरण ही मध्यकाल से प्रचलित होकर वर्तमान काल तक फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन रात्रि को होली जलाकर किया जा रहा है। यज्ञ से वायुमण्डल शुद्ध, पवित्र, सुगन्धित व स्वास्थ्यवर्धक होता है। यज्ञ से बादल बनते हैं, समय पर आवश्यकतानुसार वर्षा होती है, अतिवृष्टि वा अनावृष्टि नहीं होती, शुद्ध, पवित्र व स्वास्थ्यवर्धक अन्न उत्पन्न होता है व यज्ञ में देवपूजा, संगतिकरण व दान करने से ऐसे अनेक लाभों सहित हमारे अन्दर पाप की प्रवृत्ति का भी शमन होता है। इसके साथ अदृष्ट धर्म लाभ भी

होता है जिससे हमारा वर्तमान, भविष्य, परजन्म सुधरता है व अच्छे कर्मों के सग्रंह से मोक्ष की प्राप्ति की ओर जीवात्मा प्रवृत्त होता है।

फाल्गुन की पूर्णिमा को मनाये जाने का एक कारण यह भी है कि भारत में सृष्टि के आदि काल से प्रचलित चैत्र, बैसाख, ज्येष्ठ, आषाण आदि बारह हिन्दी महीने जो चैत्र से आरम्भ होकर फाल्गुन की पूर्णिमा को समाप्त होते हैं, उनमें फाल्गुन पूर्णिमा वर्ष का अन्तिम दिन होता है। आज हिन्दी के बारह महीनों का अन्तिम महिना फाल्गुन का अन्तिम दिन है। एक प्रकार से वर्ष का अन्त हो रहा है। कल से चैत्र का महीना आरम्भ होगा। यह वर्ष का पहला महीना होता है। अतः वर्ष के अन्त पर वृहत्त यज्ञ का आयोजन कर उसे विदाई दी जाती थी और हो सकता है कि नये वर्ष के प्रथम महीने चैत्र के प्रथम दिन को नये वर्ष के रूप में हर्षोल्लास पूर्वक मनाया जाता रहा हो। इसका इतना अभिप्राय हो सकता है कि यदि किसी का किसी के प्रति कोई द्वेष भाव होता रहा होगा तो इस दिन उसे छोड़ने का संकल्प लिया जाता होगा व ऐसे लोग परस्पर मिलकर आपस में प्रेम व मैत्री पूर्ण संबंध पुनः स्थापित करने की प्रतिज्ञा करते होंगे। उसी का कुछ विकृत रूप आज एक दूसरे पर रंग लगाकर, गले मिलकर, स्वादिष्ट पदार्थों का परस्पर वितरण करके व रंग डालकर मनाने की परम्परा मध्यकाल व उसके बाद से चल पड़ी है। ऐसा देखा जाता है कि इस दिन लोग हुड़दंग करते हैं, कुछ नशा करके गलत उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं तथा कहीं कहीं परस्पर लड़ाई झगड़े आदि भी हो जाते हैं। वर्तमान का समय शिक्षा व आधुनिकता का युग है अतः सभी को सभ्यता का अच्छा उदाहरण इस दिन प्रस्तुत करना चाहिये।

यह भी विचारणीय है कि होली से पूर्व शीत के महीने होते हैं। शीत ऋतु वृद्ध लोगों के लिए तो कष्टकर होती ही है परन्तु साथ हि युवा व बच्चों सहित निर्धन लोगों के लिए भी अति कष्टदायक होती है। अतः ऋतु परिवर्तन से शीत की निवृत्ति व सबके लिए सुखद ऋतु वसन्त के होने पर सबका हर्षित व प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है। देश के कृषक लोग भी इस अवसर पर प्रसन्नता व सुख का अनुभव करते हैं क्योंकि उनकी गेहूं व अन्य फसलें पक कर तैयार होती हैं। सारा वातावरण नये नये फूलों की सुगन्ध से सुवासित होता है। सभी वृक्ष अपने पुराने पत्ते-पत्तियों का त्याग कर नये हरे पत्ते धारण करते हैं जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र धारण करता है। इससे सारा वातावरण व उसका परिदृश्य मनमोहक व लुभावना बन जाता है। ऐसे में सामान्य मनुष्य का मन कुछ आमोद प्रमोद की बातों में लगना स्वाभाविक होता है जिसकी अभिव्यक्ति होली के चैत्र कृष्ण प्रथमा के पर्व से होती है। इतना ही निवेदन है कि मनुष्य को जोश के साथ होश भी रखना चाहिये। कहीं किसी के द्वारा इस पर्व पर कोई अमर्यादित बात व कार्य नहीं होना चाहिये। वैदिक साहित्य का अध्ययन कर हमें लगता है कि सभी परिवारों में पूर्णिमा व अगले दिन प्रथमा को अनिवार्य रूप से अग्निहोत्र व हवन का प्रचलन होना चाहिये जिसमें किसान अपनी नई फसल वा गेहूं की बालियों की आहुतियां भी दे सकते हैं जिससे यह पर्व मनाना सार्थक होता है। इस प्रकार यज्ञ पूर्वक होली को मनाना होली का मुख्य प्रतीक बनना चाहिये। इससे लाभ ही लाभ होगा। समाज, पर्यावरण व देश सभी उन्नत होंगे और ईश्वर प्रदत्त प्राचीन वैदिक धर्म व संस्कृति उन्नति को प्राप्त होगी।

होली के दिन प्रायः सभी घरों में स्वादिष्ट भोजन व नाना प्रकार के पकवान बनते हैं और लोग परस्पर अपने पड़ेसियों व मित्रों में इसका वितरण व सेवन आदि करते हैं। यह अच्छी प्रथा है। लेख को विराम देने से पूर्व इतना और निवेदन है कि इस दिन सभी समर्थ व सम्पन्न लोगों को समाज क निर्धन व साधनहीन लोगों तक अपनी ओर से उनके उपयोग की कुछ वस्तुयें वितरित करने का प्रयास करना चाहिये और उनको आगे बढ़ाने का कुछ सहयोग किया जा सके तो इसका विचार करना चाहिए। आज होली के दिन हमने कुछ क्षण जो चिन्तन किया है, उसे आपको सादर भेंट करते हैं और सभी बन्धुओं व मित्रों को हमारी होली के पर्व की बहुत बहुत शुभकामनायें हैं।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून**-248001**

फोनः**09412985121**

यम-यमी का वैदिक स्वरूप -शिवदेव आर्य

MARCH 20, 2016 LEAVE A COMMENT

प्रत्येक मनुष्य समाज को एक नई दिशा व दशा देने की पूर्णरूपेण योग्यता रखता है।अब दिशा व दशा कैसे हो, यह दिशा व दशा दिखाने वाले पर आश्रित है, वह अपने ज्ञान के आलोक से मार्गप्रशस्त करता है अथवा ज्ञान के आलोक के अभाव में सत्य मार्ग से हटा कर असत्य मार्ग का अनुसरण कराता है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का दशवाॅं सूक्त यम-यमी सूक्त है। इसी सूक्त के मन्त्र कुछ वृध्दि सहित तथा कुछ परिवर्तनपरक अथर्ववेद (18/1/1-16) में दृष्टिपथ होते हैं, अब विचारणीय है कि- यम-यमी क्या है? अर्थात् यम-यमी किसको कहा । इस प्रश्न का उदय उस समय हुआ जब आचार्य सायणादि भाष्यकारों ने यम-यमी को भाई-बहन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। भाई-बहन का इतना अश्लीलता परक अर्थ करके पाश्चात्य विद्वानों तथा पाखण्डियों को वेदों पर आक्षेप करने का अवसर प्राप्त करा दिया। इस अश्लील परक अर्थ को कोई भी सभ्य समाज का नागरिक कदापि स्वीकार नहीं कर सकता है।

प्रो. मैक्समूलर के मत में यम-यमी कोई मानवीय सृष्टि के पुरुष न थे किन्तु दिन का नाम यम और रात्री का नाम यमी है इन्हीं दोनों से विवाह विषयक वार्तालाप है। इस कल्पना में दोष यह है कि जब यम और यमी दोनों दिन और रात हुए तो दोनों ही भिन्न-भिन्न कालों में होते हैं। इससे यहाॅं इनको रात्री तथा दिन रूप देना सर्वथा विरु(है।

अनेक भारतीय लेखकों ने भी इन मन्त्रों के व्याख्यान को अलंकार बनाकर यम-यमी को दिन-रात सिद्ध किया है, इनके मत में भी कथा सर्वथा निरर्थक ही प्रतीत होती है, क्योंकि न

कभी दिन-रात को विवाह की इच्छा हुई और न कोई इनके विवाह के निषेध से अपूर्वभाव ही उत्पन्न होता है। आर्य समाज के उच्चकोटि के विद्वानों को भी इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं।

आचार्य यास्क जी ने 'यमी' का निर्वचन लिंभेद मात्र से 'यम' से माना है। 'यमो यच्छतीत सतः' अर्थात् यम को यम इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यह प्राणियों को नियन्त्रित करता है। पं. चन्द्रमणि जी के अनुसार 'यम' प्राण को कहते हैं, क्योंकि यह जीवन प्रदान करता है। (निरु.चन्द्रमणिभाष्य-10/12) निरुक्त भाष्यकर्ता स्कन्दस्वामी जी ने यम-यमी को आदित्य और रात्रि मानकर (10/10/8) मन्त्र की व्याख्या की है। स्वामी ब्रह्ममुनि यम-यमी को पति-पत्नी, दिन-रात्री और वायु-विद्युत् का बोधक मानते हैं। पं. भगवद्दत्त जी ने यम को अग्नि, आदित्य, वायु, मध्यम तमोभाग तथा यमी से पृथिवी और माध्यमिका वाक् अर्थ ग्रहण किये हैं।

चन्द्रमणि विद्यालप्रार जी ने अपने निरुक्त परिशिष्ट में सम्पूर्ण यम-यमी सूक्त की व्याख्या की है, जो भाई-बहन परक है, किन्तु सहोदर भाई बहन न दिखा कर सगोत्र दिखाने का प्रयास किया है।

किन्तु विभिन्नतत्त्वविद्रिष्णातों के भाव को शायद मैं ऋषिवर देव दयानन्द के विचारों से जोड़ने में असमर्थ हो रहा हूॅं, अतः मैं ऋषिवर के पथ का अनुसरण करता हूॅं ऋषि को समझने का प्रयास करता हूॅं यद्यपि ऋषिवर ने इस सूक्त का भाष्य नहीं किया है, पुनरपि सत्यार्थ-प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास के नियोग प्रकरण में इसी सूक्त के मन्त्र को प्रस्तुत किया है। ऋषिवर की उन पंक्तियों को प्रमाण रूप से यहाॅं उद्धृत करना अनिवार्य ही नहीं अपितु प्रसांिक भी होता है।

''जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे सुभगे! सौभाग्य की इच्छा कर क्योंकि अब मुझसे सन्तानोत्पत्ति न हो सकेगी।'' (चतुर्थसमुल्लास, सत्यार्थ-प्रकाश)

ऋषिवर की इन पक्तियों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस सूक्त में पति-पत्नि का संवाद है न कि भाई-बहन का। हम स्वामी दयानन्द कि इन पक्तियों को इसलिए और भी प्रमाण रूप में स्वीकार करेंगे क्योंकि दयानन्द जी एक मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे। जिनके समान वेदों का भाष्य, मन्त्रों का यथार्थ स्वरूप किसी अन्य का प्रतीत नहीं होता।

अब हम व्याकरण कि दृष्टि से यम-यमी शब्द को जानने का यत्न करते हैं। महर्षि पाणिनि के व्याकरण के अनुसार 'पुंयोगादाख्याम्'(अष्टा.-4/1/48) इस सूक्त से यमी शब्द में ङीष् प्रत्यय हुआ है। इससे ही पत्नी का भाव द्योतित होता है। यदि यम-यमी का अर्थ भाई-बहन लिया जाता तब यम-यमा ऐसा प्रयोग होना चाहिए था, जबकि ऐसा प्रयोग नहीं है। जैसे हम लोकव्यवहार में देखते हैं कि आचार्य की स्त्री आचार्याणी, इन्द्र की स्त्री इन्द्राणी आदि प्रसिध्द है न कि आचार्याणी से आचार्य की बहन अथवा इन्द्राणी से इन्द्र की बहन स्वीकार की जाती है। ऐसे ही यमी शब्द से पत्नी और यम शब्द से पति स्वीकार करना चाहिए। अर्थात् यम की स्त्री यमी ही होगी।

सायण के यम-यमी संवाद भाई-बहन का संवाद कदापि नहीं हो सकता। ये तो सायण ने अपनी इच्छानुसार ही कल्पित अर्थ को जन्म दे दिया है। जिसको हम आज भी स्वीकार करते चले आ रहे हैं। इस अर्थ के कारण पाश्चात्य विद्वानों के आक्षेप तथा विधर्मियों के विवाद सदैव हम सबके समक्ष उपस्थित होते रहे हैं। आर्य विद्वान् जो सायण आदि से प्रभावित हुए हैं। वे भी वैसा ही अर्थ कर गए। भाई-बहन का ऐसा पशु तुल्य व्यवहार वैदिक कदापि नहीं हो सकता। मानव समाज में शिष्टाचार और सभ्यतापूर्वक सम्बन्धों की परम आवश्यकता है। ऋषिवर देव दयानन्द ने जो तिरोहित वेद ज्ञान की ज्योति को पुनर्जीवित किया है। उसके प्रकाश में जो पथभ्रष्ट हो रहे हैं, वे निश्चित ही अंधकार से संलिप्त हैं।

इस सूक्त के ग्यारहवें मन्त्र में भ्राता तथा स्वसा नाम दिये गये हैं। जिसको पढ़ने से कोई भी जन पूर्वापर प्रसंग को समझ सकता है। इस पूर्वापर प्रकरण को देखकर मन्त्रार्थ पर विचार-विमर्श करें तो स्वतः ही भ्रान्ति का निवारण हो जाएगा।

आ घा तो गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।

उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्।। (10/10/10)

इस मन्त्र के माध्यम से सन्तति उत्पत्ति में असमर्थ पति अपनी पत्नी को कहता है कि हे सौभाग्यशालिनी! तू अन्य वीर्यवान् पुरुष के बाहु का सहारा ले और इस प्रकार सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ मुझ पति से अतिरिक्त पति की इच्छा कर।

इस मन्त्र के भाव से यथार्थ स्पष्ट हो जाता है कि इन मन्त्रों में पति-पन्ति परक अर्थ का ही ज्ञान करना चाहिए। क्योंकि इससे अगले ही मन्त्र-

किं भ्रातासद्यदनायं भवाति किमुस्वसा किमुस्वसा यन्ऋनटी तिर्निगच्छात्।

काममूता बह्वे तद्रपामि मे तन्वं सं पिपृग्धि॥ (**10/10/11)**

इन मन्त्र की व्याख्या में पत्नी पति की भर्त्सना करती हुयी कहती है कि- क्या अब मै तुम्हारी पत्नी न होकर बहन हो गई हूँ। क्या तुम मेरे पति न होकर भाई हो, जो मैं अन्यत्र चली जाऊँ।

इससे अगले मन्त्र अर्थात् 12 वें मन्त्र में यम के उत्तर से सम्पूर्ण सूक्त की यर्थाथता समझी जा सकती है। मन्त्र इस प्रकार है –

न वा उ ते तन्वा सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।

अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत्।। (10/10/12)

इस मन्त्र में पति कहता है कि – जब मैं असमर्थ हो तुझे दूसरे पति से नियोग की आज्ञा दे दी तो तू मेरी बहन समान हुयी और मैं तेरा भाई समान। अतः मैं तूझे आदेश देता हूँ कि तू मुझ से अन्य श्रेष्ठ पुरुष का समागम कर।

जो सायण आदि ने भाई-बहन परक अर्थ किया है, शायद वह इस मन्त्र भाव को न समझ कर किया होगा।

इस सूक्त में अलंकारिक वर्णन किया गया है। यह सर्वथा ज्ञात रहे कि यम-यमी मानुषी सृष्टि के स्त्री या पुरुष नहीं हैं, यहाँ नियोग प्रकरण को समझाने के लिए यम-यमी को पति-पत्नी का रूप दिया गया है।

यह सम्पूर्ण कृत नियोग पध्दति का है। सामान्य स्थिति के लिए यह पध्दति नहीं है। नियोग के समस्त नियम-उपनियम व अधिकार स्वामी दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ सम्मुल्लास को देखें।

पूर्वापर मन्त्रार्थ की संगति से स्पष्ट हो जाता है कि भ्राता तथा स्वसा इन दोनों शब्दों का वहाँ पर क्या भाव है और सम्पूर्ण सूक्त की संगति पति-पत्नी परक मन्त्रार्थ ही सत्य ही प्रतीत होता है अन्यार्थ तो बस लोगों की कल्पनामात्र ही प्रतीत होती है।

-शिवदेव आर्य

गुरुकुल-पौन्धा, देहरादून (उ.ख.)

मो.-08810005096

shivdevaryagurukul@gmail.com

उपदेश प्रारमभ होने से पूर्व आप एक वेदमन्त्र (ओं यतो यतः समीहसे ततो नोऽभयम् कूरू…..) का उच्चारण करते हैं। मैं भी दैनिक यज्ञ में प्रतिदिन आहुति इस मन्त्र से डालती हूँ, परन्तु इसका मुझे भावार्थ पूर्ण रूप से समझ नहीं आ रहा है। कृपया, इसका भावार्थ समझाएँ।

MARCH 16, 2016 LEAVE A COMMENT

जिज्ञासा- उपदेश प्रारमभ होने से पूर्व आप एक वेदमन्त्र (ओं यतो यतः समीहसे ततो नोऽभयम् कूरू…..) का उच्चारण करते हैं। मैं भी दैनिक यज्ञ में प्रतिदिन आहुति इस मन्त्र से डालती हूँ, परन्तु इसका मुझे भावार्थ पूर्ण रूप से समझ नहीं आ रहा है। कृपया, इसका भावार्थ समझाएँ।

– सुमित्रा आर्या, **261/8,** आदर्शनगर**,** सोनीपत**,** हरियाणा

समाधान-

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरू।

शं नः कुरू प्रजायोऽभयं नः पशुभयः।।

-यजु. 36.22

इस मन्त्र का पदार्थ सहित भावार्थ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में महर्षि लिखते हैं पदार्थ आर्याभिविनय पुस्तक से लिया है। (यतः+यतः) जिस-जिस देश से (समीहसे) समयक् चेष्टा करते हो (ततः) उस-उस देश से (नः) हम को (अभयम्) भय रहित (कुरू) करो (शम्) सुख (नः) हमको (कुरू) करो (प्रजायः) प्रजा से (अभयम्) भय रहित (नः) हमको (पशुयः) पशुओं से।

भावार्थ विस्तार से यह है- हे परमेश्वर! आप जिस-जिस देश से जगत् के रचना और पालन के अर्थ चेष्टा करते हैं, उस-उस देश से हमको भय से रहित करिए, अर्थात् किसी देश (स्थान) से हमको किञ्चित् भी भय न हो, वैसे ही सब दिशाओं में जो आपकी प्रजा और पशु हैं, उनसे भी हमको भयरहित करें तथा हमसे उनको सुख हो, और उनको भी हम से भय न हो तथा आपकी प्रजा में जो मनुष्य और पशुआदि हैं, उन सबसे जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पदार्थ हैं, उनको आपके अनुग्रह से हमलोग शीघ्र प्राप्त हों, जिससे मनुष्य जन्म के धर्मादि जो फल हैं, वे सुख से सिद्ध हों।। – ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका ई.प्रा.वि.

अथ सृष्टि उत्पत्ति व्याखयास्याम्

MARCH 12, 2016 9 COMMENTS

अथ सृष्टि उत्पत्ति व्याखयास्याम्

– शिवनारायण उपाध्याय

वैदिक वाङ्मय में इस विषय पर कई स्थानों पर विचार किया गया है। ऋग्वेद, मुण्डकउपनिषद्, तैत्तिरीयउपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, छान्दोग्यउपनिषद् तथा बृहदारण्यकउपनिषद् में इस विषय पर विस्तार से विचार किया गया है। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर मैं भी इस विषय पर पूर्व में छः लेख लिख चुका हूँ। एक बार पुनः इसी विषय को लिखने का उपक्रम इसलिए करना पड़ रहा है कि आर्य समाज के ही प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती आन्ध्रप्रदेश ने माह जून 2015 में 'वैदिकपथ' पत्रिका में एक लेख प्रकाशित करवाया है, जिसमें सृष्टि की आयु के स्वामी दयानन्द सरस्वती के निर्णय का विरोध किया है।

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में विज्ञान का मानना तो यह है कि सृष्टि की उत्पत्ति Big Bang (भयंकर विस्फोट) के साथ ही प्रारमभ हुई और परिवर्तन के कई चरणों से गुजरती हुई वर्तमान स्थिति में पहुँची है। Big Bang के साथ ही आकाश और समय का कार्य प्रारमभ हुआ। सृष्टि उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार रहा- आकाश, ज्वलनशील वायु, अग्नि, जल और निहारिका का मण्डल। निहारिका मण्डल में ही सौर मण्डलों ने स्थान पाया। पृथ्वी की उत्पत्ति सूर्य से छिटक कर अलग होने के बाद धीरे-धीरे परिवर्तित होकर वर्तमान रूप में हुई। श्वास लेने योग्य वायु के बनने, पानी के पीने योग्य होने पर पानी के अन्दर सर्वप्रथम जलचरों को

जीवन मिला। फिर क्रमशः जल-स्थलचर, स्थलचर और आकाशचर प्राणियों की उत्पत्ति हुई। सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व क्या था? इस विषय में विज्ञान का कहना है कि Big Bang के बाद ही सृष्टि नियम विकसित हुए हैं और उनके आधार पर हम घोषित कर सकते हैं कि भविष्य में कब क्या होगा और वे घोषणाएँ सब सत्य सिद्ध हो रही हैं, अतः हमें Big Bang के पूर्व की स्थिति को जानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके अज्ञान से हमारे वैज्ञानिक कार्य पर कोई भी प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। अस्तु।

वैज्ञानिक विचार धारा पर संक्षेप में वर्णन कर देने के उपरान्त अब हम इस विषय पर वैदिक वाङ्मय के विचार पाठकों के सामने रखने का प्रयास कर रहे हैं। वैदिक वाङ्मय में सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व की स्थिति का वर्णन भी किया गया है। पाठकों के लिए नासदीय सूक्त के मन्त्र दिये जा रहे हैं-

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमाऽपरोयत्।

किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नभः किमासीद्गहनं गभीरम्।।

-ऋग्वेद 10.129.1

अर्थ- (नासदासीत्) जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण विद्यमान था। असत् शून्य नाम आकाश भी उस समय नहीं था क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था। (ना सदासीत्तदानीम्) उस काल में सत् अर्थात् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण मिलाकर जो प्रधान कहाता है, वह भी नहीं था। (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे तथा (नो व्योमाऽपरोयत्) विराट अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है, वह (आकाश) भी नहीं था। (किमावरीव.......गभीरम्) जो यह वर्तमान जगत् है, वह भी अत्यन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढँक सकता है और उससे अधिक वा अथाह भी नहीं हो सकता है, जैसे कोहरे का जल पृथ्वी को नहीं ढँक सकता है तथा उस जल से नदी में प्रवाह नहीं आ सकता है और न वह कभी गहरा अथवा उथला हो सकता है।

तम आसीत्तमसा गुलमग्रेऽप्रकेतं सलितं सर्वमा इदम्।

तुच्छ्येनावपिहितं यवासीत्तपसस्तन्माहिना जायतैकम्।।

– ऋ. 10.129.3

अर्थ- उस समय यह जगत् अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य, आकाशरूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सममुख एकदेशी आच्छादित तथा पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारण रूप से कार्य रूप में कर दिया।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।।

– ऋ. 10.129.2

सृष्टि के पूर्व प्रलयकाल में मृत्यु नहीं थी, मृत्यु के अभाव में अमरता भी नहीं थी। न मारक शक्ति के विपरीत अमृत अथवा सब जीव मुक्तावस्था में थे, ऐसा भी नहीं कह सकते। रात्रि एवं दिन का प्रज्ञान भी नहीं था। उस समय केवल वायु की अपेक्षा न रखने वाला सदा जाग्रत ब्रह्म ही था। उस समय उससे भिन्न, उसके समान अथवा उससे अधिक कुछ भी नहीं था। प्रकृति ऊर्जारूप में परिवर्तित होकर अव्यक्त थी।

फिर सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई, इस पर तैत्तिरीय उपनिषद् का कहना है-

'सो कामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तस्वा इदं सर्वमसृजत। यदिद किञ्च। तत सृष्टावा तदेवानु प्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्चत्यच्यामवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयन चानिलयन च। विज्ञानं चापिज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत। यदिद किञ्च। तत्सत्यमित्या चक्षते।

-तै.उप. ब्रह्मानन्दवल्ली अनुवाक 6

अर्थ- उसने कामना की कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ, तब उसने तप किया। क्रिया का प्रारमभ हो गया। जब यह क्रिया बढ़ते-बढ़ते उग्र रूप में पहुँची, तब उसे तप कहा गया। तप के प्रभाव से यह सब विश्व सृजा गया। सबकी सृष्टि करके वह ब्रह्म सृष्टि में अनुप्रविष्ट हो गया। आगे विपरीत कणों का वर्णन भी किया गया है-

सत्व रजस्तमसा सामयावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात्
पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेयः स्थूल भूतानि पुरुष इति पञ्च विंशतिर्गण।।

अर्थ- सत्व, रज और तम रूप शक्तियाँ हैं। इन शक्ति रूपों की समावस्था, निश्चेष्ठावस्था प्रकट रूपावस्था को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति से अहंकार, अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ तथा पञ्चतन्मात्राओं से पाँच स्थूलभूत, स्थूलभूतों से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन उत्पन्न होता है। पुरुष (चेतन सत्ता) इनसे भिन्न हैं। इन 25 पदार्थों को जानना, समझना विवेक में आवश्यक है।

ऋग्वेद में सृष्टि उत्पत्ति परमेश्वर ने इस प्रकार की है-

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मारइवाधमत्।

देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सद जायत।।

– ऋ. 10.72.2

प्रकृति और ब्रह्माण्ड के स्वामी परमेश्वर ने दिव्य पदार्थों के परमाणुओं को लोहार के समान धोंका, अर्थात ताप से तप्त किया है। वास्तव में इसी को वैज्ञानिकों ने भयंकर विस्फोट Big Bang कहा है। इन दिव्य पदार्थों के पूर्व युग, अर्थात् सृष्टि के प्रारमभ में अव्यक्त (असत्) प्रकृति से (सत्) व्यक्त जगत् उत्पन्न किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली के प्रथम अनुवाक में सृष्टि उत्पत्ति का क्रम भी बताया गया है-

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः समभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधय। ओषधीयोऽन्नम् अन्नाद् रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।।

अर्थात् परम पुरुष परमात्मा से पहले आकाश, फिर वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी उत्पन्न हुई है। पृथ्वी से ओषधियाँ, (अन्न व फल फूल) ओषधियों से वीर्य और वीर्य से पुरुष उत्पन्न हुए, इसलिए पुरुष अन्न रसमय है।

पृथ्वी की उत्पत्ति सूर्य में से छिटक कर हुई है, इस पर कहा गया है-

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भूव आशा अजायन्त|

अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि।।

– ऋ. 10.72.4

अर्थ- पृथ्वी सूर्य से उत्पन्न होती है। पृथ्वी से पृथ्वी की दशा को बताने वाले भेद उत्पन्न होते हैं। प्रातःकालीन उषा से आदित्य उत्पन्न होता है, अर्थात् दृष्टि गोचर होता है और सांय कालीन उषा आदित्य से उत्पन्न होती है।

सृष्टि उत्पत्ति पर विचार कर लेने पर अब सृष्टि की वर्तमान आयु पर विचार करते हैं। वर्तमान में सृष्टि का वर्णन Friedmann Model के अनुसार किया जाता है। इसमें Big Bang के साथ ही आकाश-समय निरन्तरता का जन्म हो जाता है, अर्थात् समय की गणना Big Bang के प्रारमभ होने के साथ ही शुरू हो जाती है। एक अमेरिकन वैज्ञानिक Edwin Hubble ने 9 विभिन्न आकाश गंगाओं (Galaxies) की दूरी जानने का प्रयत्न किया। उसने बताया कि हमारी आकाश गंगा तो अत्यन्त छोटी है, ऐसी तो करोड़ों आकाश गंगाएँ हैं। साथ ही उसने यह भी बताया कि जो (Galaxy) हमसे जितना अधिक दूर है, उतनी ही अधिक तेजी से वह हम से दूर भागती जा रही है। उसने उनकी हमसे दूर होने की चाल की गति भी ज्ञात कर ली। फिर इस सिद्धान्त पर भी Big Bang के समय तो सब एक ही स्थान पर थे। उन्हें इतना दूर जाने में कितना समय लगा, उसका एक नियम भी खोज लिया।

नियम है- V=HR. यहाँ V आकाश गंगा की हमसे दूर भागने की गति है, R आकाश गंगा की हमसे दूरी है और H Constant है। Edwin Hubble ने यह भी ज्ञात किया कि कोई भी आकाश गंगा जो हमसे d दश लाख प्रकाश वर्ष की दूरी पर है, उसकी दूर हटने की गति 19d मील प्रति सैकण्ड है। अतः अब समय R=106 d प्रकाश वर्ष, T =106×365×24×3600×186000d वर्ष

19d×3600×24×365

=186×109=9.7×109वर्ष

19

Saint Augustine ने अपनी पुस्तक The City of God में बताया कि उत्पत्ति की पुस्तक के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति ईसा से 500 वर्ष पूर्व हुई है।

बिशप उशर का मानना है कि सृष्टि की उत्पत्ति ईसा से 4004 वर्ष पूर्व हुई है और केब्रीज विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. लाइटफुट ने सृष्टि उत्पत्ति का समय 23 अक्टूबर 4004 ईसा पूर्व प्रातः 9 बजे बताया है जो हास्यास्पद है। अब हम वैदिक वाङ्मय के आधार पर सृष्टि की आयु पर विचार करते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के दूसरे अध्याय अथ वेदोत्पत्ति विषय में इस पर विचार किया है कि वेद की उत्पत्ति कब हुई? इससे यह मानना चाहिए कि सृष्टि में मानव की उत्पत्ति कब हुई, क्योंकि मानव के उत्पन्न होने पर ही तो वेद का ज्ञान उसे प्राप्त हुआ है। इससे पूर्व की स्थिति अर्थात् सृष्टि उत्पन्न होने के प्रारमभ से मानव के उत्पन्न होने के समय पर उन्होंने अपने विचार देना उचित नहीं समझा। वास्तव में मनुष्य ने तो अपने उत्पन्न होने के बाद ही समय की गणना प्रारमभ की है। सृष्टि के उस समय की गणना वह कैसे करता, जब बन ही रही थी? वह कैसे जानता कि सृष्टि उत्पन्न होने की क्रिया के प्रारमभ होने से उसके पूर्ण होने तक सृष्टि निर्माण में कितना समय व्यतीत हुआ है? इस पर फिर चर्चा करेंगे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी गणना में मनुस्मृति के श्लोकों को ही मुखय रूप से काम में लिया है-

अत्वार्याहुः सहस्त्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।

तस्य यावच्छतो सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथा विधः।।

-मनु. 1.69

उन दैवीयुग में (जिनमें दिन-रात का वर्णन है) चार हजार दिव्य वर्ष का एक सतयुग कहा है। इस सतयुग की जितने दिव्य वर्ष की अर्थात् 400 वर्ष की सन्ध्या होती है और उतने ही वर्षों की अर्थात् 400 वर्षों का सन्ध्यांश का समय होता है।

इतंरेषु ससन्ध्येषु ससध्यांशेषु च त्रिषु।

एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्त्राणि शतानि च।।

-मनु. 1.70

और अन्य तीन-त्रेता, द्वापर और कलियुग में सन्ध्या नामक कालों में तथा सन्ध्यांश नामक कालों में क्रमशः एक-एक हजार और एक-एक सौ कम कर ले तो उनका अपना-अपना काल परिणाम आ जाता है।

इस गणना के आधार पर सतयुग 4800 देव वर्ष, त्रेतायुग 3600 देव वर्ष, द्वापर 2400 वर्ष तथा कलियुग 1200 देव वर्ष के होते हैं। इस चारों का योग अर्थात् एक चतुर्युगी 12000 देव वर्ष का होता है।

दैविकानाम युगानां तु सहस्त्रं परि संखयया।

ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च।। – मनु. 1.72

देव युगों को 1000 से गुण करने पर जो काल परिणाम निकलता है, वह ब्रह्म का एक दिन और उतने ही वर्षों की एक रात समझना चाहिए। यह ध्यान रहे कि एक देव वर्ष 360 मानव वर्षों के बराबर होता है।

तद्वै युग सहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।

रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदोजनाः।।मनु. 1.73

जो लोग उस एक हजार दिव्य युगों के परमात्मा के पवित्र दिन को और उतने की युगों की परमात्मा की रात्रि समझते हैं, वे ही वास्तव में दिन-रात = सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय काल के विज्ञान के वेत्ता लोग हैं।

इस आधार की सृष्टि की आयु = 12000×1000 देव वर्ष = 12000000 देव वर्ष

12000000×360 = 4320000000 देव वर्ष

12000000 देव वर्ष = 4320000000 मानव वर्ष

यत् प्राग्द्वादशसाहस्त्रमुदितं दैविक युगम्।

तदेक सप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते।। -मनु. 1.79

पहले श्लोकों में जो बारह हजार दिव्य वर्षों का एक दैव युग कहा है, इससे 71 (इकहत्तर) गुना समय अर्थात् 12000×71 = 852000 दिव्य वर्षों का अथवा 852000×360= 306720000 वर्षों का एक मन्वन्तर का काल परिणाम गिना गया है।

फिर अगले श्लोक में कहा गया है कि वह महान् परमात्मा असंखय मन्वन्तरों को, सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय को बार-बार करता रहता है, अर्थात् सृष्टी प्रवाह से अनादि है।

फिर स्वामी दयानन्द सरस्वती संकल्प मन्त्र के आधार पर वेद का उत्पत्ति काल बताते हैं।

ओ3म् तत्सत् श्री ब्रह्मणः द्वितीये प्रहरोत्तरार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरेऽअष्टाविंशतितमे कलियुगे कलियुग प्रथम चरणेऽमुकसंवत्सरायमनर्तु मास पक्ष दिन नक्षत्र लग्न मुहूर्तेऽवेदं कृतं क्रियते च।

यह जो वर्तमान सृष्टि है, इसमें सातवें वैवस्वत मनु का वर्तमान है। इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं और सात मन्वन्तर आगे होवेंगे। ये सब मिलकर चौदह मन्वन्तर होते हैं।

इस आधार पर वेदोत्पत्ति की काल गणना इस प्रकार होगी-

छः मन्वन्तरों का समय = 4320000×71×6= 1840320000 वर्ष

वर्तमान मन्वन्तर की 27 चतुर्युगी का काल= 4320000×27= 116640000 वर्ष

अट्ठाइसवीं चतुर्युगी के गत तीन युगों का काल= 3888000 वर्ष

कलियुग के प्रारभ से विक्रम सं. 2072 तक का काल= 3043 + 2072 वर्ष

= 5115 वर्ष

कुल योग = 1840320000 +116640000 + 3888000 +5115 वर्ष

= 1960853115 वर्ष। चूंकि विक्रम संवत् के प्रारमभ तक कलियुग के 3043 वर्ष व्यतीत हो चुके थे और 3044 वाँ वर्ष चल रहा था, इसलिए वर्तमान में 1960853116वाँ वर्ष चल रहा है।

अब कुछ विद्वान् कहते हैं कि सृष्टि की आयु जब मनु 1000 चतुर्युगी मानते हैं और दूसरी तरफ इसी आयु को 14 मन्वन्तर अर्थात् 994 चतुर्युगी कहा जाता है, तो दोनों के अन्तर 6 चतुर्युगों का समन्वय कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि 994 चतुर्युग तो मानव भोग काल है और 6 चतुर्युगों का समय सृष्टि उत्पत्ति के प्रारमभ से लेकर मानव अथवा वेदों की उत्पत्ति तक का है। सृष्टि उत्पत्ति में जो समय लगा है, वह सृष्टि की आयु में माना जावेगा। इसी प्रकार भोग काल 994 चतुर्युगों के अन्त में प्रलय काल प्रारमभ होगा और वह प्रलय की आयु में जोड़ा जायेगा।

ऋग्वेद में स्पष्ट कहा गया है कि काल लगे बिना कोई कार्य नहीं होता-

त्वेषं रूपं कृणुत उत्तरं यत्संपृञ्चानः सदने गोभिरद्भिः।

कविबुध्नं परि मर्मृज्यते धीः सा देवताता समिति र्बभूवः।।

ऋ. 1.95.8

अर्थ- मनुष्य को चाहिए कि (यत्) जो (संपृञ्चानः) अच्छा परिचय करता कराता हुआ (कविः) जिसका क्रम से दर्शन होता है, वह समय (सादने) सदन में (गोभिः) सूर्य की किरणों वा (अद्भिः) प्राण आदि पवनों से (उत्तरम्) उत्पन्न होने वाले (त्वेषम्) मनोहर (बुध्नम्) प्राण और बल सबन्धी विज्ञान और (रूपम्) स्वरूप को (कृणुते) करता है तथा जो (धीः) उत्पन्न बुद्धि वा क्रिया (परि) (मर्मृज्यते) सब प्रकार से शुद्ध होती है (सा) वह (देवताता) ईश्वर और विद्वानों के साथ (समितिः) विशेष ज्ञान की मर्यादा (बभूव) होती है, इस समस्त उक्त व्यवहार को जानकर बुद्धि को उत्पन्न करें।

भावार्थ- मनुष्यों को जानना चाहिये कि काल के बिना कार्य स्वरूप उत्पन्न होकर और नष्ट हो जाये- यह होता ही नहीं है और न ब्रह्मचर्य आदि उत्तम समय के सेवन के बिना शास्त्र बोध कराने वाली बुद्धि होती है, इस कारण काल के परम सूक्ष्म स्वरूप को जानकर थोड़ा-सा भी समय व्यर्थ न खोवें, किन्तु आलस्य छोड़कर समय के अनुसार व्यवहार और परमार्थ के कामों का सदा अनुष्ठान करें।

यह भी ध्यान रखें कि जिस क्रिया में जो समय लगे, वह उसी का होगा। स्वामी जी ने इस प्रकरण में वेद का उत्पत्ति काल बताया है, सृष्टि की आयु नहीं बताई है। यदि सृष्टि की आयु जानना चाहें तो इसमें सृष्टि का उत्पत्ति काल जोड़ दें, तब सृष्टि की आयु होगी-

= 1960853116+25920000= 1986773116 वर्ष

साथ ही सृष्टि की शेष आयु होगी= 4320000000-1986773116= 2333226884 वर्ष सन्धि और सन्ध्यांश काल तो युगों की आयु में पहिले ही जोड़ लिए हैं, फिर मन्वन्तर के प्रारमभ और अन्त में एक सतयुग का जोड़ना व्यर्थ है। स्वामी जी ने ही नहीं, मनु ने भी इसका उल्लेख नहीं किया है। ज्ञान के अभाव में सृष्टि उत्पत्ति काल को न समझ कर 25920000 वर्षों को 15 भागों में व्यर्थ विभाजित कर क्षति पूर्ति करने का प्रयत्न किया गया है। इससे तो यहूदी ही अच्छे हैं, जो सृष्टि की उत्पत्ति 6 दिनों में स्वीकार करते हैं। यदि उनके दिन का मान एक चतुर्युगी मान लें तो उनकी सृष्टि उत्पत्ति की गणना ठीक वेदों के अनुरूप हो जाती है। इति।

– 73, शास्त्रीनगर, दादाबाड़ी, कोटा-324009 (राजस्थान)

स्तुता मया वरदा वेदमाता

MARCH 4, 2016 LEAVE A COMMENT

स्तुता मया वरदा वेदमाता-27

अहं केतुरहं मूर्धा अहमुग्राविवाचनी।।

इस सूक्त का यह दूसरा मन्त्र है। यह एक महिला की घोषणा है, जिसमें आत्मविश्वास और योग्यता का समन्वय है। विवेचन की योग्यता बिना ज्ञान के नहीं आती। आजकल का ज्ञान हमें अर्थोपार्जन की क्षमता देता है, परन्तु अपने आप पर नियन्त्रण करने की क्षमता नहीं उत्पन्न करता। आजकल की शिक्षा उसे स्वार्थी बनाती है, उसका मूल कारण है- मनुष्य का सुविधाजीवी होना, दुःख सहने की इच्छा और सामर्थ्य का अभाव होना। हमारे छोटे-छोटे बच्चों को लगता है, हम साधनों के बिना कैसे जी सकते हैं? समाचार पत्र में पढ़ा- एक सातवीं कक्षा की बच्ची ने आत्महत्या कर ली। कारण ? उसने माता से चल दूरभाष (मोबाइल) माँगा। माँ ने कहा- बेटा, अभी तुम छोटी हो, तुम दसवीं उत्तीर्ण कर लो, तब ले देंगे। बस, लड़की को सहन नहीं हुआ, वह फाँसी लगा के मर गई। विचार करने की बात है, क्या मृत्यु के लिये यह कारण पर्याप्त है? मनुष्य क्या, कोई भी प्राणि मरने की इच्छा नहीं करता, मरने के नाम से भी डरता है, मृत्यु का अवसर आ जाये तो प्राणपण से संघर्ष करता है, संघर्ष में हराकर ही मृत्यु उसे जीतती है। यहाँ बिना लड़े ही हार मान ली है। मृत्यु की कामना वही करता है, जो जीवन में हार जाता है। छोटे-छोटे साधनों के बिना, सुविधाओं के बिना कैसे जीवित रहूँगा- यह भय ही मनुष्य को मारने के लिये आज पर्याप्त हो गया है।

मनुष्य को साधनों की अधिकता ने उतावला, असहिष्णु और भीरु बना दिया है। पुराने समय में छात्र को असुविधा में रहना सिखाया जाता था। ऐसा नहीं था कि छात्रों को सुविधायें दी

नहीं जा सकती थीं, जब घर में, नगर में लोगों के पास सुविधाएँ हों, तो उन्हें क्यों नहीं दी जा सकतीं? मनुष्य को सुविधा में जीने की शिक्षा नहीं देनी पड़ती। धन-सपत्ति साथ आते ही उनका सुख उठाना आ जाता है। सुविधा में जीना सिखाने से असुविधा में जीना नहीं आता, परन्तु असुविधा में जीना सिखाने से सुविधा न मिलने पर, सुविधा समाप्त होने पर भी वह सरलता से सहज ही जीवन यापन कर सकता है।

आज कल बड़ी कपनियाँ बहुत सारा वेतन, साधन एवं अनेक सुविधायें दे कर मनुष्य को भीरु बना देती हैं। उनके बिना वह जीवन की कल्पना ही नहीं करता। दुर्भाग्य से कभी साधन न मिले, नौकरी छूट जाये तो ऐसा व्यक्ति अनुचित-अनैतिक माध्यमों से धन कमाने में लग जाता है या आत्महत्या कर लेता है। इसी कारण ऋषि लोग तपस्या और कठिन जीवन की बात करते हैं। सुविधा-भोगी अपने साधनों का बँटवारा नहीं कर पाता, दूसरे को सहयोग करने में उसका विश्वास नहीं होता। सुविधा-भोगी मनुष्य को कभी साधनों से तृप्ति नहीं होती, वह सदा और अधिक के चक्र में उलझ जाता है। उसकी योग्यता उसे अधिक कमाने के लिये प्रेरित करती है। इस दुश्चक्र में वह पराजित हो जाता है, बीमार हो जाता है, अन्ततः मर जाता है।

आचार्य चाणक्य कहते हैं- शास्त्र मनुष्य को अपने पर नियन्त्रण करने की शिक्षा देता है। शास्त्र का अध्ययन करने से मनुष्य के अन्दर धैर्य उत्पन्न होता है। उसके अन्दर सहन शीलता बढ़ती है। चाहे जय मिले या पराजय, वे उसे विचलित नहीं करते। उसके अन्दर उचित-अनुचित, अच्छे-बुरे, न्याय-अन्याय को समझने का सामर्थ्य आता है। ऐसे व्यक्ति को विचारों की स्पष्टता, निर्णय की क्षमता और कार्य को सपन्न करने की योग्यता प्राप्त होती है। ऐसा व्यक्ति आत्मविश्वास से भरा होता है। उसके अन्दर भय नहीं रहता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है- जिसके अन्दर भय नहीं रहता, उसके अन्दर उदारता, सहिष्णुता, परोपकार आदि गुण सहज ही आ जाते हैं। ऐसा मनुष्य दूसरों के कष्टों को देखकर अपना सुख छोड़ देता है। उसके अन्दर नेतृत्व का गुण पूर्णरूप से विकसित होता है, जो सब उत्तरदायित्व को स्वीकार करने के लिये तैयार रहता है वही घोषणा कर सकता है- मैं सबसे ऊँचा हूँ, मैं सबके लिये उत्तरदायी हूँ।

मनुष्य का स्वभाव होता है कि वह किसी भी गलती, भूल या अपराध की जिमेदारी दूसरे पर डालने का यत्न करता है। ऐसा व्यक्ति कह नहीं सकता कि मैं सर्वोपरि हूँ। मैं सबका नेता हूँ। उत्तरदायित्व के गुण के बिना नेतृत्व का गुण नहीं आ सकता। स्वार्थी और असहिष्णु व्यक्ति कभी नेता नहीं बन सकता। आजकल की शिक्षा से इन गुणों की आशा नहीं की जा सकती। आज मनुष्य योग्यता के बिना ही अधिकार की आशा करता है। आशा तो की जा सकती है, परन्तु उसका निर्वाहन हीं हो सकता। ज्ञान के बिना योग्यता नहीं आती, परिश्रम के बिना ज्ञान नहीं आता। यही कारण है कि आजकल के युवाओं में सामान्य रूप से इन गुणों की कमी देखी जाती है। योग्यता के बिना विचार में, वचन में एवं प्रामाणिकता का आभाव रहता है। जब आप किसी को कुछ कहते, बोलते, सुनते हैं, तो जब उससे उलट कर पूछा जाता है- क्या वास्तव में ऐसा है, आपके ऐसा कहने का आधार क्या है? सौ में नबे से अधिक व्यक्ति इधर-उधर झाँकने लगते हैं।

पुरानी शिक्षा जिसे अनुपयोगी समझते हैं, उसकी विशेषता है- वह शिक्षा मनुष्य को सहनशील, प्रामाणिक और उत्तरदायी बनाती है। आज किसी को कोई काम देकर आप निश्चिंत नहीं हो

सकते, न तो कार्य होने का विश्वास है और न कार्य न हो पाने की सूचना। और यह कहा जाता है- तो क्या हो गया? हुआ तो कुछ नहीं, परन्तु उत्तरदायित्व का गुण समाप्त हो जाता है। इस मन्त्र के शबद घोषणा करके कह रहे हैं- घर की गृहिणी योग्य है, समर्थ है, उत्तरदायी है और आत्मविश्वास से परिपूर्ण है। ऐसी नारी की कल्पना करना आज कठिन है, परन्तु वेदों का आदर्श तो यही कहता है।

सृष्टि विज्ञान, वैदिक साहित्य और स्वामी दयानन्द

MARCH 1, 2016 1 COMMENT

ओ३म्

'सृष्टि विज्ञान, वैदिक साहित्य और स्वामी दयानन्द'

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

सृष्टि की उत्पत्ति से जुड़े अनेक रहस्य हैं जिन्हें विज्ञान आज भी खोज नहीं पाया अथवा जिसका विज्ञान जगत व हमारे धार्मिक व सामाजिक लोगों का यथोचित ज्ञान नहीं है। महर्षि दयानंद सत्य-ज्ञान के जिसाज्ञु थे। उन्होंने धर्म-समाज-ज्ञान-विज्ञान किसी भी पक्ष की उपेक्षा न कर सभी विषयों का यथोचित ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से देश का भ्रमण कर उस समय उपलब्ध प्राचीन व प्राचीनतम ग्रन्थों सहित अधिकारी विद्वानों के उपलब्ध ग्रन्थों का भी अध्ययन कर उनमें उपलब्ध ज्ञान को प्राप्त किया। ऐसा कर उनको अनेक नये तथ्यों व रहस्यों का ज्ञान हुआ जिसे वह अपने प्रवचनों में प्रस्तुत करते थे और जब उन्होंने साहित्य सृजन का कार्य किया तो सत्यार्थप्रकाश आदि अनेक ग्रन्थों में उस ज्ञान का प्रसंगानुसार वर्णन किया। उनसे प्राप्त सृष्टि के रहस्य सम्बन्धी ज्ञान के लिए तो उनके सभी ग्रन्थों को पढ़ना आवश्यक है परन्तु आज के लेख में हम सत्यार्थप्रकाश से उनके कुछ विचार प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे कुछ प्रमुख बातों का ज्ञान हो सके।

जगत की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि दयानन्द कहते हैं कि एक अरब, छानवें करोड़, कई लाख और कई सहस्र वर्ष जगत् की उत्पत्ति और वेदों के प्रकाश होने में हुए हैं। इस का स्पष्ट व्याख्यान उन्होंने अपनी पुस्तक ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में विस्तार से किया है, वहीं देखना उचित है। वह आगे बताते हैं कि सब से सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जा सकता उसका नाम परमाणु है। साठ परमाणुओं के मिले हुए का नाम अणु, दो अणु का एक द्वयणुक जो स्थूल वायु है, तीन द्वयणुक का अग्नि, चार द्वयणुक का जल, पांच द्वयणुक की पृथिवी अर्थात् तीन द्वयणुक का त्रसरेणु और उस का दोगुना होने से पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार क्रम से मिला कर भूगोलादि परमात्मा ने बनाये हैं। यहां हम विचार करते हैं कि यदि स्वामी दयानन्द के जीवनकाल में कोई व्यक्ति उनसे परमाणु विषयक इस विवरण पर विस्तृत व्याख्या लिखने का अनुग्रह करता तो उत्तम होता जिससे हमें इस विषय के व्याख्या सहित उनके विस्तृत विचार ज्ञात हो सकते थे। उनसे इनका श्रोत व सन्दर्भ भी जाना जा सकता था। अब उनके न रहने

पर हमें नहीं लगता की कोई ऐसा विद्वान है जो परमाणु विज्ञान उनके इन कथनों का आधुनिक विज्ञान से संगति लगाकर व समाधान कर सके।

अगला प्रश्न महर्षि दयानन्द यह लेते हैं कि इस सृष्टि का धारण कौन करता है। कोई कहता है शेष अर्थात् सहस्र फण वाले सप्र्प के शिर पर पृथिवी है। दूसरा कहता है कि बैल के सींग पर, तीसरा कहता है कि किसी पर नहीं, चैथा हता है कि वायु के आधार, पांचवां कहता है कि सूर्य के आकर्षण से खिंची वा खैंची हुई अपने स्थान पर स्थित, छठा कहता है कि पृथिवी भारी होने से नीचे-नीचे आकाश में चली जाती है इत्यादि। इनमें से किस बात को सत्य मानें? इसके उत्तर में वह कहते हैं कि जो शेष, सर्प्प और बैल के सींग पर धरी हुई पृथिवी स्थित बतलाता है उस को पूछना चाहिये कि सर्प्प और बैल के मां बाप के जन्म समय किस पर थी? तथा सर्प्प और बैल आदि किस पर हैं? बैल वाले मुसलमान तो चुप ही कर जायेंगे। परन्तु सप्र्प वाले कहेंगे कि सर्प्प कूर्म पर, कूर्म जल पर, जल अग्नि पर, अग्नि वायु पर तथा वायु आकाश में ठहरा है। उन से पूछना चाहिये कि सब किस पर हैं? तो अवश्य कहेंगे परमेश्वर पर। जब उन से कोई पूछेगा कि शेष और बैल किस का बच्चा है? शेष कश्यप-कद्रू और बैल गाय का। कश्यप मरीची, मरीची मनु, मनु विराट्, विराट् ब्रह्मा का पुत्र, ब्रह्मा आदि सृष्टि का था। जब शेष का जन्म ही नही हुआ था, उसके पहले पांच पीढ़ी हो चुकी है, तब किस ने धारण की थी? अर्थात् कश्यप के जन्म समय में पृथिवी किस पर थी? तो 'तेरी चुप मेरी भी चुप' और लड़ने लग जायेंगे। इस का सच्चा अभिप्राय यह है कि जो 'बाकी' रहता है उस को शेष कहते हैं। किसी कवि ने 'शेषाधारा पृथिवीत्युक्तम्' ऐसा कहा कि शेष के आधार पृथिवी है। दूसरे ने उसके अभिप्राय को न समझ कर सर्प्प की मिथ्याकल्पना कर ली। परन्तु जिसलिये परमेश्वर उत्पत्ति और प्रलय से बाकी अर्थात् पृथक रहता है इसी से उसको, परमेश्वर को, 'शेष' कहते हैं और उसी के आधार पर पृथिवी है। 'सत्येनोत्तभिता भूमिः' यह ऋग्वेद का वचन है। इसका अर्थ है कि जो त्रैकाल्याबाध्य है अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं होता उस परमेश्वर ने भूमि, सूर्य और सब लोक–लोकान्तरों का धारण किया है। 'उक्षा दाधार पृथिवीमुत द्याम्', यह भी ऋग्वेद का वचन है। इसमें ''उक्षा'' शब्द को देखकर किसी ने बैल का ग्रहण किया होगा क्योंकि उक्षा बैल का भी नाम है। परन्तु उस मूढ को यह विदित न हुआ कि इतने बड़े भूगोल के धारण करने का सामर्थ्य बैल में कहां से आयेगा? वैदिक साहित्य में उक्षा वर्षा द्वारा भूगोल के सेचन करने से सूर्य का नाम है। उस ने अपने आकर्षण से पृथिवी को धारण किया है। परन्तु सूर्यादि का धारण करने वाला बिना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं है। अतः महर्षि दयानन्द सभी उपलब्ध विवरणों की वैदिक साहित्य से तुलना कर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इस सृष्टि को धारण करने वाला ईश्वर वा परमेश्वर ही है, और कोई नहीं। महर्षि दयानन्द समाधि सिद्ध अर्थात् ईश्वर का प्रत्यक्ष वा साक्षात्कार किये हुए अथवा ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति किये हुए मनुष्य वा विद्वान थे। वह वैज्ञानिकों के मत कि समस्त सौर्य मण्डल वा ब्रह्माण्ड को आकर्षण-अनुकर्षण, प्रत्येक पिण्ड की अपनी-अपनी धुरी व वृत्ताकार गति के कारण स्थित-स्थिर हैं वा गति कर रहे हैं, इनको स्वीकार करने के साथ परमेश्वर का इन सबका उत्पत्तिकर्ता व धारणकर्ता स्वीकार करते हैं।

इसी प्रसंग में एक अन्य प्रश्न महर्षि दयानन्द ने यह किया है कि इतने बड़े-बड़े भूगोलों को परमेश्वर कैसे धारण कर सकता होगा? इसका उत्तर वह यह कहकर देते हैं कि जैसे अनन्त

आकाश के सामने बड़े-बड़े भूगोल अर्थात् समुद्र के आगे जल के छोटे कण के तुल्य भी नहीं हैं, वैसे अनन्त परमेश्वर के सामने असंख्यात लोक एक परमाणु के तुल्य भी नहीं कह सकते। वह बाहर भीतर सर्वत्र व्यापक अर्थात् 'विभूः प्रजासु' (यजुर्वेद वचन), वह परमात्मा सब प्रजाओं में व्यापक होकर सब का धारण कर रहा है। जो वह ईसाई, मुसलमान व पुराणियों के कथनानुसार विभू न होता तो इस सब सृष्टि का धारण कभी नहीं कर सकता था क्योंकि विना प्राप्ति (ईश्वर के सर्वव्यापक अर्थात् सबको सर्वत्र प्राप्त हुए बिना) के किसी को कोई धारण नहीं कर सकता। वह आगे कहते हैं कि यदि कोई कहे कि ये सब लोक-लोकान्तर परस्पर आकर्षण से धारित होंगे, पुनः परमेश्वर के धारण करने की क्या अपेक्षा है? उन को यह उत्तर देना चाहिये कि यह सृष्टि अनन्त है वा सान्त (अन्त वाली वा सीमित)? जो अनन्त कहें तो आकार वाली वस्तु अनन्त कभी नहीं हो सकती और जो सान्त कहें तो उनके पर भाग सीमा अर्थात् जिस के परे कोई भी दूसरा लोक नहीं है, वहां किस के आकर्षण से धारण होगा? जैसे समष्टि कहाता है और एक-एक वृक्षादि को भिन्न-भिन्न गणना करें तो व्यष्टि कहाता है, वैसे सब भूगोलों को समष्टि गिनकर जगत् कहें तो सब जगत् का धारण और आकर्षण का कर्ता विना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं। इसलिए जो सब जगत् को रचता है वही 'स दाधार पृथिवीमुत द्याम्।।', यह यजुर्वेद का वचन है, इसमें कहा गया है कि जो पृथिव्यादि प्रकाशरहित लोक-लोकान्तर पदार्थ तथा सूर्यादि प्रकाश वाले लोक और पदार्थों का रचन व धारण परमात्मा ही करता है। जो सब में व्यापक हो रहा है वही सब जगत् का कर्ता और धारण करने वाला है।

महर्षि दयानन्द सौर मण्डल विषयक कुछ प्रश्नोत्तर प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पृथव्यादि लोग घूमते हैं वा स्थिर हैं? वह उत्तर में कहते हैं कि घूमते हैं। (प्रश्न) कितने ही लोग कहते हैं कि सूर्य घूमता है और पृथिवी नहीं घूमती। दूसरे कहते हैं कि पृथिवी घूमती है सूर्य नहीं घूमता। इसमें सत्य क्या माना जाये? इसका उत्तर महर्षि दयानन्द वेदों के आधार पर देते हैं। यह वेद सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए। वेदों का ज्ञान और आधुनिक विज्ञान की खोजे परस्पर एक समान व पूरक हैं। पूर्व प्रश्न के उत्तर में महर्षि दयानन्द यजुर्वेद के अध्याय 3 के मन्त्र 63 'आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः।।' को प्रस्तुत कर उसका अर्थ बताते हुए कहा है कि यह भूगोल समुद्र व नदी के जल सहित सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है इसलिए भूमि अर्थात् सम्पूर्ण पृथिवी घूमा करती है। एक अन्य वैज्ञानिक खोज को वेदों में दिखाने हेतु वह यजुर्वेद के 33/43 मन्त्र 'आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च । हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्।।' को प्रस्तुत कर कहते हैं कि जो सविता अर्थात् सूर्य वर्षादि का कर्ता, प्रकाशस्वरूप, तेजोमय, रमणीयस्वरूप के साथ वर्तमान, सब प्राणी अप्राणियों में अमृतरूप, वृष्टि वा किरण के साथ आकर्षण गुण से सह वर्तमान, अपनी परिधि में घूमता रहता है किन्तु किसी लोक के चारों ओर नहीं घूमता। इसी प्रकार एक-एक ब्रह्माण्ड में एक सूर्य प्रकाशक और दूसरे सब लोक-लोकान्तर प्रकाश्य हैं। जैसे- दिवि सोमो अधि श्रितः।। यह अथर्ववेद का 14/1/1 मन्त्र है। इसका तात्पर्य बताते हुए दयानन्द जी कहते हैं कि यह चन्द्रलोक सूर्य से प्रकाशित होता है वैसे ही पृथिव्यादि लोक भी सूर्य के प्रकाश ही से प्रकाशित होते हैं। परन्तु रात और दिन सर्वदा वर्तमान रहते हैं क्योंकि पृथिव्यादि लोक घूम कर जितना भाग सूर्य के सामने आता है उतने में दिन और जितना पृष्ठ में अर्थात् आड़ में होता जाता है उतने में रात। अर्थात् उदय, अस्त, सन्ध्या, मध्यान्ह, मध्यरात्रि आदि जितने कालावयव हैं वे देश–देशान्तरों में सदा वर्तमान रहते हैं अर्थात् जब आर्यावर्त में सूर्यादय होता है उस समय पाताल अर्थात् 'अमेरिका' में अस्त होता है और जब आर्यावर्त

में अस्त होता है तब पाताल देश में उदय होता है। जब आर्यावर्त में मध्य दिन वा मध्य रात है उसी समय पाताल देश में मध्य रात और मध्य दिन रहता है।

महर्षि दयानन्द ने सृष्टि रचना व इससे जुड़े विषयों पर जो तथ्य वैदिक साहित्य के आधार पर प्रस्तुत किये हैं वह अति विस्तृत एवं विज्ञानसम्मत हैं। इसके लिए उनके समस्त ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये। महाभारत काल के बाद भारत के ब्राह्मण कहे जाने वाले विद्वानों ने वैदिक साहित्य की उपेक्षा कर अज्ञानयुक्त पुराणों आदि की रचना कर मूर्तिपूजा, फलित ज्योतिष, मृतक श्राद्ध, जन्मना जाति आदि की मिथ्या परम्पराओं को प्रचलित किया। उन्होंने सांगोपांग वेदाध्ययन न कर इसका परिणाम सामाजिक व वैज्ञानिक उन्नति का कार्य बन्द कर दिया था जिसके कारण भारत का पतन हुआ। वहीं दूसरी ओर यूरोप के सुधीजनों ने वहां की विज्ञान विरूद्ध व विज्ञान रहित धार्मिक मान्यताओं की उपेक्षा कर विज्ञान की उन्नति पर अपना ध्यान व शक्ति को केन्द्रित किया जिसका परिणाम आज का आधुनिक विज्ञान है। हमारे पौराणिक विद्वान व संसार के अन्य मतवाले आज भी वहीं हैं जहां वह मध्यकाल में थे। महर्षि दयानन्द (1825-1883) ऐसे पहले वैदिकधर्मी विद्वान उत्पन्न हुए जिन्होंने विज्ञान को धर्म को आवश्यक अंग स्वीकार किया और विज्ञान की उपेक्षा न कर उसका पोषण किया। महाभारत काल से पूर्व वैदिक धर्म विज्ञान का पूर्ण पोषक व आधार रहा है। इसी कारण महाभारत काल तक भारत में ज्ञान व विज्ञान सर्वोच्च रहा। ज्ञान व विज्ञान से युक्त धार्मिक मान्यतायें एवं इनके परस्पर समन्वय से धर्म, समाज व विज्ञान की उन्नति होकर मानवजाति को लाभ वा सर्वोत्तम सुख प्राप्त होता है। आज भी मध्यकालीन अज्ञानतापूर्ण मान्यतायें चाहे वह किसी भी मत व मतान्तर की हों, उचित नहीं कही जा सकती। सभी मतों व धर्मों को विज्ञान के आलोक में अपनी मान्यताओं व सिद्धान्तों का संशोधन कर अपने-अपने मत व धर्म को मनुष्यों के लिए अधिक उपयोगी, स्वीकार्य एवं परिणाम प्राप्ति में सहायक बनाना चाहिये। हम स्वामी दयानन्द के धर्म व विज्ञान के सन्तुलित सिद्धान्तों का अध्ययन करने व उसमें निहित धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति की प्रेरणा को आज के युग में सर्वाधिक प्रासंगिक व सभी मनुष्यों द्वारा ग्रहण किये जाने की आवश्यकता को अनुभव करते हैं क्योंकि इसी में मनुष्यजाति का कल्याण है।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून**-248001**

फोनः**09412985121**

अथर्व – 6.26. -सूक्त-विष्णु देवता के मन्त्रों का वैज्ञानिक विवेचन

FEBRUARY 29, 2016 LEAVE A COMMENT

अथर्व – **6.26.** -सूक्त-विष्णु देवता के मन्त्रों का वैज्ञानिक विवेचन

– आर.बी.एल. गुप्ता एवं डॉ. पुष्पागुप्ता

श्री आर.बी.एल. गुप्ता बैंक में अधिकारी रहे हैं। आपकी धर्मपत्नी डॉ. पुष्पागुप्ता अजमेर के राजकीय महाविद्यालय संस्कृत विभाग की अध्यक्ष रहीं हैं। उन्हीं की प्रेरणा और सहयोग से आपकी वैदिक साहित्य में रुचि हुई, आपने पूरा समय और परिश्रम वैदिक साहित्य के अध्ययन में लगा दिया, परिणाम स्वरूप आज वैदिक साहित्य के सबन्ध में आप अधिकार पूर्वक अपने विचार रखते हैं।

आपकी इच्छा रहती है कि वैज्ञानिकों और विज्ञान में रुचि रखने वालों से इस विषय में वार्तालाप हो। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर इसवर्ष वेद गोष्ठी में एक सत्र वेद और विज्ञान के सबन्ध में रखा है। इस सत्र में विज्ञान में रुचि रखने वालों के साथ गुप्तजी अपने विचारों को बाँटेंगे। आशा है परोपकारी के पाठकों के लिए यह प्रयास प्रेरणादायी होगा।

-सपादक

इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में विष्णु के वीर्य कर्मों को बताया गया है। विष्णु गुरुत्वाकर्षण शक्ति के अधिष्ठाता देव हैं। वेद के जिन मन्त्रों में अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ पर भी विट्,विशः, विष्णु शबद आते हैं- वहाँ पर गुरुत्वाकर्षण शक्ति से सबन्धित व्याखयान हैं- ऐसा निश्चित रूप से समझ लेना चाहिये। विष्णु का प्रथम वीर्य कर्म है-पार्थिव रजों को नापना अर्थात पिण्ड की मात्रा के अनुसार गुरुत्वाकर्षण शक्ति का होना। दूसरा वीर्य कर्म है- उत्तर सधस्थ (उत्तम स्थान पर स्थित पिण्ड) को त्रेधा विचक्रमण (तीन प्रकार से धारित शक्ति से पिण्ड को चक्रित करना) तथा उरुगमन (एक बिन्दु से विस्तृत होते हुए जाना) प्रक्रियाओं से स्कंभित करना।

पार्थिव रज का तात्पर्य है– गुरुत्वाकर्षण (g) ऋ. 1.35.4 में कृष्णा रजांसि पद, ऋ. 1.35.9 में कृष्णेन रजसा पद, ऋ. 1.12.5 में अन्तरिक्षे रजसो-विमानः इन मन्त्रों में-कृष्णरज-पार्थिवरज-शबदों में वैज्ञानिक अर्थ है- g (गुरुत्वाकर्षण)। कोई भी भौतिक कण चाहे कितना भी हल्का क्यों न हो, जब तक एक निश्चित आकृति (volume) एवं निश्चित मात्रा (m) का बनकर एक निश्चित कण का रूप ले लेता है, तब उसमें एक निश्चित घनत्व एवं निश्चित गुरुत्वाकर्षण (g) आ जाता हैं। एक निश्चित आकृति के कण को वेदमन्त्रों में मृग कहा गया हैं। ऋ. 1.154.2 (अथर्व 7.26.2) में-मृगःनभीमःकुचरःगिरिष्ठा पद में गिरि में स्थित कुत्सित गति वाला भयानक मृग- यह अर्थ एक निश्चित मात्रा में आये कण जिसमें गुरुत्वशक्ति आ गई है- के लिये कहा गया हैं।

त्रेधा विचक्रमण क्या है ? हमारी पृथ्वी एवं सूर्य का उदाहरण-

पृथ्वी अपनी धुरी (axis) पर एक अहोरात्रि में पूरी घूम जाती है, तथा साथ ही लगभग 25000 कि.मी. दूरी सूर्य की परिक्रमा करती हुई आगे बढ़ती है। यहाँ पृथ्वी में दो प्रकार की गति (चक्रमण) है- (1.) अपनी धुरी पर घूमना (2.) सूर्य के परिक्रमा पथ पर घूमते हुये ही आगे बढ़ना।

सूर्य पृथ्वी से कई लाख गुणा आकार में अधिक है, तथा 15 करोड़ किलो मीटर दूरी पर है, फिर भी सूर्य की गुरुत्वाकर्षण शक्ति घूमती हुई पृथ्वी को सतत अपनी ओर आकर्षित करती है। सूर्य की इस शक्ति को निःशेष करने के लिये पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है तथा परिक्रमा पथ पर आगे बढ़ती है। इस प्रकार पृथ्वी का जो विचक्रमण हो रहा है, उसका कारण यह तीन प्रकार से पृथ्वी पर धारित शक्तियों के कारण हैं। यदि ऐसा न हो तो पृथ्वी सूर्य में गिरकर सूर्य में समा जायेगी। ऐसी स्थिति प्रलय अवस्था में अवश्य आयेगी।

उरुगमन– जंघाओं को फैलाकर जब हम खड़े होते हैं- जब जंघाओं की स्थिति इस प्रकार की होती है, इसे विज्ञान की भाषा में उरुगमन कहते हैं (divertion of rays)। गुरुत्व शक्ति की किरणें इसी नियम का पालन करती हैं।

विष्णु का 3 पदों में विचक्रमण क्या है?

ऋ. 1.164.2 में त्रिनाभि चक्रं अजरं अनर्वं पद आया है। वेद मन्त्रों में आया त्रिनाभि चक्र- अण्डाकार आकृति को बताता है- जिसमें तीन केन्द्रबिन्दु (नाभियाँ) होती हैं। पृथ्वी का सूर्य की परिक्रमा का मार्ग भी अण्डाकार है। इस अण्डाकार मार्ग का मूल सिद्धान्त है- केन्द्र में बड़ा पिण्ड जैसे सूर्य उसके दोनों तरफ दो और केन्द्र बिन्दु A व B होते हैं। पृथ्वी (E) इस प्रकार घूमती है कि पृथ्वी का इन दोनों बिन्दुओं A व B से दूरी का योग हमेशा समान अर्थात् दूरी AE + BE का योग हमेशा समान रहेगा तथा इस प्रकार पृथ्वी का परिभ्रमण मार्ग अण्डाकार बन जाता है।

यही उदाहरण सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करनेवाले अन्य ग्रह-बुध, शुक्र, मंगल, ब्रहस्पति, शनि आदि में भी दिया जा सकता है। यही नहीं, अति सूक्ष्म परमाणु में भी प्रोटोन एवं इलेक्ट्रोन भी इसी त्रिनाभि चक्र-त्रेधा विक्रमण आदि नियमों का पालन करते हैं।

इन्द्रस्य युज्यसखाः – इस सूक्त के मन्त्र संखया 6 में यह पद आया है। इन्द्र दिव्य रजः (emt) का अधिष्ठाता देव है, तथा विष्णु पार्थिव रजः (g) का। परमाणु के अन्दर प्रोटोन का उदाहरण- प्रोटोन के दो भाग हैं- (1.) पार्थिव भाग (matter) तथा (2.) दिव्य भाग (e.m.t)। इसी प्रकार इलेक्ट्रॉन भी है, पर उसमें विद्युत शक्ति – है जबकि प्रोटोन में + है। प्रोटोन तथा इलेक्ट्रोन के मध्य भी दो प्रकार की आकर्षण शक्ति (1) विद्युत शक्ति का आकर्षण (इन्द्र की शक्ति) एवं (2) गुरुत्वाकर्षण शक्ति (विष्णु की शक्ति)। अतःमन्त्र 6 में कहा है कि विष्णु के कर्मों को देखो जहाँ वह व्रतों को स्पर्श करता है तथा इन्द्र का योजित सखा है। प्रोटोन तथा इलेक्ट्रोन दोनों परामाणु के अन्दर अपने-अपने व्रत्तों में घूमते हैं- एक-दूसरे के व्रत्त (orbit) को स्पर्श करते हुए।

मन्त्र 7 में सूर्यःविष्णु के परम् पद को सदा देखते हैं। यहाँ परम पद से तात्पर्य है गुरुत्व शक्ति का केन्द्र बिन्दु (center of gravity)

मन्त्र 4 में समूढं अस्य पांसुरे।पांसुरे शबद (collective) अर्थ में है। छोटा पिण्ड हो या बड़ा, मात्रा अधिक या कम होने से पूरे पिण्डकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति कम या अधिक हो जायेगी, परन्तु समूह रूप में पूरे पिण्ड की गुरुत्वाकर्षण शक्ति केन्द्र बिन्दु (पांसुरे पद) में गुप्त रूप से निहित हो जाती है।

सृष्टि उत्पत्ति क्यों और कैसे ? मानव का प्रादुर्भाव कहाँ ? – 2

FEBRUARY 28, 2016 LEAVE A COMMENT

सृष्टि उत्पत्ति क्यों और कैसे ?

मानव का प्रादुर्भाव कहाँ ?

– आचार्य पं. उदयवीरजी शास्त्री

पिछले अंक का शेष भाग…………

उत्तर- प्रयोजन कामनामूलक होता है।ब्रह्म को ब्रह्मज्ञानियों ने पूर्णकाम व आप्तकाम बताया है, इसलिये सृष्टि रचना में ईश्वर का कामनामूलक कोई निजी प्रयोजन नहीं रहता। यह एक व्यवस्था है और ईश्वरीय व्यवस्था है, वह स्वयं अपनी व्यवस्था से बाहर नहीं जाता, उसके नियम सत्य हैं और पूर्ण हैं। उनके अनुसार ईश्वर सृष्टि रचना करता है- जीवात्माओं के भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिये। उसका यह कार्य उसकी एक स्वाभाविक विशेषता है, इसमें कभी कोई अन्तर या विपर्यास आने की संभावना नहीं की जा सकती। सृष्टि रचना के द्वारा ही परमात्मा का बोध होता है और इस मार्ग से जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त करता है। जब यह प्राप्त नहीं होता, तब कर्मों को करता और उनके अनुसार सुख-दुःख आदि फलों को भोगा करता है, सृष्टि-रचना का यही प्रयोजन है।

निराकार से साकार सृष्टि कैसे ?

प्रश्न- ईश्वर को निराकार माना जाता है, वह निराकार होता हुआ सृष्टि की रचना कैसे करता है? लोक में देखा जाता है कि कोई भीकर्त्ता देहादि साकार सहयोगी के बिना किसी प्रकार की रचना करने में असमर्थ रहता है, तब निराकार ईश्वर इस अनन्त विश्व की रचना करने में कैसे समर्थ होता है?

उत्तर – अनन्त विश्व की रचना करने वाला निराकार ही समर्थ हो सकता है। जहाँ ईश्वर को निराकार माना गया है, वहाँ उसे सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान भी कहा गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'सर्वशक्तिमान्' का यही तात्पर्य है कि वह जगद्रचना में अन्य किसी सहायक की अपेक्षा नहीं रखता, उसमें अनन्त शक्ति व पराक्रम है, उसका चैतन्यरूप सामर्थ्य असीम है, वह उसी सामर्थ्य द्वारा मूल उपादान जड़ प्रकृति को प्रेरित करता है, उसकी अनन्त सामर्थ्ययुक्त व्यवस्था सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों में सर्वत्र व्याप्त है। वह कण-कण में अपना कार्य किया करती है। जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्प शक्ति एवं एकदेशी है। उसे अपने किसी कार्य को संपन्न करने के लिये अन्तरंग साधनकरण (बुद्धि मन आदि) तथा बाह्य साधन देह एवं देहावयवों की अपेक्षा रहती है, इसलिये लोक में देखी गई स्थूल व्यवस्था के अनुसार ऐश्वरीसृष्टि के विषय में ऊहा करना उपयुक्त न होगा।

यदि गभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो जीवात्मा द्वारा की जानेवाली प्रेरणाओं में उस स्थिति को पकड़ा जा सकता है, जहाँ किसी साकार सहयोगी की अपेक्षा नहीं जानी जाती। विचार कीजिये, आप कुर्सी पर बैठे हैं, मेज आपके सामने है, मेज पर आपका हाथ निश्चेष्ट रक्खा हुआ है, उससे कुछ दूर मेज के कोने पर कलम रक्खा है, आप उसे उठाकर कुछ लिखना चाहते हैं। आपकी इस इच्छा के साथ ही हाथ में हरकत होती है, वह ऊपर उठता और अँगुलियों में कलम पकड़ कर फिर पहली जगह आ टिकता है। अब विचारना यह है कि हाथ में उठने के लिये जो क्रिया हुई है, वह एक प्रेरणा का फल है, देह के अन्दर बैठा जो आपका चेतन आत्मा है, उसी से यह प्रेरणा प्राप्त होती है। प्रेरणा देने की सीमा में चैतन्य के अतिरिक्त किसी अन्य साकार सहयोगी का समावेश नहीं है। यहाँ केवल चेतन आत्मा प्रेरणा दे रहा है, जो निराकार है। उसके अन्य साधन बुद्धि, मन आदि प्रेर्यमाण सीमा में आते हैं, प्रेरक सीमा में नहीं। इससे यह परिणाम निकलता है कि चैतन्य एक ऐसा तत्त्व है, जो प्रेरणा का अन्य आधार व स्रोत है, जिसमें किसी अन्य साकार सहयोगी की अपेक्षा नहीं रहती। जीव-चेतन की शक्ति जैसे अति सीमित है, ऐसे ब्रह्म-चेतन की शक्ति असीमित है, जैसे जीव केवल देह में प्रेरणा प्रदान करता है, ऐसे परमेश्वर अनन्त सामर्थ्य युक्त होने से अनन्त विश्व को प्रेरित करता है। सृष्टि रचना के विचार में यदि साकार सहयोगी की कल्पना की जाय तो वस्तुतः यह रचना ही असम्भव हो जायेगी, क्योंकि वह सहयोगी भी बिना रचना के असंभव होगा। फलतः अनन्त विश्व की रचना के लिये निरपेक्ष निराकार चैतन्य ही समर्थ हो सकता है, यह निश्चित है।

बिना कारण क्यों नहीं?

प्रश्न– ईश्वर जब सर्वशक्तिमान् है , तो वह बिना कारण के ही जगत् को क्यों नहीं बना देता?

उत्तर – यह संभव नहीं। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता, कारण न होना 'अभाव' का स्वरूप है, जो अभाव है, वह कभी भाव रूप में परिणत नहीं हो सकता और न भाव रूप पदार्थ का कभी सर्वथा अभाव होता है। बिना कारण अथवा अभाव से जगत् की उत्पत्ति कहना बन्ध्या पुत्र के विवाह के समान मिथ्या है।

प्रश्न– जब कारण के बिना कुछ नहीं हो सकता, तो कारण का भी कोई कारण मानना होगा, और उसका भी कोई अन्य कारण, इस प्रकार तुमहारे इस कथन में अनवस्था दोष आता है कि कारण के बिना कुछ नहीं हो सकता।

उत्तर– हमने यह नहीं कहा कि कारण के बिना कुछ नहीं हो सकता। ऐसे भी पदार्थ हैं, जो किसी के कारण हैं, पर वे स्वयं किसी के कारण हैं, तो वे स्वयं किसी के कार्य भी हैं। ऐसे पदार्थों को 'कारण-कार्य' अथवा 'प्रकृति-विकृति' कहा जाता है। जैसे घड़ा मिट्टी से बनता है, मिट्टी पृथ्वीरूप है, पृथ्वी घड़े मकान आदि का कारण होते हुए भी अपने कारणों का कार्य है, अर्थात जिन कारणों से पृथ्वी की रचना होती है, उनका कार्य है। परन्तु जो सब कार्य जगत् का मूलकारण है, उसका और कोई कारण नहीं होता, जगत् का मूल उपादान कारण अनादि पदार्थ है, वह किसी से उत्पन्न या परिणत नहीं होता, यदि ऐसा होता तो वह मूलकारण नहीं हो सकता था। इस प्रकार जैसे जगत् का कर्त्ता निमित्त कारण ईश्वर अनादि है, वैसे ही जगत्

का मूल उपादान कारण प्रकृति भी अनादि है। उसका अन्य कोई कारण संभव नहीं, क्योंकि वह कार्य नहीं, केवल कारण है, अतएव अनवस्था दोष की यहाँ संभावना नहीं हो सकती।

अन्यवादों का विवेचन

प्रश्न- आप प्रकृति उपादान से जगत् की सृष्टि कहते हैं, पर अन्य अनेक आचार्यों के सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में विविध विचार हैं, क्या उनमें कोई सत्यता नहीं है? उन विचारों को निम्नलिखित वादों के रूप में उपस्थित किया जा सकता है-शून्यवाद, अभाववाद, आकस्मिकवाद, सर्वानित्यत्ववाद, भूतनित्यत्ववाद, पृथक्त्ववाद, इतरेतराभाववाद, स्वभाववाद, जगदनादिवाद, जीवेश्वरवाद आदि। क्या इनके अनुसार सृष्टि की यथार्थ व्याखया संभव नहीं?

उत्तर – इन वादों के आधार पर सृष्टि की सत्य एवं पूर्ण व्याखया होना समभव नहीं, ये सब एकदेशी, अवैदिकवाद हैं, जो किसी एक अंश पर धुँधला-सा प्रकाश डालते हैं, कहीं वह भी नहीं, प्रत्युत प्रकाश की जगह अन्धकार का ही विस्तार करते हैं। जगत् की यथार्थ विद्यमानता पहले दोनों वादों को ठुकरा देती है। किसी वस्तु का होना कहना अथवा उत्पन्न होना बताना और उसे अकस्मात् कहना परस्पर विरोधी हैं। जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह निश्चित ही अपने कारणों से होगी, यह अलग बात है कि हम उन कारणों को जान सकें या न जान सकें। सब वस्तु अनित्य है, अथवा भूतनित्य हैं, इसलिए सब वस्तु नित्य हैं, ये कथन अपने ही में मिथ्या है। किसी वस्तु का नित्य या अनित्य होना विशिष्ट निमित्तों पर आधारित है, उत्पन्न होने वाली वस्तु अनित्य तथा उत्पादन-विनाश से रहित वस्तु नित्य कही जाती है, यह एक व्यवस्था है। प्रत्येक वस्तु न नित्य हो सकती है, न अनित्य।

पृथक्त्ववाद आधुनिक रसायन शास्त्र से पर्याप्त सीमा तक मेल रखता है। रसायन शास्त्र के अनुसार आज तक ऐसे एक सौ दो पदार्थों का पता लग चुका है, जो मूल रूप में एक दूसरे से पृथक है, एक दूसरे में किसी का कोई अंश नहीं है, भविष्य में और भी ऐसे अनेक पदार्थों का पता लग जाने की संभावना है। सोना, चाँदी, लोहा, तांबा, पारा, गन्धक, जस्ता, सीसा, कैल्शियम, आक्सीजन, हाइड्रोजन, कॉर्बन, नाईट्रोजन, सिलिकन्, फास्फोरस, ऐल्युमिनिअम, आर्सनिक, प्लैटिनम्आदि सब ऐसे पदार्थ हैं, जो सर्वथा एक दूसरे से पृथक है। किसी में किसी का कोई अंश नहीं है, पर भौतिकी विज्ञान ने ही इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि ये सब किन्हीं मूलतत्त्वों के समिश्रण से बने हैं। वे मूल तत्त्व प्रोटॉन, इलैक्ट्रॉन और न्यूट्रॉन् हैं, भारतीय दार्शनिकविचार के अनुसार इन्हें यथाक्रम सत्व, रजस्, तमस् के वर्ग में समझा जा सकता है। वैसे भी उक्त पदार्थों में से प्रत्येक में आकाश, काल, सामान्य (जाति) एवं नियन्ता शक्ति परमात्मा आदि का विद्यमान रहना अनिवार्य है, इसलिये स्वरूप से इनके पृथक रहते भी इनमें अन्य पदार्थों का अस्तित्व रहता ही है।

पदार्थों के इतरेतराभाव से सब पदार्थों का अभाव बताना सर्वथा प्रत्यक्ष विरुद्ध है। गाय घोड़ा नहीं, घोड़ा गाय नहीं, इसलिये न गाय है न घोड़ा, ऐसा कहना नितान्त विचार शून्य है।यद्यपि गाय घोड़ा नहीं है, पर गाय गाय है, घोड़ा घोड़ा है, उनके अपने अस्तित्व को कैसे झुठलाया जा सकता है?

'स्वभाव' से जगत् की उत्पत्ति कहना, किस अर्थ को प्रकट करता है, यह विचारणीय है। स्वभाव में 'स्व' पद का अर्थ क्या है? यदि पद मूलकारण को कहता है, तो इस पद मात्र के अलग कहने से कोई अन्तर नहीं आता, अपने मूल कारण से जगत् उत्पन्न होता है, यही उसका तात्पर्य हुआ। इसी प्रकार वर्तमान रूप में जगत् को अनादि कहना प्रमाण विरुद्ध है। जागतिक वस्तुओं में परिणाम व परिवर्तन अथवा उत्पादन-विनाश बराबर देखा जाता है, जो इसके बने हुए होने को सिद्ध करता है, इसी रूप में जगत् को अनादि कहना अयुक्त है। पृथिव्यादि पदार्थ अवयव संयोग से बने परीक्षा द्वारा प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। यह कहना भी सर्वथा अयुक्त है कि जगत् का कर्त्ता ईश्वर कोई नहीं, जीवात्मा ही सिद्ध अवस्था को प्राप्त होकर जगद्रचना कर सकते हैं। जीवात्मा को सिद्ध अवस्था तक पहुँचने के लिये भी संसार की आवश्यकता है, यह संसार किसने बनाया ? किसी जीवात्मा का अनादि सिद्ध होना सभव नहीं। यदि कोई चेतन आत्मतत्त्व सृष्टि रचना का सामर्थ्य रखने वाला अनादि सिद्ध माना जाता है, तो उसे ही परमात्मा कहा जा सकता है।

सृष्टि का क्रम प्रवाह से अनादि है, उत्पत्ति स्थिति और प्रलय जगत् के अनादिकाल से चले आते हैं, अनन्त काल तक इसी प्रकार चलते रहेंगे, यह ऐश्वरी व्यवस्था है। कल्प-कल्पान्तर में परमेश्वर ऐसी ही सृष्टि को बनाता, धारण करता एवं प्रलय करता रहता है। ईश्वर के कार्य में कभी भूल-चूक या विपर्यास नहीं होता।

दर्शनों में विरोध

प्रशन- सृष्टि विषय में क्या वेदादि शास्त्रों का एवं भारतीयदर्शनों का परस्पर विरोध नहीं है? कहीं आत्मा से, कहीं परमाणु से, कहीं प्रकृति से, कहीं ब्रह्म और काल एवं कर्म से सृष्टि कही है। इनमें स्पष्ट विरोध प्रतीत होता है ।

उत्तर– इनमें विरोध कोई नहीं, ये सब एक दूसरे के पूरक हैं। प्रत्येक कार्य अनेक कारणों से बनता है। यह कहा जा चुका है, कार्यमात्र के तीन कारण हुआ करते हैं, निमित्त, उपादान और साधारण। न्यायादिदर्शनों में जगत् के विभिन्न कारणों का वर्णन है और उसके लिये अन्य उपयोगी विधियों का। प्रत्येक वस्तु की सिद्धि के किसी भी स्वर पर हमें प्रमाणों का आश्रय लेना पड़ता है, इस स्थिति का कोई दर्शन विरोध नहीं करता। तत्त्व विषयक जिज्ञासा होने पर प्रारमभ में शिक्षा का उपक्रम वहीं से होता है, जिनका प्रतिपादन वैशेषिक दर्शन करता है। तत्त्वों के स्थूल-सूक्ष्म साधारण स्वरूप और उनके गुण-धर्मों की जानकारी पर ही आगे तत्त्वों की अतिसूक्ष्म अवस्थाओं को जानने-समझने की ओर प्रवृत्ति एवं क्षमता का होना समभव है। प्रमाण और बाह्य प्रमेय का विषय न्याय-वैशेषिक दर्शनों में प्रतिपादित किया गया है। तत्त्वों की उन अवस्थाओं और चेतन-अचेतन रूप में उनके विश्लेषण को सांय प्रस्तुत करता है। चेतन-अचेतन के भेद को साक्षात्कार करने की प्रक्रियाओं का वर्णन योग में है। इन प्रक्रियाओं के मुखय साधन भूत मन की जिन विविध अवस्थाओं के विश्लेषण का योग में वर्णन है, वह मनोविज्ञान की विभिन्न दिशाओं का केन्द्र भूत आधार है। समाज के कर्तव्य-अकर्तव्य का वर्णन मीमांसा एवं समस्त विश्व के संचालक व नियन्ता चेतन तत्त्व का वर्णन वेदान्त करता है। यह ज्ञान साधन कार्यक्रम भारतीय संस्कृति के अनुसार वर्णाश्रम धर्मों एवं कर्त्तव्यों के रूप में पूर्णतया व्यवस्थित है। इन उद्देश्यों के रूप में कहीं किसी का किसी के साथ विरोध का उद्भावन अकल्पनीय है। दर्शनों में जिन तत्त्वों का निरूपण किया है, सृष्टि रचना में एक दूसरे

के पूरक होकर वे तत्त्व पहले कहे तीन कारणों में अन्तर्हित अथवा समाविष्ट हैं, इनमें विरोध का कहीं अवकाश नहीं।

प्राणी का प्रादुर्भाव कैसे ?

प्रश्न– पृथिव्यादि लोक-लोकान्तर तथा पृथिवी पर औषधि वनस्पति आदि उत्पन्न हो जाने पर संचरण शील प्राणी का प्रादुर्भव कैसे होता है? चालू सर्ग क्रम में ऐसे प्राणी का प्रजनन मिथुन मूलक देखा जाता है, यह स्थिति सर्वादिकाल में होनी संभव नहीं। यह एक उलझन भरी समस्या है कि सर्वप्रथम प्राणी का प्रादुर्भाव कैसे हुआ।

उत्तर-सर्वप्रथम प्राणी का प्रादुर्भाव बाह्य मिथुन मूलक नहीं होता। परमात्मा अपनी अचिन्त्य शक्ति एवं व्यवस्था के अनुसार स्त्री-पुरुषों के शरीर बनाकर उनमें जीवों का संयोग कर देता है। शरीर की रचना जिस प्रक्रिया के अनुसार चालू होती है, उसमें जीवात्मा का संचार प्रथमतः हो जाता है। प्राणी शरीर की रचना अत्यन्त जटिल है, शरीर-रचना की इस सुव्यवस्था को देखकर रचना करने वाले का अनुमान होता है। जो व्यवस्था जिस प्राणी वर्ग में निहित कर दी गई है, वह चालू संसार के मिथुन-मूलक प्रजनन में अब तक चली आ रही है और प्रलय पर्यन्त चलती रहेगी। इससे आदि शरीर की रचना बाह्य मैथुन रहित केवल परमात्मा की नित्य व्यवस्था के अनुसार होती है। यह अनुमान वर्तमान में देखी गई व्यवस्था के आधार पर किया जा सकता है।

प्रश्न– इतने कथन से आदि सर्ग में मानव शरीर रचना की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण नहीं होता। इसका और स्पष्ट विवरण देना चाहिए।

उत्तर– आदि सर्ग में प्राणी देह की रचना ऐश्वरी सृष्टि में गिनी जाती है। सर्वप्रथम जो प्राणी हुए, विशेषतः मानव प्राणी, उनका पालन-पोषण करने वाला माता-पिता आदि कोई न था, इसलिये यह निश्चित समभावना होती है कि वे मानव किशोर अवस्था में प्रादुर्भूत हुए, कतिपय आधुनिक वैज्ञानिक भी ऐसा मानने लगे हैं। बोस्टन नगर के स्मिथसोनियन इन्स्टीट्यूट के जीव विज्ञान शास्त्र के अध्यक्ष डॉ. क्लॉर्क का कथन है- मानव जब प्रादुर्भूत हुआ, वह विचार करने, चलने फिरने और अपनी रक्षा करने के योग्य था- Man appeared able to think walk and defend himself.

समस्या यह है कि मानव ऐसा विकसित देह सर्वप्रथम प्रादुर्भूत कैसे हुआ? उसकी रचना किस प्रकार हुई होगी? सचमुच यह समस्या अत्यन्त गमभीर है। ऐसी स्थिति में ऐसे शरीरों का प्रकट हो जाना अनायास बुद्धिगमय नहीं है। इसे समझने के लिये हमें चालू सर्ग काल के प्रजनन की स्थिति पर ध्यान देना चाहिये, समभव है वहाँ की कोई पकड़ इस समस्या को सुलझाने में सहयोग दे सके। साधारण रूप से प्रजनन की विधा चार वर्गों में विभक्त है- जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज अथवा ऊष्मज। अन्तिम वर्ग अति सूक्ष्म, अदृश्य कृमि-कीटों से लगाकर दृश्य क्षुद्र जन्तुओं तक का है। इस वर्ग के प्राणी का देह नियत ऊष्मा पाकर अपने कारणों से उदभूत हो जाता है। उद्भिज्ज वर्ग वनस्पति का है। चालू सर्ग काल में देखा जाता है कि बीज से वृक्ष होता है, पर सबसे पहले वृक्ष का बीज कैसे हुआ, यह विचारणीय है। निश्चित है कि वह बीज वृक्ष पर नहीं लगा, तब यही अनुमान किया जा सकता है कि उसकी रचना प्रकृति गर्भ में होती रही होगी। बीज में प्रजनन शक्ति-अंश एक कोष

(खोल) में सुरक्षित रहता है, यह स्पष्ट है। वृक्ष पर बीज के निर्माण की प्रक्रिया भी नियन्ता की व्यवस्था के अनुसार प्रकृति का एक चमत्कार है। वंश बीज-निर्माण की प्रक्रिया क्या है, प्रजनन-अंश किस प्रकार कोष में सुरक्षित हो जाते हैं, जड़ से बीज तक कैसे उसका निर्माण होता आता है, इसे आज तक किसने जाना है? इसी प्रकार अण्डज वर्ग में बीज एक अति सुरक्षित कोष में आहित रहता है, इस वर्ग में कीड़ी तथा उससे भी अन्य कतिपय सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर अनेक सरीसृप जाति के प्राणी स्थलचर तथा जलचर एवं नभचर पक्षी जाति का समावेश है। विभिन्न जातियों के देहों के अनुसार कोश की रचना छोटी-बड़ी देखी जाती है। इस वर्ग का भ्रूण एक विशेष प्रकार के खोल से सुरक्षित रहता है, मातृ-गर्भ में उपयुक्त पोषण प्राप्त कर गर्भ से बाहर भी नियत काल तक कोश युक्त रहता हुआ पोषण प्राप्त करता है। भ्रूण का यथायथ परिपाक होने पर खोल फटता है और बच्चा निकल आता है, यह प्रकृति का एक चमत्कार है। इस वर्ग में उत्पत्ति काल की दृष्टि से कुछ अधिक बड़े देह वाले प्राणियों का सामावेश है तथा यह एक विचारणीय बात है कि भ्रूण का गर्भ से बाहर भी परिपोषण होता है।

अण्डज वर्ग के आगे बड़ी देह वाला प्राणी-वर्ग जरायुज है, जिसमें मानव एवं समस्त पशु-मृग आदि का समावेश है। कोश में भ्रूण के परिपोषण की प्राकृत व्यवस्था इस वर्ग में भी समान है। मातृगर्भ भ्रूण पूर्णाङ्ग होने तक जरायु में परिवेष्टित रहता है। स्निग्ध सुदृढ़ चमड़े जैसे पदार्थ की थैली का नाम जरायु है, पूर्णाङ्ग होने पर बालक इसको भेदकर ही मातृगर्भ से बाहर आता है। इस प्रकार भ्रूण की सुरक्षा, उपयुक्त पुष्टि व वृद्धि तक के लिए उसका विशिष्ट कोश में परिवेष्टित होना सर्वत्र प्राणी-वर्ग में समान है। यह एक ऐसी नियत व्यवस्था है, जो प्राणी के प्रादुर्भाव की आद्य-स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। चालू सर्ग काल अथवा मैथुनी सृष्टि में नर-मादा का संयोग प्राणी के साजात्य प्रजनन की जिस स्थिति को प्रस्तुत करता है, वह स्थिति अमैथुनी सृष्टि में प्राकृत नियमों वव्यवस्थाओं के अनुसार प्रकृति गर्भ में प्रस्तुत हो जाती है। इस व्यवस्था से और अण्डज वर्ग के सामान मातृगर्भ से बाहर भ्रूण की परिपोषण प्रक्रिया से यह अनुमान होता है कि सर्व-प्रथम आदिकाल में मानव आदि बड़े की रचना प्रकृति पोषित सुरक्षित उपयुक्त कोशों द्वारा हुई होगी। चालू सर्ग काल में देहों के अनुसार कोषों के आकार में विभिन्नता देखी जाती है। यह समभव है, आदि काल में प्रकृति निर्मित उपयुक्त कोशों में सुरक्षित एवं परिपोषित मानव आदि के किशोरावस्थापन्न सजीव देह यथावसर प्रादुर्भूत हुए हों। आदिसर्ग में विविध प्राणियों का अनेक संखया में प्रादुर्भाव हो जाता है, यह मानने में कोई बाधा नहीं है। यह सब जीवों के कर्मानुसार ऐश्वरी व्यवस्था के सहयोग से हुआ करता है।

आदिमानव का मूलस्थान

प्रश्न– सर्व प्रथम मानव का प्रादुर्भा व पृथ्वी के किस प्रदेश पर हुआ?

उत्तर– भारतीय साहित्य के आधार पर अनेक दिशाओं से यह स्पष्ट होता है कि मानव का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव 'त्रिविष्टप' नामक प्रदेश में हुआ, जो वर्तमान तिबत के कैलाश, मानसरोवर प्रदेश तथा उससे सुदूर पश्चिम और कुछ दक्षिण-पश्चिम की ओर फैला हुआ था। कुछ समय पश्चात गंगा सरस्वती आदि नदी घाटियों के द्वारा आर्यों ने भारत प्रदेश में आकर निवास किया और इसका आर्यावर्त्त नाम रक्खा, सर्वप्रथम यहाँ आर्यों का निवास हुआ। उनसे पहले

यहाँ अन्य किसी मानव का निवास नहीं था। आर्यों का मूलस्थान और यह भूभाग एक ही देश था। आर्य कहीं बाहर से यहाँ कभी नहीं आये। इक्ष्वाकु से लेकर कौरव-पाण्डव पर्यन्त पृथ्वी के इन समस्त भागों पर आर्यों का अखण्ड राज्य और वेदों का थोड़ा-थोड़ा सर्वत्र प्रचार रहा। अनन्तर आर्यों का आलस्य, प्रमाद और परस्पर का विरोध समस्त ऐश्वर्य एवं विभूतियों को ले बैठा। पृथिव्यादि लोकों की लगभग एक अरब सत्तानवें करोड़ वर्ष की आयु में अब तक आर्यों का अधिक काल अभ्युदय का बीता है। वेद धर्म पर प्रज्ञा पूर्वक आचरण करने से अब भी उत्कृष्ट अभ्युदय की सभावना की जा सकती है।

इस प्रकार सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ने अतिसूक्ष्म प्रकृति रूप उपादान कारण से जगत् को बनाया, जो असंखय पृथिव्यादि लोक-लोकान्तरों के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। ये समस्त लोक अपनी गति एवं परस्पर के आकर्षण से ऐश्वरी व्यवस्था के अनुसार अनन्त आकाश में अवस्थित हैं। जैसे परमेश्वर इन सबका उत्पादक है, वैसे ही इनका धारक एवं संहारक भी रहता है। हमारी इस पृथ्वी के समान अन्य लोक-लोकान्तरों में भी प्राणी का होना संभव है। जीवात्माओं के कर्मानुष्ठान और सुख-दुःखादि फलों को भोगने तथा आत्म-ज्ञान होने पर अपवर्ग की प्राप्ति जगद्रचना का प्रयोजन है। असंखय लोकान्तरों की रचना का निष्प्रयोजन होना असभव है, अतःलोकान्तरों में भी प्राणी का होना समभव है। वेद का ज्ञान सबके लिए समान है। समस्त विश्व पर परमेश्वर का नियन्त्रण रहता है। उसी व्यवस्था के अनुसार सब तत्त्व अपना कार्य किया करते हैं।

अग्निहोत्र यज्ञ से अनेक लाभ व इसके कुछ पक्षों पर विचार

FEBRUARY 27, 2016 5 COMMENTS

ओ३म्

‘अग्निहोत्र यज्ञ से अनेक लाभ व इसके कुछ पक्षों पर विचार’

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

प्रतिदिन प्रातः व सायं अग्निहोत्र करने का विधान वेदों में है। वेद के इन मन्त्रों को महर्षि दयानन्द ने अपनी पंचमहायज्ञ विधि में प्रस्तुत किया है। यहीं से यज्ञ व अग्निहोत्र परम्परा का आरम्भ हुआ। वेद के मन्त्र ‘ओ३म् समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा।। इदमग्नये–इदन्न मम।।’ में कहा गया है कि विद्वान लोगों ! जिस प्रकार प्रेम और श्रद्धा से अतिथि की सेवा करते हो, वैसे ही तुम समिधाओं तथा घृतादि से व्यापनशील अग्नि का सेवन करो और चेताओ। इसमें हवन करने योग्य अच्छे द्रव्यों की यथाविधि आहुति दो। एक अन्य मन्त्र ‘सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे स्वाहा। इदमग्नये जातवेदसे–इदन्न मम।।’ में विधान है कि हे यज्ञकर्ता ! अग्नि में तपाये हुए शुद्ध घी की यज्ञ में आहुति दो, जिससे संसार का कल्याण हो। यह सुन्दर आहुति सम्पूर्ण पदार्थों में विद्यमान ज्ञानस्वरूप परमेश्वर के लिए है, मेरे लिए नहीं। अन्य अनेक मन्त्र हैं जो यज्ञ के प्रेरक व पोषक हैं तथा जिनका यथास्थान विधान यज्ञ की विधि में किया गया है। वेद के विधान व शिक्षाओं का पालन करना मनुष्य का धर्म कहलाता है और न करना अधर्म। धर्म सुख का कारण होता है व अधर्म दुःख का कारण। यह ध्यान रखना चाहिये कि मनुष्य के सभी कर्मों

का फल साथ साथ नहीं मिलता। कुछ क्रियमाण कर्मों का मिल जाता है और कुछ कर्म कर्मों के संचित खातों में जमा हो जाते हैं जिनका फल कालान्तर व परजन्मों में मिलता है। ऋषियों ने स्वानुभूति के आधार पर घोषित किया है कि यज्ञ एक श्रेष्ठतम कर्म है। यज्ञ करने से अभीष्ट सुख की प्राप्ति होती है। निष्काम भावना से किए गये यज्ञ से भी मनुष्य को लाभ होता है। ऐसा साक्षात्कृतधर्मा ऋषि अर्थात् यज्ञ से सुख प्राप्ति का अनुभव किये हुए ऋषियों का कथन है। ऋषि ईश्वर का साक्षात्कार किये हुए वेदों के सत्य अर्थों के ज्ञानी व धर्म का आचरण करने वाले परोपकारी महात्माओं को कहते हैं। अतः इस प्रमाण के आधार पर संसार के सभी मनुष्यों को यज्ञ अवश्य करना चाहिये। इससे होने वाले सम्पूर्ण लाभों का तो पूर्ण ज्ञानर अभी तक नहीं है, परन्तु जितना ज्ञान है उसके अनुसार यज्ञ का परिणाम इस जन्म व परजन्म में निश्चय ही कल्याणकारी व शुभ होता है।

यज्ञ करने के अनेक कारण व इससे प्राप्त होने वाले अनेक लाभ है जो विचार करने पर ज्ञात होते हैं। पहला कारण तो यह है कि हम जहां रहते हैं वहां हमारे मल मूत्र, श्वास-प्रश्वास, भोजन निर्माण, वस्त्र प्रक्षालन आदि कार्यों से वायु, जल व पर्यावरण में अनेक विकार व प्रदुषण उत्पन्न होता है। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम ऐसे उपाय करें कि जिससे हमसे जितनी मात्रा में प्रदुषण हुआ है, उतना व उससे कुछ अधिक प्रदुषण निवारण का कार्य हो। इसका समाधान व उपाय यज्ञ वा अग्निहोत्र करने से होता है। प्रदुषण को दूर करने का अन्य कोई उपाय आज भी विज्ञान द्वारा सुलभ नहीं कराया गया है। यज्ञ के अन्तर्गत पहला कार्य तो यह है कि हम अपने निवास को अधिकतम हर प्रकार से स्वच्छ रखें। दूसरा यह है कि आम्र आदि प्रदुषण न करने वा न्यूनतम कार्बन-डाइ-आक्साईड उत्पन्न करने वाली पूर्णतया सूखी व छोटे आकार मे कटी हुई समिधाओं से यज्ञ कुण्ड में अग्नि को प्रदीप्त कर उस अग्नि के तीव्र व प्रचण्ड होने पर उसमें शुद्ध गो घृत सहित वायु, जल, पर्यावरण व स्वास्थ्य की पोषक व उसके अनुकूल सामग्री व पदार्थों की आहुतियां दी जायें। इसके लिए चार प्रकार की सामग्री का विधान किया गया है जिसमें मुख्य गोघृत है। अन्य पदार्थों में मिष्ट पदार्थ जिसमें शक्कर आदि सम्मिलित हैं। तीसरे वर्ग में सुगन्धित पदार्थ आते हैं जिसके अन्तर्गत केसर, कस्तूरी आदि पदार्थों का प्रयोग किया जाता है। चतुर्थ प्रकार के पदार्थ आयुर्वेदिक ओषधियों सोमलता व गिलोय आदि सहित बादाम, काजू, नारीयल, छुआरे, किशमिस आदि पोषक पदार्थ सम्मिलित हैं। इनका यज्ञ में आहुति हेतु विधान किया गया है। इन पदार्थों की अग्नि में आहुति देने से यह पदार्थ अतिसूक्ष्म होकर वायुमण्डल में फैल जाते हैं जिनसे वायुमण्डल की शुद्धि सहित वायुस्थ वाष्पीय जल की शुद्धि होती है जो बाद में वर्षा के होने पर खेत खलिहानों के अन्न को शुद्ध व पवित्र बनाते हैं। यज्ञ करते समय यज्ञकर्ता में धर्मभाव अर्थात् स्वहित-परहित दोनों व अहित किसी का नहीं, का भाव होता है। इससे ईश्वर यज्ञकर्ता के इस शुभ व पुण्य कार्य के लिए उसे सुख व आनन्द की अनुभूति कराने सहित अभीष्ट पदार्थों को उपलब्ध कराता है। आरोग्य व स्वास्थ्य लाभ तो यज्ञ का एक मुख्य गुण है। गोघृत के गुण तो सभी को ज्ञात हैं। गोघृत का सेवन करने से मनुष्य निरोग रहने के साथ बलिष्ठ होता है। ईश्वर की प्राप्ति से पूर्व यह स्वास्थ्य व बल ही मनुष्य के लिए अभीष्ट होता है जिसकी प्राप्ति गोघृत आदि के सेवन करने से होती है। यज्ञ में इसका प्रयोग करने से इसका सूक्ष्म रूप वायुमण्डल में विद्यमान रहता है जो न केवल यज्ञकर्ता अपितु यज्ञ स्थान के चारों दिशाओं में दूर दूर तक लोगों व प्राणियों को लाभान्वित करता है। यज्ञ में दी गई घृत व सभी पदार्थों की

आहुतियां सूर्य की किरणों के साथ हल्की होने के कारण आकाश में काफी ऊंचाई तक जाती है जिससे वायु में जो सूक्ष्म जीव, बैक्टीरिया आदि होते हैं उनसे होने वाले दुष्प्रभाव से भी मनुष्य बचा रहता है।

यज्ञ में हमारे ऋषियों ने वेद मन्त्रोच्चार का विधान भी किया है। वेद मन्त्रों का उच्चारण होने से ईश्वर से सम्पर्क जुड़ता है व उससे मित्रता उत्पन्न होने के साथ वेद मन्त्रों के कण्ठ=स्मरण होने से उनकी रक्षा होती है और साथ हि मन्त्रों में निर्दिष्ट लाभों का ज्ञान भी होता है। इन मन्त्रों के प्रयोग व उनके अर्थों को पढ़ने से यज्ञकत्र्ता संस्कृतनिष्ठ शुद्ध हिन्दी बोल पाते हैं। इससे अनेक वैदिक शब्दों का ज्ञान, उनके प्रति प्रेम व उनके प्रयोग की भावना को बल भी मिलता है। हम अपने अनुभव से यह समझते हैं कि वेदमन्त्रों का उच्चारण करना मनुष्य के परमार्थ की दृष्टि से भी अधिक लाभप्रद है। अन्य मानुष पद्य व गद्य वाक्यों का प्रयोग व उच्चारण इतना लाभप्रद नहीं है जितना वेदमन्त्रों के अर्थ के ज्ञान सहित उनका उच्चारण होता है। यज्ञों में प्रमुख मन्त्रों का उच्चारण करने से ईश्वर की कृपा व सहायता प्राप्त होती है और जीवन हर दृष्टि से उन्नत व सुखी होता है। इससे हमारा वर्तमान और परजन्म दोनो बनता है जबकि इससे इतर कार्यों से परजन्म की उन्नति में अधिक लाभ नहीं होता। घरों में यज्ञ करने से एक लाभ यह होता है कि यज्ञ करने से गृह वा निवास स्थान की दूषित वायु यज्ञाग्नि के सम्पर्क में गर्म होकर हल्की हो जाती है और वह दरवाजों, खिड़कियों व रोशनदानों से बाहर चली जाती है। हल्की होकर दूषित वायु के बाहर जाने से जो अवकाश बनता है उसमें बाहर की किंचित शुद्ध वायु स्वतः निवास के भीतर प्रविष्ट हो जाती है जो स्वास्थ्य के लिए हितकर व सुखदायक होती है। अग्निहोत्र में यज्ञीय पदार्थों की आहुतियों से वह जलकर सूक्ष्म हो जाते हैं और वायु से मिलकर वायु के दुर्गन्धादि अनेक दोषों को दूर करते हैं जिनमें हानिकारक बैक्टिरिया व सूक्ष्मजीव भी प्रभावित होकर उनका अनिष्टकारी प्रभाव यज्ञकर्ता व उसके परिवार के सदस्यों पर नहीं होता। गोघृत विषनाशक भी होता है। विषैले सांप के काटे हुए मनुष्य को गोघृत पिलाने से शरीर पर विष का प्रभाव समाप्त होता है। गोघृत के इसी गुण के कारण वायु में उपस्थित सूक्ष्म कीट व बैक्टिरियां नष्ट होते हैं। आर्यजगत के एक यज्ञप्रेमी विद्वान पण्डित वीरसेन वेदश्रमी जी, इन्दौर ने अनेक छोटे-बड़े यज्ञ कराये और परिक्षणों में उन्होंने पाया कि हृदय रोगियों, जन्म के बहिर व मूक व्यक्तियों तक को यज्ञ से पूर्ण लाभ हुआ। दैनिक यज्ञ करने वाले लोग यज्ञ न करने वाले परिवारों से अधिक स्वस्थ, निरोगी व दीघार्यु होते हैं ऐसा अनुमान व प्रत्यक्ष ज्ञान अध्ययन करने पर प्राप्त होता है। हमारा यह भी अनुभव है कि यज्ञ करने वाला व्यक्ति जीवन में अनेक छोटी-बड़ी दुर्घटनाओं के होने पर भी अनेक बार उसमें पूर्णतः सुरक्षित रहता है। यह वैदिक जीवन व्यतीत करने सहित यज्ञ करने का लाभ ही ज्ञात होता है। यह भी हमारा अनुभव है कि यज्ञ करने से मनुष्यों की बुद्धि सभी प्रकार के ज्ञान व विषयों को ग्रहण करने में तीव्रतम व महत् क्षमता वाली होती है तथा वह अपने जीवन का कोई भी लक्ष्य निर्धारित कर उसे प्राप्त कर सकता है।

यज्ञ के लाभ का एक उदाहरण प्रस्तुत कर इस लेख को विराम देंगे। आर्यसमाज में प्रभु आश्रित जी का यश व कीर्ति यज्ञों के प्रचारक के रूप में आज भी सर्वत्र विद्यमान है। उनके

एक अनुगामी दम्पती ऐसे थे जो उनके सत्संग में सम्मिलित होते थे परन्तु उनके पास धन का नितान्त अभाव था। वह उन दिनों यज्ञ करने के लिए घृत व सामग्री तक का व्यय करने में समर्थ नहीं थे। महात्मा जी के सामने उन्होंने यज्ञ करने की अपनी इच्छा व्यक्त की और धनाभाव की यथार्थ स्थिति भी उन्हें बताई। महात्मा जी ने उन्हें संकल्प लेकर यज्ञ करने का परामर्श दिया और कहा कि ईश्वर की कृपा से धीरे-धीरे सभी साधन प्राप्त हो जायेंगे। इस परिवार ने दैनिक यज्ञ आरम्भ कर दिया। शनैः शनैः इनकी आर्थिक, शारीरिक व सामाजिक उन्नति होती गई। आर्थिक उन्नति इतनी हुई कि इन्होंने जीवन में लाखों वा करोड़ों रूपये शुभ कार्यों के लिए दान दिये। आज भी इनके पुत्र प्रातः व सायं यज्ञ करते हैं। अनेक संस्थाओं के अधिकारी हैं। उनका यश सर्वत्र व्याप्त है तथा वह सुखी व सम्पन्न हैं। हमारी यदा-कदा उनसे भेंट होती रहती है। आपने पिछली एक भेंट में बताया कि जब 1947 में वैदिक राष्ट्र भारत का विभाजन हुआ तो लोग अपनी धन-सम्पत्ति लेकर पाकिस्तान से भारत आये थे परन्तु यह परिवार अपनी सारी सम्पत्ति वहीं छोड़कर केवल यज्ञ कुण्ड अपने गले में टांग कर व उसमें विद्यमान अग्नि को सुरक्षित रखते हुए भारत पहुंचा था। इस परिवार ने उस अग्नि की रक्षा करते हुए उसे बुझने नहीं दिया। विगत लगभग 75 वर्षों से यह यज्ञाग्नि निरन्तर प्रज्जवलित है। वर्तमान में श्री दर्शनकुमार अग्निहोत्री जी सपत्नपीक व परिवार सहित इस अग्नि में ही प्रातः व सायं यज्ञ करते हैं। ऐसे व्यक्ति, परिवार व उनसे जुड़े लोग धन्य हैं। हम तो इनके दर्शन कर ही स्वयं को कृतकृत्य मानते हैं। हमने अपने जीवन में भी यज्ञ के अनेक चमत्कार अनुभव किये हैं। यह सब ईश्वर सच्चे विचारों वाले अपने अनुयायियों को उनकी पात्रता व योग्यता के अनुसार प्रदान करता है। महर्षि दयानन्द ने पंचमहायज्ञ विधि और संस्कार विधि ग्रन्थों में पंच महायज्ञों का विधान किया है। इसे जान व समझकर सभी मनुष्यों को इसका सेवन कर लाभ उठाना चाहिये। इसको करने से यज्ञकर्ता को अवश्य लाभ मिलेगा, ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है जिसका आधार हमारा अध्ययन, ज्ञान व अनुभव है। हमने यज्ञ का भौतिक व व्यवहारिक स्वरूप प्रस्तुत किया है। इस विषय में और बहुत कुछ कहा जा सकता है। और अधिक विस्तार न कर लेख को यहीं विराम देते हैं।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196 चुक्खूवाला-2**

देहरादून**-248001**

फोनः**09412985121**

सृष्टिकर्त्ता ईश्वर प्रदत्त वैदिक धर्म सभी मनुष्यों का परमधर्म

FEBRUARY 26, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

‘सृष्टिकर्ता ईश्वर प्रदत्त वैदिक धर्म सभी मनुष्यों का परमधर्म’

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

अग्नि आदि किसी पदार्थ के जलना, प्रकाश व गर्मी देना आदि गुणों को उसका धर्म कहा जाता है। मनुष्यों में जिन श्रेष्ठ गुणों को होना चाहिये उनका मनुष्यों में संस्कार व उन गुणों की उन्नति सहित तदनुसार आचरण को ही मनुष्यों का धर्म कह सकते हैं। किसी आचार्य व विद्वान द्वारा सत्यासत्य व स्वहित के नियमों का निर्धारण जिसमें दूसरों के हितों की किंचित भी अनदेखी व उपेक्षा हो वह धर्म कदापि नहीं हो सकता। धर्म वह होता है जिसकी मान्यतायें व सिद्धान्त सर्वमान्य व अकाट्य होने सहित सभी विषयों के ज्ञान में पूर्णता रखती हों और जिन्हें मनुष्यों द्वारा धारण करने से उनका अभ्युदय व निःश्रेयस सुनिश्चित होता हो। असत्य, अहिंसा व स्वहित के नियम मनुष्यों को आपस में बांटतें हैं और साथ हि अशान्ति व दुःख उत्पन्न करते हैं। यदि यह किसी समाज, संगठन व संस्था में हों तो विचार कर उनका निराकरण किया जाना चाहिये जिससे उस संस्था व अन्य संस्थाओं के लोग परस्पर भाई चारे का व्यवहार कर परस्पर निजी व सामाजिक उन्नति कर सकें। वैदिक मान्यताओं के अनुसार यह सृष्टि लगभग 1.96 अरब वर्षों पूर्व अस्तित्व में आई थी। लगभग 5,200 वर्ष पूर्व भारत में एक महायुद्ध हुआ जिसे वर्तमान में महाभारत के नाम से जाना जाता है। युद्ध में मनुष्यों की भारी क्षति होती है। बड़ी संख्या में लोग मारे जाते हैं। परिवारों में व देश में उनकी मृत्यु से सर्वत्र दुःख का वातावरण छा जाता है। लोगों की सामान्य दिनचर्या अस्तव्यस्त हो जाती है। राज्य की आर्थिक स्थिति पर भी इसका दुष्प्रभाव पड़ता है। राज्य से शिक्षा, चिकित्सा व अन्य विभागों का बजट कम करके उपलब्ध धनराशि को युद्ध में हुई क्षति की पूर्ति में लगाना पड़ता है। ऐसा ही कुछ कम या अधिक महाभारत के युद्ध के बाद हमारे देश में भी हुआ। उसके बाद देश की जो सामाजिक स्थिति निर्मित हुई उससे लगता है कि देश की शिक्षा व्यवस्था पूरी तरह ध्वस्त हो गई थी। कहां तो महाभारत पूर्व हमारे देश में योगेश्वर श्री कृष्ण, महात्मा विदुर, युधिष्ठिर व अर्जुन जैसे विद्वान व वीर मनुष्य तथा द्रोपदी, कुन्ती व माद्री जैसी शिक्षित व वेदज्ञान सम्पन्न विदुषी महिलायें होती थी और कहा महाभारत के बाद यज्ञों में गाय, बकरी, भेड़ व अश्व आदि की हिंसा करते हुए हमारे यज्ञकर्त्ता विद्वान दृष्टिगोचर होते हैं। अज्ञान व अन्धविश्वास बढ़ने लगे और इसके साथ जन्मना जातिवाद, ऊंच-नीच, छुआछूत, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, फलित-ज्योतिष जैसे अन्धविश्वास व कुरीतियां समाज में घर कर गये जिनसे आज तक भी पीछा नहीं छूटा है। पतन यहां तक हुआ कि सभी स्त्रियों व शूद्रों से वेदाध्ययन व शिक्षा का अधिकार ही छीन लिया गया। यह सब समाज की घोरतम पतनावस्था थी। इस अवस्था से जो सामाजिक स्थिति उत्पन्न होनी थी वह अविवेकपूर्ण ही होती, विवेकपूर्ण तो तब होती जब देश में लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपना अधिकांश समय विद्यार्जन, सत्योपदेश, अन्धविश्वास व अवैदिक मतों के खण्डन में लगाते। यह श्रेय किसी ने नहीं लिया। इसका श्रेय उन्नीसवीं सदी में आर्यसमाज के संस्थापक और वेदों के मर्मज्ञ विद्वान, सिद्ध योगी व परमदेशभक्त व वेदधर्मप्रेमी महर्षि दयानन्द सरस्वती को मिला।

सृष्टि का निर्माण मनुष्यों के द्वारा नहीं हो सकता। उनके लिए यह कार्य असम्भव है। हमारी यह सृष्टि वा भौतिक जगत जड़ प्रकृति के सूक्ष्म कणों वा परमाणुओं से मिलकर बना है। यह परमाणु भी नाना प्रकार के होते हैं। हाइड्रोजन, आक्सीजन, नाईट्रोजन, कार्बन, आयरन, कैल्शियम

आदि अनेक तत्व हैं जिनके सूक्ष्म परमाणु संरचना की दृष्टि से भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। यह जिस सत्व, रज व तम गुणों वाली प्रकृति से बने वा बनायें गये हैं, उसके लिए एक अतिसूक्ष्मतम सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान, सृष्टि निर्माण का पूर्व अनुभव रखनेवाली सत्ता की आवश्यकता होती है। बिना इसके सृष्टि का निर्माण नहीं हो सकता। सृष्टि का अस्तित्व यह घोषणा कर रहा है कि मुझे एक दिव्य सत्ता जो निराकार, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक व सर्वज्ञ होने सहित सच्चिदानन्द आदि गुणों से युक्त है, उसने इस समस्त सृष्टि वा ब्रह्माण्ड को बनाया है। बनाने वाले ईश्वर से भिन्न उपादान कारण के रूप में जिस जड़ पदार्थ का प्रयोग किया गया, उसे प्रकृति कहते हैं। उस ईश्वर ने पहले अति सूक्ष्म प्रकृति को भिन्न-भिन्न परमाणुओं में बदला वा बनाया, फिर उनसे अणुओं का निर्माण होकर यह समस्त स्थूल जगत बना है जिसमें सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, नक्षत्र आदि सम्मिलित हैं। यह ध्यातव्य है कि जड़ पदार्थों में स्वयं निर्मित होने की क्षमता नहीं होती। उसके लिए किसी बुद्धियुक्त चेतन, शक्तिसम्पन्न व प्रकृति से भी सूक्ष्म सत्ता की अपेक्षा होती है जिसे सृष्टिकर्ता कहते हैं। बिना कर्ता के कोई कार्य नहीं होता। आप आटे व उससे बनने वाली रोटी का सारा समान बनाकर अपने रसोईघर में रख दीजिए। जब तक कोई रोटी बनाने वाला मनुष्य रोटी नहीं बनायेगा, समस्त सामान उपलब्ध होने पर भी रोटी अपने आप कभी नहीं बनेगी। अतः ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना, उत्पत्ति व पालन होना युक्ति व तर्क से सिद्ध है। यदि कोई इन तथ्यों को नहीं मानता तो वह अज्ञानी, हठी व दुराग्रही ही कहा जा सकता है। यह सृष्टि की उत्पत्ति का वैज्ञानिक सिद्धान्त है।

ईश्वर ने सृष्टि बनाई और मनुष्यों सहित समस्त प्राणी जगत को भी उसी ने इस सृष्टि के आदि काल में उत्पन्न किया, तब से अब तक और आगे भी निरन्तर उत्पन्न करता रहेगा। अन्य कोई यह कार्य नहीं कर सकता था और सृष्टि रचना और प्राणियों की उत्पत्ति अपने आप वा स्वतः हो नहीं सकती थी। अतः ईश्वर के ऊपर न केवल सृष्टि की रक्षा व पालन का उत्तरदायित्व है अपितु मनुष्यों सहित सभी प्राणियों के पालन-पोषण सहित उन्हें भाषा व ज्ञान देना भी उसी का कर्तव्य निश्चित होता है। अब इस प्रश्न पर विचार करना उचित है कि ईश्वर प्रदत्त वह भाषा कौन थी और उसका ज्ञान क्या व किस रूप में था? इसका उत्तर हमसे पूर्व ही हमारे प्राचीन शास्त्रों व बाद में महर्षि दयानन्द ने अनेक प्रमाणों, तर्कों व युक्तियों से दिया है जिसे सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में देखा जा सकता है। प्रबल युक्तियों से पोषित यह उत्तर बताता है कि ईश्वर ने मनुष्यों को बोलने के लिए उत्कृष्ट संस्कृत जिसे वैदिक संस्कृत कह सकते हैं, का ज्ञान आदि ऋषियों व मनुष्यों को दिया था। ज्ञान पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि ईश्वर ने अपना वह ज्ञान चार वेद 'ऋग्वेद–यजुर्वेद–सामवेद–अथर्ववेद' के रूप में चार ऋषियों अग्नि–वायु–आदित्य–अंगिरा को उनकी आत्मा में प्रेरणा द्वारा प्रविष्ट किया था। ईश्वर निराकार, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी है अतः ऋषियों वा मनुष्यों की अन्तरात्मा में ज्ञान स्थापित करना व उसकी प्रेरणा करना उसके लिए सरल, सहज व स्वाभाविक है। ईश्वर के लिए यह कार्य यह सम्भव है असम्भव कदापि नहीं। चार वेदों का यह ज्ञान ईश्वर ने उनके अर्थों वा भावों सहित स्थापित किया था जिससे ऋषियों को वेदार्थ जानने में कोई कठिनता नहीं हुई। उन ऋषियों को ईश्वर की ओर से यह दायित्व भी दिया गया था कि वह वेदों के ज्ञान को अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न अन्य सभी युवा स्त्री-पुरुषों को उपदेश, अध्ययन व अध्यापन द्वारा करायें जिसे उन्होंने सफलतापूर्वक किया भी। वही परम्परा महाभारतकाल तक

अबाध रूप से चली और उसके बाद लुप्त व विश्रृंखलित होने पर महर्षि दयानन्द (1825-1883) ने उसे पुनः प्रचलित किया और उनकी इस कृपा से आज चारों वेद पूर्ण सुरक्षित हैं व उनके हिन्दी व संस्कृति सहित अंग्रेजी व अन्य भाषाओं में भाष्य भी उपलब्ध हैं जिससे साधारण हिन्दी पढ़ सकने वाला मनुष्य भी विद्वान हो सकता है। इसी से हमने भी लाभ उठाया, हम जो कुछ हैं, इसी का परिणाम हैं।

चार वेद सभी सत्य विद्याओं के सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ हैं। शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिसका उल्लेख व मनुष्य के कर्तव्य की शिक्षा वेद में न हो। इसी कारण महर्षि दयानन्द ने अपने जीवन काल में घोषणा की थी कि वेद ईश्वर कृत हैं और सब सत्य विद्याओं के पुस्तक हैं। इनका पढ़ना व पढ़ाना और सुनना व सुनाना संसार के सभी मनुष्यों का परम धर्म (परम कर्तव्य) है। यदि किसी मनुष्य ने वेद नहीं पढ़े और उनका प्रचार नहीं किया तो इसका अर्थ है कि हमने मनुष्य के परम धर्म का पालन नहीं किया। वेद से इतर मत-मतान्तर व्यापक दृष्टि से देखने पर कुछ व अधिक मात्रा में धर्म हो सकते हैं परन्तु वेद परम-धर्म है। वेद विरुद्ध विचार, कार्य व आचरण अधर्म ही कहा जा सकता है। जो व्यक्ति वेद नहीं पढ़ता और उसके अनुसार आचरण नहीं करता वह इस जगदीश्वर सृष्टिकर्ता के नियम को तोड़ने का दोषी होता है। ईश्वर व वेद की ओर से मनुष्यकृत रचनाओं को पढ़ने की मनाही नहीं है, इनको भी पढ़ना चाहिये, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि मनुष्य के अल्पज्ञ होने से मनुष्यकृत ग्रन्थों में सत्य व असत्य दोनों का मिश्रण होता है। अतः वेदों को जानकर वेदसम्मत कर्तव्यों व मान्यताओं का ही आचरण व प्रचार करना चाहिये। वेद में ही ईश्वर व जीवात्मा आदि पदार्थों के सत्य स्वरूप का वर्णन है। इनके अध्ययन से ही ईश्वर की स्तुति–प्रार्थना–उपासना, देवयज्ञ व अन्य यज्ञों के विधिपूर्वक करने का ज्ञान होता है। वेदों की इसी महत्ता के कारण सृष्टि के आरम्भ से लेकर महाभारतकाल तक के एक अरब छियानवें करोड़ आठ लाख अड़तालीस हजार वर्षों तक भूमण्डल पर एक ही मत वैदिक मत वा धर्म का प्रचार प्रसार रहा। अन्य किसी महापुरूष ने कभी नये मत की स्थापना का विचार ही नहीं किया क्योंकि उनरकी न तो आवश्यकता थी और ऐसा करने पर भी वह वर्तमान की तरह प्रचलित नहीं हो सकते थे। वेदेतर सभी मत महाभारत काल के बाद अन्धकार व अज्ञान के समय में अस्तित्व में आयें हैं। क्यों आये? क्योंकि लोग वेदों के मार्ग को भूल बैठे थे। उन्हें मत-प्रवर्तकों द्वारा अपने ज्ञान व योग्यतानुसार व्यवस्थित करने का प्रयास किया जाता रहा। वेद की तुलना में सभी मत व उनकी पुस्तकें ज्ञान की दृष्टि से उच्च न होकर निम्नतर ही हैं। अतः सत्य के खोजी व पिपासुओं के लिए वेद ही अन्तिम लक्ष्य है। वेद सम्पूर्ण मानव धर्म है। वेदरुिद्ध मान्यतायें व सिद्धान्त धर्म नहीं अपितु अधर्म हैं जो सर्वत्र मत-मतान्तरों में समान रूप से पाये जाते हैं। वैदिक धर्म ईश्वर प्रदत्त होने से सबके लिए कर्तव्य एवं आचरणीय है। यदि इसका कोई पालन नहीं करेगा तो ईश्वर की व्यवस्था का पालन न करने का दोषी होगा और उसका परजन्म उसके इस जन्म में वेदाज्ञा का पालन न करने से दण्ड का कारण व आधार हो सकता है। हमने सत्य के स्वरूप के प्रकाशन के लिए कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं। आशा है सत्यप्रेमी इससे लाभान्वित होंगे।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून-248001

फोनः09412985121

स्तुता मया वरदा वेदमाताः आचार्य धर्मवीर जी

FEBRUARY 23, 2016 LEAVE A COMMENT

स्तुता मया वरदा वेदमाता-25

अहं तद्विद्वला पतिमयसाक्षि विषासहिः।

एक महिला को अपने अनुकूल जीवन साथी चुनने का अधिकार है। निर्णय महिला का है। ऐसा करने के लिये उचित आधार है- पति को अनुकूल बनाने की क्षमता, पति को सहन करने का सामर्थ्य। परिवार की धुरी महिला होती है। जैसे धुरी में भार सहने और भार को खींचने की क्षमता होती है, उसी प्रकार महिला में परिवार के सब लोगों को साथ रखने का सामर्थ्य होना चाहिए। इसके लिये प्रथम योग्यता सहनशील होना है। घर में जितने भी सदस्य हैं, सबकी अपनी-अपनी इच्छायें होती हैं। सभी चाहते हैं, उनकी बात मानी जाये, उनके अनुकूल कार्य हो, परन्तु ऐसा सदा सभव नहीं है।

परिवार की विशेषता होती है, इसमें वृद्ध भी होते हैं, युवा भी, बालक-बालिकायें, स्त्री-पुरुष। इन सब विविधताओं में सामञ्जस्य बैठाने के लिये बुद्धिमत्ता, सद्भाव, सहनशीलता की आवश्यकता है। मनुष्य की जब इच्छा पूरी नहीं होती, तो उसे क्रोध आता है, उस समय यदि सामने वाला भी क्रोध कर बैठेगा, तो असहमति लड़ाई में बदल जायेगी। यदि कोई अपने क्रोध पर नियन्त्रण नहीं कर सकता, तो दूसरे को अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण करना चाहिए। एक बार सोनीपत में आर्य समाज बड़ा बाजार का कार्यक्रम था। प्रसंग से एक परिवार में जाने का अवसर मिला, स्वाभाविक रूप से परिवार के समायोजन की चर्चा चली, तो गृहिणी ने समस्या के समाधान का सरल उपयोगी उपाय सुझाया। वह कहने लगी- यदि मेरे पति को किसी कारण से क्रोध आता है और वे ऊँची आवाज में बोलने लगते हैं, तो मैं दूरदर्शन की आवाज को ऊँचा कर देती हूँ। मेरे पति कुछ भी बोलते रहते हैं, मुझे सुनाई नहीं देता। कुछ देर बाद वे शान्त हो जाते हैं और सब सामान्य हो जाता है। जब कभी मुझे क्रोध आता है, तो मेरे पति छड़ी लेकर बाहर घूमने निकल जाते हैं, जब वे लौटते हैं तो सब शान्त हो चुका होता है। इसलिये वेद कहता है- पतिमयसाक्षि। मैं पति को सहन कर सकती हूँ।

एक और बात मन्त्र में कही, यह सहनशक्ति सामान्य नहीं, विशेष सहनशक्ति है। हमारे समाज में महिला को सहनशील बनने की बात की जाती है, परन्तु अत्याचार और प्रताड़ना को सहन करने की शक्ति सहनशीलता नहीं है। अन्याय का प्रतिकार करने में जो बाधा और कष्ट आते हैं, उन्हें सहन करने की शक्ति होनी चाहिए। परिवार में अलग विचारों के बीच तालमेल बैठाना, यह कार्य सहनशीलता के बिना सभव नहीं। हमारी इच्छा रहती है कि हम जो सोचते हैं- उसी को सबको स्वीकार करना चाहिए। यह धारणा सभी की हो तो पूर्ण होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। ऐसी स्थिति में परिवार में विवाद की स्थिति बनी रहती है।

हमें मनुष्य स्वभाव का भी स्मरण रखना चाहिए कि परिवार में सब प्रेम से रहें, लड़ाई-झगड़ा न करें, यह उपदेश तो ठीक है, परन्तु ऐसा होना कठिन ही नहीं, असभव भी है। हम चाहते हैं कि दूसरा मेरे अनुसार चले, उसे अपने को बदलना चाहिए। यह उपाय कभी सफल नहीं होता। इसका उपाय है, जो सदस्य जैसा है, उसे उसी रूप में स्वीकार कर लिया जाय। उसको स्वीकार कर लिया जाय तो उपाय हमको करना पड़ता है। हम मार्ग से जा रहे हैं, मार्ग टूटा हुआ आता है, तब हम मार्ग सुधारने में नहीं लगते और न ही यात्रा स्थगित करते हैं। हम उस मार्ग से बचकर निकलने का उपाय करते हैं। उसी प्रकार परिवार में विवाद होने की दशा में बचने का उपाय सहनशीलता है। आवेश के समय को बीत जाने देते हैं, तो परिवार का वातावरण सहज होने में समय नहीं लगता। विवाद हो जाये, यह स्वाभाविक हैं, परन्तु इस विवाद को समाप्त करने के लिये संवाद का मार्ग सदा खुला रखना होता है। परिवार के सन्दर्भ में रुष्ट सदस्य को संवाद के द्वारा मनाया जा सकता है, सामान्य किया जा सकता है। मत-भिन्नता की दशा में समझाने के प्रयास निष्फल होने पर सहना ही एक उपाय शेष रहता है। इसी कारण इस मन्त्र में एक शद आया है- विषासहिः। इसका अर्थ है विशेष रूप से सहन करने की शक्ति। इसी उपाय से जो वस्तु प्राप्त है, उसे बचाया जा सकता है।

यहाँ सहन करने की बात स्त्री के सन्दर्भ में क्यों कही गई है, क्योंकि परिस्थितियों के चुनाव का अधिकार स्त्री को दिया गया है। उसकी घोषणा है- अपने सौभाग्य की निर्मात्री मैं स्वयं हूँ। मैंने श्रेष्ठ सिद्ध करने की घोषणा की, मैं सूर्य के समान तेजस्विनी हूँ। जब पति को मैंने प्राप्त किया है, मेरी इच्छा से मेरे चुनाव से मैंने पाया है, तो पति को और परिवार को अपनी सहनशीलता से जोड़कर रखने का उत्तरदायित्व भी मेरा ही है। यही घोषणा इस मन्त्र में की गई है।

. क्या वैदिक धर्म के मानने वाले शास्त्रों के अलावा दूसरे धर्म शास्त्रों को मानने वाले को मुक्ति मिलेगी? : आचार्य सोमदेव जी

FEBRUARY 23, 2016 LEAVE A COMMENT

जिज्ञासाः- . क्या वैदिक धर्म के मानने वाले शास्त्रों के अलावा दूसरे धर्म शास्त्रों को मानने वाले को मुक्ति मिलेगी?

समाधान

हमने लिखा-मुक्ति ज्ञान से होती है और शुद्ध ज्ञान का भण्डार वेद व वेदानुकूल शास्त्र हैं। इनके अतिरिक्त जितने भी मतवादियों ने अपने-अपने ग्रन्थ बना रखे हैं, उनमें पूर्ण सत्य नहीं है और जो सत्य है भी, वह वेदादि का ही है। अन्य मतवादियों के ग्रन्थों में सृष्टि विरुद्ध बातें प्रचुर मात्रा में हैं, पाखण्ड और अन्धविश्वास से पूर्ण बातें उनके ग्रन्थों में हैं। इस प्रकार की बातों से युक्त ग्रन्थों को मानने वाली मुक्ति कैसे हो सकती है, यह आप भी विचार कर देखें।

इसलिए वैदिक धर्म के मानने वाले शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य मतवादियों के ग्रन्थों को मानने वालों की मुक्ति सभव नहीं है। महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के पठन-पाठन विषय में स्पष्ट लिखा कि-

यो मनुष्यो वेदार्थान्न वेत्ति स नैव तं बृहन्तं

परमेश्वरं धर्मं विद्यासमूहं वा वेत्तुमर्हति।

कुतः सर्वासां विद्यानां वेद एवाधिकरणमस्त्यतः।

न हि तमविज्ञाय कस्यचित् सत्य विद्या प्राप्तिभवितुर्महति।।

यहाँ महर्षि का कहने का भाव है कि जो मनुष्य वेदार्थ को नहीं जानता, वह कभी उस महान् परमेश्वर, धर्म और विद्या समूह को जानने में समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि सभी सत्य विद्याओं का वेद ही आधार है, इसलिए उस वेद को जाने बिना किसी को सत्यविद्या प्राप्त नहीं हो सकती।

क्या यम-नियम का पालन करने वाले व धार्मिक सेवा कार्य में लगे हुए व्यक्ति को मुक्ति मिलेगी?: आचार्य सोमदेव जी

FEBRUARY 23, 2016 LEAVE A COMMENT

जिज्ञासा-

क्या यम-नियम का पालन करने वाले व धार्मिक सेवा कार्य में लगे हुए व्यक्ति को मुक्ति मिलेगी?

समाधान:-

मुक्ति के लिए मनुष्य यम-नियम का पालन करते हुए धार्मिक कार्य करे, इससे उसके अच्छे संस्कार बनेंगे। मुक्ति के लिए रास्ता तो खुलेगा, किन्तु केवल इतने मात्र से मुक्ति नहीं होगी। मुक्ति के लिए महर्षि ने कहा है, ''पवित्र कर्म, पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति…….''। स.प्र. 9

यहाँ प्रमाण देने का तात्पर्य यह है कि केवल यम-नियम अनुष्ठान और धार्मिक सेवाकार्य से मुक्ति नहीं होगी। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि धार्मिक सेवा कार्य आदि मुक्ति में बाधक हैं।

यम-नियम के अनुष्ठान और धार्मिक सेवा कार्य से व्यक्ति के अन्तःकरण में श्रेष्ठ संस्कार पड़ते हैं, जिससे व्यक्ति का उपासना में मन लगता है और उससे ज्ञान ग्रहण करने की योग्यता बढ़ती है। जैसा जिसका जितना शुद्ध ज्ञान होगा, वह वैसा उतना अपने अविद्या के संस्कारों को

नष्ट करेगा। जब पूर्ण रूप से अविद्या के संस्कार नष्ट हो जाते हैं, तब मुक्ति की अवस्था आती है। मुक्ति न तो कर्म से होती और न ही उपासना से, मुक्ति तो ज्ञान से ही सभव है। महर्षि कपिल ने अपने शास्त्र में लिखा- ''ज्ञानात् मुक्तिः।।'' जीवात्मा की मुक्ति ज्ञान से होती है। ''बन्धो विपर्ययात्।।'' अज्ञान से बन्धन होता है। ''नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ'' मुक्ति प्राप्ति में ज्ञान की नियतकारणता है, अनिवार्य कारणता है, अर्थात् मुक्ति प्राप्ति में ज्ञान ही निश्चित कारण है। इसलिए न तो ज्ञानके साथ अन्य साधन मिलकर मुक्ति देते हैं और न ही ऐसा है कि ज्ञान से भी मुक्ति हो सकती है अथवा शुद्ध कर्म व उपासना से भी। मुक्ति के लिए तो केवल ज्ञान ही साधन बनता है, अन्य नहीं।

इसका कोई यह अर्थ न निकाले कि कर्म और उपासना की कोई महत्ता ही नहीं है, क्योंकि मुक्ति के लिए तो ज्ञान की ही आवश्यकता है। कर्म और उपासना का अपना महत्त्व है। शुद्ध कर्म और शुद्ध उपासना के करने से व्यक्ति के अन्दर सात्विक भाव उत्पन्न होते हैं। इस सात्विक स्थिति में ही व्यक्ति शुद्ध ज्ञान को ग्रहण करता चला जाता है। शुद्ध ज्ञान के होने पर अविद्या के संस्कार ढीले होने लगते हैं। धीरे-धीरे शुद्ध ज्ञान से साधक अपने अविद्यादि क्लेशों को पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है। जब अविद्यादि क्लेश पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं, तब साधककी मुक्ति सभव हो जाती है।

इसलिए केवल यम-नियम का पालन करने अथवा धार्मिक सेवा कार्य करने से मुक्ति मिल जायेगी-ऐसा नहीं है। यम-नियम का पालन और धार्मिक सेवा कार्य का अपना एक फल है और वह अच्छा ही फल होगा, किन्तु इनका फल मुक्ति नहीं है। ये सब करते हुए योगायास करें और ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जायें।

क्या नाम व शब्द सृष्टि के साथ पैदा हुए हैं?:- आचार्य सोमदेव

FEBRUARY 23, 2016 LEAVE A COMMENT

जिज्ञासा :

क्या नाम व शब्द सृष्टि के साथ पैदा हुए हैं? (जैसे पृथ्वी, आकाश, पानी, इन्द्रियों के नाम या पदार्थों के व वनस्पतियों के नाम)

समाधान :

सृष्टि का रचने वाला परमेश्वर है, उसी ने संसार के समस्त पदार्थ रचे हैं। परमात्मा ने जितने भी पदार्थ रचे हैं, उनके नाम पहले से ही परमात्मा के ज्ञान में सदा बने रहते हैं। जब रचना करता है तो उनका नामकरण भी परमात्मा करता है, अर्थात् जो पदार्थ उत्पन्न होता है, उसका नाम भी साथ-साथ होता चला जाता है। सृष्टि में जो भी पदार्थ हैं, उन सबके नाम उनकी उत्पत्ति के साथ ही साथ हैं। इस विषय में महर्षि मनु लिखते हैं-

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।

वेदशदेय एवाऽऽदौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे।। 1.21

उस परमात्मा ने सब पदार्थों के नाम पृथिवी, सूर्य, गो, अश्व और मनुष्यादि और इनके भिन्न-भिन्न कर्म- जैसे ब्राह्मण का वेदाध्ययन, अध्यापनादि, क्षत्रिय का रक्षा करना आदि, वैश्य का व्यापारादि अथवा मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के हिंस्र, अहिंस्र आदि कर्म उसी परमात्मा ने निश्चित किये हैं। सबकी भिन्न-भिन्न व्यवस्था सृष्टि के आदि में परमेश्वर ने वेदों के शद से ही बनायी, अर्थात् मन्त्रों के द्वारा यह ज्ञान दिया।

इसलिए जो भी संसार में है, उसका नाम व काम परमेश्वर द्वारा नियत किया

अध्यात्मवाद – कृष्णचन्द्र गर्ग

FEBRUARY 23, 2016 LEAVE A COMMENT

आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है, इन दोनों का आपस में सबन्ध क्या है- इस विषय का नाम अध्यात्मवाद है। आत्मा और परमात्मा दोनों ही भौतिक पदार्थ नहीं हैं। इन्हें आँख से देखा नहीं जा सकता, कान से सुना नहीं जा सकता, नाक से सूँघा नहीं जा सकता, जिह्वा से चखा नहीं जा सकता, त्वचा से छुआ नहीं जा सकता।

परमात्मा एक है, अनेक नहीं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि उसी एक ईश्वर के नाम हैं। (एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋग्वेद – 1-164-46) अर्थात् एक ही परमात्मा शक्ति को विद्वान लोग अनेक नामों से पुकारते हैं। संसार में जीवधारी प्राणी अनन्त हैं, इसलिए आत्माएँ भी अनन्त हैं। न्यायदर्शन के अनुसार ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख- ये छः गुण जिसमें हैं, उसमें आत्मा है। ज्ञान और प्रयत्न आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, बाकी चार गुण इसमें शरीर के मेल से आते हैं। आत्मा की उपस्थिति के कारण ही यह शरीर प्रकाशित है, नहीं तो मुर्दा अप्रकाशित और अपवित्र है। यह संसार भी परमात्मा की विद्यमानता के कारण ही प्रकाशित है।

आत्मा और परमात्मा-दोनों ही अजन्मा व अनन्त हैं। ये न कभी पैदा होते हैं और न ही कभी मरते हैं, ये सदा रहते हैं। इनका बनाने वाला कोई नहीं है। आत्मा परमात्मा का अंश नहीं है। हर आत्मा एक अलग और स्वतन्त्र सत्ता है।

आत्मा अणु है, बेहद छोटी है। परमात्मा आकाश की तरह सर्वव्यापक है। आत्मा का ज्ञान सीमित है, थोड़ा है। परमात्मा सर्वज्ञ है, वह सब कुछ जानता है। जो कुछ हो चुका है और हो रहा है, सब कुछ उसके संज्ञान में है। अन्तर्यामी होने से वह सभी के मनों में क्या है- यही जानता है। आत्मा की शक्ति सीमित है, थोड़ी है, परन्तु परमात्मा सर्वशक्तिमान है। सृष्टि को बनाना, चलाना, प्रलय करना- आदि अपने सभी काम करने में वह समर्थ है। पीर, पैगबर, अवतार आदि नाम से कोई एजैंट या बिचौलिए उसने नहीं रखे हैं। ईश्वर सभी काम अपने अन्दर से करता है, क्योंकि उसके बाहर कुछ भी नहीं है। ईश्वर जोाी करता है, वह हाथ-पैर आदि से नहीं करता, क्योंकि उसके ये अंग है ही नहीं। वह सब कुछ इच्छा मात्र से करता है।

ईश्वर आनन्द स्वरूप है। वह सदा एक रस आनन्द में रहता है। वह किसी से राग-द्वेष नहीं करता। वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार से परे है। ईश्वर की उपासना करने से अर्थात् उसके समीप जाने से आनन्द प्राप्त होता है, जैसे सर्दी में आग के पास जाने से सुख मिलता है। ईश्वर निराकार है। उसे शुद्ध मन से जाना जा सकता है, जैसे हम सुख-दुःख मन में अनुभव करते हैं।

यह आत्मा जब मनुष्य शरीर में होती है, तब वह कार्य करने में स्वतन्त्र रहती है। उस समय किए कार्यों के अनुसार ही उसे परमात्मा सुख, दुःख तथा अगला जन्म देता है। दूसरी योनियाँ या तो किसी दूसरे के आदेश पर चलती हैं या स्वभाव से काम करती हैं। उनमें विचार शक्ति नहीं होती, इसलिए उन योनियों में की गई क्रियाओं का उन्हें अच्छा या बुरा फल नहीं मिलता। वे केवल भोग योनियाँ हैं जो पहले किए कर्मों का फल भोग रही हैं। मनुष्य योनि में कर्म और भोग दोनों का मिश्रण है। मनुष्य स्वतन्त्र रूप से कर्म भी करता है और कर्म फल भी भोगता है।

मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ। शरीर मेरा संसार में व्यवहार करने का साधन है। कर्ता और भोक्ता आत्मा है। सुख-दुःख आत्मा को होता है।

जीवात्मा न स्त्रीलिंग है, न पुलिंग है और न ही नपुंसक है। यह जैसा शरीर पाता है, वैसा कहा जाता है। (श्वेताश्वतर उपनिषद्)

ईश्वर की पूजा ऐसे नहीं की जाती, जैसे मनुष्यों की पूजा अर्थात् सेवा सत्कार किया जाता है। ईश्वर की आज्ञा का पालन अर्थात् सत्य और न्याय का आचरण- यही ईश्वर की पूजा है।

कठोपनिषद् में मनुष्य-शरीर की तुलना घोड़ा गाड़ी से की गई है। इसमें आत्मा गाड़ी का मालिक अर्थात् सवार है। बुद्धि सारथी अर्थात् कोचवान है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं। इन्द्रियों के विषय वे मार्ग हैं, जिन पर इन्द्रियाँ रूपी घोड़े दौड़ते हैं। आत्मा रूपी सवार अपने लक्ष्य तक तभी पहुँचेगा, जब बुद्धि रूपी सारथी मन रूपी लगाम को अपने वश में रखकर इन्द्रियाँ रूपी घोड़ों को सन्मार्ग पर चलाएगा।

उपनिषद् में घोड़ा गाड़ी को रथ कहा जाता है और रथ पर सवार को रथी। मनुष्य शरीर में आत्मा रथी है। जब आत्मा निकल जाती है, तब शरीर अरथी रह जाता है।

परमात्मा हम सबका माता, पिता और मित्र है। हम सब प्राणियों का भला चाहता है। जब मनुष्य कोई अच्छा काम करने लगता है तो उसे आनन्द, उत्साह, निर्भयता महसूस होती है। वह परमात्मा की तरफ से होता है, और जब वह कोई बुरा काम करने लगता है, तब उसोय, शंका, लज्जा महसूस होती है । वह भी परमात्मा की तरफ से ही होता है।

– 831 सैक्टर **10,** पंचकूला**,** हरियाणा।

दूरभाषः **095014-67456**

सृष्टि उत्पत्ति क्यों और कैसे ? मानव का प्रादुर्भाव कहाँ? – आचार्य पं. उदयवीर जी शास्त्री

FEBRUARY 23, 2016 2 COMMENTS

सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट प्राणी मानव है। मानव को अपनी इस स्थिति के विषय में कदाचित् अभिमान हो सकता है, पर अधिकाधिक उन्नति कर लेने परी यह सृष्टि रचना में सर्वथा असमर्थ रहता है। इसका कारण है, मानव जब अपने रूप में प्रकट होता है, उससे बहुत पूर्व सृष्टि की रचना हो चुकी होती है, इसलिये यह प्रश्न ही नहीं उठता कि मानव सृष्टि रचना कर सकता है। तब यह समस्या सामने आती है कि इस दुनिया को किसने बनाया होगा?

भारतीय प्राचीन ऋषियों ने इस समस्या का समाधान किया है। जगत को बनाने वाली शक्ति का नाम 'परमात्मा' है, इसको ईश्वर, परमेश्वर, ब्रह्म आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। यह ठीक है कि परमात्मा इस पृथिवी, चाँद, सूरज आदि समस्त लोक-लोकान्तर रूप जगत् को बनाने वाला है, परन्तु जिस मूलतत्त्व से इस जगत् को बनाया जाता है, वह अलग है। उसका नाम प्रकृति है। प्रकृति त्रिगुणात्मक कही जाती है। वे तीन गुण हैं- सत्व, रजस् और तमस्। इन तीन प्रकार के मूल तत्त्वों के लिये 'गुण' पद का प्रयोग इसीलिये किया जाता है कि ये तत्त्व आपस में गुणित होकर, एक-दूसरे में मिथुनीभूत होकर, परस्पर गुँथकर ही जगद्रूप में परिणत होते हैं। जगत् की रचना पुण्यापुण्य, धर्माधर्म रूप शुभ-अशुभ कार्मों के करने और उनके फलों को भोगने के लिये की जाती है। इन कर्मों को करने और भोगने वाला एक और चेतन तत्त्व है, जिसको जीवात्मा कहा जाता है। ये तीनों पदार्थ अनादि हैं-ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति।

जगत उत्पन्न होता है या नहीं?

प्रश्न-यह जगत् कभी उत्पन्न नहीं होता, अनादि काल से ऐसा ही चला आता है और अनन्त काल तक ऐसा ही चला जायगा, ऐसा मान लेने पर इसके बनने-बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता, तब इसको बनाने के लिए ईश्वर की कल्पना करना व्यर्थ है। यह चाहे प्रकृति का रूप हो या कोई रूप हो, अनादि होने से ईश्वर की कल्पना अनावश्यक है।

उत्तर-जगत् को जिस रूप में देखा जाता है, उससे इसका विकारी होना स्पष्ट होता है। यदि जगत् अनादि-अनन्त एक रूप हो, तो यह नित्य माना जाना चाहिये, नित्य पदार्थ अपने रूप में कभी परिणामी या विकारी नहीं होता, परन्तु जागतिक पदार्थों में प्रतिदिन परिणाम होते देखे जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पृथिव्यादि लोक-लोकान्तरों की दृश्यमान स्थिति अपरिणामिनी अथवा अविकारिणी नहीं है। इसमें परिणाम का निश्चय होने पर यह मानना पड़ेगा कि यह बना हुआ पदार्थ है, तब इसके बनाने वाले को भी मानना होगा।

प्रश्न-पृथिव्यादि को विकारी मानने पर भी बनाने वाले की आवश्यकता न होगी। जिन मूलतत्त्वों से इनका परिणाम होना है, वे स्वतः इस रूप में परिणत होते रहते हैं। संसार में अनेक पदार्थ स्वतः होते देखे जाते हैं। अनेक स्वचालित यन्त्रों का आज निर्माण हो चुका है।

उत्तर-पृथिव्यादि समस्त जगत् जड़ पदार्थ है, चेतना-हीन। इसका मूल उपादान तत्त्व भी जड़ है। किसीाी जड़ पदार्थ में चेतन की प्रेरणा के बिना कोई क्रिया होना संभव नहीं। चेतना के सहयोग के बिना किसी जड़ पदार्थ में स्वतः प्रवृत्ति होती नहीं देखी जाती। इसके लिये न कोई युक्ति है, न दृष्टान्त। स्वचालित यन्त्रों के विषय में जो कहा गया, उन यन्त्रों का निर्माण तो प्रत्यक्ष देखा जाता है। उनको बनाने वाला शिल्पी उसमें ऐसी व्यवस्था रखता है, जिसे स्वचालित कहा जाता है। यन्त्र अपने-आप नहीं बन गया है, उसको बनाने वाला एक चेतन शिल्पी है और उस यन्त्र की निगरानी व साज-सँवार बराबर करनी पड़ती है, यह सब चेतन-सहयोग-सापेक्ष है, इसलिये यह समझना कि पृथिव्यादि जगत् अपने मूल उपादान तत्त्वों से चेतन निरपेक्ष रहता हुआ स्वतः परिणत हो जाता है, विचार सही नहीं है। फलतः जगत् के बनाने वाले ईश्वर को मानना होगा।

प्रकृति की आवश्यकता?

प्रश्न – आपने यह स्पष्ट किया कि ईश्वर को मानना आवश्यक है। यदि ऐसा है, तो केवल ईश्वर को मानने से कार्य चल सकेगा। ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् माना जाता है, वह अपनी शक्ति से जगत् को बना देगा, उसके अन्य कारण प्रकृ ति की क्या आवश्यकता है? कतिपय आचायरें ने इस विचार को मान्यता दी है।

उत्तर- ईश्वर जगत् को बनाने वाला अवश्य है, पर वह स्वयं जगत् के रू प में परिणत नहीं होता। ईश्वर चेतन तत्त्व है, जगत् जड़ पदार्थ है। चेतना का परिणाम जड़ अथवा जड़ का परिणाम चेतन होना संभव नहीं। चेतन स्वरूप से सर्वथा अपरिणामी तत्त्व है। यदि चेतन ईश्वर को ही जड़ जगत् के रूप में परिणत हुआ माना जाय तो यह उस अनात्मवादी की कोटि में आजाता है, जो चेतन की उत्पत्ति जड़ से मानता है। कारण यह है कि यदि चेतन जड़ बन सकता है, तो जड़ को भी चेतन बनने से कौन रोक सकता है? इसलिये चेतन से जड़ की उत्पत्ति अथवा जड़ से चेतन की उत्पत्ति मानने वाले दोनों वादी एक ही स्तर पर आ खड़े होते हैं। फलतः यह सिद्धान्त बुद्धिगय है कि न चेतन जड़ बनता है और न जड़ चेतन बनता है। चेतन सदा चेतन है, जड़ सदा जड़ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जड़ जगत् जिस मूल तत्त्व का परिणाम है, वह जड़ होना चाहिये, इसलिये चेतन ईश्वर से अतिरिक्त मूल उपादान तत्त्व मानना होगा, उसी का नाम प्रकृति है।

जब यह कहा जाता है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपनी शक्ति से जगत् को उत्पन्न कर देगा, उस समय प्रकृति को ही उसकी शक्ति के रूप में कथन कर दिया जाता है। वैसे सर्वशक्तिमान् पद के अर्थ में यही भाव अन्तर्निहित है कि जगत् की रचना करने में ईश्वर को अन्य किसी कर्त्ता के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। वह इस कार्य के लिये पूर्ण शक्त है, अप्रतिम समर्थ है। फलतः यह जगत् परिणाम प्रकृ ति का ही होता है, ईश्वर केवल इसका निमित्त, प्रेरयिता,नियन्ता व अधिष्ठाता है। यही सत्य स्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है।

इस प्रसंग में सत्यार्थप्रकाश [स्थूलाक्षर, वेदानन्द संस्करण, पृ. 191, पंक्ति 10-12] के अन्दर एक वाक्य है, जिसे अस्पष्टार्थ कहा जाता है। वह वाक्य है – 'यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और जीवात्मा, ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्त्तमान था, अभाव न था- इस वाक्य के अभिमत अर्थ को स्पष्ट करने व समझने के लिये इसमें से दो अवान्तर वाक्यांशों का

विभाजन करना होगा। इस वाक्य में से 'और जीवात्मा ब्रह्म' इन पदों को अलग करके रख लीजिये फिर शेष वाक्य को पढ़िये, वह इस प्रकार होगा- 'यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और प्रकृति में लीन होकर वर्त्तमान था, आाव न था।' इतना वाक्य एक पूरे अर्थ को व्यक्त करता है। जगत् जो अब हमारे सामने विद्यमान है, यह सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलय अवस्था में असत् के सदृश था, सर्वथा असत् या तुच्छ न था, कारण यह है कि यह प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था, तात्पर्य यह कि कारण-रूप से विद्यमान था, इससे प्रतीत होता है कि ऋषि ने कार्य-कारणभाव में सत्कार्य सिद्धान्त को स्वीकार किया है। प्रलय अवस्था में जगद्रूप कार्य कारण रूप से विद्यमान रहता है, उसका सर्वथा अभाव नहीं हो जाता।

जो पद हमने उक्त वाक्य में से अलग करके रक्खे हैं, वे दो अवान्तर वाक्यों को बनाते हैं -1- 'और जीवात्मा वर्त्तमान था'। 2- 'ब्रह्म वर्त्तमान था' तात्पर्य यह कि प्रलय अवस्था में प्रकृति के साथ जीवात्मा और ब्रह्म भी वर्तमान थे। इस प्रकार उक्त पंक्ति से ऋषि ने उस अवस्था में तीन अनादि पदार्थों की सत्ता को स्पष्ट किया है तथा इस मन्तव्य का एक प्रकार से प्रत्यायान किया है, जो उस अवस्था में एक मात्र ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं, जीव तथा प्रकृति की स्थिति को नहीं मानते, इनका उद्भव ब्रह्म से ही मान लेते हैं।

तीन अनादि पदार्थों के मानने पर जगद्रचना की व्याया सर्वाधिक निर्दोष की जा सकती है। कारण यह है कि लोक में किसी रचना के हेतु तीन प्रकार के देखे जाते हैं। प्रत्येक कार्य का कोई बनाने वाला होता है, कुछ पदार्थ होते हैं, जिनसे वह कार्य बनाया जाता है, कुछ सहयोगी साधन होते हैं। पहला कारण निमित्त कहलाता है, दूसरा उपादान और तीसरा साधारण। संसार में कोई ऐसा कार्य संभव नहीं, जिसके ये तीन कारण नहीं है। जब दृश्यादृश्य जगत् को कार्य माना जाता है तो उसके तीनों कारणों का होना आवश्यक है। इसमें जगत् की रचना का निमित्त कारण ईश्वर, उपादान कारण प्रकृति तथा जीवों के कृत शुभाशुभ कर्म अथवा धर्माधर्म आदि साधारण कारण होते हैं, इसलिये इन तीनों पदार्थों को अनादि माने बिना सृष्टि की निर्दोष व्याया नहीं की जा सकती।

ब्रह्म से ही जगत्-उत्पत्ति नहीं?

प्रश्न-वेदान्त दर्शन पर विचार करने वाले तथाकथित नवीन आचार्यों की यह मान्यता है कि एक मात्र ब्रह्म को वास्तविक तत्त्व मानने पर सृष्टि की व्याया की जा सकती है। उनका कहना है कि जगत् के निमित्त और उपादान कारण को अलग मानना आनावश्यक है। एक मात्र ब्रह्म स्वयं अपने से जगत् को उत्पन्न कर देता है, उसे अन्य उपादान की अपेक्षा नहीं। लोक में ऐसे दृष्टान्त देखे जाते हैं। मकड़ी अपने आप से ही जाला बुन देती है, बाहर से उसे कोई साधन-सहयोग लेने की अपेक्षा नहीं होती, ऐसे ही जीवित पुरुष से केश-नख स्वतः उत्पन्न होते रहते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म अपने से ही जगत् को उत्पन्न कर देता है।

उत्तर – यह बात पहले कही जा चुकी है कि यदि ब्रह्म अपने से जगत् को बनावे तो वह विकारी या परिणामी होना चाहिये। ब्रह्म चेतन तत्त्व है, चेतन कभी विकारी नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि चेतन ब्रह्म का परिणाम जगत् जड़ कैसे हो जाता? क्योंकि कारण के विशेष गुण कार्य में अवश्य आते हैं। या तो जगत् भी चेतन होता, या फिर कार्य जड़-जगत् के अनुसार उपादान कारण ईश्वर या ब्रह्म को भी जड़ मानना पड़ता, पर न जगत् चेतन है, और न ईश्वर जड़, इसलिये ईश्वर को जगत् का उपादान कारण नहीं माना जा सकता।

ब्रह्म उपादान से जगत् की उत्पत्ति में मकड़ी आदि के जो दृष्टान्त दिये जाते हैं, उनकी वास्तविकता की ओर किसी ब्रह्मोपादानवादी ने क्यों ध्यान नहीं दिया, यह आश्चर्य की बात है। ये दृष्टान्त उक्त मत के साधक न होकर केवल बाधक हैं। मकड़ी एक प्राणी है, जिसका शरीर भौतिक या प्राकृतिक है और उसमें एक चेतन जीवात्मा का निवास है। उस प्राणी द्वारा जो जाला बनाया जाता है, वह उस भौतिक शरीर का विकार या परिणाम है, चेतन जीवात्मा का नहीं। यही ध्यान देने की बात है कि शरीर से जाला उसी अवस्था में बन सकता है, जब शरीर का अधिष्ठाता चेतन जीवात्मा वहाँ विद्यमान रहता है। वह स्थिति इस बात को स्पष्ट करती है कि केवल जड़ तत्त्व चेतन के सहयोग के बिना स्वतः विकृत या परिणत नहीं होता। दृष्टान्त से स्पष्ट है कि जाला रूप जड़ विकार जड़ शरीर का है, चेतन जीवात्मा का नहीं। इस दृष्टान्त का उद्भावन करने वाले उपनिषद् (यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च) वाक्य में यही स्पष्ट किया है कि जैसे मकड़ी जाला बनाती और उसका संहार करती है, उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से यह विश्व प्रादुर्भूत होता है।

उपनिषद् के उस वाक्य में 'यथा' और 'तथा' शद ध्यान देने योग्य हैं। जैसे मकड़ी जाला बनाती और उपसंहार करती है- 'तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्', वैसे अविनाशी ब्रह्म से यहाँ विश्व प्रादुर्भूत होता है। अब देखना यह है कि जाला मकड़ी के भौतिक शरीर से परिणत होता है और बनाने वाला अधिष्ठाता चेतन आत्मा वहाँ इस प्रवृति का प्रेरक है, चेतन स्वयं जाला नहीं बनता, ऐसे ही ब्रह्म अपने प्रकृति रूप देह से विश्व का प्रादुर्भव करता है। समस्त विश्व परिणाम प्रकृति का ही है, प्रकृति से होने वाली समस्त प्रवृत्तियों का प्रेरक व अधिष्ठाता परमात्मा रहता है। वह स्वयं विश्व के रूप में परिणत नहीं होता, इसलिए वह विश्व का केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं हो सकता।

जगत् का निर्माण क्यों?

प्रश्न- यह ठीक है कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर है और वह प्रकृति मूल उपादान से जगत् की रचना करता है, परन्तु प्रश्न है, जगत् की रचना में उसका क्या प्रयोजन है? जगत् की रचना किस लक्ष्य को लेकर की जाती है? यदि इसका कोई प्रयोजन ही नहीं, तो रचना व्यर्थ है, उसने क्यों ऐसा किया? वह तो सर्वज्ञ है, फिर ऐसी निष्प्रयोजन रचना क्यों?

शेष भाग अगले अंक में…..

आवागमन पर पं. लेखराम जी के अनूठे तर्कः: राजेन्द्र जिज्ञासु

FEBRUARY 23, 2016 LEAVE A COMMENT

आवागमन पर पं. लेखराम जी के अनूठे तर्कः- अमरोहा से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक आर्य सामाजिक -पत्र का एक अंक नजीबाबाद गुरुकुल में एक आर्य बन्धु ने दिखाया। उसमें पुनर्जन्म पर एक लेख का शीर्षक पढ़कर ऐसा लगा कि मेरे किसी प्रेमी ने मेरे पुनर्जन्म विषयक (परोपकारी में छपे) तर्कों पर कुछ प्रश्न उठाये होंगे, परन्तु बात इससे उलटी ही

निकली। विचारशील लेखक ने परोपकारी में दिये गये मेरे विचारों व तर्कों को उजागर करते हुए जोरदार लेख दिया। उस आर्य भाई को व सपादक जी को धन्यवाद!

उस लेख को पढ़ने से पूर्व ही मेरे मन में 'तड़प-झड़प' में पं. लेखराम जी का पुनर्जन्म विषयक मौलिक चिन्तन व प्रबल युक्तियाँ देने का निश्चय था। हमारे मान्य आचार्य सत्यजित् जी तथा आदरणीय आचार्य सोमदेव जी पाठकों का शंका-समाधान करते हुए बड़े सुन्दर प्रमाण व तर्क देते रहते हैं। उनका परिश्रम वन्दनीय है। उनसे भी विनती की है कि हमें अपने पुराने दार्शनिक विद्वानों यथा- पं. लेखराम जी, पं. गुरुदत्त जी, पूज्य दर्शनानन्द जी, श्रद्धेय देहलवी जी के तर्क उनका नामोल्लेख करके देने चाहिये।

पं. लेखराम जी का पुनर्जन्म विषयक ग्रन्थ पढ़कर अनेक सुपठित हिन्दू युवक, जो ईसाइयों, मुसलमानों व ब्राह्म समाजियों के घातक प्रचार से भ्रमित तथा धर्मच्युत हो रहे थे, निष्ठावान् आर्य बन गये। किस-किसका नाम यहाँ दूँ? डी.ए.वी. के पूर्व प्राचार्य बशी रामरत्न, महात्मा विष्णुदास जी लताला वाले (स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी को आर्य बनाने वाले) ला. देवीचन्द जी एम. ए. इत्यादि सब पं. लेखराम जी को पढ़-सुनकर आर्य समाज से जुड़े।

1. **1**. पं. लेखराम जी का तर्क है कि पुराने भवन ढहते जाते हैं, नये-नये भवनों का निर्माण होता रहता है। सब नये-नये भवन इसी धरती पर विद्यमान पहले के ईंट, पत्थर, मिट्टी व गारे से ही बनाये जाते हैं। नई सामग्री कहीं से नहीं आती।
2. **2**. सब नदियाँ जो बह रही हैं, उनका जल कहाँ से आता है? सब जानते हैं, यह वही जल है, जो पहले सागर में गया था। वर्षा का जल, नदियों का जल कहीं परलोक से, अभाव से तो आता नहीं।
3. **3**. जितने पेड़, पौधे, वृक्ष उग रहे हैं, फल-फूल रहे हैं, ये सब धरती पर विद्यमान पहले की सामग्री से ही उपजते व फूलते-फलते हैं। अभाव से भाव यहाँ भी नहीं होता और न ही परलोक से इनके बीज आदि आते हैं।
4. **4**. सब प्राणियों के शरीर धरती पर विद्यमान सामग्री से (अन्न, जल आदि) से निर्मित व विकसित होते हैं। कहीं से नई-नई सामग्री नहीं आती। जब लाखों-करोड़ों शरीर उसी सामग्री से बनते हैं, जिससे पहले के शरीर बनते रहे हैं, इससे स्पष्ट है कि इस धरा पर नये-नये जीव भी उत्पन्न नहीं होते। जीवात्मायें भी वही हैं, जो इससे पूर्व किसी शरीर का परित्याग कर चुकी हैं। जैसे प्रकृति अनादि है, नई पैदा नहीं होती है, इसी प्रकार परमात्मा नये-नये जीव गढ़-गढ़ कर इस धरती पर नहीं भेजता। जैसे प्रकृति नई-नई नहीं पैदा होती, वैसे ही जीवात्मा भी वही-वही आते-जाते रहते हैं।

   Logic's on rebirth by Pandit lekrham Ji

अनादि अविनाशी जीवात्मा कर्मानुसार जन्म-मरण-जन्म के चक्र अर्थात् पुनर्जन्म में आबद्ध

FEBRUARY 22, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

‘अनादि अविनाशी जीवात्मा कर्मानुसार जन्म–मरण–जन्म

के चक्र अर्थात् पुनर्जन्म में आबद्ध’

-मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

मनुष्य संसार में जन्म लेता है, अधिकतर 100 वर्ष जीवित रहता है और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। जिस संसार व पृथिवी पर हम रहते हैं उसे हमने व हमारे पूर्वजों ने बनाया नहीं है अपितु उन्हें यह सृष्टि बनी बनाई मिली थी। इस संसार को किसने बनाया, इसका शास्त्र व बुद्धि संगत वैज्ञानिक उत्तर है कि इसे एक अदृश्य, अनादि, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान व सर्वव्यापक सत्ता ईश्वर ने बनाया है। वह ईश्वर जो जीवात्माओं को मनुष्य आदि योनियों में जन्म देता है, उनका पालन-पोषण करता है और शरीर के निर्बल व वृद्ध हो जाने पर उसकी आत्मा को शरीर से निकाल कर पुनः व वारंवार मनुष्य आदि योनियों में नया जन्म देता है। यह ऐसा ही होता है जैसे कि हम पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करते हैं। साधारण मनुष्य जन्म लेकर व कुछ पढ़ाई लिखाई करके अपनी कुल व समुदाय की परम्परा व रीति-रिवाजों के अनुसार किसी मत व सम्प्रदाय की कुछ सत्यासत्य मान्यताओं के अनुसार कर्म करते हुए अपना जीवन व्यतीत कर स्वयं को धन्य समझ लेते हैं परन्तु कुछ प्रखर बुद्धि व बुलन्द जीवात्मा वाले लोग मैं कौन हूं, मैं कहां से आया हूं, मेरे जन्म का उद्देश्य क्या है? मरने के बाद लोग कहां जाते हैं, क्या गर्भवास, जीवन में आने वाले मृत्यु आदि के दुःखों से बचा जा सकता है? जैसे अनेकानेक प्रश्नों पर विचार करते हैं और इसके लिए अपनी समस्त सामर्थ्य को लगाते हैं। इससे उनको जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसी के अनुसार वह अपना जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे मनुष्यों में एक सर्वोपरि नाम है और वह है स्वामी दयानन्द सरस्वती। संसार के अनेक बुद्धिमान अपने गुरुओं से यह प्रश्न करते हैं व कुछ पुस्तकों एवं शास्त्रों आदि का अध्ययन करते हैं तो उन्हें इसका उत्तर मिलता है कि संसार में तीन सत्तायें हैं, ईश्वर, जीव व प्रकृति। ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, अनादि, अनुत्पन्न, नित्य, अमर आदि गुणों वाला है। वह सूक्ष्म जीवात्माओं को उनके जन्म-जन्मान्तरों के कर्मानुसार मनुष्य व अन्य योनियों में जन्म देकर उसके पूर्व कृत कर्मों का भोग कराता है। सिद्धान्त है कि जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है। अतः हम मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियों में जन्म लेकर उस योनि के शरीरों की अवधि पूरी होने पर मृत्यु को प्राप्त होते जाते हैं। शेष कर्मों का फल भोगने के लिए हमारा पुनः जन्म होता है। ऐसे बहुत से लोग हैं, जिनको शास्त्रों व जन्म-मृत्यु विषयक ज्ञान तो होता नहीं, कुछ छोटी-मोटी बातों के आधार पर पुनर्जन्म का खण्डन कर देते हैं। वेदों का अध्ययन करने की उन्हें फुर्सत नहीं। वह समझते हैं कि वह जितना जानते हैं उतना ही पर्याप्त है और उनके अलावा सभी अज्ञानी व उनसे ज्ञानस्तर में निम्नकोटि के हैं।

जीवात्मा जन्म लेता है और माता-पिता बनकर अपनी सन्तानों को जन्म देता है। यह तथ्य है परन्तु जीवात्मा को मनुष्य जन्म ईश्वर से मिलता है। उसी ने इस सृष्टि को रचा है। अतः इन प्रश्नों का उत्तर उसी ईश्वर से मिल सकता है। उससे यदि उत्तर जानना है तो वह समाधि अवस्था में जाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर ने ही सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषियों को वेदों का ज्ञान दिया था। उससे भी सहायता ली जा सकती है। वेदों के अनुसार जीवात्मा

को जन्म व मृत्यु ईश्वर के द्वारा प्राप्त होते हैं। पुनर्जन्म एक सत्य, तर्क संगत व वैज्ञानिक सिद्धान्त है। महर्षि दयानन्द वेदों के उच्च कोटि के विद्वान थे। उन्होंने चारों वेदों का भाष्य करने का उपक्रम किया था और सबसे पहले चारों वेदों की भूमिका ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका नामक ग्रन्थ लिखकर वेदभाष्य कार्य को आरम्भ किया था। इस ग्रन्थ का उन्नीसवां अध्याय 'पुनर्जन्मविषय' है। आज इस अध्याय में लिखे उनके उपदेशों को ही प्रस्तुत कर हम पुर्नजन्म का स्वरूप पाठकों के समस्त प्रस्तुत कर रहे हैं।

महर्षि दयानन्द ने पुनर्जन्म विषयक ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद के मन्त्रों सहित निरुक्त व न्याय दर्शन आदि के वचन उद्धृत किये हैं। यहां हम केवल ऋग्वेद के दो मन्त्रों को देकर सभी वचनों का हिन्दी भावार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं। ऋग्वेद के मन्त्र हैं 'असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम!। ज्योक् पश्येम सूर्य्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति।। एवं दूसरा मन्त्र 'पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्। पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां३ या स्वस्तिः।।' इन मन्त्रों का तात्पर्य है कि हे सुखदायक परमेश्वर ! आप कृपा करके पुनर्जन्म अर्थात् परजन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियां स्थापन कीजिये। प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में दीजिये। हे जगदीश्वर ! इस संसार अर्थात् इस जन्म और परजन्म में हम लोग उत्तम उत्तम भोगों को प्राप्त हों तथा हे भगवन् ! आपकी कृपा से सूर्यलोक और आपको विज्ञान तथा प्रेम से हम सदा देखते रहें। हे अनुमते=सबको मान देने हारे सब जन्मों में हम लोगों को सुखी रखिये जिससे हम लोगों का कल्याण हो। दूसरे मन्त्र का अर्थ-हे सर्वशक्तिमन् ! आपके अनुग्रह से हमारे लिये वारंवार पृथिवी प्राण को, प्रकाश चक्षु को, और अन्तरिक्ष स्थानादि अवकाशों को देते रहें। पुनर्जन्म में सोम अर्थात् ओषधियों का रस हमको उत्तम शरीर देने में अनुकूल रहे तथा पुष्टि करनेवाला परमेश्वर कृपा करके सब जन्मों में हमको सब दुःख निवारण करनेवाली पथ्यरूप स्वस्ति को देवे।

महर्षि दयानन्द द्वारा यजुर्वेद के एक तथा अथर्ववेद के दो उद्धृत मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है। हे सर्वज्ञ ईश्वर ! जब जब हम जन्म लेवें, तब तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों। जो विश्व में विराजमान ईश्वर है, वह सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे। सब पापों के नाश करनेवाले आप हमको बुरे कामों और सब दुःखों से पुनर्जन्म में अलग रक्खें। हे जगदीश्वर आप की कृपा से पुनर्जन्म में मन आदि ग्यारह इन्द्रिय मुझ को प्राप्त हों अर्थात् सर्वदा मनुष्य देह ही प्राप्त होता रहे अर्थात् प्राणों को धारण करनेहारा सामथ्र्य मुझ को प्राप्त होता रहे जिससे दूसरे जन्म में भी हम लोग सौ वर्ष वा अच्छे आचरण से अधिक आयु तक भी जीवें। सत्यविद्यादि श्रेष्ठ धन भी हमें पुनर्जन्म में प्राप्त होते रहें। सदा के लिये ब्रह्म जो वेद है, उसका व्याख्यानसहित विज्ञान तथा आप ही में हमारी निष्ठा बनी रहे। सब जगत् के उपकार के अर्थ हम लोग अग्निहोत्रादि यज्ञ को करते रहें। हे जगदीश्वर ! हम लोग जैसे पूर्वजन्मों में शुभ गुण धारण करनेवाली बुद्धि से उत्तम शरीर और इन्द्रियों से युक्त थे, वैसे ही इस संसार में पुनर्जन्म में भी बुद्धि के साथ मनुष्य देह के कृत्य करने में समर्थ हों। ये सब शुद्ध बुद्धि के साथ मुझको यथावत् प्राप्त हों। हम लोग इस संसार में मनुष्य जन्म को धारण करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सदा सिद्ध करें

और इस सामग्र से आपकी भक्ति को प्रेम से सदा किया करें। ऐसा करके किसी जन्म में हमको कभी दुःख प्राप्त न हो।

मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता है। अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है। पूर्वजन्म में किये हुए पाप पुण्य के फलों का भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है, वह पूर्व शरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता, पुनः जल ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य्य में प्रवेश करता है, तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है। जो जीव अनुदित वाणी अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्यभाषण करने की आज्ञा दी है वैसा ही यथावत् जान के बोलता है और धर्म ही में यथावत् स्थित रहता है, वह मनुष्ययोनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है। जो अधर्माचरण करता है, वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतंग पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है। इस संसार में हम दो प्रकार के जन्मों को सुनते हैं। एक मनुष्य शरीर का धारण करना और दूसरा नीच गति से पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष आदि का होना। इनमें मनुष्यशरीर के तीन भेद हैं-एक पितृ अर्थात् ज्ञानी होना, दूसरा देव अर्थात् सब विद्याओं को पढ़के विद्वान होना, तीसरा मत्र्य अर्थात् साधारण मनुष्यशरीर का धारण करना। इनमें प्रथम गति अर्थात् मनुष्यशरीर पुण्यात्माओं और पुण्यपाप तुल्य वालों का होता है और दूसरा जो जीव अधिक पाप करते हैं उनके लिये है। इन्हीं भेदों से सब जगत् के जीव अपने अपने पुण्य और पापों के फल भोग रहे हैं। जीवों को माता और पिता के शरीर में प्रवेश करके जन्मधारण करना, पुनः शरीर को छोड़ना, फिर जन्म को प्राप्त होना, वारंवार होता है।

जैसा वेदों में पूर्वापरजन्म के धारण करने का विधान किया है वैसा ही निरुक्तकार ने भी प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार जब मनुष्य को ज्ञान होता है तब वह ठीक ठीक जानता है कि मैंने अनेक वार जन्ममरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हजारों गर्भाशयों का सेवन किया है। अनेक प्रकार के भोजन किये हैं, अनेक माताओं के स्तनों का दुग्ध पिया, अनेक माता पिता और सुहृदों को देखा है। मैंने गर्भ में नीचे मुख ऊपर पग इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होके अनेक जन्म धारण किये। परन्तु अब इन महादुःखों से तभी छूटूंगा कि जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम और उसकी आज्ञा का पालन करूंगा, नहीं तो इस जन्मरणरूप दुःखसागर के पार जाना कभी नहीं हो सकता।
योगशास्त्र में भी पुनर्जन्म का विधान किया है। हर एक प्राणी की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि मैं सदैव सुखी बना रहूं। मरूं नहीं। यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि मैं न रहूं अर्थात् मर जाऊं। ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के अभाव से कभी नहीं हो सकती। यह 'अभिनिवेश' क्लेश कहलाता है जो कि कृमिपर्य्यन्त को भी मृत्यु का भय बराबर होता है। यह व्यवहार पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है। न्यायदर्शन के वात्स्यायन भाष्य में भी कहा है कि जो उत्पन्न होता है अर्थात् शरीर को धारण करता है, वह मरण अर्थात् शरीर को छोड़ के, पुनरुत्पन्न दूसरे शरीर को भी अवश्य प्राप्त होता है।

अनेक मनुष्य ऐसा प्रश्न करते हैं कि जो पूर्वजन्म होता है, तो हमको उसका ज्ञान इस जन्म में क्यों नहीं होता? इसका उत्तर है कि आंख खोल के देखों कि जब इसी जन्म में जो जो सुख दुःख तुमने बाल्यावस्था में अर्थात् जन्म से पांच वर्ष पर्य्यन्त पाये हैं, उनका ज्ञान नहीं रहता अथवा जो कि नित्य पठन पाठन और व्यवहार करते है, उनमें से भी कितनी ही बातें भूल जाते हैं तथा निद्रा में भी यही हाल हो जाता है कि अब के किये का भी ज्ञान नहीं रहता। जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं, तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का कब ज्ञान रह सकता है? ऐसा भी प्रश्न करते हैं कि जब हमको पूर्वजन्म के पाप पुण्य का ज्ञान नहीं होता और ईश्वर उनका फल दुःख वा सुख देता है, इससे ईश्वर का न्याय वा जीवों का सुधार कभी नहीं हो सकता। इसका उत्तर देते हुए महर्षि दयानन्द कहते हैं कि ज्ञान दो प्रकार का होता है–एक प्रत्यक्ष व दूसरा अनुमान आदि से। जैसे कि एक वैद्य और दूसरा अवैद्य, इन दोनों को ज्वर आने से वैद्य तो इसका पूर्व निदान जान लेता है और दूसरा नहीं जान सकता। परन्तु उस पूर्व कुपथ्य का कार्य जो ज्वर है, वह दोनों को प्रत्यक्ष होने से वे जान लेते है कि किसी कुपथ्य से ही यह ज्वर हुआ है, अन्यथा नहीं। इसमें इतना विशेष है कि विद्वान् ठीक ठीक रोग के कारण और कार्य को निश्चय करके जानता और वह अविद्वान् कार्य को तो ठीक ठीक जानता है परन्तु कारण में उसको यथावत् निश्चय नहीं होता। वैसे ही ईश्वर न्यायकारी होने से किसी को विना कारण से सुख वा दुःख कभी नहीं देता। जब हम को पुण्य पाप का कार्य सुख और दुःख प्रत्यक्ष हैं, तब हमको ठीक निश्चय होता है कि पूर्वजन्म के पाप-पुण्यों के विना उत्तम मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्धि आदि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते। इससे हम लोग निश्चय करके जानते हैं कि ईश्वर का न्याय और हमारा सुधार ये दोनों काम यथावत् बनते हैं। प्रकरण की समाप्ति पर महर्षि दयानन्द कहते हैं कि उपर्युक्त विवेचन व विश्लेषण से बुद्धिमान् लोग पुनर्जन्म विषयक सिद्धान्त व उससे सम्बन्धित सभी पहलुओं को अपने विचार व चिन्तन से यथावत् जान लेवें।

हम अनुभव करते हैं कि इस लेख में पुनर्जन्म विषयक वेद व शास्त्रों में पुनर्जन्म के विधान सहित इसके सभी पहलुओं का युक्ति व तर्कों के आधार पर स्पष्टीकरण हो गया है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त मनुष्यों को पापकर्मों से दूर रखता है। यदि हम कोई भी बुरा काम करेंगे तो ईश्वर की व्यवस्था से उसका फल हमें अवश्य ही भोगना होगा। यदि बुरे काम अधिक होंगे तो हमें परजन्म में पशु, पक्षी, कीट, पतंग, सुअर, सर्प व गधा आदि भी बनना पड़ सकता है। यह भी विचारणीय है कि जीवात्मा और ईश्वर अनादि व नित्य हैं और यह सृष्टि भी अनन्त काल से बनती व बिगड़ती चली आ रही है। इस अनन्त काल में हम अनेकानेक बार सभी योनियों में रहकर अपने कर्मानुसार सुख व दुःख भोगते रहे हैं और आगे भी भोगेंगे। मनुष्यादि जन्म मरण सहित अनेक बार हम मुक्ति की अवस्था में भी गये व रहे हैं। क्या कोई मनुष्य परजन्म में पशु, घोड़ा व गधा बनना चाहेगा, यदि नहीं हो उसे सद्कर्म ही करने होंगे। इसी के साथ हम इस लेख को विराम देते हैं।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है, इन दोनों का आपस में सबन्ध क्या है ।

FEBRUARY 21, 2016 LEAVE A COMMENT

अध्यात्मवाद

– कृष्णचन्द्र गर्ग

आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है, इन दोनों का आपस में सबन्ध क्या है- इस विषय का नाम अध्यात्मवाद है । आत्मा और परमात्मा दोनों ही भौतिक पदार्थ नहीं हैं। इन्हें आँख से देखा नहीं जा सकता, कान से सुना नहीं जा सकता, नाक से सूँघा नहीं जा सकता, जिह्वा से चखा नहीं जा सकता, त्वचा से छुआ नहीं जा सकता।

परमात्मा एक है, अनेक नहीं । ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि उसी एक ईश्वर के नाम हैं। (एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋग्वेद – 1-164-46) अर्थात् एक ही परमात्मा शक्ति को विद्वान लोग अनेक नामों से पुकारते हैं। संसार में जीवधारी प्राणी अनन्त हैं, इसलिए आत्माएँ भी अनन्त हैं। न्यायदर्शन के अनुसार ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख- ये छः गुण जिसमें हैं, उसमें आत्मा है। ज्ञान और प्रयत्न आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, बाकी चार गुण इसमें शरीर के मेल से आते हैं। आत्मा की उपस्थिति के कारण ही यह शरीर प्रकाशित है, नहीं तो मुर्दा अप्रकाशित और अपवित्र है। यह संसार भी परमात्मा की विद्यमानता के कारण ही प्रकाशित है।

आत्मा और परमात्मा- दोनों ही अजन्मा व अनन्त हैं। ये न कभी पैदा होते हैं और नही कभी मरते हैं, ये सदा रहते हैं। इनका बनाने वाला कोई नहीं है। आत्मा परमात्मा का अंश नहीं है। हर आत्मा एक अलग और स्वतन्त्र सत्ता है।

आत्मा अणु है, बेहद छोटी है। परमात्मा आकाश की तरह सर्व व्यापक है। आत्मा का ज्ञान सीमित है, थोड़ा है। परमात्मा सर्वज्ञ है, वह सब कुछ जानता है। जो कुछ हो चुका है और हो रहा है, सब कुछ उसके संज्ञान में है। अन्तर्यामी होने से वह सभी के मनों में क्या है- यह भी जानता है। आत्मा की शक्ति सीमित है, थोड़ी है, परन्तु परमात्मा सर्वशक्तिमान है। सृष्टि को बनाना, चलाना, प्रलय करना- आदि अपने सभी काम करने में वह समर्थ है। पीर, पैगबर, अवतार आदि नाम से कोई एजैंट या बिचौलिए उसने नहीं रखे हैं। ईश्वर सभी काम अपने अन्दर से करता है, क्योंकि उसके बाहर कुछ भी नहीं है। ईश्वर जो भी करता है, वह हाथ-पैर आदि से नहीं करता, क्योंकि उसके ये अंग है ही नहीं। वह सब कुछ इच्छा मात्र से करता है।

ईश्वर आनन्द स्वरूप है। वह सदा एकरस आनन्द में रहता है। वह किसी से राग-द्वेष नहीं करता। वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार से परे है। ईश्वर की उपासना करने से अर्थात् उसके समीप जाने से आनन्द प्राप्त होता है, जैसे सर्दी में आग के पास जाने से सुख मिलता है। ईश्वर निराकार है। उसे शुद्ध मन से जाना जा सकता है, जैसे हम सुख-दुःख मन में अनुभव करते हैं।

यह आत्मा जब मनुष्य शरीर में होती है, तब वह कार्य करने में स्वतन्त्र रहती है। उस समय किए कार्यों के अनुसार ही उसे परमात्मा सुख, दुःख तथा अगला जन्म देता है। दूसरी योनियाँ या तो किसी दूसरे के आदेश पर चलती हैं या स्वभाव से काम करती हैं। उनमें विचार शक्ति नहीं होती, इसलिए उन योनियों में की गई क्रियाओं का उन्हें अच्छा या बुरा फल नहीं मिलता। वे केवल भोग योनियाँ हैं जो पहले किए कर्मों का फल भोग रही हैं। मनुष्य योनि में कर्म और भोग दोनों का मिश्रण है। मनुष्य स्वतन्त्र रूप से कर्म भी करता है और कर्मफल भी भोगता है।

मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ। शरीर मेरा संसार में व्यवहार करने का साधन है। कर्ता और भोक्ता आत्मा है। सुख-दुःख आत्मा को होता है।

जीवात्मा न स्त्रीलिंग है, न पुलिंग है और न ही नपुंसक है। यह जैसा शरीर पाता है, वैसा कहा जाता है। (श्वेताश्वतर उपनिषद्)

ईश्वर की पूजा ऐसे नहीं की जाती, जैसे मनुष्यों की पूजा अर्थात सेवा सत्कार किया जाता है। ईश्वर की आज्ञा का पालन अर्थात सत्य और न्याय का आचरण- यही ईश्वर की पूजा है।

कठोपनिषद में मनुष्य-शरीर की तुलना घोड़ागाड़ी से की गई है। इसमें आत्मा गाड़ी का मालिक अर्थात सवार है। बुद्धि सारथी अर्थात् कोचवान है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं। इन्द्रियों के विषय वे मार्ग हैं, जिन पर इन्द्रियाँरूपी घोड़े दौड़ते हैं। आत्मारूपी सवार अपने लक्ष्य तक तभी पहुँचेगा, जब बुद्धिरूपी सारथी मनरूपी लगाम को अपने वश में रखकर इन्द्रियाँरूपी घोड़ों को सन्मार्ग पर चलाएगा।

उपनिषद में घोड़ागाड़ी को रथ कहा जाता है और रथ पर सवार को रथी। मनुष्य शरीर में आत्मा रथी है। जब आत्मा निकल जाती है, तब शरीर अरथी रह जाता है।

परमात्मा हम सबका माता, पिता और मित्र है। हम सब प्राणियों का भला चाहता है। जब मनुष्य कोई अच्छा काम करने लगता है तो उसे आनन्द, उत्साह, निर्भयता महसूस होती है । वह परमात्मा की तरफ से होता है, और जब वह कोई बुरा काम करने लगता है, तब उसे भय, शंका, लज्जा महसूस होती है। वह भी परमात्मा की तरफ से ही होता है ।

– 831 सैक्टर **10,** पंचकूला**,** हरियाणा।

दूरभाषः **095014-67456**

वेद में पशु हत्या निषेध, पशु रक्षा का विधान और मांसाहार

FEBRUARY 20, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

‘वेद में पशु हत्या निषेध, पशु रक्षा का विधान और मांसाहार’

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

अनेक अज्ञानी व स्वार्थी लोग बिना प्रमाणों के प्राचीन आर्यों पर मांसाहार का मिथ्या आरोप लगाते हैं। वह स्वयं मांसाहार करते हैं अतः समझते हैं कि इस आरोप को लगाकार उनका मांसाहार करना उचित ठहरा दिया जायेगा और कम से कम वेदों के मानने वाले आर्य तो उनका विरोध नहीं कर सकेंगे। ईश्वर ने ही मनुष्यों सहित सभी प्राणियों व वनस्पति जगत को भी बनाया है। यदि ईश्वर के लिए मनुष्यों को पशुओं के मांस का आहार कराना ही अभिप्रेत होता तो फिर वह नाना प्रकार की खाद्यान्न की श्रेणी में परिगणित वनस्पतियां, अन्न, साग व सब्जिययों को शायद उत्पन्न ही न करता और पशुओं की संख्या को इतना बढ़ा देता कि मनुष्य केवल मांसाहार कर ही अपना जीवन व्यतीत करते। ईश्वर को ऐसा अभीष्ट नहीं था अतः उन्होंने किसी विशेष प्रयोजन के लिए पशुओं को बनाया और मनुयों के आहार के लिए पृथक से नाना प्रकार की वनस्पतियों एवं शाकाहार के अन्तर्गत आने वाले अनेकानेक अन्न, फल, साग-सब्जियां और गोदुग्ध आदि पदार्थों को बनाया है। हमें नहीं लगता कि संसार में कोई मांसाहारी ऐसा हो सकता है जो केवल मांस ही खाता हो तथा अन्न, फल, गोदुग्ध आदि पदार्थों का सेवन न करता हो। इस उदाहरण से अन्न, फल व गोदुग्धादि पदार्थ तो मनुष्यों का भोजन सिद्ध होते हैं परन्तु मांस मनुष्य का भोजन सिद्ध नहीं होता।

पशुओं व मनुष्यों मांस क्यों नहीं खाना चाहिये? इसलिए नहीं खाना चाहिये क्योंकि मांस हिंसा से प्राप्त होता है और निर्दोष प्राणियों की हिंसा करना मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध है। मनुष्य के स्वभाव में ईश्वर ने दया, करूणा, प्रेम, स्नेह, ममता, संवेदना, सहिष्णुता आदि अनेक गुणों को उत्पन्न किया है व स्वभाव इसमें सनातन से हैं। मांसाहार करने से इन मानवीय गुणों का न्यूनाधिक हनन होता है, अतः मांसाहार वर्जित व त्याज्य है। मांसाहार का आरम्भ किसी पशु को प्राप्त करना, किसी छुरे व तलवार आदि से उसका वध करना, उसके शरीर के एक-एक अंग प्रत्यंग को काटना, उसे रसोईघर में तेल, घृत, मसालों आदि में भूनना व उसका गेहूं आदि की रोटी, चावल व दही आदि मिलाकर सेवन करना होता है। स्वाभाविक है कि इतने पदार्थों के संयोग से जो पदार्थ बनेगा उसका अपना स्वाद होगा। कईयों को वह प्रिय हो सकता है और बहुतों को अप्रिय। हमने देखा है कि पहली बार जो व्यक्ति जाने व अनजाने मांसाहार करता है उसका शरीर उसको स्वीकार नहीं करता और वह उसे उगल देता है या उल्टी कर देता है। यह प्रकृति का वा ईश्वर का सन्देश होता है कि यह पदार्थ खाने योग्य नहीं है। बहुत से लोग मांसाहारियों की संगति में रहते हैं जिससे उन्हें यह दोष लग जाता है। ईश्वर एक, दो, तीन बार तो उसको उलटी आदि कराकर रोकता है परन्तु जब वह नहीं मानता तो ईश्वर भी उसे अपराधी मानकर उसका जीवन पूरा होने की प्रतीक्षा करता है जिससे उसे मृत्यु होने के बाद उसके अगले पुनर्जन्म में इन अमानवीय कार्यों के अनुरूप दण्ड दे सके। हमें लगता है कि बहुत से मनुष्य पुनर्जन्म पाकर पशु बनते होंगे जिनका मांस दूसरे मनुष्य व पशु आदि खाते होंगे। अतः मांसाहार का सर्वथा त्याग ही मनुष्य को सुखी, स्वस्थ, दीर्घायु बनाता है। शाकाहारी मनुष्यों में मांसाहारी मनुष्यों की तुलना में बल, शारीरिक सामथ्र्य, बौद्धिक व आत्मिक क्षमता, साहस, निर्भयता, सेवा, परोपकार व धर्म-कर्म की भावना अधिक होती है जिसे प्रमाणों व उदाहरणों से सिद्ध किया जा सकता है।

वेद संसार के सभी मनुष्यों का आदि ग्रन्थ है जिसमें धर्म व कर्म अर्थात् कर्तव्य, अकर्तव्य का विधि व निषेधात्मक ज्ञान है। विदेशियों ने अपने मांसाहार का दोष छिपाने वा अपनी बौद्धिक अक्षमता के कारण यह आरोप लगाया कि सृष्टि की आदि में हमारे पूर्वज आर्य व ऋषिगण पत्थरों के हथियार बनाकर पशुवध कर मांसाहार किया करते हैं। यह बात सर्वथा अनुचित व मिथ्या है। सृष्टि के आदि काल में हमारे व समस्त मानवजाति के पूर्वज फल, कन्द, मूल व गोदुग्धादि का आहार व भोजन किया करते थे। चारों वेदों के एक मन्त्र में भी मांसाहार करने का संकेत नहीं है अपितु पशुओं की रक्षा करने का विधान है जो स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि यजमान के पशु गाय, घोड़ा, बकरी, भेड़ आदि अवध्य=हत्या न करने व न मारने योग्य है जिनकी आर्यों व सभी मनुष्यों को अपने सुख व कल्याण के लिए रक्षा करनी है। इसका एक ठोस प्रमाण यह है कि हिरण सहित जितने भी शाकाहारी पशु हैं यह जंगल में शेर आदि हिंसक पशुओं को देख कर भाग जाते हैं। इन्हें ईश्वर ने गन्ध के आधार पर यह समझ प्रदान की हुई है कि कौन सा प्राणी हिंसक है और कौन अहिंसक, कौन इनका घातक है और कौन इनका रक्षक। इन शाकाहारी पशुओं के सम्मुख जब भी कोई हिंसक पशु, शेर, चीता आदि आते हैं तो यह दूर से ही उनके आने व होने की गन्ध को भांप कर भाग खड़े होते हैं परन्तु मनुष्य को देखकर यह दूर भागने के स्थान पर उसके पास आकर उससे अपना प्रेम प्रदर्शित करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य शाकाहारी प्राणी है, मांसाहारी नहीं है तथा इसी कारण पशु मनुष्यों से डरते नहीं, दूर भागते नहीं व उसके समीप प्रसन्नता से आते हैं। अतः मनुष्यों द्वारा भोजन के लिए पशुओं की हत्या करना उसके ईश्वर व प्रकृति प्रदत्त स्वभाव व गुण के विरुद्ध होने से सर्वथा निन्दनीय है।

वेदों ने पशुओं की रक्षा व मांसाहार विषयक क्या विचार हैं, इसका संक्षेप में अवलोकन करते हैं। यजुर्वेद के 40/7 मन्त्र 'यस्मिनित्सर्वाणी भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।' में कहा गया है कि जो व्यक्ति सम्पूर्ण प्राणियों को केवल अपने जैसी आत्माओं के रूप में ही देखता है (स्त्री, पुरुष, बच्चे, गौ, हरिण, मोर, चीते तथा सांप आदि के रूप में नहीं) उसे उनको देखने पर मोह अथवा शोक (ग्लानि वा घृणा) नहीं होता, क्योंकि उन सब प्राणियों के साथ वह एकत्व (समानता तथा साम्यता) का अनुभव करता है। इस मन्त्र में यह सन्देह दिया गया है शोक व मोह से बचने के लिए मनुष्य को सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान व रूप में ही देखना चाहिये। इससे वह शोक व मोह से बच सकते हैं। आर्यजगत के विद्वान श्री पं. सत्यानन्द शास्त्री अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'क्या प्राचीन आर्य–लोग मांसाहारी थे?' में लिखते हैं कि जो लोग आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म तथा एकत्व (समानता=साम्यता) के सिद्धान्तों में विश्वास रखते थे (जैसा कि आर्यों को समझा जाता है), वे अपने क्षणिक स्वाद की तृप्ति अथवा भूखे पेट की पूर्ति के लिये उन पशुओं को कैसे मार सकते थे जिनमें उन्हें अपने ही पूर्वजन्मों के प्रियजनों की आत्माओं के दर्शन होते थे? वास्तव में ऐसा कभी नहीं हो सकता। यजुर्वेद मन्त्र 36/18 में कहा गया है कि 'मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।' इस मन्त्र का अभिप्राय है कि मुझे सब प्राणी अपना मित्र समझें तथा मैं भी उनसे अपने मित्रों जैसा व्यवहार करूं। हे परमात्मा ! कुछ ऐसी विधि मिलाओं कि हम सब प्राणी एक दूसरे से सच्चे मित्रों जैसा व्यवहार करें। प्राचीन आर्य लोग 'प्राणीमात्र के लिये अथाह मैत्री' के उपर्युक्त वैदिक सिद्धान्त में न

केवल आस्था ही रखते थे, अपितु इसे ईश्वर प्रदत्त धर्म का अंग जानकर अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न भी करते थे। उन आर्यों के सम्बन्ध में यह धारणा रखना कि वे अपनी जैह्विक लालसा की क्षणिक तृप्ति के लिये उन प्राणियों का, जिन्हें वे मित्रतुल्य प्रिय जानते थे, वध करते थे, अनर्गल नहीं तो और क्या है।

प्राणीमात्र के लिये अथाह मैत्री के इस वैदिक सिद्धान्त का पारिणााम यह निकला कि समाज में दोपायों (मनुष्यों) और चैपायों की हिंसा पूर्ण रूपेण निषिद्ध कर दी गई। यजुर्वेद मानव के प्रति अहिंसाभाव का कठोर आदेश देते हुए कहता है कि '…… मा हिंसीः पुरुषम् …' (यजुर्वेद 16/3) अर्थात् पुरुष किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। यजुर्वेद पशुओं के मारे जाने पर कठोर प्रतिबन्ध लगाता है। वह कहता है कि 'मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः' (यजुर्वेद मन्त्र 12/32) तथा 'इमं मा हिंसीद्विपाद पशुम् …' (यजुर्वेद 13/47)। इसी प्रकार यजुर्वेद में गोवध का निषेध किया गया है क्योंकि मानव जाति के लिये गौ शक्तिवर्द्धक घी प्रदान करती है। '… गां मा हिंसीरदितिं विराजम्' (यजुर्वेद 13/43 एवं '….. घृतं दुहानामदितिं जनाय …. मा हिंसीः'। (यजुर्वेद 13/49)। इसी प्रकार से अश्व, बकरी व भेड़ आदि पशुओं का वध न करने के प्रति भी वेद में अनेक आज्ञायें उपलब्ध हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि समस्त वैदिक साहित्य के प्रतिनिधि वेद पशुओं की हिंसा के सर्वथा विरोधी हैं, मांसाहार का तो प्रश्न ही नहीं होता। आर्य विद्वानों ने वेदों में पशुहत्या व मांसाहार पर अनेक ग्रन्थ लिखकर शास्त्रीय उदाहरण, युक्ति, तर्क आदि देकर वेदों में इनका विधान होने का प्रतिवाद किया है। आर्य संन्यासी स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती ने भी स्वास्थ्य के शत्रु अण्डे व मांस पुस्तक लिखकर इन पदार्थों का सेवन स्वास्थ्य के हानिकारक सिद्ध किया है। एक विश्व प्रसिद्ध साहित्यकार बर्नाडशा के जीवन की एक घटना का उललेख कर हम इस लेख को विराम देंगे। बर्नाडशा को डाक्टरों ने मांस-सेवन की सम्मति दी थी जिसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था–"My situation is a solemn one. Life is offered to me on condition of eating beef steaks. But death is better than cannibalism. My will contains directions for my funeral, which will be followed not by mourning coaches, but by oxen, sheep, flocks of poultry and a small travelling aquarium of live fish, all wearing white scarfs in honour of the man who perished rather than eat his fellow creatures. It will be with the exception of Noah's ark, the most remarkable thing of the kind seen." अर्थात् ''मेरी स्थिति गम्भीर है। मुझे कहा जाता है कि गो-मांस खाओ तुम जीवित रहोगे। इस राक्षसपन की अपेक्षा मृत्यु अधिक उत्तम है। मैंने अपनी वसीयत लिख दी है। मेरी मृत्यु पर मेरी अरथी के साथ विलाप करती गाड़ियों की आवश्यकता नहीं है। मेरे साथ बैल, भेड़ें, मुर्गे और जीवित मछलियों का एक चलता-फिरता घर होगा। इन सभी पशु और पक्षियों के गले में सफेद दुपट्टे होंगे, उस मनुष्य के सम्मान में जिसने अपने साथी प्राणियों को खाने की अपेक्षा मरना उत्तम समझा। हजरत नूह की नौका को छोड़कर यह दृश्य सबसे अधिक उत्तम और महत्वपूर्ण होगा।"

लेख की समाप्ती पर निवेदन है कि वेदों व प्रमाणिक वैदिक साहित्य में मांसाहार का विधान नहीं है। यदि कहीं ऐसी प्रतीती होती है तो यह इंटरप्रीटेशन व मिलावट के कारण हो सकती है। मानवीय आधार पर भी पशु हत्या और मांसाहार दूषित व पाप कर्म है। इसका करना इस जीवन को कुछ समय के लिए स्वादयुक्त बना सकता है परन्तु मृत्यु के बाद के जन्मों में

मांसाहारी मनुष्य को पशु बनाकर इस अपकार का बदला ईश्वर के द्वारा अवश्य चुकाया जायेगा। कोई इससे बच नहीं सकेगा। ईश्वर किसी की दलील भी नहीं सुनता क्योंकि वह मनुष्य के मन व आत्मा के विचारों व उसकी सभी क्रियाओं का साक्षी होने के साथ किसी बात व घटना को भूलने की प्रवृत्ति से रहित है। अतः सभी मनुष्य को मांसाहार के घृणित कार्य से स्वयं को दूर रखना चाहिये। यदि नहीं रख सकते तो ईश्वर की दण्ड व्यवस्था की प्रतीक्षा करें और जैसी करनी वैसी भरनी के सिद्धान्त के अनुसार अपने कर्मों का भोग करें।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून**-248001**

फोनः**09412985121**

आत्मा को भुला देने से विश्व में अशान्ति आदि समस्त समस्यायें

FEBRUARY 17, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

'आत्मा को भुला देने से विश्व में अशान्ति आदि समस्त समस्यायें'

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

मनुष्यों द्वारा अपनी आत्मा व शरीर में भेद न करने व आत्मा व शरीर को एक मान लेने के कारण ही विश्व में अशान्ति व नाना प्रकार की समस्यायें हैं। इन सबका हल यही है कि संसार के सभी मनुष्य आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानें। इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यवस्था से जुड़े शीर्षस्थ व्यक्ति सर्वसम्मति से शिक्षा में आत्मा विषयक यथार्थ ज्ञान के अध्ययन व अध्यापन की व्यवस्था करें। जो व्यक्ति आत्मा का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेगा तो वह परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना चैन से नहीं बैठ सकता। वेद, उपनिषद व योग-सांख्य-वेदान्त दर्शन से ईश्वर विषयक यथार्थ ज्ञान भी इसके अध्येताओं को अवश्य होगा जिससे वह वैराग्य को प्राप्त होगें। वैराग्य ज्ञान की पराकाष्ठा को कहते हैं। बच्चा बड़ा होकर खिलौनो से खेलना इसलिए बन्द कर देता है कि उसे इनकी वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। जिस मनुष्य को यह पता लग जाये कि उसे कुछ दिन बाद मरना है तो उसे नींद नहीं आती, स्वादिष्ट भोजन भी अच्छा नहीं लगता और धन ऐश्वर्य होते हुए भी जीवन नीरस, फीका व स्वादरहित हो जाता है। इस स्थिति के बनने पर अध्यात्मिक ज्ञान व ईश्वरोपासना आदि साधनों से जीवन को सुखी, आनन्दयुक्त व सरस बनाया जा सकता है। आज के व्यक्तियों को देखकर लगता है कि वह सभी आंखें बन्द कर मार्ग पर चल रहे हैं और, देर व सबेर, सभी एक बड़ी दुर्घटना का शिकार होंगे जिससे यदि कोई बचा सकता है तो वह वेदों व उपनिषदों का ज्ञान ही है। इसके लिए महर्षि दयानन्द का लघुग्रन्थ आर्याभिविनय व सत्यार्थप्रकाश

आदि के प्रथम, सप्तम, अष्टम, नवम व दशम समुल्लास भी उपयोगी हो सकते हैं। वैदिक विद्वानों ने वेदमन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्याओं के संग्रह प्रकाशित किये हुए हैं, वह भी मनुष्य का मार्गदर्शन कर सकते हैं।

आत्मा का ज्ञान क्यों आवश्यक है? इस प्रश्न का उत्तर है कि आत्मा का गहरा सम्बन्ध मुझसे व सभी प्राणियों का अपने आप से है। कुछ भी जानने से पहले मुझे स्वयं को जानना अनिवार्य है अन्यथा हम भोग पदार्थों को अर्जित कर उनके भोग का विवेकपूर्ण निर्णय नहीं कर पायेंगे। यदि किसी शिक्षित व्यक्ति से पूछा जाये कि वह अपने आप व स्वयं को जानता है तो वह कुछ न कुछ उत्तर अवश्य देगा। वह उत्तर ठीक हो सकता है परन्तु वह अपूर्ण ही होगा। आत्मा व मैं एक हैं। मेरे जीवन में मैं ही आत्मा और आत्मा ही मैं हूं। इस आत्मा का इतिहास व जन्मादि कब, कैसे, कहां व किससे हुआ, यह प्रश्न जानने पर जो स्थिति हमें अवगत होती है, उससे बड़े बड़े ज्ञानी भी अनभिज्ञ व अपरिचित हैं। हमारा आत्मा एक चेतन पदार्थ है। चेतन का अर्थ है कि इसमें सुख व दुःख की संवेदनायें, जिज्ञासायें व ज्ञान तथा क्रिया करने की सामथ्र्य होती है। इसके विपरीत जड़ पदार्थ होते हैं जिनमें किसी प्रकार की संवेदनायें व सुख व दुःख की अनुभूति, ज्ञान व स्वयं उद्देश्य प्रधान क्रिया करने की सामर्थ्य नहीं होती। सभी भौतिक पदार्थ जड़ पदार्थों की श्रेणी में आते हैं। हमारा व सभी प्राणियों का शरीर भौतिक पदार्थों से मिलकर बना है। हम अन्न के रूप में जिन पदार्थों का सेवन करते हैं उसी से हमारा शरीर बना व बनता है। इस शरीर का निर्माण स्वतः नहीं होता अपितु ईश्वर के विधान व उसके द्वारा ही होता है। इस शरीर का एक-एक अंग कितना महत्वपूर्ण है, इसका अनुमान तब पता चलता है कि जब कोई अंग विकारयुक्त हो जाता है या कार्य करना बन्द कर देता है। वर्तमान में विकसित चिकित्सा विज्ञान इन विकारों का उपचार करता है, कुछ स्वस्थ हो जाते हैं और कुछ परलोक सिधार जाते हैं। मनुष्य, वैज्ञानिक व चिकित्सक शरीर व उसके किसी भाग को बनाते नहीं, उस ईश्वर के नियमों द्वारा बने शरीर का अध्ययन कर केवल रोग व विकार के कारणों को हटाने का काम करते हैं जिसमें उन्हें आंशिक सफलता व विफलतायें दोनों ही मिलती हैं। जीवात्मा शरीर से पृथक एक चेतन तत्व है जबकि हमारा शरीर जड़ पदार्थों से मिलकर बना व बनाया गया है। इस शरीर को तो विज्ञान ने काफी हद तक जान लिया है परन्तु आत्मा का ज्ञान उपलब्ध होने पर भी सभी लोग जिनमें शिक्षित, ज्ञानी एवं वैज्ञानिक भी सम्मिलित हैं, अपने संस्कारों, स्वभाव व सांसारिक पदार्थों से आकर्षित होकर भ्रमित रहते हैं जिसका परिणाम सुख व दुःख व यदा-कदा कम आयु में व अधिकांश की 60 से 80 वर्ष की आयु के बीच मृत्यु का होना है।

जीवात्मा शरीर से भिन्न चेतन पदार्थ है, यह जानने के बाद जीवात्मा की उत्पत्ति से जुड़े प्रश्नों पर विचार करना भी आवश्यक है। प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है परन्तु मूल कारण का कारण नहीं होता। जीवात्मा प्रकृति में उपलब्ध किसी भौतिक पदार्थ के द्वारा निर्मित नहीं है। यह अनादि व अनुत्पन्न है। हम देखते हैं कि भौतिक पदार्थों का स्वरूप परिवर्तन होता रहता है। विज्ञान भी मानता है कि पूर्ण नाश व समाप्ती किसी पदार्थ की कभी नहीं होती। दर्शन के आधार पर विचार करें तो भाव से भाव उत्पन्न होता है, अभाव से भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी प्रकार भाव का अभाव भी नहीं हो सकता। अतः आत्मा यदि है,

जो कि प्रत्यक्ष अनुभव से जानी जाती है, तो यह आत्मा भाव पदार्थ है, इसका अभाव व पूर्ण नाश कदापि नहीं हो सकता। इस लिए आत्मा को अविनाशी स्वीकार किया जाता है। अमरता अर्थात् न मरना भी आत्मा का गुण है। शरीर की मृत्यु होती है, आत्मा की नहीं। आत्मा तो ईश्वर के नियमों से शरीर से निकल कर अपने कर्मानुसार अन्य किसी योनि में जन्म ग्रहण करने के लिए चला जाता है। इसी नियम का पालन करते हुए हम अपने पूर्वजन्म के स्थान से अपने वर्तमान के पिता व माता के शरीरों से होते हुए जन्में हैं। जन्म लेने वाले की मृत्यु और मृतक का जन्म होना भी एक सत्य शास्त्रीय सिद्धान्त होने के साथ तर्क व युक्तियों से भी सिद्ध है। अतः हमारी कालान्तर में मृत्यु अवश्य होनी है। यह शाश्वत् सत्य है परन्तु सभी मनुष्य लोग सारा जीवन इस सत्य से अनजान बने रहते हैं। यदि यह सत्य है तो क्यों न हम अपने जन्म और मृत्यु के सत्य को अधिक न सही, प्रातः व सायं ही स्मरण कर मृत्यु के भय पर विजय पाने की चेष्टा व अभ्यास करें। यदि हम मृत्यु को स्मरण रखेंगे और इससे होने वाले दुःख पर विजय पाने के लिए आत्मा के सत्यस्वरूप को जानकर उससे इस संसार के रचयिता को जानने सहित उसकी पूर्ण तर्क व युक्तिपूर्वक स्तुति, प्रार्थना व उपासना करेंगे साथ हि सदाचारयुक्त जीवन व्यतीत करेंगे तो हम निश्चय ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

मृत्यु के स्वरूप को जानकर व उसके दुःख पर उस ज्ञान से मोह व अहंकारयुक्त जीवन का त्याग कर हम अवश्य ही अपने बुरे कर्मों जिनसे समाज व देश के निर्दोष लोगों को हमारे स्वार्थों के कारण दुःख होता है, उनसे बचने का अवश्य प्रयत्न करेंगे क्योंकि हमें यह ज्ञान हो जायेगा कि संसार का सर्वव्यापक रचयिता, पालक, धारणकर्ता व सभी जीवात्मा के प्रत्येक शुभ व अशुभ कर्मों का नियन्ता व न्यायाधीश हमारे किसी कर्म को क्षमा नहीं करेगा और उसका उचित दण्ड जन्म व जन्मान्तरों में हमें अवश्य देगा। आत्मा पर विचार करते रहने व इस विषयक सत्साहित्य पढ़ने से आत्मा के अन्य गुणों व स्वरूप जिसमें इसका सूक्ष्म होना, एकदेशी होना, कर्म करने में स्वतन्त्र और उनके फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होना, पूर्वजन्मों के कर्मानुसार हमें इस मनुष्य योनि व सामाजिक परिवेश, माता, पिता आदि का मिलना व भविष्य में इस जन्म के कर्मों के आधार पर भावी मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि किसी योनि में जन्म मिलना, अज्ञान से दुःखों को प्राप्त होना व सत्य ज्ञान से दुःखों के स्वरूप को जानकर उनसे मुक्त व सुखी होना, आत्मा आकाररहित है, अल्पशक्ति वाला, अल्पज्ञ है, आदि जीवात्मा के स्वरूप व इसके विविध गुणों का ज्ञान होता है। जीवात्म अनादि व अनुत्पन्न होने से यह कभी बना व जन्मा नहीं है। इसी कारण इसकी मृत्यु, नाश व अभाव भी कभी नहीं होगा। यह जीवात्मा सदा-सर्वदा अपने अस्तित्व को विद्यमान रखते हुए जन्म-मरण के चक्र में फंसा रहेगा, इसका ज्ञान स्वाध्याय, चिन्तन-मनन व सच्चे गुरू के उपदेश से होता है।

जीवात्मा का अच्छा व बुरा पूर्वजन्म समाप्त हो चुका है, उसके बारे में कुछ करना करणीय नहीं है। वर्तमान जीवन सुखी, समृद्ध व यशस्वी हो तथा परजन्म भी इस जन्म से अधिक उन्नत हो, यह सभी जीवात्माओं वा मनुष्यों का मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। इसके लिए प्रथम जीवात्मा व परमात्मा के सत्यस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। यह ज्ञान वेद,

उपनिषद, योग, सांख्य व वेदान्त दर्शन सहित सत्यार्थप्रकश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, आर्याभिविनय आदि अनेक ग्रन्थों में सुलभ है। श्री कर्मनारायण कपूर का ग्रन्थ 'जीवात्मा का स्वरूप' और पं. राजवीरशास्त्री सम्पादित दयानन्दसन्देश पत्रिका का तीन खण्डीय 'जीवात्म–ज्योति–विशेषाक' का अध्ययन कर उनमें निहित आत्मा विषयक ज्ञान को आत्मसात किया जाना समीचीन है। इस ज्ञान के अनुसार जहां मनुष्यों को पुरूषार्थमय जीवन व्यतीत करते हुए अशुभ कर्मों का त्याग कर समस्त शुभ कर्म ही करने हैं वहीं वैदिक विधि से ईश्वर की उपासना, यज्ञ-अग्निहोत्र अनुष्ठान, माता-पिता-आचार्य-विद्वानों की सेवा-सत्कार सहित परोपकार व यथाशक्ति आर्ष-गुरूकुल-प्रणाली व वेदविद्या के प्रचार व प्रसार में सहयोग भी करना है। इन शुभकर्मों का लाभ हमें इस जीवन व परजन्म में मिलता है। आत्मा के सत्यस्वरूप को जाने बिना यह सभी कार्य नहीं किये जा सकते। इन कर्मों को करने से हमारा वर्तमान व परजन्म दोनों ही सुधरेंगे और हम इससे मुमुक्षत्व को प्राप्त होकर और अधिक त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत कर मुक्ति के अधिकारी भी बन सकते हैं।

जीवात्मा व ईश्वर के सत्य स्वरूप को जानकर मनुष्य अशुभ कर्मों का त्याग कर देता है। स्वार्थ से ऊपर उठकर देश व समाज के हित की कामना से शुभ कर्मों को करता है। वह असत्य व अशुभ कर्मों के परिणामों को जानकर उनका सर्वधा त्याग व निषेध कर देता है। वेदाध्ययन करने से उसे अपने कर्तव्यों का बोध बना रहता है जिससे उसकी अशुभ प्रवृत्तियां नियंत्रण में रहती है। ऐसा करके वह मृत्यु को भी यथार्थरूप में जानकर उसके भय से मुक्त हो जाता है और देश व समाज के सभी लोग उससे लाभान्वित होते हैं। मर्यादा पुरूषोत्तम श्री राम, योगेश्वर श्री कृष्ण, महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी श्रद्धानंद, स्वामी दर्शनानन्द, पं. लेखराम, पं. गुरूदत्त विद्यार्थी आदि का जीवन इसी प्रकार का जीवन था। यह श्रेय का मार्ग है। सरकार का कर्तव्य एवं दायित्व है कि वह जीवात्मा व ईश्वर सहित वेदों का सत्य ज्ञान सभी देशवासियों को कराये और उसके विरोध में उठने वाले अज्ञानता व स्वार्थान्धता के स्वरों की चिन्ता न करे। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो शायद यह देश सुरक्षित नहीं रह सकेगा।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

वेद सार्वभौमिक मानव धर्म के अधिकारिक प्रतिनिधि व आदिस्रोत

FEBRUARY 15, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

‘वेद सार्वभौमिक मानव धर्म के अधिकारिक प्रतिनिधि व आदिस्रोत’

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

संसार के सभी मनुष्यों वा स्त्री-पुरुषों पर ध्यान केन्द्रित करें तो यह सभी एक बहुत ही बुद्धिमान व सर्वव्यापी कलाकार की रचनायें अनुभव होती हैं। संसार भर में सभी मनुष्य की दो आंखे, दो कान, नाक, मुंह, गला, शिर, वक्ष, उदर, कटि व पैर प्रायः एक समान ही हैं। सभी मनुष्यों का कर्तव्य है कि वह अपने बनाने वाले को जाने, उसका धन्यवाद करें, उससे कृतज्ञ एवं अनुग्रहीत हों। यही मनुष्यता वा मानवधर्म का आधार व मुख्य सिद्धान्त है। आज का मनुष्य अनेक प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न है। विज्ञान तो अपनी चरम अवस्था पर आ पहुंच है परन्तु यदि धार्मिक व सामाजिक ज्ञान की बात करें तो आज भी संसार में इस क्षेत्र में अधिकांशतः कृपणता ही दृष्टिगोचर होती है। संसार मे प्रमुख मत जिन्हें रूढ़ अर्थों में धर्म कह देते हैं, 5 या 6 हैं। इन सभी मतों वा धर्मों के लोग वा विद्वान ईश्वर के स्वरूप, स्वभाव व कृतित्व आदि पर समान विचार नहीं रखते अर्थात् इनमें परस्पर कुछ समानतायें व कुछ भिन्नतायें है। मनुष्य का आत्मा अल्पज्ञ है अतः विचारों में अन्तर व भिन्नता होना स्वाभाविक है। इसके साथ मनुष्य का यह भी कर्तव्य है जिन विषयों में परस्पर भिन्नता हो, उस पर सदभावपूर्वक परस्पर संवाद करें और युक्ति व तर्क से सत्य का निर्णय कर उसे स्वीकार करें। परन्तु हम देखते हैं कि सभी मतों के विद्वान व आचार्य न तो भिन्न-भिन्न विचार वाले विषयों पर परस्पर संवाद कर चर्चा व निर्णय ही करते हैं और न ही अपने ही मत व पन्थ के भीतर विचार, चिन्तन कर अपनी मान्यताओं व सिद्धान्तों को सत्य की कसौटी पर कसते हैं। अनुपयोगी, अप्रसांगिक व मिथ्या मान्यताओं के सुधार व संशोधन की उनसे अपेक्षा नहीं की जा सकती। इसके विपरीत यही देखा जाता है कि प्रत्येक मत व सम्प्रदाय का अनुयायी अथवा विद्वान अपनी सत्य व असत्य मान्यताओं व सिद्धान्तों पर आंखें बन्द कर विश्वास करता है व वैसा ही आचरण करता है। इसी को अन्धविश्वास, मिथ्याविश्वास एवं मिथ्याचार कह सकते हैं। मतों के इस व्यवहार से उनके अपने अनुयायी मनुष्यों का उपकार होने के स्थान पर अपकार ही होता है। मनुष्य का जन्म सत्य व असत्य को जानकर सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने के लिए ही हुआ है। सत्य के ग्रहण से मानव की सर्वांगीण उन्नति होती है और ऐसा न करने से भौतिक उन्नति कोई कितनी ही कर ले परन्तु, धन, सम्पत्ति व भौतिक साधनों से, आध्यात्मिक व परलोक की उन्नति कदापि सम्भव नहीं है। जिस प्रकार विज्ञान में सभी मान्यतायें तर्क, युक्ति तथा क्रियात्मक प्रयोग के परिणामों के आधार पर अपनायी व स्वीकार की जाती है जिन्हें सभी देशों के वैज्ञानिक व सामान्यजन सार्वभौमिक रूप में स्वीकार करते हैं, इसी प्रकार से मनुष्यों के धर्म के सभी सिद्धान्त भी तर्क, युक्ति व प्रमाणों के आधार पर निर्धारित होने के साथ समस्त संसार में एक व समान होने चाहिये। धार्मिक, सामाजिक, संस्कृति व सभ्यता विषयक सत्य सिद्धान्तों का सार्वभौमिक रूप से निर्धारण होकर मनुष्य कब इनको अपनायेगा, कहा नहीं जा सकता। वह मनुष्यमात्र के सार्वभौमिक सत्य धर्म के निर्णय में जितना विलम्ब करेगा उसके इस कार्य से दोह व्यक्तिगत व सामाजिक हानि होना निश्चित है। अतः मनुष्य को मननशील होकर सत्य का निर्धारण करना व उसी सत्य मार्ग का अनुकरण व अनुसरण करना ही उसका मुख्य कर्तव्य वा धर्म होने के साथ उसके लिए लाभकारी है।

संसार के सभी मतों व धर्मग्रन्थों में वेद सर्वाधिक प्राचीन है। वेद किसी विषय व वस्तु आदि को जानने अर्थात् ज्ञान को कहते हैं। यदि वेद धर्मग्रन्थ हैं तो हमारा मुख्य धर्म सत्य व ज्ञान ही कहा जा सकता है। प्रश्न है कि ज्ञान की उत्पत्ति किससे होती है? इसका उत्तर है कि ज्ञान की उत्पत्ति मनुष्यों से नहीं अपितु ईश्वर के द्वारा संसार की रचना को करने से होती है। मनुष्य वा वैज्ञानिक तो सृष्टि में कार्यरत नियमों व ज्ञान की खोज करते हैं। विज्ञान में जितने भी नियम हैं उनका ज्ञान व वह सभी नियम हमारी सृष्टि की आदि से ही संसार में विद्यमान हैं व कार्य कर रहे हैं। इनमें से अनेक नियमों का बीज रूप में ज्ञान वेद में सृष्टि के आरम्भ काल से ही विद्यमान है। हमारे ऋषियों ने वेदों का अध्ययन कर संसार में कार्यरत सभी नियमों को जाना था और इसके साथ ही जीवात्मा और परमात्मा के स्वरुप को भी जाना व समझा था। वह जानते थे कि जीवात्मा को सत्य का आचरण करने के साथ ईश्वरोपासना व पर्यावरण की शुद्धि के लिए यज्ञ आदि कार्यों को करना है जिससे अर्जित कर्माशय से वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर जन्म मरण के दुःख रूपी अभिविनेश क्लेश पर विजय प्राप्त कर सके। एकांगी विज्ञान को विकसित कर, उससे सुख-सुविधा की वस्तुएं और युद्ध की विध्वंशक सामग्री बनाकर यह लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता था। अतः उन्होंने सन्तुलित जीवन के महत्व को जानकर अपने जीवन व कार्यों में न्याय किया था। यदि गति के नियमों की बात करें तो हमारे पूर्वजों को खगोल ज्योतिष का उच्च कोटि का ज्ञान था। इसके आधार पर वह वर्षों पूर्व ही भविष्य में होने वाले सूर्य व चन्द्र ग्रहण की त्रुटिरहित गणना के साथ खगोल के अनेकानेक रहस्यों से परिचित थे। आयुर्वेद रोगों से मानव जीवन की रक्षा का शास्त्र व विद्या है। इसका भी प्राचीन काल में पूर्ण विकास हुआ था। प्राचीन काल में अकाल व अल्पायु में मृत्यु बहुत कम हुआ करती थीं। प्राचीन काल से महाभारत काल के बाद का समय अपेक्षित न होकर उससे पूर्व का समय अभिप्रेत है। इसी प्रकार से अनेकानेक तीव्र गति से चलने वाले रथ वा यान भी हुआ करते थे। हमारे पूर्वज समुद्र की यात्रायंे भी करते थे। अर्जुन की पत्नी उलोपी तो पाताल वा अमेरिका की निवासी थी। वैदिक विद्वान पाराशर अमेरिका में काफी समय तक रहे, इसका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। अतः प्राचीन काल से महाभारत काल तक आध्यात्मिक व भौतिक विज्ञान का विकास अपनी चरम अवस्था में रहा है, इसका अनुमान प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से मिलता है। इन परा व अपरा विद्याओं का विकास वेदों के आधार पर हमारे ऋषियों ने किया था। अतः वेद मानव धर्म सहित सभी सत्य विद्याओं का भी प्रकाश करते हैं और अपने अध्येता को यह सामर्थ्य व बौद्धिक क्षमता प्रदान करते हैं कि व्यक्तिगत व संगठित रूप से अनेक विद्याओं व विज्ञान को विकसित कर सकें।

धर्म का सम्बन्ध मनुष्यों के आचरण से होता है। आचरण यदि सत्य पर आधारित है तो वह धर्म और इसके विपरीत अधर्म कहलाता है। सत्य की परीक्षा के लिए लक्षण व प्रमाणों के आधार पर निर्णय किया जाता है। वेदों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि यह परा व अपरा विद्याओं सहित मानव के सभी प्रकार के कर्तव्यों का शास्त्र भी है जिसकी प्रत्येक बात ईश्वर प्रदत्त होने से सत्य की कसौटी पर भी खरी है। महर्षि दयानन्द ने अपने जीवन काल में संसार के सभी मतों के आचार्यों व विद्वानों को खुली चुनौती दी थी कि वह उनसे मिलकर किसी भी धार्मिक विषय में शंका समाधान सहित शास्त्रार्थ कर सकते है। किसी मत व उसके आचार्य में उनसे शास्त्रार्थ करने का उत्साह व साहस नहीं हुआ। जिन लोगों ने उनसे वार्तालाप व चर्चायें कीं, उनको उन्होंने पूर्ण सन्तुष्ट किया था। यह मानव जीवन की अपनी विशेषता ही है कि

अनेक विद्वान भी तर्क व युक्ति से सिद्ध सत्य बातों को न मानकर उसके विपरीत असत्य व तर्कहीन बातों को ही मानते व आचरण में लाते हैं। इस मानव स्वभाव को पूर्णतः बदलना अर्थात् सुधार करना शायद् सम्भव नहीं है। यदि ऐसा होता तो संसार में केवल एक मत होता और लोगों में जिन विषयों पर भ्रान्तियां होती, उसका समाधान परस्पर वार्तालाप व गोष्ठी करके सद्भाव पूर्वक हो जाता। परीक्षा करने पर वेद ईश्वर प्रदत्त एवं सत्य ज्ञान से पूर्ण सिद्ध होते हैं। अन्य मतों की स्थिति यह है कि उनकी बहुत सी बाते सत्य हैं व अनेक सत्य नहीं हैं। नाना मतों में विद्यमान इन असत्य व अज्ञान की बातों पर उन-उन मतों के आचार्यों को विचार व चिन्तन कर उनका सुधार व संशोधन करना चाहिये। इसका संकेत व दिग्दर्शन महर्षि दयानन्द ने अपने जीवन काल में किया था और उनमें से कुछ का संकलन नमूने के तौर पर सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ में किया है। महाभारत काल से पूर्व भी यह परम्परा समस्त विश्व में विद्यमान रही है। इसी कारण महाभारतकाल तक वैदिक मान्यतानुसार 1.96 अरब वर्षों में कोई वेदों से इतर नया मत अस्तित्व में नहीं आया था। भारत का बौद्ध, जैन व पौराणिक मत हो या विदेश के अन्य सभी मत, यह सभी अज्ञान व अन्धकार के उस काल मध्यकाल में आये जब वेदों का ज्ञान अस्त व विलुप्त हो गया था। महर्षि दयानन्द ने अपने अपूर्व पुरुषार्थ से वेदों के सत्य ज्ञान की खोज की और उसे देश-देशान्तर के लोगों के लिए उपलब्ध करा दिया। व्यवहारिक रूप से वर्तमान में वेद ही संसार के सभी मनुष्यों का सार्वभौमिक एक मात्र धर्म है। वेद में अज्ञानमूलक भ्रान्तिपूर्ण कोई बात नहीं है। किसी कुरीति व असमानता का प्रचलन वेद से नहीं हुआ और न ही वेद में ऐसी कोई बात है। देश-विदेश के सभी अन्धविश्वास व कुरीतियां मनुष्यों के वेद ज्ञान से दूर होने व उनके अपने अज्ञान के कारण उत्पन्न हुईं हैं। मनुष्य के जीवन का उद्देश्य सत्य को जानकर उसका ग्रहण कर व आचरण में लाकर ईश्वरोपासना, यज्ञ, परोपकार, परसेवा, भलाई के काम करके मृत्यु पर विजय प्राप्त करना वा जन्म मरण से छूटकर मोक्ष के आनन्द की प्राप्ति करना है। यह केवल वैदिक धर्म की शरण में आने व उसके अनुरुप आचरण व व्यवहार करने से ही सम्भव हो सकता है। संसार के सभी लोग, मुख्यतः सभी धर्माचार्य, निष्पक्ष भाव से वेदों का अध्ययन कर अपने जीवन को सत्य मार्ग पर चलाने के साथ अपने अनुयायियों को प्रेरणा कर सभी धर्म-अर्थ-काम व मोक्ष की प्राप्ति करें, यही धर्म का प्रयोजन है। यह स्पष्ट है कि वेद सार्वभौमिक मानव धर्म के ग्रन्थ है। आईये, वेदों की शरण में चले और कृतकार्य हों।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

स्वर्ग व मोक्ष का यथार्थ स्वरूप

FEBRUARY 15, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

‘स्वर्ग व मोक्ष का यथार्थ स्वरूप’

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

प्रायः सभी मतों के अनुयायी व विद्वान किसी न किसी रूप में स्वर्ग की चर्चा करते हैं और मानते हैं कि इस पृथिवी से अन्यत्र किसी स्थान विशेष पर ‘स्वर्ग’ है जहां ईश्वर की कृपा से मनुष्य जीवन में अच्छे व श्रेष्ठ काम करने वाले मनुष्य जाकर सुखपूर्वक निवास करते हैं। इस मान्यता में कितनी सच्चाई है, इसकी खोज शायद ही कोई करता हो। स्वर्ग के प्रति यह मान्यता भिन्न-भिन्न मतों के आचार्यों, विद्वानों व उनके अनुयायियों ने अपने-अपने धर्म को महिमा-मण्डित करने व अपनी भ्रान्तियों के कारण की है। भ्रान्तियां न हो, इसके लिए यथार्थ ज्ञान की आवश्यकता होती है। यथार्थ ज्ञान का साधन ईश्वरीय ज्ञान वेद है। वेदों के आधार पर स्वर्ग का जो सत्य स्वरुप सामने आता है वह यह है कि ‘‘स्वर्ग नाम सुख विशेष भोग और उस की सामग्री की प्राप्ति का है।” स्वर्ग की यह परिभाषा वेदों के मर्मज्ञ विद्वान महर्षि दयानन्द प्रदत्त है। स्वर्ग की इस परिभाषा पर विचार करने पर स्वर्ग का यथार्थ स्वरुप ज्ञात होता है। स्वर्ग मनुष्य वा उसकी जीवात्मा द्वारा सुख विशेष का भोग और सुख विशेष की सामग्री को कहते हैं। सुखों का भोग हम अपनी पांच ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा करते हैं। हमारी यह इन्द्रियां सुखों का भोग कराने में उपकरण हैं जबकि सुखों का भोग जीवात्मा करता है। आंखों से हम दृश्यों को देखते हैं, कानों से शब्दों को सुनते हैं, नाक से गन्ध संघूते है, जिह्वा से रस का ज्ञान प्राप्त करने के साथ उसका भोग करते हैं एवं त्वचा से स्पर्श को करके सुख व दुःख का अनुभव करते हैं। इन पांच प्रकार के भोगों में जो सुख व प्रसन्नता देने वाले भोग होते हैं वह सब स्वर्ग की सामग्री कहलाते हैं। जिन भोगों को भोगने से मनुष्यों को सुख के स्थान पर दुःख होता है, उसे स्वर्ग न कहकर नरक की संज्ञा दी जाती है। अतः मनुष्य जीवन में जिसकी सभी इन्द्रियां बलवान हैं और जिसके पास सभी इन्द्रियों को सुख प्रदान करने की प्रचुर सामग्री है, वही व्यक्ति सुखी व स्वर्ग में है, कहा जाता है। इससे ज्ञात हुआ कि स्वर्ग मनुष्य जीवन में सुख की स्थिति को कहा जाता है।

संसार या ब्रह्माण्ड में सुखी मनुष्य, स्वर्ग में है, माना जा सकता है। इस व ब्रह्माण्ड की अन्य ऐसी पृथिवी से भिन्न कहीं कोई ऐसा स्थान नहीं है जिसे स्वर्ग की संज्ञा दी जा सके। स्वर्ग की यह स्थिति मनुष्य को कुछ तो अपने प्रारब्ध से प्राप्त होती है और कुछ उसे इस जीवन में ज्ञानपूर्वक वेद विहित शुभ कर्मों को करके प्राप्त होती है। इसके दो भाग किये जा सकते हैं। पहला भाग तो यह कि सुखों का भोग करने के लिए हमें अपनी इन्द्रियों व शरीर को स्वस्थ, निरोग व बलवान बनाना है। यदि हमारा शरीर निरोग, स्वस्थ व बलवान नहीं होगा तो फिर सुख की असीमित सामग्री भी हमारे लिए स्वर्ग नहीं हो सकती। एक मधुमेह के रोगी के लिए रसगुल्ला, चावल, आलू के व्यंजन, नाना प्रकार के मीठे फल, हलुआ व खीर स्वाद में सुख अवश्य पहुंचा सकते हैं परन्तु परिणाम में यह दुःख व नरक का कारण बनते है। इसी प्रकार से अन्य रोगों की भी स्थिति है। अतः स्वर्ग वा सुख भोगने के लिए शरीर का स्वस्थ, निरोग व बलवान होना आवश्यक है। इसके लिए मनुष्य को कुछ नियमों का पालन करना होता है। रात्रि 10 बजे सोना व प्रातः 4 बजे जागना आवश्यक है। जागने के बाद भी शौच से निवृत्त होकर संक्षिप्त ईश्वरोपासना कर शुद्ध वायु में भ्रमण, पश्चात व्यायायम, प्राणायाम करना व इसके बाद स्नान कर सन्ध्या व अग्निहोत्र करना सुख का भोग करने के लिए आवश्यक है। इन्हीं

कर्मों का परिणाम वस्तुतः सुख होता है। इसके पश्चात उचित मात्रा में प्रातराश लेकर ज्ञानार्जन व व्यवसायिक कार्यों को पूर्ण मनोयोग से करना भी सुखी मनुष्य की दिनचर्या का भाग है। यथासमय उचित मात्रा में शुद्ध शाकाहारी पौष्टिक भोजन करना जिसमें रोटी, दाल, सब्जी, चावल, दही आदि पदार्थ लिये जा सकते हैं। कुछ घंटे बाद फलाहार करना भी स्वास्थ्य के लिए हितकर रहता है। सायंकाल सूर्यास्त से पूर्व अग्निहोत्र व सन्ध्या कर भोजन करना वैदिक धर्म में विहित है। पारिवारिक जनों से वार्तालाप व गृह कार्यों के लिए भी समय देकर रात्रि को समय पर विश्राम व शयन करना उचित व आवश्यक है। इससे शरीर स्वस्थ बनेगा और इन्द्रियों की कार्य क्षमता में वृद्धि होने से मनुष्य सुखों का भोग करने में समर्थ हो सकता है। यही सुख की स्थिति है। अनाप-शनाप व सामिष भोजन, मादक द्रव्यों का सेवन व इन्द्रिय सुख के असंयमित कार्यों को करके सुख की अनुभूति करना स्वर्ग का भोग नहीं है। इसका परिणाम तो शीघ्र ही दुःख के रूप में उत्पन्न होता है। इसको जानकर स्वास्थ्यवर्धक पदार्थों का उचित मात्रा में उचित समय पर भोजन के रूप में ग्रहण करना व पूर्ण संयमित जीवन सहित शरीर को स्वस्थ रखने के सभी उपाय करना ही स्वर्ग व उसके भोग में सम्मिलित हैं। ऐसा करके अनुमान कर सकते हैं कि मनुष्य का वर्तमान जीवन सुखी होगा और इसके परिणामस्वरूप कोई दुःख नहीं भोगना होगा। ऐसा मनुष्य ही अपने आप को स्वर्ग के सुखों से युक्त अनुभव कर सकता है। यही स्थिति स्वर्ग की स्थिति है।

वैदिक संस्कृति वा जीवन पद्धति धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की अनुगामिनी है। यह जीवन पद्धति मनुष्य जीवन में अभ्युदय व मृत्यु होने पर मोक्ष को प्राप्त कराने वाली है। यह मोक्ष भी एक प्रकार से स्वर्ग की उच्चतम परिणति ही है जहां मनुष्य का जीवात्मा दुःखों से सर्वथा मुक्त होता है। मोक्ष में जीवात्मा जन्म व मरण से 1 परान्तकाल की अवधि तक के लिए छूट जाता है। इस परान्तकाल की अवधि 31 नील 10 खरब 40 अरब वर्षों की होती है। मोक्ष की अवधि में जीवात्मा का अस्तित्व बना रहता है और यह शरीररहित अपने यथार्थ अस्तित्व से ही ईश्वर के सान्निध्य में रहकर मोक्ष का सुख भोगता है। मोक्ष के यथार्थ स्वरूप का वर्णन महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ में किया है। दर्शन में भी इसका विवेचन हुआ है। इसको जानने के लिए यह समझना है कि मनुष्य का जन्म उसके पूर्वजन्मों के कर्मों के आधार पर मिलता है। जन्म लेकर मनुष्य व प्राणी अपने पूर्व जन्मों के शुभ व अशुभ वा पाप व पुण्यरूपी कर्मों के सुख व दुःख रूपी फलों को भोगते हैं। शुभ कर्मों का फल सुख व अशुभ का दुःख होता है। यदि मनुष्य कोई अशुभ कर्म न करें तो उसे दुःख मिलने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार से यदि वह शुभ कर्मों को ही करे और उसमें आसक्त न हो अर्थात् उनके फल की इच्छा न करे, अपने सभी शुभ कर्मों के फलों को ईश्वर को समर्पित कर दे, उसी प्रकार जिस प्रकार हम सुपात्रों को दान करते हैं और परिणाम में दान लेने वाले से किसी फल की इच्छा नहीं करते, तो इन सब कर्मों के परिणाम से मनुष्य पुर्नजन्म का भागी न होकर मोक्ष का पात्र बन जाता है। मोक्ष का अर्थ छूटना होता है। यह छूटना जन्म वा मरण तथा दुःखों से होता है। मोक्ष के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य व कर्मों का कर्त्ता ईश्वरोपासक हो, यज्ञ व अग्निहोत्र का करने वाला हो, माता-पिता-आचार्यों का सेवक व सत्कार करने वाला, अन्य सभी शुभ कर्मों को भी करनेवाला और इसके साथ ईश्वरोपासना के प्रमुख फल सम्यक ध्यान व समाधि को सिद्ध किये हुए हो। समाधि में ईश्वर का साक्षात्कार व प्रत्यक्ष होता है। इससे मनुष्य को विवेक की प्राप्ति होती है। यह स्थिति अनुमानतः तब आती

है जब मनुष्य के प्रायः सभी अशुभ कर्मों का भोग समाप्त हो गया हो। ईश्वर साक्षात्कार के बाद मृत्यु तक के जीवन को जीवन्मुक्त अवस्था कहा जाता है। मृत्यु होने के समय तक ऐसी जीवात्मा के जिन किन्हीं शुभ व अशुभ कर्म का भोग शेष रह जाता है उनके परिणामस्वरूप एक परान्तकाल की अवधि बीत जाने पर नये सर्गारम्भ वा सृष्टि की उत्पत्ति में मुक्त जीवात्मा का मनुष्य जन्म होता है। यह मोक्ष की अवस्था स्वर्ग नहीं अपितु स्वर्ग से भी ऊंची व सर्वोच्च उन्नत जीवन की अवस्था है। यह मोक्ष केवल ईश्वरभक्तों, ऋषियों वा योगियों, वेदभक्तों वा वेदाचार्यों तथा सद्कर्मों को करने वाले मनुष्यों को ही प्राप्त होता है। वेदेतर संसार की ऐसी कोई भी जीवन प्रणाली नहीं जिसमें मोक्ष प्राप्ति की संभावना हो। अतः जीवनोन्नति, स्वर्ग वा मोक्ष की प्राप्ति के लिए मनुष्य का वेद व वैदिक धर्म की शरण में आना परमावश्यक है। अनेक तर्कों से मोक्ष के स्वरूप व मोक्ष में जीवात्मा के सुख व आनन्द के भोग की अवस्था को सिद्ध किया जाता सकता है। विस्तार भय से इसे इस लेख में सम्मिलित नहीं कर पा रहे हैं। इतना कहना ही समीचीन है कि आनन्द से परिपूर्ण ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त मुक्त जीवात्मा सुखी व आनन्दित होगा, दुःखी किंचित नहीं हो सकता। यदि मनुष्य जीवन व जीवात्मा की परमगति है।

स्वर्ग व मोक्ष के बारे में समाज में मिथ्या धारणायें प्रचलित हैं। इसका निराकरण करने के लिए हमने इस संक्षिप्त लेख में प्रकाश डालने का प्रयास किया है। आशा करते हैं कि पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून**-248001**

फोनः**09412985121**

ईश्वर का साक्षात्कार समाधि अवस्था में ही सम्भव

FEBRUARY 14, 2016 1 COMMENT

ओ३म्

‘ईश्वर का साक्षात्कार समाधि अवस्था में ही सम्भव’

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

संसार के अधिकांश मत-सम्प्रदाय और लोग ईश्वर के अस्तित्व को मानते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं कि इस संसार को उसी ने बनाया है। यह बात अलग है कि सृष्टि रचना के बारे में वेद मत के आचार्यों व अनुयायियों के अतिरिक्त अन्य मत के आचार्यों व अनुयायियों को वैसा यथार्थ ज्ञान नहीं था व है जैसा कि तर्क व युक्ति संगत यथार्थ मत वेदों व वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि ईश्वर है तो वह अन्य पदार्थों की भांति

हमें आंखों से दिखाई क्यों नहीं देता? इसके अनेक कारण हैं। यह प्रश्न वैदिक मत के अनुयायियों से उत्तर व समाधान की अधिक अपेक्षा रखता है। जो मत व सम्प्रदाय ईश्वर को एकदेशी अर्थात् एक स्थान पर रहने वाला मानते हैं, वह कह सकते हैं कि ईश्वर यहां पृथिवी पर है ही नहीं तो उसके दिखने का प्रश्न ही नहीं होता। वैदिक धर्म ईश्वर को सर्वव्यापक मानता है। अतः ईश्वर हमारे अन्दर व बाहर दोनों स्थानों पर हमारे समीपस्थ है। अब यदि ईश्वर हमारे समीपस्थ है तो वह हमें अवश्य दिखना चाहिये। ईश्वर वैदिक धर्मियों व अन्यों को दिखाई नहीं देता तो इसका एक कारण तो उसका सर्वव्यापक न होना वा एकदेशी होना ही ठीक प्रतीत होता है। यह बात कहने व सुनने में उचित लगती है परन्तु यह सत्य नहीं है। ईश्वर वस्तुतः सर्वव्यापक है जो कि हमारे सम्मुख, पीछे, दायें, बायें, ऊपर व नीचे आदि सभी दशों दिशाओं में होने पर भी इस कारण दिखाई नहीं देता कि वह सर्वातिसूक्ष्म है। हम वायु के कणों वा परमाणुओं को क्यों नहीं देख पाते? इसका कारण होता है कि वह परमाणु इतने सूक्ष्म हैं कि वह आंखों से दिखाई नहीं देते। सभी मनुष्यों के शरीर में एक चेतन जीवात्मा होता है जो हमें अपनी आंखों से दूसरों के शरीर से पृथक दिखाई नहीं देता परन्तु शरीर में प्राणों व अन्य क्रियाओं से ही उसका साक्षात् व प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ईश्वर जीवात्मा व वायु के परमाणु से भी कहीं अधिक सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं देता। यह तर्क व युक्तिसंगत स्वीकार करने योग्य प्रमाण है। इसका दूसरा कारण है कि अति दूर व अति समीपस्थ वस्तुयें भी दिखाई नहीं देती हैं। हम अपने से 1 किमी. दूर की वस्तु भी नहीं देख पाते। इसी प्रकार हम आंखों में पड़े तिनके को भी अपनी ही आंख से नहीं देख पाते जिसका कारण होता कि आंखों का तिनका आंख के अति निकटस्थ है। ईश्वर दूरतम भी है और समीपतम भी है। इस कारण भी वह दिखाई नहीं देता। अन्य कारणों में से एक प्रमुख कारण ईश्वर का अभौतिक होना भी है। हम आंखों से केवल भौतिक पदार्थ जो एक सीमा से आकार में अधिक बड़े होते है, उन्हें ही देख पाते हैं। उससे छोटे पदार्थों को देखने के लिए हमें माइक्रोस्कोप की सहायता की आवश्यकता होती है। ईश्वर इन सूक्ष्मतम भौतिक पदार्थों से भी अत्यन्त सूक्ष्म अभौतिक पदार्थ होने के कारण आंखों से दिखाई नहीं देता। अतः ईश्वर का आंखों से दिखाई न देना आंखों की सीमित दृष्य शक्ति के कारण है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ईश्वर नहीं है।

हम पुस्तकें पढ़ते हैं तो बहुत सी बातों का ज्ञान हमें हो जाता है जिन्हें हम पहले से जानते नहीं हैं। हमने सन्ध्या व हवन के मन्त्र व उसकी विधि को पुस्तक पढ़कर ही जाना व समझा है। उपदेशों को सुनकर भी हमें नाना विषयों का ज्ञान होता है। ईश्वर विषयक ज्ञान भी हमें वेद व वैदिक साहित्य का अध्ययन करने वा वेदानुकूल अन्य पुस्तकें मुख्यतः सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, आर्याभिविनय तथा महर्षि दयानन्द का वेदभाष्य पढ़कर हो जाता है। वैदिक विद्वानों के उपदेश भी ईश्वर का ज्ञान कराने में सहायक होते हैं। ग्रन्थों को पढ़कर व उपदेशों की बातों पर विचार व चिन्तन कर हम ईश्वर के सत्य स्वरुप से परिचित होते हैं व हुए हैं। हमें यह ज्ञान व अनुभव हुआ है कि ईश्वर सर्वव्यापक व सर्वान्तर्यामी है। इस कारण वह हमारी आत्मा में निहित व विद्यमान है। यदि हम उसका ध्यान व चिन्तन करते हैं वा उसकी स्तुति, प्रार्थना व उपासना करते हैं अथवा यज्ञ अग्निहोत्र व अन्य शुभ-अशुभ कर्मों को करते हैं, तो संसार में होने वाले प्रत्येक कार्य का साक्षी ईश्वर हमारी उस क्रिया को अपनी सर्वव्यापकता व सर्वान्तर्यामित्व के गुण से जान लेता है, यह ज्ञान, प्रतीती व अनुभूति हमें ईश्वर के विषय में होती है। यह जानकर, अपने आप से तर्क-वितर्क करने व इस ज्ञान को स्थिर व दृण कर लेने

पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ईश्वर निराकार है अतः उसकी पूजा, उपासना एवं सत्कार आदि कार्य केवल उस ईश्वर का अपनी जीवात्मा में ध्यान, चिन्तन, स्तुति, प्रार्थना व उपासना आदि के द्वारा ही हो सकता है। अन्य कार्य यथा मूर्तिपूजा, कुछ ग्रन्थों का पाठ व नाना प्रकार के आसन आदि क्रियायें करके हम उसे प्राप्त व प्रसन्न नहीं कर सकते। ईश्वर के गुणों व स्वरूप का ध्यान तथा प्रार्थना आदि करने से हमारे अन्तःकरण के दोष व मल दूर होने आरम्भ हो जाते हैं। यह कार्य मुख्यतः 'ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रन्तन्न आसुव।।' द्वारा भली प्रकार किया जा सकता है जिसमें ईश्वर से जीवात्मा के सभी दुर्गुण, दुर्व्यसन व दुःखों को दूर करने तथा जीवात्मा के लिए जो कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव व पदार्थ हैं, वह प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है। जैसे-जैसे व जितने समय तक हम ईश्वर की उपासना आदि कार्यों को करते हैं, उसे विधिपूर्वक करने से उसके प्रभाव से हमारा अन्तःकरण शुद्ध, पवित्र व निर्मल हो जाता है और उसमें ईश्वर का ज्ञान व प्रकाश का आभास होने लगता है। वेदों व ऋषियों के वचनों के सत्य होने के कारण ईश्वरोपासना के हमारे साधनों व उपायों में दृणता व स्थिरता उत्पन्न होती है व उसके सत्य होने से निभ्रान्त अनुभव होता है। यह उपासना वा योगाभ्यास नियत समय पर करते रहने से समाधि की अवस्था उत्पन्न होकर ईश्वर साक्षात्कार व ईश्वर का प्रत्यक्ष किया जा सकता है। इसके लिये योगदर्शन के अध्ययन के साथ निष्कपट व निर्लोभी अनुभवी योग गुरू की शरण ली जा सकती है। सच्चा व सिद्ध योगी ही गुरु हो सकता है। ऐसा व्यक्ति मिलना कठिन अवश्य है।

ईश्वर साक्षात्कार को विस्तार से जानने व समझने के लिए महर्षि पतंजलि रचित योगदर्शन का अध्ययन आवश्यक है। इसके लिए महात्मा नारायण स्वामी व दर्शनाचार्य पं. उदयवीर शास्त्री जी के योगदर्शन पर हिन्दी में भाष्य उपलब्ध हैं, उन्हें देखा जा सकता है। इसके साथ ही आर्यजगत के विख्यात संन्यासी व दर्शनों के विद्वान स्वामी सत्यपति जी के प्रवचनों पर तीन खण्डों में आचार्य श्री सुमेरू प्रसाद, सम्प्रति स्वामी ब्रह्मविदानन्द, द्वारा सम्पादित 'वृहती ब्रह्म मेधा' ग्रन्थ भी उपयोगी है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ईश्वर का साक्षात्कार किये हुए सिद्ध योगी थे। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना प्रकरण में उन्होंने ईश्वर साक्षात्कार का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'जिस समय इन (योग, ध्यान व उपासना के) सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उस (ईश्वर) में प्रवेश किया चाहें, उस समय इस रीति से करें कि कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर से ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने (ध्यान, चिन्तन, धारणा, स्तुति, प्रार्थना आदि करने) से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है।' यहां आनन्दस्वरूप परमेश्वर मिल जाता है से महर्षि दयानन्द का अभिप्राय समाधि अवस्था में योगी व उपासक को ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है, से ही है।

आजकल ईश्वर वा सृष्टिकर्त्ता को प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न मतों में जो कर्मकाण्ड व उपासना पद्धतियां हैं, वह योगदर्शन की वैदिक उपासना पद्धति के अनुरूप न होने के कारण उनसे ईश्वर की प्राप्ति व साक्षात्कार होने की संभावना नहीं है। यम व नियमों में अहिंसा,

सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान ये युक्त जिस आचरण की अपेक्षा योगी से की गई है, वह भी अन्य मत-मतान्तरों के अनुयायी व आचार्य पूरी नहीं करते। अतः वह ईश्वर साक्षात्कार व ईश्वर का प्रत्यक्ष होने का अनुभव प्राप्त नहीं कर सकते। यदि किसी को ईश्वर का साक्षात्कार करना है और इससे जीवन का लक्ष्य 'ईश्वर साक्षात्कार सहित मोक्ष' प्राप्त करना है तो वेद व वैदिक साहित्य के ज्ञान सहित योग व वैदिक उपासना पद्धति को अपनाना ही होगा। वैदिक उपासना पद्धति ही ईश्वर साक्षात्कार की एकमात्र वह प्रद्धति है जो ईश्वर का साक्षात्कार कराने के साथ मनुष्य जीवन के लक्ष्य ''मोक्ष" को प्राप्त कराती है। इन्हीं शब्दों के साथ इस लेख को विराम देते हैं।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

पृथिवी पर श्रेष्ठ धर्म वैदिक धर्म और श्रेष्ठ संगठन आर्यसमाज

FEBRUARY 14, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

'पृथिवी पर श्रेष्ठ धर्म वैदिक धर्म और श्रेष्ठ संगठन आर्यसमाज'

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति का अस्तित्व सत्य है। किसी भी विषय में सत्य केवल एक ही होता है। जिस प्रकार दो व दो को जोड़ने से चार होता है, कुछ कम व अधिक नहीं हो सकता इसी प्रकार ईश्वर, जीव, प्रकृति, सृष्टि, धर्म, समाज, मानवीय आचार व विचार आदि सिद्धान्त व मान्यतायें भी भिन्न-भिन्न न होकर सर्वत्र एक समान ही होनी चाहिये। यदि यह पूछा जाये कि वेद पर आधारित वैदिक धर्म और आर्यसमाज संगठन की प्रमुख विशेषता क्या है तो इसका एक वाक्य में उत्तर है कि यह धर्म व संगठन सत्य पर आधारित है। दूसरा उत्तर यह है कि वैदिक धर्म व आर्य समाज का संगठन प्राणीमात्र के हित व कल्याण के लिए हैं। यह कभी किसी के अकल्याण की बात न सोचता है और न ही करता है। एक अन्य उत्तर यह भी हो सकता है कि यह दोनों ज्ञान पर आधारित है तथा अन्धविश्वास, पाखण्ड, कुरीति, रूढि, मिथ्या परम्परा आदि से पूर्णतः रहित हैं। आर्यसमाज की मान्यता है कि वेद मन्त्रों के अर्थ वही स्वीकार्य होंगे जो सत्य हों व मानव सहित प्राणीमात्र के हित के लिए हों। यदि कहीं कोई भ्रान्ति हो तो उसे इस कसौटी पर कस कर संशोधित कर लेना चाहिये। अन्य मतों, सम्प्रदायों वा धर्मों में सत्य, तर्क व युक्ति को वैदिक धर्म की भांति महत्व नहीं दिया जाता। तर्क व युक्ति से सिद्ध बातें ही सत्य हुआ करती हैं। इसी से ज्ञान की

उन्नति व अज्ञान की निवृत्ति होती है और यही मनुष्य के सुख व उन्नति का मुख्य कारण व आधार है।

वैदिक धर्म का आरम्भ कब, किसने व क्यों किया? इस प्रश्न पर विचार करना भी समीचीन है। इसका उत्तर है वैदिक धर्म का आरम्भ चार वेदों ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के ज्ञान से सृष्टि के आरम्भ में हमारे पहली पीढ़ी के ऋषियों ने किया। यह सभी ऋषि ईश्वर, जीवात्मा व प्रकृति का साक्षात व यथार्थ ज्ञान रखने के साथ-साथ वेदों के पूर्ण वेत्ता व विद्वान थे। वेदों में जो मन्त्र व उनमें अलौकिक ज्ञान है वह किसी मनुष्य व ऋषि द्वारा रचित, निर्मित व उत्पन्न नहीं है अपितु यह वेद, इसके मन्त्र व ज्ञान इस सृष्टि के रचयिता व संचालक ईश्वर का निज ज्ञान है जो वह सृष्टि के आरम्भ में अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न आदि मनुष्यों, स्त्री व पुरूषों को, उनके कल्याणार्थ देता है। चार वेदों का यह ज्ञान सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान व सर्वज्ञ ईश्वर ने सृष्टि के आदि में चार ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा की आत्माओं में प्रेरणा द्वारा स्थापित किया था। ईश्वर ने ही जीवात्मा को मनुष्य शरीर दिये, इन शरीरों में व्यवहार के लिए पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां व बुद्धि आदि प्रदान करने सहित सृष्टि के आरम्भ में वेदमन्त्रों का उच्चारण, परस्पर संवाद एवं व्यवहार करना भी सिखाया है। तर्क व विवेचन से यह सिद्ध है कि यदि ईश्वर इस सृष्टि के आदि मनुष्यों को वेदों का ज्ञान न देता, जिससे कि वह परस्पर संवाद आदि कर सके और सत्य व असत्य में भेद कर सकें, तो उनका जीवन व्यतीत करना संभव नहीं था। मान लीजिए हमें बोलना नहीं आता और हमारे आसपास के अन्य मनुष्यों को भी नहीं आता। हममें ज्ञान भी नहीं है। ऐसी स्थिति में हम क्या कोई व्यवहार कर सकते हैं? इसका उत्तर है कि हम परस्पर किसी प्रकार का कोई व्यवहार नहीं कर सकते। व्यवहार के लिए किसी न किसी भाषा सहित उठने, बैठने, चलने, फिरने, सोचने, समझने, खाद्य-अखाद्य पदार्थों का ज्ञान, भोजन की विधि, मल-मूत्र विसर्जन आदि सभी आवश्यक क्रियाओं का ज्ञान आवश्यक है। अतः सृष्टि की रचना के बाद अमैथुनी सृष्टि में मनुष्यों की उत्पत्ति के साथ ही उनको ईश्वर से ज्ञान मिलना तर्क संगत है। यही ज्ञान उसे परमात्मा से मिलता है और इसी का नाम वेद है।

परमात्मा प्रदत्त इसी ज्ञान से प्रथम चार ऋषियों से अध्ययन, अध्यापन, शिक्षा, प्रचार, प्रवचन व उपदेश की परम्परा आरम्भ हुई और सभी लोग ज्ञान सम्पन्न हुए। यह वेद ज्ञान आज भी अपने मूल स्वरूप में सुरक्षित है। महाभारत के बाद यह ज्ञान लुप्त हो गया था जिसके कारण देश व विश्व में अज्ञान का घोर अन्धकार फैला और अज्ञान पर आधारित अनेक मत व मतान्तर उत्पन्न हुए। महर्षि दयानन्द, जो कि वेदों के उच्च कोटि के मर्मज्ञ विद्वान थे, उन्होंने चारों वेदों की परीक्षा कर घोषणा की कि वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक हैं। वेद का पढ़ना व पढ़ाना तथा सुनना व सुनाना सभी मनुष्यों वा आर्यों का परम धर्म है। अपनी इस घोषणा को उन्होंने सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि अनेक ग्रन्थों को लिखकर पुष्ट किया। उन्होंने वेदों के सभी मन्त्रों का भाष्य करना आरम्भ किया था। ऋग्वेद आंशिक व यजुर्वेद का सम्पूर्ण भाष्य उन्होंने किया है। आकस्मिक मृत्यु के कारण वह वेदों के भाष्य को पूर्ण नहीं कर सके। उन्होंने जितने ग्रन्थ लिखे और उनकी जो शिक्षायें, उपदेश, पत्र, पुस्तकें, शास्त्रार्थों के विवरण आदि उपलब्ध हैं, उनसे वैदिक धर्म का विस्तृत सत्य स्वरूप प्रकट होता

है। इस पर विचार करने पर यह पूर्व व पश्चात प्रचलित सभी धर्मों में श्रेष्ठ सिद्ध होता है। अपने ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने प्रमुख सभी मतों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है जो वेद को विश्व के सभी मनुष्यों के धर्म की उनकी मान्यता को पुष्ट करता है।

वेद धर्म की पहली विशेषता तो यह है कि वेद की सभी मान्यताओं तर्क व युक्ति की कसौटी पर सत्य सिद्ध होती हैं। वेद, तर्क व युक्तियों से डरता नहीं अपितु उनका स्वागत करता है। वेदों की सभी मान्यतायें ज्ञान व विज्ञान की कसौटी पर भी सत्य सिद्ध हैं। ईश्वर, जीव व प्रकृति का जो स्वरूप वेदों में उपलब्घ होता है वह अपूर्व व आज भी सर्वोत्तम हैं एवं विवेक पर आधारित है। अन्य मतों में यह बात नहीं है। वेदाधारित ईश्वरोपासना वा पंचमहायज्ञ विधि में भी मुनष्यों के सर्वोत्तम कर्तव्यों का विधान किया गया है जिससे मनुष्य की व्यक्तिगत व सामाजिक उन्नति होने के साथ सभी प्राणियों का कल्याण होता है। कर्म-फल सिद्धान्त भी वेद प्रदत्त ज्ञान के अन्र्तगत ही सत्य सिद्धान्त है जिसके अनुसार मनुष्य जो शुभ व अशुभ कर्म करता है उसका फल उसे जन्म व जन्मान्तरों में अवश्य ही भोगना होता है। अशुभ कर्मों का त्याग व शुभ कर्मों को करके तथा साथ हि वेदविहित ईश्वरोपासना, यज्ञादि कार्य, मातृ-पितृ-आचार्यों की सेवा, परोपकार व विद्यायुक्त कर्मों को करने से ही मनुष्य धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष को प्राप्त होता है। यह वैदिक धर्म की विशेषता व युक्तिसंगत सिद्धान्त है।

आर्यसमाज वेदों के सत्य ज्ञान को संसार में फैलाने के लिए स्थापित किया गया एक संगठन है जिसकी स्थापना महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 10 अप्रैल सन् 1875 को मुम्बई में की थी। इस संगठन की स्थापना का मुख्य उद्देश्य महर्षि दयानन्द के समय में वैदिक धर्म का संगठित रूप से प्रचार करना था और उनके बाद भी ‘कृण्वन्तो विश्वमार्यम्’ (संसार को श्रेष्ठ बनाओ) के लक्ष्य की प्राप्ति तक संसार में वेदों का प्रचार अबाधित रूप से हो, यह मुख्य प्रयोजन था। महर्षि दयानन्द ने पृथिवी के सभी मनुष्यों के कल्याणार्थ वेदों की सार्वभौमिक व सार्वजनीन मान्यताओं व सिद्धान्तों के प्रचार के लिए अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि, आर्याभिविनय, ऋग्वेद आंशिक व यजुर्वेद सम्पूर्ण वेदभाष्य आदि ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों के अनेक भाषाओं में अनुवाद भी उपलब्ध हैं। ग्रन्थ लेखन के इस स्थाई कार्य के अतिरिक्त महर्षि दयानन्द ने देश के प्रमुख स्थानों पर जाकर वैदिक विचारधारा का प्रचार किया और सभी मतों को अपनी-अपनी धर्म व समाज विषयक मान्यताओं पर शंकाओं का निवारण करने का अवसर दिया। प्रतिपक्षी मतों के आचार्यों को उन्होंने शंका समाधान का अवसर देने के साथ शास्त्रार्थ करने की चुनौती भी दी और अनेक प्रमुख मतों के विद्वानों से शास्त्रार्थ कर वैदिक मत की श्रेष्ठता, ज्येष्ठता, ज्ञानसम्पन्नता व सत्यता को प्रतिपादित व सम्पादित किया। इसके साथ ही महर्षि दयानन्द ने उदयपुर, शाहपुर, जोधपुर आदि अनेक देशी रियासतों के शासकों को भी अपना शिष्य व अनुगामी बनाया और वहां वैदिक मत की स्थापना में आंशिक सफलतायें प्राप्त कीं। अनेक पादरी व मुस्लिम विद्वान भी उनकी मित्र मण्डली में थे जो उनकी सभी मतों के अनुयायियों के प्रति सदाशयता के उदाहरण हैं। स्वामी दयानन्द जी ने अनेक अवसरों पर हिन्दी के प्रचार व प्रसार सहित गोरक्षा आदि आन्दोलनों का सूत्रपात भी किया जबकि ऐसे कार्य व उदाहरण पूर्व इतिहास में कहीं उपलब्ध नहीं होते। इस प्रकार से प्रचार करते हुए उन्होंने वेदों के ज्ञान

को फैलाकर विश्व के मनुष्यों को प्राणी मात्र के लिए कल्याणकारी वैदिक धर्म की स्थापना व विश्व समुदाय में इसकी स्वीकृति में यथाशक्ति योगदान किया।

ईश्वर इस सृष्टि के सभी मनुष्यों व पूर्वजों का आदि गुरू है। इस सृष्टि में अब तक उत्पन्न हुए सभी आचार्य, विद्वान व ऋषि-मुनि ईश्वर के शिष्य सिद्ध होते हैं जिन्होंने अपने-अपने काल में ईश्वर द्वारा आदि ऋषियों को प्रदत्त वेद ज्ञान को ही जाना, समझा व प्रचारित किया। जिस प्रकार सृष्टि की आदि में ईश्वर अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा को चार वेदों का उपदेश देने से उनका गुरू व चारों ऋषि ईश्वर के शिष्य सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार से चार ऋषियों से आरम्भ आचार्य-शिष्य परम्परा के अनुसार उनके बाद के सभी आचार्य उसी ईश्वरीय ज्ञान के प्रचारक व प्रसारक सिद्ध होते हैं। सच्चा आचार्य माता-पिता के समान होता है। इस प्रकार से संसार में जितने भी सच्चे उपदेशक, ज्ञानी व ऋषि आदि हुए हैं वह-वह ज्ञानदाता व ज्ञानप्रसारक होने से अपने शिष्यों के मातृ-पितृ तुल्य ही रहे हैं। उसी परम्परा व ज्ञान प्रवाह का परिणाम ही आज का अन्यान्य विषयक ज्ञान-विज्ञान है। यदि उन्होंने वैदिक ज्ञान को सुरक्षित रखते हुए उपदेश आदि से उसका देश-देशान्तर में प्रचार न किया होता तो आज का मानव ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न न हो पाता। संसार के सभी मनुष्यों का कर्तव्य है कि वह ज्ञान विज्ञान का क्षेत्र हो या मत-मतान्तरों का, उनकी सभी मान्यताओं वा सिद्धान्तों की परीक्षा कर उनमें विद्यमान सत्य को ही अपनायें और मिथ्या का त्याग करें। मत-मतान्तरों में निहित अज्ञान व भ्रम की बातें कि जिससे मनुष्यों में समरसता में बाधा पहुंचती है, उनका त्याग करें। सत्य का ग्रहण व असत्य का त्याग ही वैदिक धर्म व आर्यसमाज का मुख्य प्रयोजन है। आर्यसमाज सत्य का पोषक व प्रचारक है और विश्व के सभी मनुष्यों में वेदों के सत्य ज्ञान का प्रचार कर उनका कल्याण करना चाहता है। वैदिक ज्ञान ही एकमात्र मनुष्य के अभ्युदय व निःश्रेयस क कारण है, यह निर्विवाद सत्य है। आर्यसमाज के संगठन में कुछ दुर्बलतायें हो सकती हैं परन्तु विश्व के कल्याण की दृष्टि से आर्यसमाज की अवधारणा व उसका प्रभावशाली सशक्त रूप ही मानवता के हित में है। वेद और आर्यसमाज विश्व में मानवता को विद्यमान रखने की गारण्टी है। इसके साथ विश्व के सभी मनुष्यों को अभ्युदय व निःश्रेयस के मार्ग पर अग्रसर करने का एकमात्र संगठन हैं। इसके महत्व को जानकर सभी मनुष्यों को इसे सहयोग देना चाहिये और अपनी सर्वांगीण उन्नति करनी चाहिये।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

पाप दूर करने का वैदिक साधन अघमर्षण के तीन मन्त्र व उनके अर्थ

FEBRUARY 14, 2016 2 COMMENTS

ओ३म्

'पाप दूर करने का वैदिक साधन अघमर्षण के तीन मन्त्र व उनके अर्थ'

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

मनुष्य जाग्रत अवस्था में कोई न कोई कर्म अवश्य करता है। यह कर्म दो प्रकार के होते हैं जिन्हें शुभ व अशुभ अथवा पुण्य व पाप कह सकते हैं। मनुष्य का जन्म ही पूर्वजन्मों के शुभ व अशुभ कर्मों के फलों के भोग के लिए हुआ है। शुभ व सत् कर्मों का फल सुख व विपरीत कर्मों का फल दुःख होता है। संसार में मनुष्य अन्य प्राणियों से इस अर्थ में भिन्न है कि उसके पास निश्चयात्मक बुद्धि होती है जिससे निर्णय करके वह किसी कर्म को करता है। मनुष्येतर अन्य प्राणियों में बुद्धि होती तो है परन्तु वह अपने स्वभाविक ज्ञान के अनुसार ही कार्य करती है। वह सत्य व असत्य का निर्णय नहीं कर सकती। यदि वह विचार व चिन्तन कर सकते तो सम्भव था कि वह मनुष्य की तुलना में अधिक अच्छे व श्रेष्ठ कर्म करते। वर्तमान में भी गाय, बैल, घोड़ा, भैंस, भेड़, बकरी आदि पशु मनुष्यों से कहीं अधिक मनुष्यों का उपकार करते हुए दिखते हैं। मनुष्य तो इन पशुओं का उपयोग व दुरुपयोग ही करता है। मनुष्य योनी उभय-योनी है। इसमें मनुष्य पूर्व व वर्तमान जन्मों के कर्म भोगने के साथ नये शुभ-अशुभ कर्म भी करता है। अशुभ कर्मों का परिणाम दुःख होता है जिससे मनुष्य बच सकता है यदि दुःखों का कारण अशुभ कर्मो वा पाप को हटा दे अर्थात् अशुभ कर्म न करे। अतः मनुष्य को शुभ व अशुभ कर्मों का ज्ञान होना चाहिये और भविष्य में दुःखों से बचने के लिए उसे केवल शुभ कर्म ही करने चाहिये। बुरे कर्मों को विवेक पूर्वक रोक देना चाहिये। इन पाप कर्मों से बचने के लिए महर्षि दयानन्द ने अपनी 'वैदिक सन्ध्या पद्धति' में 'अघमर्षण मन्त्र' को लिखकर कर व इनकी व्याख्या करके शुभ व अशुभ कर्मों के परिणाम व फलों को जानकर पाप कर्मों के त्याग करने का विधान किया है जिससे हमारा भविष्य सुरक्षित व सुखी हो।

जिन अघमर्षण मन्त्रों की चर्चा हमने की है वह वैदिक सन्ध्या पद्धति का एक भाग है। महर्षि दयानन्द ने ईश्वर के सम्यक् ध्यान के लिए की जाने वाली वैदिक सन्ध्या में गायत्री मन्त्र से शिखा बन्धन, आचमन मन्त्र, इन्द्रियस्पर्शमन्त्र, मार्जनमन्त्र, प्राणायाममन्त्र, अघमर्षणमन्त्र, मनसापरिक्रमामन्त्र, उपस्थानमन्त्र, समर्पणमन्त्र और समाप्ती पर नमस्कारमन्त्र के मन्त्रों का पाठ करने का विधान किया है। महर्षि दयानन्द के यह विधान बहुत ही युक्तिसंगत हैं और साधक व उपासक को सन्ध्या के फल प्राप्त कराने में पूर्णतः समर्थ हैं। सन्ध्या करने का प्रयोजन है कि ईश्वर से हमें मनोवांछित आनन्द अर्थात ऐहिक सुख-समृद्धि, हम पर सर्वदा सुखों की वर्षा और पूर्णानन्द की प्राप्ति वा मोक्ष के आनन्द की प्राप्ति हो। इन लाभों के अतिरिक्त सन्ध्या में शरीर की रक्षा व इसको स्वस्थ रखने आदि की अनेक प्रार्थनायें निहित

हैं। अघमर्षण के सन्ध्या में सम्मिलित तीन मन्त्र हैं-'ओ३म्। ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽअर्णवः।।1।। समुद्रादर्णवादधि संवत्सरोऽअजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।।2।। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।।3।।' अपने जीवन से पापों को दूर करने के लिए इन मन्त्रों का पाठ करने के बाद इनके यथार्थ अर्थों पर विचार करना व उससे मिलने वाली शिक्षा का पालन करना आवश्यक है। पहले मन्त्र का अर्थ है कि सब जगत का धारण और पोषण करनेवाला और सबको वश में करनेवाला परमेश्वर, जैसा कि उसके सर्वज्ञ विज्ञान में जगत् के रचने का ज्ञान था और जिस प्रकार पूर्वकल्प की सृष्टि में जगत् की रचना थी और जैसे जीवों के पुण्य-पाप थे, उनके अनुसार ईश्वर ने मनुष्यादि प्राणियों के देह बनाये हैं। जैसे पूर्व कल्प में सूर्य-चन्द्रलोक रचे थे, वैसे ही इस कल्प में भी रचे हैं जैसा पूर्व सृष्टि में सूर्यादि लोकों का प्रकाश रचा था, वैसा ही इस कल्प में रचा है तथा जैसी भूमि प्रत्यक्ष दीखती है, जैसा पृथिवी और सूर्यलोक के बीच में पोलापन है, जितने आकाश के बीच में लोक हैं, उनको ईश्वर ने रचा है। जैसे अनादिकाल से लोक-लोकान्तर को जगदीश्वर बनाया करता है, वैसे ही अब भी बनाये हैं और आगे भी बनावेगा, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान विपरीत कभी नहीं होता, किन्तु पूर्ण और अनन्त होने से सर्वदा एकरस ही रहता है, उसमें वृद्धि, क्षय और उलटापन कभी नहीं होता। इसी कारण से 'यथापूर्वम–कल्पयत्' इस पद का ग्रहण किया है। इस मन्त्र व मन्त्रार्थ में सृष्टि रचना, उसका प्रयोजन, जीवों के पूर्व कर्मों के अनुसार मनुष्यादि देह बनाने पर प्रकाश डाला है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि इस सृष्टि का स्वामी ईश्वर है और जीवों के कर्मों के फल, दण्ड-दुःख व सुख, देने के लिए उसने मनुष्यादि प्राणियों के देह बनाये है।

अघमर्षण के दूसरे मन्त्र का अर्थ है कि उसी ईश्वर ने सहजस्वभाव से जगत् के रात्रि, दिवस, घटिका, पल और क्षण आदि को जैसे पूर्व थे वैसे ही रचे हैं। इसमें कोई ऐसी शंका करे कि ईश्वर ने किस वस्तु से जगत् को रचा है? उसका उत्तर यह है कि ईश्वर ने अपने अनन्त सामर्थ्य से सब जगत् को रचा है। ईश्वर के प्रकाश से जगत् का कारण प्रकाशित होता और सब जगत के बनाने की सामग्री ईश्वर के अधीन है। उसी अनन्त ज्ञानमय सामर्थ्य से सब विद्या के खजाने वेदशास्त्र को प्रकाशित किया है जैसाकि पूर्व सृष्टि में प्रकाशित था और आगे के कल्पों में भी इसी प्रकार से वेदों का प्रकाश करेगा। जो त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्व, रज और तमोगुण से युक्त है, जो स्थूल और सूक्ष्म जगत् का कारण है, सो भी कार्यरूप होके पूर्वकल्प के समान उत्पन्न हुआ है। उसी ईश्वर के सामर्थ्य से जो प्रलय के पीछे एक हजार चुतुर्युगी के प्रमाण से रात्रि कहाती है, सो भी पूर्व प्रलय के तुल्य ही होती है। इसमें ऋग्वेद का प्रमाण है कि–''जब जब विद्यमान सृष्टि होती है, उसके पूर्व सब आकाश अन्धकाररूप रहता है, उसी का नाम महारात्रि है।" तदनन्तर उसी सामर्थ्य से पृथिवी और मेघ मण्डल=अन्तरिक्ष में जो महासमुद्र है, सो पूर्व सृष्टि के सदृश ही उत्पन्न हुआ है। तीसरे मन्त्र में ईश्वर ने मनुष्यों को शिक्षा देते हुए कहा है कि उसी समुद्र की उत्पत्ति के पश्चात् संवत्सर, अर्थात् क्षण, मुहुर्त, प्रहर आदि काल भी पूर्व सृष्टि के समान उत्पन्न हुआ है। वेद से लेके पृथिवीपर्यन्त जो यह जगत् है, सो सब ईश्वर के नित्य सामथ्र्य से ही प्रकाशित हुआ है और ईश्वर सबको उत्पन्न करके, सबमें व्यापक होके अन्तर्यामिरूप से सबके पाप-पुण्यों को देखता हुआ, पक्षपात छोड़के सत्यन्याय से सबको यथावत् फल दे रहा है।

इन अर्थों को प्रस्तुत कर महर्षि दयानन्द कहते हैं कि कि ऐसा निश्चित जान के ईश्वर से भय करके सब मनुष्यों को उचित है कि मन, वचन और कर्म से पापकर्मों को कभी न करें। इसी का नाम अघमर्षण है अर्थात् ईश्वर सबके अन्तःकरण के कर्मों को देख रहा है, इससे पापकर्मों का आचरण मनुष्य लोग सर्वथा छोड़ देवें। महर्षि दयानन्द के इस सत्परामर्थ और प्रातः व सायं दोनों समय सन्ध्या करते समय अघमर्षण मन्त्रों के अर्थों पर विचार करते हुए मनुष्य जान लेता है कि वह जैसे पाप व पुण्य कर्म करेगा, ईश्वर की व्यवस्था से उसको उन कर्मों का सुख व दुःख रूपी फल वा दण्ड आदि यथायोग्य अवश्य मिलेगा। इससे वह पाप व अशुभ कर्मों को छोड़ देता है। अतः सन्ध्या के यह तीन मन्त्र एवं इनके अर्थ पर विचार करने से मनुष्य पापों को करना छोड़ देता है। इस पर भी यदि कोई पाप करता रहता है तो उसे बुद्धिहीन व मलिन मन व आत्मा वाला मनुष्य ही कह सकते हैं जो अन्धकार में पड़कर दुःख का भागी होता है। यदि मनुष्य व संसार को पापों से बचाना है तो उसे वेदों की शरण में लाकर वेदों का अध्ययन कराकर अटल कर्म-फल सिद्धान्त को जनाकर अशुभ व पाप कर्मों को करने से छुड़ाना ही होगा। पाप कर्मों को छोड़ने व सन्ध्यादि करने से मनुष्य व जीवात्मा को अनेकानेक लाभ होंगे जिसमें इहलौकिक उन्नति सहित परजन्मों में उन्नति होने के साथ मोक्ष की सिद्धि भी हो सकती है। हम आशा करते हैं पाठक पाप त्याग के लिए इन मन्त्रों का प्रातःसायं पाठ करने के साथ इनके अर्थों पर भी गम्भीरता से विचार करेंगे और वैदिक साहित्य का अध्ययन कर अपने-अपने जीवन को वेदानुकूल बनायेंगे।

मनुष्य बुरे कर्मों के कठोर दण्ड के भय से ही बुराईयों व पापों से दूर रहता है। देश व समाज में जो लोग अपराध नहीं करते उनका एक कारण यह है कि वह ईश्वर व सरकारी दण्ड व्यवस्था दोनों से डरते हैं। महर्षि दयानन्द ने सन्ध्या में विधान किये अघमर्षण मन्त्रों में भी ईश्वर की सर्वोपरि सत्ता व उसके दण्ड विधान 'कर्म–फल सिद्धान्त' का उल्लेख किया है जो अनादि काल से चला आ रहा और अनन्त काल यथापूर्व चलता रहेगा। ज्ञानी व सज्जन पुरूष ईश्वर के दण्ड व मोक्ष विधान को जानकर अपने समस्त जीवन में अपराध, पाप व अशुभ कर्मों से बचे रहते हैं व सुख-शान्ति-समृिद्ध का अनुभव व भोग करते हैं। अतः महर्षि दयानन्द द्वारा अघमर्षण मन्त्रों का विधान सर्वथा उपयुक्त व समाज को अपराध मुक्त बनाने की दिशा में एक प्रशंसनीय कार्य है। अन्य मतों में तो संख्या बढ़ाने के लिए पाप क्षमा का विधान किया गया है जो कि सत्य नहीं हो सकता क्योंकि पापों को क्षमा करना एक प्रकार पाप को बढ़ावा देना है जिसे ईश्वर कदापि नहीं करेगा।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

ईश्वर का अवतार होना सत्य वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

FEBRUARY 14, 2016 5 COMMENTS

ओ३म्

'ईश्वर का अवतार होना सत्य वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है।'

–मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

महाभारत काल के बाद भारत में ज्ञान का लोप होने से अन्धकार फैला। ऐसे ही समय में वेद व वैदिक साहित्य से अनेक प्रसंगों में अज्ञान व कल्पनाओं का मिश्रण कर संस्कृत व काव्य रचने में प्रवीण विद्वानों ने पुराणों आदि ग्रन्थों की रचना की। ऐसे ही समय में, देश, काल व परिस्थितियों व बौद्ध-जैन मत के प्रभाव के कारण, ईश्वर के अवतार की भी कल्पना की गई जो आज भी प्रचलित है। अवतार सृष्टि की रचना व पालन करने वाले अजन्मा, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान व सर्वज्ञ ईश्वर के मनुष्य जन्म लेने को कहा जाता है। महाभारत काल के बाद जिन लोगों ने ईश्वर के अवतार लेने की कल्पना की है, वह ईश्वर को पूर्णतया जानते ही नहीं थे और न हि वह पूर्णतः निष्कपट व स्वार्थहीन थे, ऐसा आभास मिलता है। यदि वह वेदों को जानते होते तो उन्हें ईश्वर के सत्यस्वरूप का ज्ञान अवश्य होता और वह अवतारवाद की अज्ञानपूर्ण व मिथ्या कल्पना न करते। अवतार पर चर्चा करने से पूर्व ईश्वर के वैदिक व यथार्थ स्चरूप को जानना आवश्यक है। ईश्वर सत्य, चित्त व आनन्दस्वरूप, अनादि, अजन्मा, शरीर-नस-नाड़ी-बन्धन-से-रहित, नित्य, अनन्त, अमर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय और सृष्टि का रचयिता है। हर कार्य का कारण होता है। ईश्वर का यदि अवतार मानेंगे तो उसका स्वीकार्य कारण भी बताना ही होगा। अवतारवाद मानने वालों के पास ऐसा कोई ठोस कारण नहीं है जिससे ईश्वर के अवतार लेने का प्रयोजन सिद्ध हो सके। अवतारवाद के पोषक कहते हैं कि दुष्टों का दमन व हनन करने के लिए ईश्वर मनुष्य का जन्म लेता है। यह कथन हास्यापद ही लगता है। यह इसलिए कि जो ईश्वर अपनी अनन्त सामर्थ्य से निराकार रूप से इस सृष्टि व जड़-जंगम जगत का निर्माण करता है, क्या वह अपने द्वारा उत्पन्न रावण व कंस जैसे क्षुद्र प्राणियों को अपने अनन्त बल व शक्ति से धराशायी व नष्ट नहीं कर सकता? यदि श्री रामचन्द्र जी का जन्म रावण को मारने के लिए ही हुआ था तो वह युवावस्था में अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न होकर सीधे रावण के पास जाकर उसका वध कर देते और वहां के सभी धार्मिक लोगों को उपदेश देते कि मैंने रावण को इसके दुष्ट स्वभाव के कारण मारा है क्योंकि मैं स्वयं भी सर्वव्यापक रूप से ऐसा नहीं कर सकता था और न हि संसार का कोई मनुष्य ऐसा कर सकता था। ईश्वर या रामचन्द्र जी ने ऐसा नहीं किया और न रामायण के रचयिता वाल्मीकि जी ने ऐसा लिखा है, अतः यह मान्यता वाल्मीकि, ईश्वर व रामचन्द्रजी की नहीं है। देश काल व परिस्थितियों के अनुसार ही यह सब कार्य हुए हैं जैसे कि आजकल विश्व धरातल पर यत्र तत्र हो रहे हैं। श्री रामचन्द्र जी एक राज परिवार में जन्में होने से एक राजा था। वैदिक राजा का दायित्व होता है कि वह वेद धर्म के अनुयायियों, ऋषि, मुनियों व विद्वानों की आतंकियों व दुष्टों से रक्षा करे। श्री रामचन्द्र जी ने वैदिक राजा होने का अपना कर्तव्य निभाया। रावण क्योंकि अपने बुरे कार्यों

को करता रहा, उसने छोड़ा नहीं, अतः परिस्थितियों के अनुसार ही उसका वध हुआ। यह सारा वर्णन वाल्मीकि रामायण में उपलब्ध है। वाल्मीकि जी श्री रामचन्द्र जी को अवतार नहीं मानते थे। यह मान्यता तो विगत दो से ढ़ाई सहस्र वर्ष पूर्व ही प्रचलित हुई है। यही स्थिति महाभारत में श्री कृष्ण जी की है। एक सर्वव्यापक व निराकार सत्ता जो असंख्य जीवों को मनष्यादि जन्म देती है और उनका नियमन करती है, अब भी कर रही है, वह किसी एक जीवात्माधारी मनुष्य को मारने के लिए यदि स्वयं मनुष्य का जन्म लेती है, यह विजय नहीं पराजय है व युक्ति-तर्क से सिद्ध नहीं होती। यदि श्री रामचन्द्र जी को ईश्वर मान भी लें तो सर्वशक्तिमान होने के कारण उन्हें न तो सुग्रीव, न हनुमान, न अंगद न अन्य महावीरों की आवश्यकता पड़ती। भारत व विश्व में केवल रावण और कंस दो ही कू्रर शासक नहीं हुए अपितु इन, इनके जैसे व इनसे भी अधिक क्रूर अमानुष शासक हुए हैं। परन्तु अवतार केवल दो ही महापुरूषों को माना जाता है। इससे भी अवतारवाद का सिद्धान्त अप्रमाणिक सिद्ध होता है। क्या महाभारतकाल के बाद औरंगजेब व उससे पूर्व व पश्चात के मानवीयता के शत्रुओं के हनन के लिए ईश्वर के अवतार की आवश्यकता नहीं थी? यदि थी तो ईश्वर का अवतार क्यों नहीं हुआ? ऐसे अमानुषों को ईश्वर ने अपने सर्वान्तर्यामी स्वरूप से ही उनकी जीवन ज्योति को बुझा दिया, यह सर्वज्ञात व सिद्ध है। अतः अतवारवाद प्रमाणों के अभाव में सत्य सिद्ध नहीं होता।

हमारे देश में और वह भी केवल हिन्दुओं में ही अवातारवाद का सिद्धान्त पाया जाता है जिसका प्राचीन साहित्य वेद व वैदिक साहित्य में कहीं कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। हमें भी अपने पौराणिक परिवारों में बाल्यकाल से ही बताया गया कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी और योगेश्वर श्री कृष्ण जी ईश्वर थे। बचपन में जो बताया जाता है उस पर स्वतः विश्वास हो जाता है। युवावस्था में हम वेद व वैदिक साहित्य के सम्पर्क में आये और हमने महर्षि दयानन्द के विचारों को पढ़ा, समझा व जाना तथा अनेक विद्वानों के उपदेश व ग्रन्थों को पढ़ा तो इस विषयक पूर्व का हमारा विश्वास अन्धविश्वास सिद्ध हुआ। ईश्वर सर्वव्यापक व सर्वदेशी है अतः वह सिकुड़ कर एक अत्यन्त सीमित आकर का एकदेशी पदार्थ नहीं बन सकता। यदि बनेगा तो वह ईश्वर नहीं जीवात्मा ही होगा। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में ईश्वर विषयक प्रश्न करते हुए बताया है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो क्या वह दूसरा ईश्वर बना सकता है? क्या वह स्वयं को नष्ट कर सकता? इसका उत्तर देते हुए महर्षि दयानन्द जी कहते हैं कि सर्वशक्तिमान का अर्थ यह है कि वह अपने सभी कार्य अपने-आप, अकेले, बिना किसी अन्य की सहायता आदि के कर सकता है परन्तु वह सत्य व सत्य नियमों के विरुद्ध न कोई कार्य करता है और न कर सकता है। ईश्वर न तो दूसरा ईश्वर ही बना सकता है और न स्वयं को नष्ट ही कर सकता है। इसी प्रकार से वह सदैव ही अपने सत्यस्वरूप सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, निराकार, सर्वव्यापक, अनादि, अजन्मा, नित्य, अनुत्पन्न, अविनाशी, अमर, अजर आदि स्वरूप में विद्यमान रहता है। अवतार लेना उसके स्वरूप, स्वभाव व सामर्थ्य में नहीं है और न सम्भव है। अतः वह कभी अवतार नहीं लेता। यदि ऐसा होता तो महाभारत काल के बाद उत्पन्न अल्प व स्वार्थ बुद्धि वालों से कहीं अधिक विद्वान, ज्ञानी, ईश्वर के साक्षात्कर्ता ऋषि व योगी महाभारत व उससे पूर्व काल रचित अपने वैदिक साहित्य में अवतारवाद का वर्णन अवश्य करते। लगभग साढ़े दस हजार मन्त्रों वाले चार वेदों में भी इसका कहीं न कहीं उल्लेख अवश्य होता। और नहीं तो ईश्वर साक्षात्कार करने के ज्ञान के

लिए रचे गये योगदर्शन जिसमें ईश्वर प्राप्ति विषयक सभी साधनों का युक्ति व तर्कसंगत सत्यज्ञान प्रस्तुत किया गया है, ईश्वर के अवतार का भी अवश्य उल्लेख किया जाता। क्योंकि यह मिथ्या ज्ञान है, इसी कारण न वेद, न उपनिषद और न दर्शन आदि प्राचीन वैदिक ग्रन्थों और न हि ईश्वर का साक्षात्कार कराने वाले योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि ने इसका उल्लेख किया। वैदिक ज्ञान, युक्ति व तर्क के आधार पर केवल यही कहा जा सकता है कि मर्यादा पुरूषोत्तम श्री रामचन्द्र जी व योगेश्वर श्री कृष्ण जी आदि जो ऐतिहासक युगपुरूष हुए हैं वह ईश्वर के अवतार न होकर अपने समय के महापुरूष, युगपुरूष, महामानव, महात्मा, दिव्य व श्रेष्ठ पुरूष थे। गीता में स्वयं योगेश्वर कृष्ण जी कहते हैं कि 'जातस्य हि धु्रवो मृत्यु धु्रवं जन्म मृत्यस्य च' अर्थात् जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म निश्चित होता है। इस आधार पर जन्म लेना व मृत्यु को प्राप्त होना और फिर जन्म लेना यह कार्य केवल जीवात्मा का होता है परमात्मा का नहीं। श्री कृष्ण जी का माता देवकी व पिता श्री वसुदेव जी से जन्म हुआ, भगवान (ऐश्वर्यवान) श्री रामचन्द्र जी का भी माता कौशल्या और पिता दशरथ से जन्म हुआ था और इनकी मनुष्यों की ही तरह एक सौ व एक सौ पचास वर्ष की आयु में मृत्यु होने से यह सृष्टि को रचने व चलाने वाले परमात्मा न होकर एक श्रेष्ठ व परमश्रेष्ठ जीवात्मा ही सिद्ध होते हैं। ऐसे ही अन्य अवतार माने जाने वाले ऐतिहासक महापुरूषों व देवियों के बारे में कहा जा सकता है।

वैदिक सनातन धर्मी भाग्यशाली हैं कि इन्हें सृष्टि संवत् का ज्ञान है। इस समय यह सृष्टिसंवत एक अरब छियानवे करोड़ आठ लाख त्रेपन हजार एक सौ सोलह वर्ष चल रहा है। लगभग पांच हजार वर्ष पूर्व हुए महाभारत से पूर्व का हमारा इतिहास व इतर वैदिक साहित्य अनेक कारणों से सुरक्षित नहीं रखा जा सका। इस काल में श्री राम व श्री कृष्ण जी के समान सहस्रों महान दिव्य विभूतियों ने जन्म लिया होगा जिनके शुभ कर्मों को जानकर उनकी पूजा व अनुसरण किया जा सकता था परन्तु उन पर रामायण व महाभारत समान ग्रन्थ विलुप्त होने के कारण ऐसा नहीं कर पा रहे हैं। सौभाग्य से हमें श्री राम व श्री कृष्ण जी, महर्षि दयानन्द आदि के सत्य इतिहास वाल्मीकि रामायण, महर्षि वेदव्यास कृत महाभारत व इतर ग्रन्थों से उपलब्ध होते हैं। अपनी विवेक बुद्धि से इन ग्रन्थों में मिथ्या प्रक्षेपों को छोड़कर हम इन महापुरूषों के सत्य इतिहास को जानकर इनके अनुसार आचरण कर व वैदिक ग्रन्थों के प्रमाणों के अनुसार कर्मकाण्ड व योगयुक्त जीवन व्यतीत कर अपने मानव जीवन को सफल सिद्ध कर सकते हैं। ऐसा करके ही हमारा जीवन श्रेष्ठ बनेगा व सफल होगा, देश भी संगठित सशक्त हो सकता है और विश्व का कल्याण भी इससे हो सकता है।

ईश्वर ईश्वर है जिसका कभी जन्म वा अवतार नहीं होता। जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु और पुनर्जन्म अवश्य होता है और वह मनुष्य वा जीवात्मा ही होता है। श्री राम व श्री कृष्ण सहित महर्षि दयानन्द हमारे आदर्श महापुरूष हैं। वैदिक शिक्षाओं सहित इन महापुरूषों के जीवनों की सत्य शिक्षाओं का आचरण व अनुकरण कर ही हम अपने जीवन को सही अर्थों में उन्नत व सफल कर सकते हैं। सत्य का आचरण व मिथ्या का त्याग ही मनुष्य जीवन की उन्नति का कारण हुआ करता है, इसके विपरीत आचरण मनुष्य की इस जन्म व परजन्म

में अवनति ही करता है, यह सुनश्चित वैदिक सिद्धान्त है। हम आशा करते हैं कि इस लेख से पाठकों पर ईश्वर व महापुरूषों वा महान आत्माओं का भेद स्पष्ट हो सकेगा।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

'सर्वव्यापक ईश्वर मुनष्य की जीवात्मा में वास करता है' -मनमोहन कुमार आर्य

FEBRUARY 7, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

वेदाध्ययन, चिन्तन व मनन सहित ध्यान व समाधि से यह जाना गया है कि मनुष्य जीवन जीवात्मा और मानव शरीर का संघात है। हमारा व सभी मनुष्यों का शरीर पांच भौतिक तत्वों यथा पृथिवी, अग्नि, जल, वायु और आकाश से मिलकर बनाया गया है। इसमें माता-पिता की भूमिका के साथ प्रमुख भूमिका ईश्वर की है। माता-पिता व जन्म लेने वाला जीवात्मा यह नहीं जानते कि शरीर कैसे बनता है? अतः मानव व सभी प्राणियों के शरीर अपौरूषेय सत्ता की ही रचनायें व कृतियां हैं। उसी अपौरूषेय सत्ता को वेदों व वैदिक साहित्य सहित अन्य अनेक ग्रन्थों में ईश्वर के नाम से प्रस्तुत किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति, प्राणियों के शरीरों की रचना व संचालन में ईश्वर की प्रमुख भूमिका के कारण ही मनुष्य को सर्वशक्तिमान ईश्वर को अपने आचरण व अच्छे कार्यों से प्रसन्न रखने व उससे सुख-स्वास्थ्य-ज्ञान-बल-शान्ति की प्राप्ति के लिए प्रार्थना वा यज्ञाग्निहोत्र पूजा आदि का विधान वेदों व वैदिक साहित्य में मिलता है। ईश्वर सर्वव्यापक होने से सर्वज्ञ एवं मनुष्य एक देशी होने से अल्पज्ञ है। अल्पज्ञ होने के साथ मनुष्य काम, क्रोध, राग, द्वेष, अहंकार व अनेक बुराईयों से भी बद्ध व युक्त होता है। इन दुर्गुणों, दुव्र्यसनों व दुःखों को दूर करने के लिए ही पूर्ण युक्ति व तर्क संगत वैदिक धर्म संसार में सृष्टि के आदि काल से प्रचलित है। सृष्टि के आदि काल से महाभारत काल तक वैदिक धर्म ही संसार के सभी मनुष्यों का एकमात्र धर्म व मत रहा। इसके बाद अज्ञान की वृद्धि के कारण नाना मतों की उत्पत्ति हुई जिनमें अनेकानेक अज्ञानयुक्त विचार व मान्यताओं के साथ अन्धविश्वास, रूढिवादिता, अवतारवाद, फलित ज्योतिष, मृतक श्राद्ध, सामाजिक असमानता वा विषमता, मांसाहार, अण्डों का सेवन, मदिरापान, धूम्रपान, अनाचार, मृतकों के शवों को जलाने के स्थान पर भूमि में गाढ़ने जैसी मिथ्या प्रथायें प्रचलित हो गई जो आज आधुनिक काल में भी प्रचलित हैं। यह सब अनुचित कार्य वेदों को न जानने व अविद्या के कारण ही हो रहे हैं। इन्हीं अज्ञानों में से एक अज्ञान ईश्वर के सर्वव्यापक स्वरुप को भलीभांति न समझना भी है।

संसार में प्रायः हर पदार्थ एकदेशी और सीमाओं में आबद्ध या ससीम होता है। मनुष्य आदि सभी प्राणियों की आत्मायें एकदेशी व ससीम हैं। यह आत्मायें हमारे शरीरों के अन्दर तो हैं परन्तु बाहर नहीं है। शरीर के अन्दर भी जीवात्मा पूरे शरीर में विद्यमान व व्यापक नहीं है अपितु हृदय में एक स्थान पर है और इसका परिणाम कोई सेंटीमीटर या मीटर में न होकर 1 मिलीमीटर से भी हजारों गुणा न्यून वा सूक्ष्म है। इसके विपरीत कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जो सर्वव्यापक होते हैं। आकाश ऐसा ही पदार्थ है जो सर्वव्यापक है। दिशाओं व समय को भी सर्वत्र विद्यमान व उसका सर्वत्र व्यवहार होने से सर्वव्यापक कह सकते हैं। यह तो जड़ पदार्थ हैं परन्तु ऐसा ही एक अन्य चेतन पदार्थ भी है जो सर्वव्यापक है और वही ईश्वर कहलाता है। यदि ईश्वर एकदेशी व ससीम होता तो उससे इस सृष्टि की रचना सहित सर्वत्र प्राणी सृष्टि व उसका संचालन नहीं हो सकता था। हमारी यह पृथिवी अति विशाल है। सूर्य इससे लाखों गुणा विशाल है। इसी प्रकार हमारे सौर मण्डल व समस्त ब्रह्माण्ड में हमारी पृथिवी, चन्द्र व सूर्य की भांति अनेक बड़े ग्रह व उपग्रह विद्यमान है। यह सब अपौरूषेय रचनायें होने से इनका रचयिता केवल ईश्वर ही सिद्ध होता है।

सृष्टि का यह नियम है कि ज्ञान पूर्वक की गई कोई भी रचना केवल चेतन सत्ता द्वारा अपने बुद्धि तत्व का उपयोग करने से ही होती है। हमारा सुन्दर घर व उपयोग की वस्तुएं यथा साइकिल, वस्त्र, खाद्यान्न का उत्पादन आदि समस्त कार्य केवल चेतन व बुद्धि रखने वाले प्राणी अपने ज्ञान से ही करते हैं। मनुष्यों की बुद्धि अत्यल्प व अल्पशक्ति होने से उनसे सृष्टि रचना व पालन का यह कार्य सम्पादित नहीं हो सकता। इसके लिए सृष्टिकर्ता का सर्वव्यापक, सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान आदि गुणों वा स्वरूप वाला होना अपरिहार्य है। वेदों व ऋषि-मुनियों द्वारा रचित वैदिक साहित्य में ईश्वर के ऐसे ही स्वरूप का वर्णन मिलता है जिससे अध्येता की पूर्ण सन्तुष्टि हो जाती है। वैज्ञानिकों ने सृष्टि के पदार्थों में कार्यरत नियमों के अध्ययन व खोज से जो परिणाम प्रस्तुत किये हैं, उनसे भी सृष्टि के रचयिता का एक सर्वव्यापक, सर्वज्ञ व सर्वव्यापक चेतन सत्ता होना सिद्ध है। विचार करने पर यह तथ्य भी सम्मुख आता है कि यदि ईश्वर सर्वव्यापक न होता, एकदेशी व ससीम होता तो वह भी मनुष्य की ही तरह का हो सकता था और वह भी तब जब कोई उसका शरीर बनाता अर्थात् अन्य ईश्वर की फिर भी अपेक्षा थी। अतः सृष्टि में एक सर्वव्यापक व सर्वज्ञ ईश्वर अवश्यमेव है जो अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं देता। ऋषि व योगी अपनी सूक्ष्म विवेक बुद्धि व उच्च ज्ञान से उसका साक्षात व प्रत्यक्ष करते हैं। हमें भी अनेक घटनाओं से ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। महर्षि दयानन्द ने भी इसे अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है। यदि कोई कुछ भी न समझ सके तब भी सृष्टि की रचना व पालन तथा मनुष्य आदि प्राणियों के जन्म व मृत्यु आदि की व्यवस्था के लिए तो ईश्वर के अस्तित्व को माना ही जा सकता है। वह है इसलिये यह कार्य हो रहे हैं, यदि वह न होता तो यह कार्य होने सम्भव नहीं थे।

हम मनुष्य हैं और एक अत्यन्त सूक्ष्म, एकदेशी, ससीम, चेतन, अल्पज्ञ, अनादि, अनुत्पन्न, नित्य, सनातन, अमर, जन्म व मृत्यु के चक्र में आबद्ध, कर्मशील सत्ता हैं। जीवात्मा सूक्ष्म पदार्थ है और ईश्वर वा परमात्मा जीवात्मा से भी अत्यन्त सूक्ष्म वा सर्वातिसूक्ष्म पदार्थ है।

सर्वातिसूक्ष्म और सर्वव्यापक होने से ईश्वर सर्वान्तर्यामी भी है। सर्वान्तर्यामी का अर्थ है कि वह सबके भीतर भी है अर्थात् ईश्वर सभी जीवात्माओं, सृष्टि व इसके परमाणुओं के भीतर भी विद्यमान है और इनका पूरा हाल जानता व ज्ञान रखता है। इस आधार पर सर्वव्यापक ईश्वर का सभी जीवात्माओं के भीतर आवास, वास व निवास सिद्ध होता है। अतः जीवात्मा को शुद्ध व पवित्र बनाने के लिए जीवात्मा को योग वा ध्यान के द्वारा ईश्वर से जोड़ना होता है। जीवात्मा से जुड़ जाने से जीवात्मा का अशुद्ध ज्ञान व अशुद्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं और वह विवेक को प्राप्त होकर सत्याचरण व ईश्वरोपासना आदि श्रेष्ठ कार्यों में अपना समय व्यतीत करता है जिसके परिणाम से उसे ईश्वर के द्वारा दुःखों से मुक्ति मिलती है। दुःखो का कारण हमारी अविद्या, अज्ञान, दुष्कर्म, संस्कारविहीनता आदि ही होते हैं जो ईश्वरोपासना व सत्कर्मों को करके ही दूर होते हैं। यह ईश्वरोपासना आदि कार्य मनुष्यों के लिए सबसे बड़ी और प्रमुख उपलब्धि होती है। इसकी तुलना में धन व सम्पत्ति व भोग सामग्री अत्यन्त हेय व निम्नतम होती है। ईश्वर को प्राप्त व्यक्ति को न तो कोई दुःख होता है और न हि उसकी कोई कामना अपूर्ण रहती है। वह सत्य की ही कामना करता है और वह ईश्वर की सहायता से पूरी होती है। महर्षि दयानन्द जी का जीवन हमारे सामने है। उन्होंने कभी भिक्षा नहीं मांगी। यहां तक की जब वह गुरु विरजानन्द जी के पास मथुरा पहुंचे और उनसे व्याकरण के अध्ययन के लिए प्रार्थना की तो गुरुजी ने उन्हें अपने निवास, भोजन व पुस्तकों की व्यवस्था करने के लिए कहा। इस पर भी स्वामीजी ने किसी से कुछ मांगा नहीं। इसका ज्ञान अनेक लोगों को हुआ। किसी प्रकार से यह बात मथुरा के धनीमानी पंडित श्री अमरनाथ जोशी जी के कानों में पहुंची और उन्होंने उनके भोजन आदि की व्यवस्था कर दी। अन्य व्यवस्थायें भी श्रद्धालु लोगों द्वारा कर दी गईं। उसके बाद हम देखते हैं कि देश के अनेक बड़े-बड़े राजा भी उनका सम्मान करते थे और उनसे उपदेश ग्रहण करते थे। यह ईश्वर विश्वास व ईश्वर भक्ति का ही उदाहरण कहा जा सकता है।

हमने इस लेख में यह जानने का प्रयास किया है कि इस संसार को बनाने व चलाने तथा सभी प्राणियों को उत्पन्न करने वाली सत्ता ईश्वर है जो कि सर्वव्यापक सत्ता है। इससे पृथक जीवात्मा एक चेतन तत्व, अल्पज्ञ, एकदेशी व ससीम सत्ता है। ईश्वर सर्वव्यापक व सर्वान्तर्यामी होने के कारण सभी जीवात्माओं वा प्राणियों की आत्माओं के भीतर भी विद्यमान है। इस रहस्य को जानकर विधिपूर्वक ईश्वरोपासना करने से जीवात्मा का अज्ञान व आचरण शुद्ध होकर सभी दुःखों से निवृत्ति होती है। वेद ज्ञान इन सभी विषयों पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं। वेदाध्ययन करने से मनुष्यों की सभी भ्रान्तियां दूर होती हैं। यदि आज के बड़े वैज्ञानिक व इतर धर्माचार्य निष्पक्ष व जिज्ञासाभाव से वेद व वैदिक साहित्य का अध्ययन करेंगे तो वह भी सत्य को अवश्य प्राप्त हो सकते हैं। हम सबको ईश्वर को सर्वव्यापक, दुःखों से सर्वथारहित, आनन्दमय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान व सर्वान्तर्यामी जानकर तथा उसे अपनी आत्मा में विद्यमान मानकर उसका ध्यान व चिन्तन करना चाहिये जिससे हमारा कल्याण होगा। इसी के साथ इस लेख को विराम देते हैं।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196 चुक्खूवाला-2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

‘ईश्वर से क्या व कैसी प्रार्थना करें?’ -मनमोहन कुमार आर्य

FEBRUARY 7, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

प्रार्थना अपने से अधिक सामर्थ्य व क्षमतावान सत्ता से किसी आवश्यक व उपयोगी वस्तु को मांगने व याचना करने को कहते हैं। मनुष्य शिशु के रूप में माता-पिता से इस पृथिवी पर जन्म लेता है। उसे अपने शरीर का समुचित विकास और ज्ञान व बुद्धि सहित सत्कर्मों की प्रेरणा की अपेक्षा रहती है जिससे वह अपने उद्देश्य, लक्ष्य व उनकी प्राप्ति के उपायों को जान सके। इस कार्य में उसके माता-पिता व आचार्य सहित ऋषि महर्षियों के पूर्ण विद्या व अज्ञान से रहित ग्रन्थ सहायक होते हैं। हमारे माता-पिता, आचार्य व सभी ऋषि-मुनि भी वेदों वा ईश्वर से ही ज्ञान प्राप्त करते थे। ईश्वर एक सत्य, चित्त, आनन्दस्वरुप, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सृष्टि की रचना, पालन व लय करने वाली सत्ता है जो हमारे इस जीवन व अनेकानेक पूर्व जीवनों से पूर्व से ही हमारे साथ है और हर पल व हर क्षण हमारे साथ रहती है व रहेगी। अतः हमें प्रातः व सायं उसकी संगति वा उपासना कर उसकी स्तुति व प्रार्थना करनी चाहिये जिससे हमें सभी श्रेष्ठ पदार्थों की प्राप्ति सुगमता से हो सके। महर्षि दयानन्द सच्चे व सिद्ध योगी थे और वेदों के मर्मज्ञ व अपूर्व विद्वान थे। उनके अनेक ग्रन्थों का मार्गदर्शन हमें प्राप्त है जिससे हम अपने जीवन को सुखी व सफल बना सकते हैं। ईश्वर से प्रार्थना करने से मनुष्य का अहंकार दूर होकर निरभिमानता उत्पन्न होती है और प्रार्थना के अनुरुप ईश्वर से पदार्थों की प्राप्ति होती है। हमें केवल अपनी सभी इन्द्रियों को वश व नियन्त्रण में रखते हुए अपने अन्तःकरण को स्वच्छ व पवित्र रखना है। यही ईश्वर को प्रसन्न व उससे प्राप्त हो सकने वाले पदार्थों की प्राप्ति के लिए आवश्यक पात्रता है। आज इस लेख में महर्षि दयानन्द द्वारा ईश्वर की स्तुति व प्रार्थना विषयक वेद मन्त्रों के आधार पर की गई कुछ प्रार्थनायें प्रस्तुत कर रहे हैं। हमें भी नित्य प्रति इसी प्रकार की व ऐसी ही प्रार्थनायें सर्वशक्तिमान व सर्वव्यापक परमात्मा से करनी चाहिये।

प्रार्थना आरम्भ करने से पूर्व उपासक को अपने शरीर की शुद्धि कर अपने मन को सांसारिक बातों से हटाकर सुखासन आदि किसी एक आसन में बैठकर एकाग्र चित्त होकर ईश्वर का ध्यान करते हुए मौन रहकर अपने मन से इन व इस प्रकार की प्रार्थनाओं को करना चाहिये। पहले यह मन्त्रपाठ करें, ‘ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।’ हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर ! आपकी कृपा, रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक-दूसरे की रक्षा करें, हम सब लोग

परमप्रीति से मिलके सबसे उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्तिराज्य आदि सामग्री व आपके अनुग्रह से आनन्द को सदा भोगें। हे कृपानिधे ! आपके सहाय से हम लोग एक-दूसरे के सामथ्र्य को अपने-अपने पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहें, और हे प्रकाशमय सब विद्या के देने वाले परमेश्वर ! आपके सामथ्र्य से ही हम लोगों का पढ़ा और पढ़ाया सब संसार में प्रकाश को प्राप्त हो और हमारी विद्या सदा वृद्धि को प्राप्त होती रहे। हे प्रीति के उत्पादक ! आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें, किन्तु एक-दसरे के मित्र होके सदा वर्तें। हे भगवन्! आपकी करुणा से हम लोगों के तीन ताप-एक 'आध्यात्मिक' जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है, दूसरा 'आधिभौतिक' जो दूसरे प्राणियों से कष्ट व पीड़ा होती है, और तीसरी 'आधिदैविक' जो कि मन और इन्द्रियों के विकार, अशुद्धि और चंचलता से क्लेश होता है, इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिये जिससे हम वेदों का ज्ञान प्राप्त कर तदनुकूल आचरण करते हुए अपना व अन्य सभी मनुष्यों का उपकार कर सकें। यही हम आपसे चाहते हैं सो कृपा करके हम लोगों की सब दिनों में सहायता कीजिये।

प्रार्थना के लिए यजुर्वेद का 30/3 मन्त्र 'ओ३म् विश्वानिदेव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव।।' भी एक श्रेष्ठ मन्त्र है। इससे इस प्रकार प्रार्थना करें कि हे सत्यस्वरुप ! हे विज्ञानमय ! हे सदानन्दस्वरुप ! हे अनन्तसामथ्र्ययुक्त ! हे परमकृपालो ! हे अनन्तविद्यामय ! हे विज्ञानविद्याप्रद ! हे परमेश्वर ! आप सूर्यादि सब जगत् का और विद्या का प्रकाश करने वाले हैं तथा सब आनन्दों के देने वाले हैं, हे सर्वजगदुत्पादक सर्वशक्तिमन् ! आप सब जगत् को उत्पन्न करने वाले हैं, हमारे सब जो दुःख हैं उनको और हमारे सब दुष्ट गुणों को कृपा से आप दूर कर दीजिये, अर्थात् हमसे उनको और हमको उनसे सदा दूर रखिये, और जो सब दुःखों से रहित कल्याण है, जो कि सब सुखों से युक्त भोग है, उसको हमारे लिए सब दिनों में प्राप्त कीजिये। सो सुख दो प्रकार का है–एक जो सत्य विद्याओं की प्राप्ति में अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्ति राज्य, इष्ट मित्र, धन, पुत्र, स्त्री और शरीर से अत्यन्त उत्तम सुख का होना, और दूसरा जो निःश्रेयस् सुख है कि जिसको मोक्ष कहते हैं ओर जिसमें ये दोनों सुख होते हैं उसी को भद्र कहते हैं। उस सुख को आप हमारे लिये सब प्रकार से प्राप्त कीजिए। हे परमेश्वर ! आपकी कृपा व सहाय से सब विघ्न हमसे दूर रहें कि जिससे कि वेदाध्ययन व वेदाचरण का हमारा व्रत सुख से पूरा हो। इससे हमारे शरीर मे आरोग्य, बुद्धि, सज्जनों का सहाय, चतुरता और सत्यविद्या का प्रकाश सदा बढ़ता रहे। इस भद्रस्वरूप सुख को आप अपनी सामथ्र्य से ही हमको दीजिये, जिस आपकी कृपा के सामथ्र्य से हम लोग सत्य विद्या से युक्त जो आपके बनाये वेद हैं उनके यथार्थ अर्थ से युक्त भाष्य को सुख से विधान करें कि जिसके प्रचार व मनुष्यों द्वारा आचरण से मनुष्यमात्र लाभान्वित हो।

महर्षि दयानन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उर्युक्त मन्त्रों सहित अन्य अनेक महत्वपूर्ण मन्त्रों को भी प्रस्तुत कर उनके संस्कृत व हिन्दी में भावार्थ दिये हैं। कुछ अन्य मन्त्रों के भावार्थ इस प्रकार हैं। जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत हो गया है, दूसरा जो वर्तमान है और तीसरा जो होने वाला भविष्यत् कहलाता है, इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है उन सब व्यवहारों को वह ईश्वर यथावत् जानता है। जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही जानता, सब जगत् व पदार्थों की रचना, पालन, लय करता और संसार के सब

पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है, जिस का सुखरूप ही केवल स्वरूप है, जो कि मोक्ष और व्यवहार व सुख का भी देने वाला है, सबसे बड़ा सब सामथ्र्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है उसको अत्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार हो। ईश्वर कि जो सब कालों के ऊपर विराजमान है, जिसको लेशमात्र भी दुःख नहीं होता, उस आनन्दघन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो। जिस परमेश्वर ने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है, अन्तरिक्ष जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है सो जिसने उदरस्थानी किया है और जिसने अपनी सृष्टि से दिव अर्थात् प्रकाश करने वाले सूर्य आदि पदार्थो को सबके ऊपर मस्तकस्थानी किया है अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्यलोकपर्यन्त सब जगत् को रच के उसमें व्यापक होके, जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सबको धारण कर रहा है, उस परब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार हो।

हे जगदीश्वर ! आपने नेत्रस्थानी सूर्य और चन्द्रमा को रचा है तथा कल्प-कल्प के आदि में आप ही सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को वारम्वार नये-नये रचते हैं। आपने ही मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया है। आपको हम लोगों का नमस्कार हो। हे सृष्टिकर्ता परमेश्वर ! आपने ब्रह्माण्ड के वायु को प्राण और अपान के समान किया है तथा जो प्रकाश करने वाली किरण है उसे चक्षु के समान रची हैं अर्थात् सूर्य के प्रकाश से ही रूप का ग्रहण होता है। दश दिशाओं को जिसने सब व्यवहारों को सिद्ध करने वाली बनाई हैं, ऐसा जो अनन्तविद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है, उस को निरन्तर हमारा नमस्कार हो।

उपर्युक्त लेख में हमने महर्षि दयानन्द के द्वारा उनके ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ग्रन्थ से ईश्वर से की जाने वाली श्रेष्ठ प्रार्थनाओं की एक झलक प्रस्तुत की है। वैदिक सन्ध्या वा पंचमहायज्ञविध, आर्याभिविनय, संस्कार विधि, सत्यार्थप्रकाश, वेदभाष्य आदि उनके अन्य ग्रन्थों में भी इसी प्रकार के उत्तमोत्तम विचार मिलते हैं। विश्व के धार्मिक व सामाजिक साहित्य में इस प्रकार की प्रार्थनायें उपलब्ध नहीं होती। अतः जीवन का कल्याण चाहने वाले सभी मनुष्यों को महर्षि दयानन्द व वेद की शरण में आकर वेदाध्ययन आदि के द्वारा सत्य वैदिक रीति से सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र आदि के द्वारा प्रार्थनायें करके सभी अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति करनी चाहिये। ईश्वर व जीवात्मा की सत्तायें सत्य है जो वेद के प्रमाणों सहित तर्क व युक्ति से भी सिद्ध है। ईश्वर सर्वऐश्वर्यसम्पन्न व इसका स्वामी है, वह सर्वशक्तिमान व सर्वव्यापक है तथा जीवों को कर्मानुसार सुख व दुःख तथा पदार्थों को प्राप्त कराता है, अतः ईश्वर पर पूर्ण विश्वास रखकर समर्पित होकर ईश्वर का ध्यान, चिन्तन व प्रार्थना कर अपने सभी उचित मनोरथ सिद्ध करने चाहिये। हम आशा करते हैं कि पाठक ईश्वर से उपुर्यक्त प्रार्थनाओं को करके लाभान्वित होंगे।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून**-248001**

फोनः**09412985121**

‘धर्म के अनुशासन बिना विज्ञान मानव जीवन के लिए अहितकारी’-मनमोहन कुमार आर्य

FEBRUARY 7, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

आजकल विज्ञान की उन्नति ने सबको आश्चर्यान्वित कर रखा है। दिन प्रतिदिन नये नये बहुपयोगी उत्पाद हमारे ज्ञान व दृष्टि में आते रहते हैं। बहुत कम लोग जानते होंगे कि उनकी अनेक समस्ययाओं का कारण भी विज्ञान व इसका दुरुपयोग ही है। इसका सबसे मुख्य उदाहरण तो वायु, जल और पर्यावरण प्रदुषण का है। यह प्रदुषण विज्ञान व उसके आविष्कारों सहित औद्योगिक उत्पादों के बिना सोचे उपभोग के कारण व मनुष्य की दिनचर्या में आये बदलाव का परिणाम है। मनुष्य को वायु और जल शुद्ध न मिले तो यह अनेकानेक रोगो का उत्पादक होने से मनुष्यों के स्वास्थ्य के लिए घातक होता है। यही आजकल सर्वत्र हो रहा है। इतना ही नहीं हम जो भोजन करते हैं उसे भी विज्ञान ने हमारे लिए अहितकार व अनेकानेक रोगों का उत्पादक बना दिया है जिससे मनुष्य दुःखी रहते हैं और कालकवलित होते रहते हैं। आज हमें जो खाद्य पदार्थ बाजार से मिलते हैं उसमें रासायनिक खादों व कीटनाशकों के प्रयोग ने उन्हें स्वास्थ्य के अहितकर व हानिप्रद बना दिया है। अनेक अन्नीय पदार्थ व सब्जियां मल-मूत्र को खाद के रूप में प्रयोग कर पैदा की जाती है जो स्वास्थ्य व मनोविकारों को जन्म देती हैं। इस ओर देश व समाज का बहुत कम ध्यान है और विज्ञान भी चुप है जबकि हमारे ऋषि-मुनियों को इसका ज्ञान था और इसी कारण उन्होंने मल-मूत्र के संसर्ग से उत्पन्न अन्न आदि पदार्थों के सेवन को निषिद्ध किया था। विज्ञान के नाम पर आज आम मनुष्य की क्षमता से भी कहीं अधिक खर्चीली चिकित्सा पद्धति देश में आई है जिसमें न केवल जीवन भर की पूंजी कुछ ही दिनों छोटे-मोटे रोगों के उपचार में स्वाहा हो जाती है अपितु वह कर्जदार होकर शेष जीवन नरक के समान व्यतीत करता है। बहुत से लोग तो धनाभाव के कारण अपना उपचार करा ही नहीं पाते और मृत्यु का वरण कर लेते हैं। अनेक चिकित्सक और पैथोलोजी लैब भी रोगियों को स्वेच्छा से लूटती हैं जिसके अनेक उदाहरण सामने आ चुके है और जो कम नहीं हो रहे हैं। स्वार्थ के कारण कुछ व अनेक चिकित्सक रोगियों को महंगी व कई अनावश्यक दवायें भी लिख देते हैं जिसका असर रोगी की आर्थिक स्थिति व स्वास्थ्य पर बुरा ही पड़ता है। इस ओर न तो सरकारों का ध्यान है और न ही देश के नागरिक ही सचेत हैं। इस क्षेत्र में सरकार व रोगी परिवारों के बीच किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति है। इसका कोई हल सामने नहीं आ रहा है। जिस प्रकार से संसार के विकसत व अर्धविकसित देश विज्ञान के उपयोग से नाना प्रकार के हानिकारक आयुद्ध आदि बना रहे हैं वह भी मानवता की सुख, समृद्धि व शान्ति के उपयों के विपरीत हैं। सौभाग्य से आज योग, प्राणायाम, आसन, व्यायाम व सन्तुलित भोजन के प्रति स्वामी रामदेव जी के प्रयासों से जागरुकता बढ़ी है। उन्होंने कम खर्चीली आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति को भी विश्व स्तर पर लोकप्रिय बनाया है। इसे अपनाने वाले लोग इससे लाभान्वित हो रहे हैं परन्तु फिर भी विज्ञान प्रदत्त अन्य साधनों से कुल मिलाकर मनुष्यों को नानाविध हानियां हो रही है जिस पर विद्वानों व वैज्ञानिकों सहित सरकारों को भी ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। इसका प्रमुख कारण हमें धर्म के वास्तविक रूप को न समझना ही ज्ञात होता है। यदि मनुष्य धर्म के वास्तविक स्वरूप से परिचित होकर सत्य व सरलता का प्राकृतिक व वैदिक मान्यताओं के

अनुसार जीवन व्यतीत करें जैसा कि उन्होंने महाभारतकाल तक व उससे पहले व्यतीत किया है, तो समाज में आज की यह समस्यायें न होती। आज भी यदि इस दिशा में विचार व आचरण किया जाये तो सामाजिक भलाई का बहुत कार्य किया जा सकता है।

वैदिक धर्म की कुछ विशेषतायें हैं जिससे अनेक समस्याओं का निराकरण हो जाता है। वैदिक धर्म मनुष्यों को मानव जीवन के उद्देश्य व लक्ष्य से परिचित कराता है और उन कार्यों व उपायों को करने के लिए बल देता है जिससे मनुष्य का यह जीवन व परजन्म सुख व शक्ति का संचय कर दीर्घायु हो और उसे जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त होकर दुःखों की सर्वथा निवृत्ति वा चिरकालीन मोक्ष रूपी स्वर्गीय सुखों व आनन्द की प्राप्ति हो। वैदिक धर्म वेदों का ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार आचरण करने को कहते हैं। वैदिक जीवन में मनुष्य को अनिवार्य रूप से ईश्वरोपासना, ईश्वर का ध्यान, चिन्तन, मनन, अध्ययन वा स्वाध्याय, ऋषियों व विद्वानों की संगति व उनकी सेवा सत्कार, प्राणियों के प्रति अंहिसा व हित की कामना, स्वयं व दूसरों के जीवन का सुधार व उन्नति, समाज को संगठित करना व उसका उच्च आदर्शों के अनुरूप निर्माण सहित परोपकार व दूसरों की सेवा के संस्कार वा स्वभाव की प्राप्ति होती है। वेद ईश्वर प्रदत्त ज्ञान है जो मनुष्यों को सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर से अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा ऋषियों को प्राप्त हुआ, तत्पश्चात उनसे ब्रह्मा जी को प्राप्त हुआ और उनके द्वारा आदि सृष्टि के स्त्री-पुरूषों सहित काल-क्रम के अनुसार संसार भर में प्रवृत्त हुआ था। वेद की सभी शिक्षायें अज्ञान से सर्वथा रहित व मानव जीवन सहित सभी प्राणियों की हितकारी है। यह मत-पन्थ-मजहब-सम्प्रदाय आदि से कहीं ऊपर व सर्वोच्च हैं। वेदों व वैदिक धर्म में सुख-सुविधा-विलासिता के भौतिक साधनों का न्यूनतम प्रयोग करते हुए भोगों से दूर रहकर त्याग पूर्ण जीवन व्यतीत करने का विधान है। शारीरिक उन्नति व आत्मिक उन्नति पर वैदिक धर्म में सर्वाधिक ध्यान दिया जाता है। वेदों के आधार पर उपनिषदों व दर्शनों में ऋषियों ने जो ज्ञान दिया है वह संसार भर के साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। इन सबका सेवन, आचरण व अभ्यास करते हुए वायु, जल व पर्यावरण की शुद्धि के लिये प्रयास करने की प्रेरणा की गई है, तभी मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्यों को प्राप्त कर सकेगा अन्यथा नहीं। वैचारिक व सत्य-असत्य के विवेचन के आधार पर चिन्तन करने पर भी यह विचारधारा प्राणिमात्र के हित को सम्पादित करने में सहायक व सत्य सिद्ध होती है। इसी कारण से हमारे प्राचीन ऋषि व पूर्वज वैदिक धर्म का न केवल स्वयं पालन करते थे अपितु समाज के सभी लोग उनसे उपदेश प्राप्त कर उनकी आज्ञाओं के अनुसार ही अपना त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। वैदिक धर्म मनुष्य के जीवन को अनुशासित कर उन्नति करते हुए जीवन के उद्देश्य धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष तक ले जाता है। दूसरी ओर उन्मुक्त वा अनुशासन रहित जीवन आर्थिक सुख-समृद्धि भले ही प्राप्त कराये, परन्तु यह मनुष्य को रोगी व अल्पायु बनाकर, उसे जीवन के उद्देश्य व लक्ष्य से दूर कर जन्म-जन्मान्तरों में दुःख व कष्टों का कारण सिद्ध होता है।

विज्ञान के लाभ व हानि को जानने का प्रयास सभी मनुष्यों को करना आवश्यक है। विज्ञान के साधनों का उसी सीमा तक उपयोग उचित है जहां तक की उससे हमारा धर्म, अर्थात् वर्तमान व भावी सुख, कुप्रभावित न हों। वायु-जल-अन्न के प्रदुषण के सभी कारको को दूर कर प्रदुषण निवारण के उपाय करने का प्रयास होना चाहिये। यदि विज्ञान इनका समाधान

प्रस्तुत नहीं करता तो फिर निश्चय ही प्रदुषणकारक साधनों व उत्पादों को छोड़ना व इनका उपयोग नियंत्रित करना आवश्यक है। यातायात के साधन, वाहन, उद्योग तथा सीमेंट-कंक्रीट के बड़े बड़े भवन आदि वायु-जल-अन्न व पर्यावरण प्रदुषण के प्रमुख कारक हैं। निश्चय ही यह आज हमारे जीवन में ऐसे प्रविष्ट हो गये हैं कि इनके बिना जीवन व्यतीत करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस पर भी जिस प्रकार विष-मिश्रित स्वादिष्ट भोजन का त्याग करना ही श्रेयस्कर होता है वैसी ही यहां भी स्थिति है। सत्य वैदिक धर्म को यदि संसार अपना ले और उसके अनुसार सभी मनुष्य ईश्वरोपासना, यज्ञ–अग्निहोत्र, योग, ध्यान, स्वाध्याय, सेवा, परोपकार, त्याग, प्राणिहित, अंहिसात्मक व्यवहार, स्वार्थ व लोभ पर नियंत्रण, अपरिग्रह आदि का सेवन करें तभी पर्यावरण बच सकेगा। वैदिक धर्म में प्रतिदिन प्रातः व सायं यज्ञ करने का जो विधान है वह अनेक लाभों सहित वायु, जल व अन्न के प्रदुषण को दूर करने के लिए होता है। इस ज्ञान व विज्ञान को विकसित कर प्रदुषण निवारण में इसका भी उपयोग किया जा सकता है। सरकार व वैज्ञानिकों इस ओर ध्यान देना है। वैदिक धर्म का ज्ञान व उसका सभी मनुष्यों द्वारा आचरण आज संसार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण व प्रासंगिक होने के कारण आवश्यक व अनिवार्य प्रतीत हो रहा क्योंकि इसके द्वारा ही हम विश्व को सभी प्रकार के प्रदुषणों, अन्याय, शोषणों व अशान्ति से बचा सकते हैं।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196 चुक्खूवाला-2**

देहरादून-248001

फोनः**09412985121**

मनुष्य की चहुंमुखी उन्नति का आधार अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि’ -मनमोहन कुमार आर्य

FEBRUARY 7, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

मनुष्य के जीवन के दो यथार्थ हैं पहला कि उसका जन्म हुआ है और दूसरा कि उसकी मृत्यु अवश्य होगी। मनुष्य को जन्म कौन देता है? इसका सरल उत्तर यह है कि माता-पिता मनुष्य को जन्म देते हैं। यह उत्तर सत्य है परन्तु अपूर्ण भी है। माता-पिता तभी जन्म देते हैं जबकि ईश्वर माता-पिता व जन्म लेने वाली जीवात्मा के शरीर के निर्माण वा रचना सहित सभी व्यवस्था और उपाय करता है। क्या मनुष्य का जन्म बिना पुर्लिंग पुर्लिंग ईश्वर के सहाय के सम्भव है, इसका उत्तर नहीं में है। अब प्रश्न है कि ईश्वर व माता-पिता ने सन्तान को जन्म क्यों दिया है? माता-पिता तो यह कह सकते हैं कि यह मनुष्य का स्वभाव सा है कि युवावस्था में उसे विवाह की आवश्यकता अनुभव होती है और विवाह के बाद परिवार की वृद्धि की इच्छा से सन्तान का जन्म होता है। अन्य कुछ कारण भी हो सकते हैं। माता-पिता द्वारा सन्तानों से वृद्धावस्था व आपातकाल में सेवा-सुश्रुषा आदि की अपेक्षा भी की जाती है। ईश्वर जन्म लेने वाली जीवात्मा को पिता व माता के शरीर में प्रवेश कराने सहित उसका लिंग

'स्त्रीलिंग वा पुर्लिंग' निर्धारित करता है और माता के गर्भ में एक शिशु का शरीर रचकर उसे गर्भ की अवधि पूरी होने पर जन्म देता है। इसका उद्देश्य तो सामान्य व्यक्ति ईश्वर से पूछ नहीं सकता। हां, योगी व ज्ञानी अपने अध्ययन, विवेक, योग साधना व कुछ सिद्धियों से इसका यथार्थ उत्तर दे सकते हैं। वह उत्तर है कि जीवात्मा ज्ञान वा विद्या प्राप्त कर अपने अज्ञान को दूर करे। इसके साथ मनुष्य जन्म में अपने अकर्तव्य व अकर्तव्यों सहित उसे संसार, ईश्वर व जीवात्मा का यथार्थ ज्ञान भी होना चाहिये। जीवात्मा, ईश्वर व अनेकानेक विषयों का ज्ञान प्राप्त कर ईश्वर को प्राप्त करना मनुष्य जन्म में ही सुलभ है। अतः ईश्वर जीवात्माओं को मनुष्य आदि अनेक योनियों में उसके पूर्वजन्म के कर्मानुसार जन्म देता है और पुराने कर्मों का भोग करने तथा नये कर्मों के आधार पर मृत्यु के पश्चात जीवात्मा के नये जीवन अर्थात् पुनर्जन्म की योनि का निर्धारण करता है।

मनुष्य जीवन केवल शरीर को पोषण देने, स्वादिष्ट भोजन करने व धन स्म्पत्ति अर्जित कर सुख-सुविधाओं की वस्तुओं का संग्रह करने मात्र के लिए ही नहीं मिला है। यह काम अवश्य करने हैं परन्तु सबसे महत्वपूर्ण इस संसार सहित ईश्वर व जीवात्मा के सत्य ज्ञान व रहस्यों को जानकर ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना को भी करना होता है। इन सब कामों के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है जो हमें माता-पिता के बाद आचार्यों व शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त होता है। यदि जीवन में शास्त्रों का ज्ञान व सदाचरण नहीं है तो वह जीवन मनुष्य का होकर भी पशु के समान, एकांगी जीवन, ही कहा जाता है। पशु का काम खाना-पीना व अपने स्वामी की सेवा करना होता है। यदि मनुष्य भी धनसंग्रह करने व शारीरिक सुविधाओं के लिए ही जीवित रहता है तो यह पशुओं के समान ही है। सत्य शास्त्रों के ज्ञान से जो विवेक प्राप्त होता है वही मनुष्य की वास्तविक पूंजी होता है। यह ज्ञान व इसकी प्रेरणा से किए गये सदकर्म न केवल इस जीवन अपितु भावी अनेकानेक जन्मों में भी सहयोगी, लाभदायक व सुखप्रापक होते हैं। अतः सभी मनुष्यों का मुख्य कर्तव्य यह है कि वह अपने अज्ञान व अविद्या का नाश करने के लिए योग्य आचार्यों से वेदाध्ययन वा ज्ञान की प्राप्ति करे।

यदि हम इतिहास पर दृष्टि डाले तो हमें इतिहास में बड़े-बड़े ज्ञानियों, धर्मपालकों, ऋषियों, आचार्यो के नाम मिलते हैं जिनका नाम श्रद्धा से लिया जाता है। ऐसे लोग ही मानव समुदाय का आदर्श हुआ करते हैं। इतिहास में प्राचीन महापुरुषों में श्री रामचन्द्र जी व श्री कृष्ण जी का नाम प्रसिद्ध होने के साथ उनको लोग आज भी श्रद्धा-भक्ति से स्मरण करते हैं। इसका कारण उनके कार्य व जीवन का आचरण है जो उन्होंने किया था। इन महापुरुषों के जीवन को प्रकाश में लाने का काम महर्षि वाल्मीक और महर्षि वेदव्यास जी ने रामायण व महाभारत ग्रन्थों की रचना कर किया। यह सभी लोग विद्या में सर्वोच्च थे। आज भी हम महर्षि दयानन्द, स्वामी शंकराचार्य, आचार्य चाणक्य, महाराणा प्रताप, वीर शिवाजी, गुरु गोविन्द सिंह, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, पं. रामप्रसाद बिस्मिल, भगत सिंह, सरदार पटेल आदि को स्मरण करते हैं तो इसका कारण भी इन लोगों का ज्ञान व उसके अनुरुप किये गये कार्य हैं। इन उदाहरणों का अभिप्राय यही है कि मनुष्यों को पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर श्रेष्ठ कार्यों को करना

चाहिये जैसा कि इन कुछ महापुरुषों ने किये हैं। ऐसा करके हम अपने अपने जीवन को सफल व सफलतम बना सकते हैं।

शास्त्रों ने बताया है कि विद्या वह होती है जो मनुष्यों को दुःखों से मुक्त करती है। इससे यह आभाष मिलता है कि मनुष्यों के दुःखों का कारण अविद्या व असत् ज्ञान होता है। हम संसार में भी देखते हैं कि असत् ज्ञान व ज्ञानहीनता निर्धनता का मुख्य कारण होता है। अज्ञानी व्यक्ति अन्याय व शोषण से पीड़ित भी होता है व स्वयं भी ऐसा ही आचरण दूसरों के प्रति करता है। ऐसा भी देखा जाता है कि जिस व्यक्ति को ज्ञान हो जाता है वह न केवल अपने जीवन का सुधार करता है अपितु अपने साथ अपने सम्पर्क में आने वाले अनेकों का भी उससे सुधार होता है। आजकल संसार में नाना विषयों का ज्ञान उपलब्ध है। यह सांसारिक ज्ञान अपरा विद्या कहलाता है। इस विद्या से मनुष्य अनेकानेक काम करके धन व सम्पत्ति व अनेक पदार्थों का सृजन कर सकता है परन्तु अपनी आत्मा को उत्तम नहीं बना सकता। आत्मा को उत्तम व श्रेष्ठ बनाने के लिए वेदों व वैदिक साहित्य की शरण में जाना पड़ता है। वेदों का आत्मा व ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान परा विद्या कहलाती है। इसे आध्यात्मिक विद्या भी कह सकते हैं। इस विद्या से मनुष्यों को अपने यथार्थ कर्तव्यों का बोध होता है। इस ज्ञान व विज्ञान को प्राप्त होकर मनुष्य अपरिग्रह को अपनाता है और आत्मा व ईश्वर का चिन्तन करते हुए ईश्वर का अधिकतम व पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है जिससे उसकी अविद्या नष्ट होकर वह वैदिक मान्यता के अनुसार जन्म व मरण के दुःखों से 4.32x2x360x100 = 3,11,040 अरब वर्षों तक के लिए मुक्त होकर ईश्वर के सान्निध्य में पूर्ण आनन्द का भोग करता है। यही मनुष्य जीवन का वास्तविक स्वर्ग है जिसका विस्तृत वर्णन सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।

महर्षि दयानन्द वेद सहित प्राचीन काल से उनके समय तक ऋषियों व विद्वानों द्वारा रचित सभी शास्त्रों व ग्रन्थों के अपूर्व विद्वान थे। संसार का सुधार व उन्नति करने के लिए उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की थी। वेद ज्ञान के आधार पर आपने आर्यसमाज के दस नियमों की रचना की जिसमें से आठवां नियम है कि 'अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।' यह नियम सर्वमान्य नियम है। इसका महत्व सभी जानते हैं। इस पर किसी को विवाद नहीं है। परन्तु विद्या का क्षेत्र कहां तक है यह बहुतों को ज्ञात नहीं है। पूर्ण विद्या की प्राप्ति वेद व वैदिक साहित्य का अध्ययन कर ही सम्पन्न होती है। वेदों के ज्ञान से रहित मनुष्य पूर्ण ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। अतः जीवन की पूर्ण उन्नति के लिए संसार के अनेकानेक विषयों का अध्ययन करने के साथ वेद व वैदिक साहित्य का अध्ययन भी अवश्य ही करना चाहिये। जो करेंगे उनको आत्मा के विकास सहित ईश्वर की प्राप्ति का लाभ होगा और परजंन्म की उन्नति होगी। जो नहीं करेंगे वह इन लाभों से वंचित रहेंगे। महर्षि दयानंद के आर्यसमाज के तीसरे नियम में प्रस्तुत शब्दों का उल्लेख कर लेख को विराम देते हैं। उन्होंने लिखा है कि 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना व सुनना सुनाना सब आर्यों (श्रेष्ठ मनुष्यों) का परम धर्म है।'

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196 चुक्खूवाला-2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

स्तुता मया वरदा वेदमाता- डॉ धर्मवीर

FEBRUARY 4, 2016 LEAVE A COMMENT

वेद जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण रखने का सन्देश देता है। इस मन्त्र में महिला के द्वारा कहा जा रहा है। प्रतिदिन सूर्योदय के साथ ही प्राणियों का भाग्योदय होता है। प्रत्येक सूर्योदय नये जीवन का सन्देश लेकर आता है। मनुष्य को अपने जीवन से निराशा को समाप्त करना चाहिए। निराशा असफलता को स्वीकार करने का दूसरा नाम है। मनुष्य के सभी मनोरथ पूर्ण नहीं हो पाते। मनुष्य को असफलता मिलती है तो निराश होने की सभावना होती है, किन्तु यदि दूसरा-तीसरा अवसर उसके सामने होता है तो वह निराशा की ओर न जाकर फिर से प्रयत्न करने के लिये तैयार हो जाता है। वेद कहता है- मनुष्य को कितनी भी बार असफलता क्यों न मिले, हर नया दिन एक नई सफलता का अवसर लेकर आता है, इसीलिये मन्त्र में ऋषिवर ने कहा है- यह सूर्योदय मात्र सूर्योदय नहीं है, यह मेरे सौभाग्य का उदय है। प्रतिदिन सूर्योदय के साथ मनुष्य को निराशा छोड़कर नये उत्साह और विश्वास के साथ नये दिन का प्रारभ करना चाहिए।

एक महिला की सफलता उसके साथ जीवन बिताने वाले की योग्यता से जुड़ी होती है। मन्त्र कहता है- अहं तद् विद्वला– मैंने वर को प्राप्त कर लिया है। संस्कृत भाषा के शदों में अद्भुत शक्ति है- अर्थ को अपने अन्दर समाने की। होने वाले पति की विवाह संस्कार के समय वर संज्ञा होती है। वर शब्द का मूल अर्थ चुना गया होता है। वर का एक अर्थ श्रेष्ठ भी होता है, व्यक्ति जब बहुतों में से चुनाव करता है, तो वह श्रेष्ठ का ही चुनाव करता है, इसी कारण विवाह के समय विवाह कर रहे युवक की संज्ञा वर होती है। जब विवाह में युवक को वर कहते हैं, तो उसी समय युवती की संज्ञा वधू होती है। वधू शब्द का अर्थ है- इसे जीवन के लक्ष्य तक पहुँचाना है अथवा जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के साथ लेना है, जिसके साथ रखने का उत्तरदायित्व वर स्वीकार करता है। वधू को साथ रखने का जिसमें सामर्थ्य है, ऐसा चुने गये व्यक्ति की संज्ञा वर है। इससे भी रहस्य की बात है, वर शब्द बताता है कि उसे किसी ने अपने लिए चुना है, स्वीकार किया है, अतः चुनने का अधिकार वर का नहीं, वधू का है। वर तो वधू का चयन स्वीकार करता है। चुनाव की प्रक्रिया को स्वयंवर कहते हैं। स्वयंवर में वर तो युवक है, परन्तु चुनने का अधिकार युवती का है, उस चुनाव से सहमत होना, न होना, युवक की स्वतन्त्रता है। जब अनेक युवक एक युवती को प्राप्त करने में इच्छुक होते हैं, तो चयन का अधिकार युवती का होता है। भारतीय इतिहास में अनेकशः स्वयंवर के उदाहरण मिलते हैं, द्रौपदी स्वयंवर है, सीता स्वयंवर है। कालिदास के प्रसिद्ध महाकाव्य में अज- इन्दुमति स्वयंवर का चित्रण बड़ा रोचक है। स्वयंवर के समय देश के विभिन्न भागों से इन्दुमति से विवाह करने के इच्छुक राजकुमार स्वयंवर स्थल पर उपस्थित होते हैं। स्वयंवर के समय इन्दुमति की दासी सुनन्दा राजकुमारी इन्दुमति के साथ चलती है और प्रत्येक राजकुमार के सामने

खड़ी होकर, राजकुमार के गुण, वैभव, विद्या, वीर्य, पराक्रम का वर्णन करती है। राजकुमारी इन्दुमति द्वारा अस्वीकृत करने पर वह अगले राजकुमार के सामने पहुँच जाती है। इस चित्रण को कालिदास ने अपने काव्य में बहुत सुन्दर ढंग से बाँधा है। वे कहते हैं-

संचारिणी दीपशिखेव रार्त्रो ये ये व्यतीयाय पतिंवरासा

नरेन्द्र मार्गट्ट इव प्रपेदे विवर्ण भावं स स भूमिपालः।।

अर्थात् जब इन्दुमति राजकुमारों के समुख वरमाला लेकर उपस्थित होती थी, तब राजकुमार का मुख कान्ति से दैदीप्यमान हो जाता था, जैसे चलते हुए दीपक के किसी महल के समुख आने पर भवन की भव्यता प्रकाशित होती है, परन्तु जब राजकुमारी राजकुमार के सामने से बिना वरण किये आगे बढ़ जाती थी तो उस राजकुमार की कान्ति वैसी मलिन पड़ जाती थी, जैसे दीपक के भवन के सामने से निकल जाने पर, कितना भी विशाल भवन हो- अन्धकार में विलुप्त हो जाता है।

इस प्रकार महिला के अधिकारों पर एक सहज विचार इन शदों में प्रतिबिबित होता है। आज महिला के अधिकार और कर्त्तव्य का निश्चय पुरुष करना चाहता है, तब हमें वेद के इस सन्देश पर ध्यान देना चाहिये।

वेद प्रत्येक मनुष्य को ज्ञान का अधिकार देता है। ज्ञान प्राप्त करके ही मनुष्य अपने हित-अहित का विचार कर सकता है। यदि महिला शिक्षित नहीं होगी, तो निर्णय और विचार कैसे कर सकेगी? इन मन्त्रों में अपने अधिकार, अपने कर्त्तव्य, अपनी योग्यता के कारण जो आत्मविश्वास व्यक्ति के अन्दर आता है, उसका स्पष्ट पता चलता है। अतः तद् विद्वला पतिम् अर्थात् मैंने अपने योग्य पति को प्राप्त कर लिया है, यह कथन उचित ही है।

यह भाव से अभाव तथा अभाव से भाव कैसे हो जाता है? आचार्य सोमदेव

JANUARY 30, 2016 1 COMMENT

जिज्ञासा :-

आचार्य जी, ''समाधान – 93'' में आपने जो दिया है, उसमें थोड़ी-सी शंका शेष रह गई है और वह यह है कि ईश्वर ने इस साकार जगत् की रचना प्रकृति के परमाणुओं से की है। इसका मतलब प्रकृति के परमाणुओं में साकारत्व का गुण है, तभी तो साकार जगत् बन पाया। पंचभौतिक तत्त्व भी प्रकृति के परमाणुओं से ही बने हैं, तो इन परमाणुओं से निराकार पदार्थ कैसे बन जाते हैं और फिर वे निराकार पदार्थ परस्पर मिलते हैं, तो आकार कैसे ग्रहण कर लेते हैं, अर्थात् साकार कैसे बन जाते हैं? यह भाव से अभाव तथा अभाव से भाव कैसे हो जाता है?

निम्न बिन्दुओं पर भी स्थिति स्पष्ट करने का कष्ट करें-

(1) आपने आकाश निराकार बताया है। यह प्रकृति के परमाणुओं से बना है। इसी तरह वायु भी निराकार है, अग्नि जब प्रकट होती तब साकार होती है, अन्यथा निराकार। यह क्यों है?

(2) मेरे विचार से प्रलयकाल में जब प्रकृति अपने विशुद्ध रूप में होती है, तब निराकार ही होती है और ईश्वर तथा जीव निराकार होते ही हैं। फिर निराकार प्रकृति से साकार जगत् कैसे बना?

(3) महर्षि दयानन्द जी ने बताया है कि साकार चीजें असीम नहीं होती, बल्कि जीवात्माएँ भी संया वाली हैं, चाहे वे मनुष्य की गिनती से बाहर हों। ऐसी अवस्था में आकाश या अवकाश रूप आकाश असीम है या ससीम है?

(4) वायु ससीम है या असीम?

(5) क्या ईश्वर के अतिरिक्त अन्य भी कोई तत्त्व ऐसा है, जो असीम हो?

कृपया, समाधान करने का कष्ट करें।

– इन्द्रसिंह पूर्व एस.डी.एम. **29-** नई अनाज मण्डी**,** भिवानी (हरियाणा) चलभाषः – **9416057813**

समाधानः– परमेश्वर ने यह संसार अपने सामर्थ्य से मूल प्रकृति को लेकर बनाया है। संसार के बनाने में परमेश्वर निमित्त कारण और प्रकृति उपादान कारण है। स्थूल जगत् के बनने की प्रक्रिया महर्षि कपिल ने अपने सांय दर्शन में दी है-

सत्त्वरजतमसां सायावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्**,** महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्
पञ्चतन्मात्राण्युभयमिद्रियं पञ्चतन्मात्रेयः स्थूलभूतानि**……**।। सां.- 1.61

सत्त्व, रज, तम- इन तीन वस्तुओं से मिलकरजो एक संघात है, उसका नाम प्रकृति है। उस प्रकृति से महतत्त्व बुद्धि, उस महतत्त्व से अहंकार, अहंकार से पाँच तन्मात्रा अर्थात् सूक्ष्म भूत- रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द , दस इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन, पाँच तन्मात्राओं से पाँच स्थूल भूत अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और इन पाँच महाभूतों से यह दृश्य जगत्।

प्रकृति से जो कुछ भी उत्पन्न होता है, वह आकार वाला होता है, क्योंकि प्रकृति स्वयं आकार वाली है, जो गुण कारण में नहीं होते, वे कार्य में भी नहीं होते। यदि ऐसा होने लग जाये, तो अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, जो द्रव्यात्मक पदार्थों में कभी घट ही नहीं सकता। महर्षि दयानन्द ने भी प्रकृति को आकार वाला माना है। महर्षि लिखते हैं-‘‘…….वह प्रकृति और परमाणु जगत् का उपादान कारण है और वे सर्वथा निराकार नहीं, किन्तु परमेश्वर से स्थूल और अन्य कार्य से सूक्ष्म आकार रखते हैं।’’ – स. प्र. स. 8

आपने जो कहा कि ‘‘मेरे विचार से प्रलयकाल में जब प्रकृति अपने विशुद्ध रूप में होती है, तब निराकार ही होती है।’’ यह विचार ऋषि के विचार से नहीं मिल रहा है। यदि ऐसा मान भी लें तो अभाव से भाव की उत्पत्ति वाली बात हो जायेगी, जो कि युक्त नहीं है। ऊपर जो लिखा कि प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ आकार वाले होते हैं, इस कथन से आकाश निराकार कैसे

सिद्ध होगा- यह प्रश्न खड़ा हो जायेगा। इसके लिए मेरा कथन है कि जो आपने परोपकारी के जिज्ञासा समाधान-93 की चर्चा की है, उसमें साकार निराकार की तीन परिभाषाएँ लिखी हैं, उनको यहाँ पुनः उद्धृत करता हूँ-

1. साकार वह है, जो प्रकृति से बना हुआ, इसके अतिरिक्त निराकार।
2. साकार वह, जिसमें रूप, रस, गन्धादि पाँचों गुण प्रकट हों, इससे भिन्न अर्थात् जिसमें पाँचों गुण प्रकट न हों, वह निराकार।
3. साकार वह, जिसमें केवल रूप गुण प्रकट रूप में हो, अर्थात् जो आँखों से दिखाई दे वह साकार, इससे भिन्न निराकार।

इन परिभाषाओं के आधार से पहली परिभाषा के अनुसार देखें तो जो प्रकृति से बना आकाश है, वह भी साकार होगा। जहाँ आकाश को निराकार कहा है, वहाँ सापेक्ष रूप से कहा है। आकाश पाँच भूतों में सबसे सूक्ष्म है, उसको हम केवल शब्द के आधार से अनुमान लगाकर जान पाते हैं। इसी प्रकार वायु को स्पर्श से जान पाते हैं। रूप क ी दृष्टि से तो ये निराकार ही कहलाएँगे।

हाँ, जिस अवकाश रूप आकाश की बात ऋषि करते हैं, जो कि प्रकृति से नहीं बना, वह तो निराकार ही है और यह अवकाश रूप आकाश असीम है। इन आकाश, वायु आदि के असीम-ससीम के विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि ये पदार्थ प्रकृति से बने होने केकारण ससीम हैं। शेष बाद में लिखेंगे।

– ऋषि उद्यान, पुष्कर मार्ग, अजमेर

जीवात्मा वा मनुष्य की मृत्यु और परलोक’ - मनमोहन कुमार आर्य

JANUARY 30, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

महाभारत के एक अंग भगवद्-गीता के दूसरे अध्याय में जन्म व मृत्यु विषयक वैदिक सिद्धान्त को बहुत सरल व स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है। गीता के इस अध्याय में कुछ प्रसिद्ध श्लोकों में से 3 श्लोक प्रस्तुत हैं। यह तीन श्लोक गीता के दूसरे अध्याय में क्रमांक 22, 23 तथा 27 पर हैं जिन्हें प्रस्तुत कर रहे हैं। ‘वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।22।।’, ‘नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।23।।’ तथा ‘जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।27।।’ इनका अर्थ है कि मनुष्य जैसे पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र धारण कर लेता है वैसे ही आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर दूसरे नये शरीर में चली जाती है। तेइसवें श्लोक में बताया गया है कि शस्त्र इस आत्मा को काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसको सुखा नहीं सकती अर्थात् प्रत्येक स्थिति में यह आत्मा अपरिवर्तनीय रहती है। सत्ताइसवें श्लोक का अर्थ है कि पैदा हुए मनुष्य की मृत्यु अवश्य होगी और मरे हुए मनुष्य का जन्म अवश्य ही होगा। इस जन्म व

मरण रूपी परिवर्तन के प्रवाह का निवारण नहीं हो सकता। अतः जन्म व मृत्यु होने पर मनुष्य को हर्ष व शोक नहीं करना चाहिये। गीता के इन श्लोकों में जो ज्ञान दिया गया है वह जन्म व मृत्यु की यथार्थ स्थिति को प्रस्तुत कर रहा है। संसार में हम सर्वत्र इन कथनों का पालन होते हुए देख रहे हैं।

संसार में हम प्रतिदिन मनुष्यों व अन्य प्राणियों के बच्चे व सन्तानों का जन्म होता हुआ देखते हैं। हम यह भी देखते हैं कि मानव व अन्य प्राणियों का शिशु समय के अनुसार बालक, किशोर, युवा, प्रौढ़ व वृद्ध होता है। वृद्धावस्था भी स्थाई नहीं होती। कुछ वर्षों बाद रोग व दुर्घटना आदि कोई कारण बन जाता है और मृत्यु हो जाती है। मृत्यु के समय हम मृतक के लिये शोक वा दुःख व्यक्त करते हैं और उसकी आत्मा की शान्ति व सद्गति के लिए प्रार्थना करते हैं। ऐसा प्रायः सभी मतों व धर्मों के लोग करते हैं। जो लोग ईश्वर व आत्मा के पृथक अस्तित्व को नहीं मानते, वह भी मृत्यु होने पर दुःखी होते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य व उसके परिजन नहीं चाहते कि उनमें से किसी की मृत्यु हो। हां, रोग आदि होने व अधिक समय तक स्वस्थ होने के स्थान पर अस्वस्थता के विकराल हो जाने पर अवश्य ही लोग विवशता में यह कहते हैं कि यदि इसकी मृत्यु हो जाये तो यह इन दुःखों से छूट सकता है। इन सब पर विचार करने से यह विदित होता है कि जिन लोगों के परस्पर परिचय व सम्बन्ध होते हैं उनमें एक दूसरे के प्रति प्रेम व मोह उत्पन्न हो जाता है। मिलने पर सुख का अनुभव होता है व अलग होने पर दुःख होता है चाहे यह वियोग दोनों के जीवित होने पर ही हो अर्थात् एक दूसरे से कुछ समय के लिए दूर जाने से हो। स्थाई रूप से वियोग अर्थात् मृत्यु का दुःख अधिक होता है। मृत्यु के समय पर हमारे प्रिय जन का भौतिक शरीर तो हमारे ही पास रहता है परन्तु उस शरीर में स्थित एक चेतन तत्व जीवात्मा के न रहने पर उसका शरीर निश्चेष्ट हो जाता है। शरीर के प्रति यद्यपि प्रियजनों को यह विश्वास होता है कि जिस व्यक्ति व पदार्थ से उनका प्रेम सम्बन्ध था वह यह शरीर नहीं, वह इससे भिन्न अन्य कोई था जो अब इसमें नहीं है और यह शरीर उसके न रहने से अब उनके किसी काम का नहीं है। शरीर से कुछ समय बाद दुर्गन्ध उत्पन्न होने लगती है जिसको अपने से दूर करना ही होता है। पर्यावरण प्रदुषण आरम्भ हो जाता है जिसके रोकने के लिए सर्वोत्तम उपाय उसका गोघृत, केसर व कस्तूरी व वनौषधि आदि सुगन्धित पदार्थों से उसे काष्ठ की चिता में जलाकर पंचतत्वों में विलीन किया जाता है। बहुत से लोग इस सर्वोत्तम प्रक्रिया को तत्वतः व यथार्थतः नहीं जानतेख् अतः वह अन्य प्रकार से अन्त्येष्टि करते हैं जिसमें उनकी कुछ साम्प्रदायिक भावनाये व अज्ञान भी होता है। अब प्रश्न यह है कि शरीर से चेतन जीवात्मा कैसे निकलती है व कहां जाती है?

इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए वैदिक ज्ञान के प्राचीनतम व प्रमाणिक होने के साथ ही यह हमारा सहायक होता है। वैदिक ज्ञान के अनुसार यह समस्त संसार सत्व, रज व तम गुणों वाली अति सूक्ष्म मूल जड़ प्रकृति का विकार है जिसे ईश्वर अस्तित्व में लाता है। सृष्टि की रचना का कारण जीवों के पूर्वजन्मों के कर्म होते हैं जिनका भोग करना जीवात्माओं के लिए शेष रहता है। इन भोग करने वाले कर्मों के अनुसार ही ईश्वर जीवात्माओं को नाना प्रकार की योनियों में जन्म देता है। जिन-जिन योनियों में जिसको जन्म मिलता है, उन-उन योनियों में

रहकर जीवात्मा अपने पूर्वजन्मों के कर्मों का भोग करते हैं। भोग करने के बाद मृत्यु आने पर जो कर्म भोग करने के लिए शेष रह जाते हैं उनके अनुसार फिर नया जन्म होता है। मनुष्य योनि एकमात्र ऐसी योनि है जिसमें मनुष्य पूर्वजन्मों के कर्मों को भोगता भी है और नये शुभ व अशुभ कर्मों को करके उनका संचय कर आत्मा की उन्नति व अवनति करता है। इसे इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि धर्मात्मा मनुष्य जन्म में आत्मा की उन्नति करते हैं और धर्महीन लोग अवनति कर दुःखों के भागी बन परजन्मों में दुःखों को भोगते हैं। जीवात्मा को मनुष्य जन्म में यह सुविधा भी दी गई है कि वह ईश्वरीय ज्ञान वेदों का अध्ययन करे, वेद विहित कर्मों ब्रह्मचर्य पालन, ईश्वरोपासना अर्थात् ईश्वर के गुणों का ध्यान व चिन्तन, यज्ञादि कर्म, माता-पिता-आचार्य आदि की सेवा व सत्कार, सभी प्राणियों के प्रति दया, हिंसा का पूर्ण त्याग, समाज व देश का उपकार आदि कार्य करे। यह सभी कर्म मनुष्य को बार-बार के जन्म व मृत्यु के चक्र से छुड़ाकर मोक्ष प्राप्ति में सहायक होते हैं। मोक्ष को प्राप्त जीवात्मा को अन्य जीवात्माओं की तरह बार-बार जन्म व बार-बार मरण की स्थिति से नहीं गुजरना पड़ता। मोक्ष की यह अवधि 31 नील 10 खरब 40 अरब वर्षों की होती है। यह मोक्ष की अवस्था भी जीवात्मा का श्रेष्ठतम परलोक है। जिन जीवात्माओं के मनुष्य जन्म में वेद व वैदिक मान्यताओं के अनुसार श्रेष्ठ कर्म नहीं होते उनकी गीता के श्लोकों के अनुसार पुर्नजन्म होता है। मृत्यु के बाद जीवात्मा की आकाश व वायुमण्डल में स्थिति, उसके बाद पिता व माता के शरीरों में प्रवेश, गर्भावस्था में शरीर के निर्माण के बाद जन्म व जन्म से आगे मृत्यु का समय किसी भी जीवात्मा का परजन्म व परलोक होता है। हम इस संसार में मनुष्यों की सुख-दुःख व सुविधा व असुविधाओं सहित शरीर के सौन्दर्य व शक्तियों के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थितियों को देखते हैं। इनमें से कुछ संसार व समाज निर्णीत हैं और कुछ ईश्वर द्वारा निर्धारित हैं। ईश्वर व संसार द्वारा निर्धारित हमारी परिस्थितियां ही हमारे पूर्वजन्म का परजन्म या परलोक है। जिस प्रकार हमारा यह जन्म व स्थिति हमारे पूर्वजन्म का परलोक है उसी प्रकार से हमारा अगला जन्म इस जन्म के कर्मानुसार श्रेष्ठ व निम्न मनुष्य योनि व गो आदि वा सर्प आदि योनियों में भी हो सकता है। यही हमारे इस जन्म का परलोक होगा।

मुक्ति भी जीवात्मा का परलोक ही होती है। मुक्ति विषयक महर्षि दयानन्द के यथार्थ विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। (प्रश्न) मुक्ति किस को कहते हैं? (उत्तर) जिस में छूट जाना हो उस का नाम मुक्ति है। (प्रश्न) किस से छूट जाना? (उत्तर) जिससे छूटने की इच्छा सब जीव करते हैं। (प्रश्न) किससे छूटना चाहते हैं? (उत्तर) दुःख से। (प्रश्न) छूट कर किस को प्राप्त होते हैं और कहां रहते हैं? (उत्तर) सुख को प्राप्त होते और ब्रह्म में रहते हैं। (प्रश्न) मुक्ति और बन्धन किन किन बातों से होता है? (उत्तर) परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने, और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्याय, धर्म की वृद्धि करने, वैदिक पद्धति के अनुसार परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सब से उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपातरहित न्यायधर्मानुसार ही करे, इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वर की आज्ञा भंग करने आदि काम से बन्ध अर्थात् जन्म-मरण रूपी बन्धन होता है। (प्रश्न) मुक्ति में जीव का लय होता है वा विद्यमान रहता है? (उत्तर) विद्यमान रहता है। (प्रश्न) कहां रहता है? (उत्तर) ब्रह्म में। (प्रश्न) ब्रह्म कहां है और वह मुक्त जीव एक ठिकाने रहता है वा स्वेच्छाचाचरी होकर सर्वत्र विचरता है? (उत्तर) जो ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण है, उसी में

मुक्तजीव अव्याहतगति अर्थात् उस को कहीं रुकावट नहीं, विज्ञान, आनन्द पूर्वक स्वतन्त्र विचरता है। (प्रश्न) मुक्त जीव का स्थूल शरीर रहता है वा नहीं? (उत्तर) नहीं रहता। (प्रश्न) फिर वह सुख और आनन्द का कैसे भोग करता है? (उत्तर) उसके सत्य संकल्पादि स्वाभाविक गुण, सामथ्र्य सब रहते हैं, भौतिक संग नहीं रहता, उनसे भोग करता है।

मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के संकल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गंध के लिये घ्राण, संकल्प-विकल्प करते समय मन, निश्चय करने के लिये बुद्धि, स्मरण करने के लिये चित्त और अहंकार के अर्थ अहंकाररूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है और संकल्पमात्र शरीर होता है। जैसे शरीर के आधार रहकर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है। (प्रश्न) उस की शक्ति कितने प्रकार की और कितनी है? (उत्तर) मुख्य एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गंध ग्रहण तथा ज्ञान इन 24 चैबीस प्रकार के सामथ्र्ययुक्त जीव हैं। इन शक्तियों से मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति व भोग करता है। जो मुक्ति में जीवात्मा का लय होता तो मुक्ति का सुख कौन भोगता? और जो जीव के नाश ही को मुक्ति समझते हैं वे तो महामूढ हैं क्योंकि मुक्ति जीव की यह है कि दुःखों से छूट कर आनन्द स्वरूप सर्वव्यापक अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना।

मृत्यु और परलोक का संक्षिप्त विवरण हमने प्रस्तुत किया है। विस्तार से जानने के लिए सत्यार्थप्रकाश का नवम समुल्लास द्रष्टव्य है। महर्षि दयानन्द वेदों व वैदिक साहित्य के महान ज्ञाता-विद्वान और योग की सिद्धि ब्रह्म वा ईश्वर साक्षात्कार को प्राप्त योगी थे। हमारा ज्ञान व अनुभव उनसे बहुत निम्न व अनेकानेक भ्राान्तियों से युक्त है। जिस प्रकार हम ज्ञान व विज्ञान में प्रमाणित विद्वानों की पुस्तकों पर विश्वास करते हैं उसी प्रकार हमें महर्षि दयानन्द के वचनों के अनुसंधान युक्त वा स्वानुभूत होने पर भी विश्वास करना चाहिये। उन्होंने केवल भाषण व ग्रन्थ ही नहीं लिखे अपितु अपनी समस्त शिक्षाओं को अपने जीवन में चरितार्थ भी कर दिखाया था। अतः मानवता के आदर्श महर्षि दयानन्द के मार्ग व शिक्षाओं को यदि हम अपनायेंगे तो लाभ में रहेंगे अन्यथा वर्तमान व भावी जन्मों में दुःखों से बच नहीं सकते। इसी के साथ इस लेख को विराम देते हैं।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

मनुष्य और अनेक प्राणी योनियों में जीवात्माओं के जन्म का कारण’-मनमोहन कुमार आर्य

JANUARY 30, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

यदि हम अतीत की बातें छोड़कर वर्तमान संसार में विद्यमान मनुष्यादि अनेक प्राणी योनियों में जीवात्माओं के जन्म पर विचार करें तो हम देखते हैं कि सभी प्राणियों में जन्म व मृत्यु का सिद्धान्त काम कर रहा है। हमसे पहले व बाद में जन्में अनेक मनुष्य और अन्य प्राणियों को हमने समय समय पर मरते हुए देखा है। सृष्टि की आदि से वर्तमान समय तक अनेक प्राणी योनियों में अनन्त संख्या में प्राणियों के जन्म हुए हैं, सब अपना जीवन काल पूरा करते हैं और उसके बाद सभी प्राणियों की मृत्यु हो जाती है। इससे यह सिद्धान्त बना है कि जन्म लेने वाले सभी प्राणियों की कुछ समय व वर्षों के बाद मृत्यु अवश्यमेव होती है। वेद, शास्त्र और कर्म-फल विज्ञान के विशिष्ट ज्ञाता हमारे ऋषियों ने यह सिद्धान्त दिया है कि मनुष्य व अन्य प्राणियों के अपने किसी जन्म में मृत्यु से पूर्व तक किये गये शुभाशुभ कर्मों, जिनका फल भोगा नहीं गया हो, उनको भोगने के लिए नाना योनियों में जीवात्माओं के जन्म होते हैं। इस कारण से भिन्न जन्म का अन्य कोई कारण नहीं हो सकता। जो लोग इस सिद्धान्त को नहीं मानते उन्हें विचार करना चाहिये कि इस संसार में हमें सर्वत्र नियम देखने को मिलते हैं। ऋतु परिवर्तन नियमों के अनुसार होता है, ब्रह्माण्ड के सभी पिण्ड गतिशील हैं जो कि विज्ञान के नियमों के अनुसार हो रहा है। इन नियमों का आधार व आदि कारण ईश्वर व परमात्मा है। अति सूक्ष्म एक परमाणु तक में भी विज्ञान के नियमों के अनुसार गति व क्रियायें होती हैं तो फिर मनुष्य का जन्म व मरण का कारण भी अवश्य ही किसी सिद्धान्त व नियम पर आधारित है, यह ज्ञात होता है। ऋषियों ने अपनी साधना व गहन चिन्तन से कर्म-फल सिद्धान्तों पर विचार किया और वेद व अन्य ऋषियों के बनाये शास्त्रों के आधार पर यह निश्चित किया है कि किसी भी मनुष्य व प्राणी के पूर्वजन्मों के शुभ व अशुभ कर्म ही इस मनुष्यादि जन्म के कारण हैं। यह सिद्धान्त पूर्ण युक्तिसंगत एवं ज्ञान-तर्क-विज्ञान से युक्त व पोषित है। इसमें अन्धविश्वास व अज्ञान जैसी कोई बात नहीं है। जिनको यह सिद्धान्त समझ में नहीं आता व जो इसे नहीं मानते उन्हें इस सिद्धान्त का अधिक अध्ययन, विचार व चिन्तन करने की आवश्यकता है।

मनुष्य व सभी प्राणियों के जन्म में जीवात्मा, ईश्वर सहित प्रकृति की भी भूमिका है। ईश्वर हमें जन्म देने वाली सत्ता का नाम है। जिस प्रकार माता-पिता मनुष्य आदि के जन्म में अपनी भूमिका निभाते हैं, उसी प्रकार ईश्वर भी मृत्यु के पश्चात जीवात्मा को उसके कर्मानुसार माता-पिता का चयन कर उनसे जीवात्मा के जन्म की प्रक्रिया पूरी कराता है। यदि परमात्मा यह कार्य न करे तो कोई भी जीवात्मा जन्म न ले सके। जीवात्मा तो जन्म की इस पूरी प्रक्रिया में घटने वाली घटनाओं व क्रियाओं से पूरी तरह अपरिचित व अनभिज्ञ रहता है। ईश्वर अपने विधान के अनुसार जीवात्मा को एक शरीर से निकाल कर उसके भावी माता-पिता के शरीर में प्रविष्ट कराता व उनसे उसे जन्म दिलाता है। जन्म होने के बाद से

जीवात्मा का शरीर वृद्धि को प्राप्त होता है और माता-पिता-आचार्यों व विद्वानों से ज्ञान अर्जित कर वह जीवात्मा वा मनुष्य शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त रहकर अपने पूर्वजन्म के अवशिष्ट कर्म=प्रारब्ध को सुख व दुःख के रुप में भोगता है। लगभग ऐसी ही स्थिति मनुष्येतर सभी प्राणियों के साथ होती है। इससे यह निश्चित है कि मनुष्य योनि में जीवात्मा के कर्म ही उसके भावी जन्म की नींव का कार्य करते हैं और उनके भोग व नवीन कर्मों से भावी जन्म के लिए आधार बनता है।

मनुष्य के जन्म व मृत्यु का कारण जान लेने पर ईश्वर व जीवात्मा के स्वरूप को भी जानना चाहिये। ईश्वर के बारे में सारे संसार में नाना प्रकार की अज्ञानजनित भ्रान्तियां हैं। इन भ्रान्तियों के कारण मनुष्य अपने जीवन के उद्देश्य के यथार्थ ज्ञान से भी दूर अर्थात् भटकाव की स्थिति में रहता है। ईश्वर, जीव व प्रकृति के सत्य स्वरुप का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य अपने कर्तव्य व अकर्तव्यों को जानकर अपने जीवन के उद्देश्य को भी समझ सकता है जिससे वह उद्देश्य के अनुरुप कर्मों को करते हुए सुखों का भोग करे और मृत्यु के पश्चात उसको उसका प्रमुख उद्देश्य वा लक्ष्य 'मोक्ष' प्राप्त हो जाये। प्रथम ईश्वर के स्वरुप पर विचार कर लेते हैं। ईश्वर मुख्यतः इस सृष्टि की रचना करने, इसका पालन करने और अवधि पूरी होने पर इस सृष्टि की प्रलय करने वाली एकमात्र सत्ता है। सभी जीवात्माओं को जन्म देना भी ईश्वर के ही अधीन है। इसके स्वरुप पर विचार करें तो यह सच्चिदानन्दस्वरूप सिद्ध होती है। यह सत्य अर्थात् सत्तात्मक है, यह तो इस सृष्टि की उत्पत्ति व व्यवस्था से ही सिद्ध है। चेतन होना इसलिए अनिवार्य है कि बिना चेतन तत्व व सत्ता के कोई बुद्धिपूर्ण रचना अस्तित्व में नहीं आती है। संसार में हम अनेक बुद्धिपूर्वक बनाये हुए पदार्थों को देखते हैं। किसी निर्मित पदार्थ को देखकर हमें यह अनुमान नहीं होता कि यह किसी बुद्धियुक्त सत्ता द्वारा बिना विचार किये बनाये जा सकते हैं। हां, यह बात भी है कि कई बार बनाने वाला प्रत्यक्ष होता है और कई बार अप्रत्यक्ष वा दूर। अप्रत्यक्ष निमित्त कारण अर्थात् पदार्थों का निर्माता दो प्रकार का हो सकता है। एक कारण निर्माता की हमसे दूरी हो सकती है जिससे वह हमें दिखाई न दे। रचित पदार्थ का दूसरा कारण ऐसी रचनायें हो सकती हैं जो मनुष्यों व मनुष्यों के समूह से बन ही न सकें। इस श्रेणी में सूर्य, चन्द्र, ब्रह्माण्ड, अग्नि, जल, वायु आदि नाना पदार्थ आते हैं। इन्हें मनुष्यों द्वारा नहीं बनाया जा सकता परन्तु इन्हें भी बनाता कोई अवश्य है क्योंकि इनकी रचना में बुद्धि अर्थात् विचार शक्ति व ज्ञान-विज्ञान का प्रयोग दिखाई देता है। ऐसे सभी पदार्थ अपौरूषेय अर्थात् मनुष्यों से इतर अप्रत्यक्ष व अदृश्य ईश्वरीय सत्ता के द्वारा बनाये गये सिद्ध होते हैं। इससे अपौरूषेय सत्ता का चेतन स्वरूपवाला होना सिद्ध होता है। ईश्वर आनन्दस्वरूप है, वह इस कारण से है कि सुख व आनन्द रहित सत्ता कोई छोटा सा भी पदार्थ नहीं बना सकती। इसके लिए उसका दुःख रहित, सुखी व आनन्दित होना आवश्यक है। अतः ईश्वर की तीन विशेषतायें विदित हैं, उसका सत्य, चेतन व आनन्द से युक्त होना। उसके अन्य गुणों में उसका निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, सृष्टिकर्ता होना और जीवात्माओं को कर्मानुसार जन्म–मृत्यु प्राप्त कराकर सुख व दुःख उपलब्ध कराना है। यह संक्षिप्त स्वरुप ईश्वर का वेद, शास्त्र, ज्ञान, विचार व चिन्तन से सिद्ध व प्राप्त होता है।

जीवात्मा के स्वरुप पर भी संक्षेप में विचार करते हैं। जीवात्मा भी सत्य, चित्त, आनन्द व सुख से रहित, इस सुख वा आनन्द के लिए अन्यान्य प्राकृतिक पदार्थों व ईश्वर के सान्निध्य का आश्रय लेने वाला, अनादि, अनुत्पन्न, नित्य, अविनाशी, एकदेशी, ससीम, आकाररहित, कर्मानुसार जन्म व मृत्यु को प्राप्त होने व भिन्न–भिन्न प्राणी योनियों में जन्म लेने वाला और इसके साथ ही वेद, शास्त्रों व विद्वान आचार्यों की संगति से ज्ञान प्राप्त कर, योग–ध्यान आदि साधना से ईश्वर का साक्षात्कार कर दुःखों व जन्म–मरण से छूटकर आनन्द को प्राप्त होने वाली सत्ता, पदार्थ व तत्व है। इसका अनुभव हम अपने स्वरुप में स्थित होकर अर्थात् स्व-अस्तित्व का चिन्तन कर प्रत्यक्ष जान सकते हैं।

हम अपनी आंखों से संसार व सृष्टि को देखते हैं। यह सृष्टि परमाणुओं से बनी है। यह परमाणु भी सत्व, रज व तम गुणों वाली मूल प्रकृति के विकार हैं। मूल प्रकृति अनादि व नित्य है तथा परिमाण में मनुष्यों की दृष्टि में अनन्त परिमाण वाली है। इन्हीं को परमाणुरूप देकर ईश्वर ने इस जगत को बनाया है। सृष्टि यज्ञ का कर्ता ईश्वर है। इसका सम्पूर्ण विज्ञान उसी को विदित है जिस प्रकार किसी वैज्ञानिक खोज का ज्ञान उसके अन्वेषक को ही होता है। अन्य सामान्यजन तो उसका भोग व उपयोग ही करते हैं परन्तु उसके निर्माण की विधि व प्रयुक्त पदार्थों के गुणों का ज्ञान व बनाने की क्रिया को वह वैज्ञानिक व बुद्धिमान पुरुष ही मुख्यतः जानता है। इस विषय से संबंधित महर्षि दयानन्द के विचार प्रस्तुत हैं। वह लिखते हैं कि प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों 'अज' अर्थात् जिन का जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं, इनका कारण कोई नहीं। उस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फसता है और उस में परमात्मा न फसता और न उस का भोग करता है। प्रकृति का लक्षण है, शुद्ध, मध्य, जाड्य अर्थात् जड़ता, तीन वस्तु मिलकर जो एक संघात है, उस का नाम प्रकृति है। उससे महत्तत्व बुद्धि, उससे अहंकार, उस से पांच तन्मात्रा, पांच सूक्ष्म भूत और दश इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन। पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांच भूत, ये चैबीस और पच्चीसवां पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर है। इनमें से प्रकृति अविकारिणी, और महत्तत्व, अहंकार तथा पांच सूक्ष्म भूत, इन्द्रियां, मन तथा स्थूल भूत, प्रकृति का कार्य और प्रकृति इनका कारण है। पुरुष न किसी की प्रकृति, उपादान कारण और न किसी का कार्य है। इस विषय में रूचि रखने व अधिक जानने के लिए पाठकों को सत्यार्थप्रकाश, सांख्य व वैशेषिक दर्शन तथा वेद व उपनिषदों का अध्ययन करना चाहिये।

इस लेख से यह निष्कर्ष विदित होता है कि मनुष्य व सभी प्राणियों के जन्म का कारण उनके पूर्वजन्म के कर्म हैं जिनका सुख-दुःख रुपी भोग करने के लिए अनेकानेक योनियों में ईश्वर जीवात्माओं को जन्म देता है। मनुष्य का जन्म पूर्व कर्मों के भोग व नये वेदविहित कर्मों को कर मोक्ष की प्राप्ति है। इन्हीं शब्दों के साथ इस लेख को विराम देते हैं।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-248001

फोनः09412985121

‘ईश्वर को जानना और उसकी स्तुति करना आवश्यक क्यों है?’ -मनमोहन कुमार आर्य

JANUARY 26, 2016 LEAVE A COMMENT

हम सभी मनुष्य जीवात्मायें हैं जिन्हें ईश्वर की कृपा से मानव शरीर मिला है। जीवात्मा के दो प्रमुख गुण है। पहला गुण इसका ज्ञान की क्षमता से युक्त होना है और दूसरा अपने ज्ञान के अनुरूप सत्यासत्य कर्मों में प्रवृत्त रहना है। अतः जहां ज्ञान व कर्म दोनों गुणों की अभिव्यक्ति हो वहां आत्मा की सत्ता विद्यमान होती है। मनुष्य जन्म लेने से पूर्व हम एक जीवात्मा थे और उससे पूर्व हम कहीं मनुष्यादि अनेक योनियों में से किसी एक योनि में जीवन व्यतीत कर रहे थे। वहां मृत्यु होने तक हमने जो कर्म किये थे वा जिन कर्मों का फल भोगना शेष था, उन पाप-पुण्य रूपी कर्मों के आधार पर ईश्वर ने हमें हमारे वर्तमान जीवन में मनुष्य जन्म दिया है। इस मनुष्य जीवन में हमें पूर्व जन्म के किये हुए अवशिष्ट कर्मों के फलों को भोगना भी है और अगले जन्म के लिये नये कर्म भी संचित करने हैं। सुख-दुःख भोगते व नये कर्मों को करते हुए हमें अपने ज्ञान में वृद्धि भी करनी है। ज्ञान दृश्य व अदृश्य सभी पदार्थों का करना होता है। दृश्य पदार्थों में मुख्यतः सृष्टिगत समस्त भौतिक पदार्थ आते हैं व अदृश्य पदार्थों में अनेक सूक्ष्म भौतिक पदार्थों सहित मुख्य रूप से ईश्वर व जीवात्मा आते हैं। परमात्मा ने सृष्टि की आदि में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद इन चार वेदों का ज्ञान दिया है। यदि हम वेदों के व्याकरण अष्टाध्यायी महाभाष्य पद्धति का अध्ययन कर लें और वेदों के विद्वान आचार्यों की संगति करें तो हम वेदों में निहित अभौतिक व भौतिक अथवा परा व अपरा विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर अपने मनुष्य जीवन को अधिक उपयोगी व लक्ष्य के अनुरुप कार्यक्षम बना सकते हैं। आर्ष ग्रन्थों के हिन्दी भाष्यों को पढ़कर भी लाभान्वित हुआ जा सकता है।

प्रश्न है कि ईश्वर क्या है? इसका एक उत्तर यह है कि जिससे यह संसार बना है, जो इसका पालन कर रहा है तथा जिसने हमें व हमारी ही तरह अन्य सभी जीवात्माओं को जन्म दिया है, उसे परमात्मा कहते हैं। यहां धर्म की दर्शन शास्त्र विहित परिभाषा भी देख लेते हैं जिसमें बताया गया है कि जिन कर्मों वा आचरण को करने से मनुष्य का अभ्युदय अर्थात् शारीरिक व सामाजिक उन्नति हो तथा मृत्यु होने पर जन्म–मरण से छूटकर निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं। मनुष्य की शारीरिक व सामाजिक उन्नति व निःश्रेयस की प्राप्ति कराने वाली सत्ता का नाम ईश्वर है। ईश्वर ने जीवात्माओं को अतिशय सुख देने वा दुःखों की सर्वथा निवृत्ति करने के लिए ही इस संसार को बनाया है। ईश्वर को जानने के लिए महर्षि दयानन्द वर्णित ईश्वर का स्वरुप विशेष लाभकारी है। वह अपने लघुग्रन्थ ‘स्वमंन्तव्यामन्तव्य प्रकाश’ व आर्यसमाज के दूसरे नियम में बताते हैं कि ईश्वर, ब्रह्म वा परमात्मा सच्चिदानन्द लक्षण युक्त है। उसके गुण, कर्म व स्वभाव पवित्र हैं। वह सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, अजन्मा,

अनन्त, सर्वशक्मिान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता व सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है।

स्तुति क्या होती है यह भी सभी मनुष्यों को जानना अभीष्ट है। स्तुति किसी पदार्थ या सत्ता के गुण कीर्तन, गुणों के श्रवण और सत्ता के यथार्थ ज्ञान को कहते हैं। ईश्वर की स्तुति के सन्दर्भ में ईश्वर के गुणों का कीर्तन, ईश्वर के गुणों का श्रवण व ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान यह सभी ईश्वर स्तुति में सम्मिलित हैं। ईश्वर की स्तुति करने से उसके प्रति प्रेम वा प्रीति होती है, यह ईश्वर स्तुति का फल है। स्तुति हम केवल ईश्वर की ही नहीं अपने माता-पिता, आचार्य, विद्वानों व परोपकारी पुरूष यथा सच्चे साधु व महात्माओं आदि की भी किया ही करते हैं। इससे उनके प्रति सम्मान, प्रेम व प्रीति उत्पन्न होती है जिससे हम नानाविध लाभान्वित होते हैं। ईश्वर की स्तुति करने से भी ईश्वर के प्रति प्रीति होने से हम मनुष्यों के सभी दुर्गुण, दुव्र्यस्न और दुःख दूर होते हैं। ऐसा इस कारण से होता है कि ईश्वर में यह दुख, दुव्र्यस्न और दुःखों का लेश भी नहीं है। अतः स्तुति करने से ईश्वर के साथ हमारा सम्बन्ध, आत्मा का परमात्मा से योग व सम्पर्क, होता है जिससे हमारे बुरे गुण-कर्म-स्वभाव दूर होकर कल्याणकारक गुण-कर्म-स्वभाव प्राप्त होते हैं। यदि हम ऋषि व योगियों के जीवन पर एक दृष्टि डाले तो हमें ज्ञात होता है कि इन महात्माओं के जीवन में दुगुणों का सर्वथा अभाव तथा श्रेष्ठ गुणों का प्रचुर मात्रा में समावेश होता है। ऋषि, योगी, सज्जन अथवा आर्य श्रेष्ठ गुणों को धारण किये हुए मनुष्यों को ही कहते हैं। अतः सभी मनुष्यों को स्तुति अपने से श्रेष्ठ मनुष्यों व सबसे श्रेष्ठ व श्रेष्ठतम ईश्वर की करनी चाहिये जिससे मनुष्यों को सभी दुःख दूर होकर ज्ञान, विज्ञान की प्राप्ति सहित सुखों की वृद्धि हो। यह ईश्वर स्तुति सुखों की वृद्धि करने सहित एक ऐसा कर्म वा कार्य है जिससे मनुष्य कर्मों के बन्धनों से मुक्त होकर उन्नति करता हुआ मोक्ष की स्थिति को प्राप्त हो सकता है। महर्षि दयानन्द जी ने चारों वेदों से चयन कर आठ मन्त्रों को स्तुति-प्रार्थना-उपासनार्थ प्रस्तुत किया है जो इस विषय के श्रेष्ठ मन्त्र है जिनका पाठ करने से कालान्तर में दुःखों की निवृत्ति होकर सुखों की प्राप्ति सम्भव है।

मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है तथा फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है। यदि हम ईश्वर को नहीं जानेंगे और उसकी स्तुति-प्रार्थना वैदिक योगविधि से नहीं करेंगे तो हममें लोभ, मोह व राग, इच्छा, द्वेष, काम, क्रोध, अहंकार आदि हमारे ही अन्दर हमारे मुख्य शत्रु उत्पन्न होंगे जो हमारा जीवन नष्ट कर देंगे जिसका परिणाम इस जीवन में अवनति होने से जन्म जन्मान्तर में दुःखों की प्राप्ति ही होगा। अतः दुःख के निवारणार्थ सभी मनुष्यों को सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय का स्वभाव बनाना चाहिये जिससे सत्य व असत्य का विवेक करने में सुविधा होती है। निरन्तर स्वाध्याय से मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाता है। मनुष्यों योग व उपासना के महत्व को जानकर इनका अभ्यास करता है और शुभ कर्मों को करके जीवन के लक्ष्य अभ्युदय व निःश्रेयस को प्राप्त करता है। हमने यह कुछ बातें आर्ष ग्रन्थो मुख्यतः सत्यार्थ प्रकाश के स्वाध्याय के आधार पर लिखी हैं। जो पाठक ईश्वर के स्वरुप व उसकी स्तुति के महत्व से अनभिज्ञ हैं, वह व अन्य सभी इस संक्षिप्त लेख से लाभान्वित हो सकते हैं।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

‘ईश्वर व जीवात्मा विषयक यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति का सरल उपाय’ -मनमोहन कुमार आर्य

JANUARY 26, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

ईश्वर के सत्य स्वरूप का ज्ञान विद्वानों के उपदेशों को सुनकर अथवा वेद वा वैदिक साहित्य के अध्ययन से प्राप्त होता है। पूर्ण नहीं अपितु कुछ मात्रा में यह ज्ञान वैदिक धर्मी माता-पिताओं की सन्तानों को भी परम्परा व संगति से प्राप्त हो जाता है। आजकल के धार्मिक कथाकारों के उपदेशों व प्रवचनों पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि वह ईश्वर व जीवात्मा के सत्य व शुद्ध स्वरुप का यथार्थ वर्णन नहीं करते अपितु अपने अपने मत व आस्थाओं के अनुसार प्रचार करते हैं। उन्हें यह भी ध्यान रहता है कि उन्हें अपने अज्ञानी भक्तों को गुरू व महापुरुष के रूप में स्थापित करना है। उनके भक्तों से संगति करने पर मनोवैज्ञानिक आधार पर ज्ञात होता है कि उन्हें कुछ ऐसी शिक्षा दी गई है कि उनके गुरु-महाराज ही सबसे अधिक ज्ञानी हैं। अन्य गुरुओं की बात सुनना व उनकी विशेषताओं को जानने का वह प्रयास ही नहीं करते हैं। इसे ज्ञान घोटाला या बौद्धिक पतन ही कह सकते हैं। ज्ञानी तो कोई भी मनुष्य हो सकता है। ज्ञानी बनने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य सत्य ज्ञान की प्राप्ति का संकल्प धारण किये हुए हो और वह केवल एक पुरूष व गुरु से ही अपने आपको न बांधे अपितु उसे जहां से जो भी अच्छी बात पता चले, उसे प्राप्त कर उसके आगे और अनुसंधान व अध्ययन कर उसे परिपक्व व समृद्ध करे। हम यह भी अनुभव करते हैं कि सभी धार्मिक कथाकारों को अपनी अपनी मान्यताओं का एक पुस्तक अवश्य लिखना चाहिये जैसा कि महर्षि दयानन्द ने ‘स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश’ एवं ‘आर्योद्देश्यरत्नमाला’ नाम से दो लघु पुस्तकें लिखी हैं। आज भी यह पुस्तकें मात्र एक या दो रूपये में मिल जाती हैं। इन पुस्तकों में धर्म के सभी सिद्धान्तों को बहुत ही संक्षिप्त रूप से परिभाषित किया गया है। इसको पढ़कर जब अन्य मतों के आचार्यों व उनके अनुयायियों को सिद्धान्तों व आचरणों को देखते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि वह सभी अज्ञान व भ्रान्तियों से भरे हुए हैं। एक ही विषय में दो सत्य व दो सिद्धान्त जो परस्पर विरोधी हों, सम्भव नहीं हैं। हां, सिद्धान्तों की व्याख्या करने पर शब्दों में अन्तर आ सकता है परन्तु भाव समान ही रहते हैं। विज्ञान का अध्ययन करने पर हम जान पाते हैं कि संसार के सभी वैज्ञानिकों का एक ही विषय पर एक ही सिद्धान्त है। सारी दुनियों में वैज्ञानिक सिद्धान्त एक समान है। इसे देखकर क्या यह विदित नहीं होता कि मनुष्यों के धार्मिक आचरण व उपासना के सिद्धान्त भी एक ही होने चाहियें। हमें तो वेद व वैदिक साहित्य पढ़कर यही उपयुक्त प्रतीत होता है कि संसार के सारे मनुष्य एक ही परमात्मा की सन्तानें हैं जो अपने अपने

पूर्व जन्मों के प्रारब्ध के अनुसार सुख–दुःख रूपी भोग भोगने के लिए ईश्वर द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। इनकी उत्पत्ति का कारण सत्य का ग्रहण करना व असत्य का त्याग करना है। यह कार्य इनको शिक्षित कर ही किया जा सकता है। उपदेश व पुस्तकों का अध्ययन भी शिक्षा का एक प्रकार है। यदि मनुष्य को सत्य उपदेशक और सत्य पुस्तकें प्राप्त हो जाये तो उसे अपना जीवनयापन व सत्य सिद्धान्तों पर आधारित धर्म कर्म करने में सुविधा होती है, हमें भी हुई है, और इससे सामाजिक व वैश्विक सुख व शान्ति स्थापित किये जा सकते हैं।

उपदेश, प्रवचन, व्याख्यान आदि शिक्षा व ज्ञान प्राप्ति का मुख्य सरलतम मार्ग है। इसके लिए सत्य उपदेशक व ज्ञानी पुरुष की आवश्यकता होती है जो निष्पक्ष, स्वार्थ रहित, ईश्वर भक्त, वेदभक्त, देशभक्त, समाजसेवी, मुमुक्षु, परोपकारी, सेवाभावी, दानीस्वभाववाला, एक ईश्वरोपासक, दम्भ व अहंकार से रहित, धन व सम्पत्ति से दूर रहने वाला, अपरिग्रही, सुख–सुविधाओं का न्यूनतम मात्रा में सेवन करने वाला, पुरुषार्थी, तपस्वी स्वभाव वाला होने के साथ वेद व वैदिक साहित्य से पूर्णतया परिचित व उसका यथार्थ ज्ञान रखने वाला हो। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह संसार के सभी मनुष्यों के रंग व रूपादि के पक्षपात से रहित होकर सबको एक परमात्मा की सन्तान समझे। यदि ऐसा नहीं होगा तो न तो वह सच्चा ज्ञानी हो सकता है और न ही वह उसका प्रचार कर सकता है। आजकल के धार्मिक प्रचारक प्रायः व्यासायिक प्रवृत्ति के देखे जाते हैं जिनके पास प्रभूत धन व सम्पत्ति है और जो सुखी व ठाट-बाट का जीवन बिताया करते हैं, अतः उनमें सच्चा ज्ञानी धार्मिक गुरु होने की पात्रता नहीं है। उनका जीवन ऐसा है कि महाभारत काल तक के हमारे सभी ऋषियों व तपस्वियों ने ऐसा जीवन नहीं बिताया जो आजकल के धार्मिक प्रचारकों से कहीं अधिक ज्ञानी व विद्वान थे तथा योग व समाधि तक को जिन्होंने अपने ज्ञान व पुरुषार्थ से सिद्ध किया हुआ था। अतः हमें लगता है कि आजकल के सभी भक्तों को अपने धर्म प्रचारकों व गुरुओं की परीक्षा लेनी चाहिये कि वह कहां तक सदगुरु की भूमिका में हैं अथवा नहीं। इसका सरलतम उपाय यह है कि सभी धार्मिक भक्त व श्रद्धालु मनुष्य महर्षि दयानन्द का जीवन चरित पढ़े और उनके बाद हुए सच्चे धार्मिक विद्वानों व उपदेशकों जिनमें से कुछ के नाम हैं, स्वामी श्रद्धानन्द, पं. लेखराम, पं. गुरुदत्त विद्यार्थी, स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती, पं. शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ, स्वामी सर्वदानन्द सरस्वती, पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, स्वामी स्वतन्त्रतानन्द, स्वामी सर्वानन्द सरस्वती, पं. भगवद्दत्त, पं. रामनाथ वेदालंकार, स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, स्वामी अमर स्वामी सरस्वती, पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय, स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती आदि के जीवन चरितों का अध्ययन कर व इनसे आजकल के धार्मिक गुरुओं की जीवनचर्याओं व उनकी शिक्षाओं से तुलना कर सत्य को ग्रहण करें। हमें लगता है कि शायद कोई भी आधुनिक गुरु इन महापुरुषों के जीवन चरित के अनुरुप नहीं मिलेगा। यदि इन पूर्व हुए महापुरूषों के जीवन चरित व इनके ग्रन्थों वा उपदेशों का अध्ययन कर लिया जाये तो फिर किसी को धार्मिक गुरु बनाने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। वह पाठक व अध्येता स्वयं ही गुरु बन जायेगा और उसे ईश्वर व जीवात्मा का सत्यस्वरुप ही नहीं अपितु इनकी प्राप्ति का सत्य व सरलतम मार्ग भी ज्ञात हो जायेगा और इससे उनका जीवन सफल हो सकेगा। हां, इसके साथ-साथ योग की शिक्षा के लिए किसी योगाभ्यासी गुरु की शरण लेकर उससे ध्यान की विधि सीखी जा सकती है जिससे की वह ईश्वर का ध्यान कर समाधि अवस्था को प्राप्त होकर अपने जीवन को अधिकतम सुख व परमानन्द की अवस्था में पहुंचा सके।

उपदेशक के बाद ईश्वर व जीवात्मा विषयक सत्य ज्ञान की प्राप्ति का उपाय सत्य ज्ञान पर आधारित पुस्तकें हैं। इस श्रेणी में बहुत सी पुस्तकें हो सकती है। महर्षि दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश इन सभी पुस्तकों में प्रमुख एक पुस्तक है। इसके बारे में देश व विश्व में भ्रान्तियां विद्यमान हैं जिन्हें वेदेतर धर्मियों ने अपने अज्ञान व स्वार्थ के कारण फैलाया है। निष्पक्ष भाव से विचार करने पर लगता है कि संसार के जितने मत-मतान्तर हैं वहां ईश्वर व जीवात्मा का सत्य व शुद्ध स्वरूप उपलब्ध न होने तथा इसी कारण से उपयुक्त उपासना पद्धति न होने के अभाव में उनके अनुयायी अधिकांश व सभी मनुष्य धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के लाभ से वंचित रहते हैं और उनका यह मनुष्य जन्म व्यर्थ व भावी जन्मों में अवनति एवं दुःख के रूप में ही परिणत होता है। इसके लिए केवल एक ही उपाय है कि सभी मतों के विद्वान अपने धार्मिक आग्रहों का त्याग कर सच्ची जिज्ञासा से ईश्वर व जीवात्मा के सत्य स्वरूप व सत्य व्यवहार व आचरण को जाने और ईश्वर की इच्छा व अपेक्षा के अनुरूप ही अपना जीवन बनायें। यही मनुष्य का कर्तव्य व धर्म हैं। वैदिक धर्म इसी धर्म का मूर्त रूप है जिसका प्रचार महर्षि दयानन्द जी ने किया। उनके समकालीन व परवर्ती लोगों ने अपने-अपने अज्ञान पर आधारित परम्परागत व रूढिगत विचारों के कारण उनका बहिष्कार ही किया। परम्परा व रूढियों के कारण मनुष्य पर जो प्रभाव देखा जाता है वह यही होता है कि मनुष्य अपनी मिथ्या मान्यताओं के विरुद्ध सत्य मान्यताओं पर विचार भी करना नहीं चाहता व उनकी उपेक्षा ही करता है। इस पर यदि उसके सबसे निकट परिवारजन व तथाकथित धर्मगुरू आदि उसे सत्परामर्श न दें तो फिर उससे सत्य को ग्रहण कराना और असत्य को छुड़वाना असम्भव कार्य हो जाता है। यही हमें वर्तमान समय में हो रहा अनुभव होता है।

लेख को विराम देने से पूर्व हमें यह बताना है कि धर्म का सम्बन्ध मनुष्य की आत्मा की उन्नति से है। आत्मा की उन्नति मनुष्य की धन-सम्पत्ति व शारीरिक स्वास्थ्य की उन्नति से सर्वथा पृथक है। आत्मा की उन्नति का तात्पर्य मनुष्यों के श्रेष्ठ आचरणों व ईश्वर की सरलतम व कारगर विधि से उपासना करने से है जिससे उपासना से होने वालो लाभों का प्रभाव मनुष्य के स्वभाव व आचरण में परिलक्षित हो। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य सत्यवादी व सत्याचारी बने। मिथ्याचार का सर्वथा त्याग कर दे जिसमें रिश्वत, भ्रष्टाचार, दूसरे के अधिकारों का हनन, अन्याय व शोषण आदि कार्य व आचरण सम्मिलित हैं। इसके विपरीत धार्मिक मनुष्य वह होता है जो श्रेष्ठाचार करते हुए स्वात्मोन्नति सहित देश, समाज सहित प्राणी मात्र की उन्नति व विकास में सहयोगी होता है। इसके लिए सच्चे महापुरूष महर्षि दयानन्द जी आदि के जीवन से प्रेरणा लेते हुए वेद, उपनिषद, दर्शन, सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका व योग आदि का अध्ययन व उसका जीवन में आचरण करना ही सर्वांगीण मनुष्योन्नति का कारण है। आजकल यह सभी ग्रन्थ हिन्दी में भाष्य व अनुवाद सहित उपलब्ध हैं जिनसे लाभ उठाया जा सकता है। हम आशा करते हैं कि पाठक लेख में प्रस्तुत विचारों से सहमत होंगे।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-248001

फोनः09412985121

‘ईश्वर मनुष्यों सहित सभी प्राणियों का सदा सर्वदा का साथी और रक्षक है’ -मनमोहन कुमार आर्य

JANUARY 26, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

तर्क और युक्ति के आधार से यह सिद्ध किया जा सकता है कि इस संसार का रचयिता और पालक ईश्वर है। जो लोग इस विचार से सहमत न हों, उनका यह दायित्व बनता है कि वह इसका प्रतिवाद वा वैकल्पिक उत्तर युक्ति व तर्क पूर्वक दें। हमारा अनुमान है कि इसका अन्य कोई उत्तर नहीं हो सकता। कहने के लिए तो तथाकथित बुद्धिजीवी व कुछ वैज्ञानिक कह दिया करते हैं कि यह संसार अपने आप बना है और स्वतः ही चल रहा है। ईश्वर नाम की कोई चेतन व सर्वव्यापक पृथक सत्ता इसको नहीं चली रही है। उनको जब इस मिथ्या सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए कहा जाता है तो वह इसे सिद्ध नहीं कर पाते और मौन धारण कर लेते हैं। मौन रहने का अर्थ ही है कि यह उनका कपोल कल्पित विचार है जो किसी ठोस कारण व प्रमाण पर आधारित नहीं है। हम जानते हैं कि संसार में मुख्यतः दो प्रकार के पदार्थ, तत्व या सत्तायें हैं। पहली चेतन सत्ता है व दूसरी जड़। प्रकृति जड़ है और ईश्वर व जीव चेतन हैं। जड़ प्रकृति से किसी सार्थक व सप्रयोजन रचना के लिए किसी बुद्धियुक्त चेतन सत्ता की आवश्यकता होती है। यदि रचना करनेवाली चेतन सत्ता नहीं है तो रचना व कार्य नहीं हो सकता। हम अपने रसोई घर का उदाहरण ले सकते हैं। घर में रोटी बनाने का सभी सामान है। परन्तु रोटी तभी बनेगी जब एक चेतन सत्ता अर्थात् रोटी बनाने का जानकार उन सब वस्तुओं का सदुपयोग कर विधि के अनुसार रोटी का निर्माण करें। इसी प्रकार सत्व, रज व तम गुणों वाली सूक्ष्म प्रकृति एक जड़ तत्व है जो रोटी के समान ही इस कार्य सृष्टि का उपादान कारण है। यदि चेतन निमित्त कारण नहीं होगा तो सृष्टि की रचना नहीं हो सकती। यह ब्रह्माण्ड किसी एकदेशी, अल्प ज्ञानी व अल्प सत्ता के द्वारा नहीं रचा जा सकता। इसकी रचना के लिए एक सर्वदेशी वा सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सृष्टि रचना का ज्ञान रखने वाली सत्ता की आवश्यकता है। इन सभी गुणों से पूर्ण सत्ता को ईश्वर कहते हैं। इस सत्ता का प्रमाण समाधि में इसका प्रत्यक्ष वा साक्षात्कार होने पर मिलता है। महर्षि दयानन्द सहित उनके पूर्ववर्त्ती अनेक ऋषि व योगी ध्यान व समाधि द्वारा ईश्वर का प्रत्यक्ष वा साक्षात्कार कर चुके हैं। आज भी अनेक योगी ध्यान की साधना करते हैं और उनमें से कुछ ईश्वर का साक्षात्कार करने में सफल भी होते हैं। यदि किसी वैज्ञानिक, नास्तविक व हठी स्वभाव के व्यक्ति को यह बात अस्वीकार्य लगे तो उसे योगदर्शन के अनुसार ध्यान व समाधि का अभ्यास करना चाहिये और यौगिक जीवन के अनुसार सभी यम व नियमों का पूर्ण पालन करना चाहिये तो उनकी शंका दूर हो जायेगी। सृष्टि की रचना विषयक वैदिक विचार व सिद्धान्तों को जानने के लिए सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सबसे सरल व सुलभ ग्रन्थ हैं। इनकी सहायता से भी सृष्टि की रचना में ईश्वर की भूमिका व उसके निमित्त कारण होने को भलीभांति जाना जा सकता है।

इस लेख में हम चर्चा कर रहे हैं कि ईश्वर सभी प्राणियों का रक्षक है। जब हम अपने अस्तित्व पर विचार करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि हमारा जन्म यद्यपि माता-पिता से हुआ अवश्य है परन्तु सन्तान के शरीर की रचना व उसमें जीवात्मा का प्रवेश माता-पिता नहीं कराते। यह कार्य कौन करता है, उसी को ईश्वर कहते हैं। हम स्वयं भी पिता है और हम यह अच्छी तरह से जानते हैं कि पिता अपनी सन्तान के भौतिक शरीर का निर्माता व उसमें आत्मा का प्रवेश कराने वाली सत्ता नहीं है। यदि ईश्वर ने यह कार्य किया है, यह सत्य सिद्ध है, तो वह अवश्य ही हमारी रक्षा भी करेगा। इसका प्रमाण यह है कि प्रत्येक रचनाकार अपनी सभी रचनाओं की स्वयं ही रचना करता है। अतः इस सृष्टि व इसके प्राणियों की रचना ईश्वर से होने के कारण इनकी रचना का दायित्व ईश्वर पर ही है जो कि सर्वशक्तिमान होने से यह कार्य सुगमता से करने में पूर्ण समर्थ है। हम देखते हैं कि माता-पिता अपनी सन्तान को जन्म देते हैं और उसकी यथासम्भव रक्षा भी करते हैं। आचार्य अपने शिष्य को ज्ञान देता है और शिष्य पर किसी भी प्रकार की आपत्ति आने पर आचार्य उसकी सभी प्रकार से रक्षा करता है। ईश्वर ने हमें उत्पन्न किया वा हमें इस संसार में भेजा है, तो रक्षा का दायित्व भी उसी के ऊपर है। ईश्वर ने ही हमारे प्राणों के लिए स्वास्थ्यप्रद वायु को बनाया और उसे पूरी पृथिवी पर उपलब्ध कराया है। इसी प्रकार उसने हमारी आंखों को देखने में सहायता के लिए सूर्य का निर्माण किया जो न केवल हमारे आंखों को सार्थक करता है वहीं अनेकानेक हितकारी प्रयोजनों को भी सिद्ध करता है। इसी प्रकार जल शरीर की आवश्यकता है। ईश्वर ने ही जल की रचना कर उसे उपलब्ध कराया है और उसके शरीर में प्रवेश के लिए मुखान्द्रिय की रचना की है। यह सब कार्य ईश्वर ने हमारे शरीर व हमारी रक्षा के लिए ही किये हैं। यदि विचार को जारी रखा जाये तो यह सिद्ध होता है कि ईश्वर अनेकानेक प्रकार से हमारी रक्षा करता है। यदा-कदा अपथ्य के कारण हम रोगी हो जाते हैं, तब ऐसे समय में हमारे शरीर की आन्तरिक शक्तियां रोग को ठीक करने में लग जाती हैं। यदि हम रोगकाल में अन्न का भोजन त्याग दें और गोदुग्ध व कुछ फलों या तरकारियों की तरी वा प्रव पदार्थ का ही प्रयोग करें तो हम ठीक हो जाते हैं। बड़े रोगों से बचाव के लिए ईश्वर ने ओषधियां भी बना कर उपलब्ध कराई हुईं है जिनका ज्ञान हमें वेदों से होता है। इसके साथ हि वेदों के साक्षात्दर्शा चरक, सुश्रुत व धन्तन्तरी आदि ऋषियों ने वेदों के आधार व अपने विवेक से आयुर्वेद के ग्रन्थों को हमें उपलब्ध कराया है जो हमें निरोग रखने में सहायक हैं जिससे हमारी रक्षा होती है।

'जाको राखे साइयां मार सके न कोए, बाल न बांका कर सके जो जग बैरी होय।' यह पंक्तियां हमने जीवन में अनेक बार सुनी हैं। इन पंक्तियों के शब्द पूरी तरह सत्य प्रतीत होते हैं। हमारे अपने अनुभव भी इससे पूरी तरह से मिलते जुलते हैं। अनेक अवसरों पर हमारे प्राणों की रक्षा किसी दैवीय सत्ता द्वारा हुई है। यह सर्वव्यापक ईश्वर द्वारा ही की जाती है। ऐसी घटनायें घटती रहती हैं जहां मनुष्य मौत के मुंह से भी बाहर सुरक्षित निकल आता है। महर्षि दयानन्द जी के जीवन की रक्षा भी अनेक बार हुई जब वह विपत्तियों में थे। विपत्तियों में मनुष्यों की रक्षा को ईश्वर की कृपा और उनके अपने-अपने प्रारब्ध को ही माना जा सकता है। कर्म-फल सिद्धान्त के अनुसार यह विषय जटिल है जिसे इसे मनुष्य पूरी तरह जान व समझ नहीं पाता। ईश्वर न्यायकारी है और उसके ही नियमों के अनुसार जीवन में अनेक विपरीत अवसरों पर मनुष्यों की रक्षा होती प्रत्यक्ष देखी जाती है। हम भी एक बार अपने दो

पहिये के वाहन सहित एक खड़ी बस के पीछे से बस के दोनों पहियों के बीच से होते हुए अगले पहियों के पास जाकर रूके थे। कुछ ही क्षण बाद जब हमें अपने जीवित होने का अहसास हुआ तो वह बस स्टार्ट होकर चल पड़ी क्योंकि बस के चालक व उसके यात्रियों को दुर्घटना का ज्ञान नहीं हो सका था। हमने स्वयं को और अपनी दोपहिया गाड़ी को बचाने का प्रयास किया और बस हमारे ऊपर से निकल गई। हजारों की भीड़ ने यह दृश्य देखा तो उन्हें यह चमत्कार ही लगा। उस घटना में बिना किसी प्रकार की हानि के सुरक्षित बचना हमें ईश्वर की रक्षा व कृपा के अतिरिक्त अन्य कुछ लगता नहीं है।

वेदों में तो ईश्वर को जीवात्मा का सनातन साथी, मित्र, बन्धु, सखा, रक्षक, माता, पिता, आचार्य आदि कहा गया है। उसकी रक्षा से ही हम हर क्षण जीवित व सुखी होते हैं। वेद मन्त्र कहता है कि 'यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम' अर्थात् उस ईश्वर का आश्रय ही मोक्ष सुखदायक है और उसको न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही मृत्यु आदि दुःखों का हेतु है। अतः हमें उस सुखस्वरूप सकल ज्ञान के देने हारे परमात्मा की प्राप्ति के लिए आत्मा और अन्तःकरण से भक्ति करनी चाहिये। ईश्वर के विषय में वेद के यह शब्द पूर्ण सत्य हैं। इस पर विश्वास करने व इस भावना के अनुससार जीवन व्यतीत करने से लाभ ही होगा, हानि किंचित नहीं होगी। यदि इसको न मानकर जीवन व्यतीत करेंगे तो हमें भारी हानि उठानी पड़ सकती है। किसी को भय मुक्त करना भी रक्षा की ही एक विधा है। यजुर्वेद के 36/22 मन्त्र में 'यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु। शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः।।' कहकर सर्वव्यापक ईश्वर स्वयं ही अपने स्तोता वा उपासक को न केवल मनुष्यों व पशुओं से ही अपितु उसे सभी स्थानों पर भयमुक्त करने का विधान कर रहे हैं। इस प्रसंग में एक महत्वपूर्ण बात यह जानने योग्य है कि ईश्वर सदा सर्वदा जीवात्मा के साथ रहता है। वह अनादि काल से जीवात्मा का हर पल और हर क्षण का साथी है और अनन्त काल तक रहेगा। वह सर्वशक्तिमान है, अतः उससे अधिक अच्छी हमारी पूर्ण रक्षा और कोई नहीं कर सकता। ईश्वर जीवात्मा का साथ कभी नहीं छोड़ता, वह सदा से हमारा साथी व मित्र है व सदा रहेगा। यह जानकर हमें अभय व निश्चिन्त होकर उसकी स्तुति व उपासना करनी चाहिये और जीवन को सुखपूर्वक व्यतीत करना चाहिये। इन्हीं शब्दों के साथ हम इस लेख को विराम देते हैं।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196 चुक्खूवाला-2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

मनुष्य जन्म की पृष्ठभूमि, कारण एवं परम उद्देश्य' - मनमोहन कुमार आर्य

ओ३म्

संसार के सभी प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठतम प्राणी है। इसका कारण मनुष्यों में सत्य व असत्य का विवेक कराने वाली बुद्धि होती है जबकि अन्य प्राणियों के पास विवेक कराने वाली बुद्धि नहीं होती। मनुष्य अन्य प्राणियों से कुछ भिन्न एक जाति है जिसमें स्त्री व पुरुष सम्मिलित हैं। आजकल जो जातिसूचक शब्दों का प्रयोग आर्य वा हिन्दू करते हैं, उसे जाति कहना वैदिक परम्पराओं एवं जाति शब्द के अर्थ के विरुद्ध है। जाति का सम्बन्ध प्रसव की समानता से जुड़ा है जिससे सभी मनुष्यों की एक ही जाति सिद्ध होती है क्योंकि संसार के सभी स्त्री व पुरुषों का परस्पर सम्बन्ध होने से मनुष्य सन्तान, पुत्र व पुत्री, का जन्म होता है। इसी प्रकार से पशु जाति है जिसमें गाय, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, लंगूर, बन्दर आदि अनेक प्रकार की उपजातियां है। इसमें अन्तर्जातीय सन्तानोत्पत्ति नहीं होती अर्थात् गाय व बैल से, कुतिया व कुत्ते, घोड़े व घोड़ी आदि से ही होती है अन्यथा नहीं। अतः गाय, भैंस, घोड़ा आदि अलग-अलग पशु जाति की उपजातियां हैं। संसार के सभी मनुष्यों में समान रूप से प्रसव सम्भव होने के कारण सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक ही जाति है। हां, गुण, कर्म व स्वभाव से इसके ज्ञानी-अज्ञानी, बली-निर्बल, अध्यापक, वैद्य व चिकित्सक, सैनिक, राजा, सेवक आदि भेद हो सकते हैं। यह जातियां नहीं अपितु गुण-कर्मानुसार वर्ण होते हैं। हम इस लेख में मनुष्य जाति की पृष्ठभूमि पर विचार कर रहे हैं। मनुष्य जाति की पृष्ठभूमि में मुख्य कारण एक चेतन तत्व जीवात्मा व ईश्वर की सत्ता का होना है। यह जीवात्मा अविनाशी, अनुत्पन्न, सनातन, नित्य, अनादि सत्ता है जिनकी सृष्टि में संख्या मनुष्य के ज्ञान के अनुसार अनन्त वा असंख्य हैं। इनके अपने-अपने गुण कर्म व स्वभाव हैं। जीवात्मा एकदेशी, अनुत्पन्न, अनादि, अनुत्पन्न, अविनाशी, अमर, नित्य, कर्म-फल के चक्र में फंसा हुआ, कर्म-फल व प्रारब्ध के अनुसार सुख-दुःख रूपी फलों के भोग के लिए ही भिन्न-भिन्न मनुष्य, पशु, पक्षी व अन्य योनियों में जन्म लेने वाला है। यदि ईश्वर जीवात्मा को जन्म न दे तो फिर इसका अस्तित्व होने के बाद भी यह अनुपयोगी होकर रह जाये। इसका स्वभाव (ईश्वरीय प्राकृतिक नियम) ही यह है कि ईश्वर के द्वारा अपने पाप-पुण्य रूपी कर्मों का फल भोगने के लिए इसका जन्म होता है। जन्म लेने में यह ईश्वर के पराधीन है। मनुष्य योनि में जन्म होने पर यह पाप व पुण्य रूपी कर्म करने में सफल होता है। अन्य इतर योनियां केवल भोग योनियां हैं। ईश्वर सर्वव्यापक, निराकार और सर्वान्तर्यामी रूप से जीवात्मा के प्रत्येक कर्म का साक्षी होता है। इन कर्मों का सम्मिलित परिणाम ही इसका भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म होना होता है। एक योनि में जन्म लेने के लिए प्रारब्ध कारण बनता है जिसके आधार पर किसी योनि विशेष में इसकी जाति अर्थात् मनुष्य, पशु व पक्षी आदि सहित आयु व सुख-दुःख रूपी भोग निर्धारित होते हैं जो ईश्वर की व्यवस्था से इसे मिलते रहते हैं। जीवात्मा का सनातन अस्तित्व, एक देशी व सूक्ष्म तत्व होना, ज्ञान व कर्म इसके स्वभाविक गुण होना और ईश्वर की सभी जीवों के लिए सृष्टि की रचना करने, पालन करने व जीवात्माओं को उनके पूर्व जन्मानुसार भिन्न–भिन्न योनियों में जन्म देने की सामर्थ्य ही जीवात्मा के मनुष्य व अन्य योनियों में जन्म की पृष्ठभूमि और कारण है। इसके विस्तार से अध्ययन के लिए सत्यार्थप्रकाश सहित वेद, उपनिषद और दर्शन आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये।

जीवात्मा कर्मानुसार जन्म लेता है यह बात तो सृष्टि में प्राणियों के आचार व व्यवहार को देख कर भी सत्य सिद्ध होती है। अब जानने योग्य प्रश्न यह है कि मनुष्य जन्म का उद्देश्य क्या है? मनुष्य जन्म का मुख्य उद्देश्य दुःखों की निवृति है। हम सभी प्राणियों को कर्म करते हुए देखते हैं। यह सभी प्राणी सुख की प्राप्ति के लिए ही सभी कर्म करते हुए प्रतीत होते हैं। प्रातः काल उठकर भ्रमण, आसन, व्यायाम व प्राणायाम करना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होता है। यह स्वास्थ्य ही सुख का आधार है। यदि स्वास्थ्य अच्छा नहीं होगा तो मनुष्य को दुःख होता है। शरीर आदि व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है और शीघ्र मृत्यु का ग्रास बन जाता है। अतः हमारे सभी कर्म मुख्यतः स्वास्थ्य व सुखों की प्राप्ति व भोग सहित दुःखों की निवृति के लिए ही किये जाते हैं फिर भी संसार का कोई मनुष्य यह दावा नहीं करता कि वह पूर्णतया सुखी है। सुख का परिणाम ही दुःख होता है। अधिक भोजन कर लिया तो उदर विकार होने से दुःख शीघ्र या कुछ विलम्ब से सामने आ जाता है। सुख के लिए धनोपार्जन करने में भी जो पुरुषार्थ किया जाता है वह भी कष्टसाध्य ही होता है। अर्जित धन की रक्षा करना भी सबके लिए सम्भव नहीं होता। अनेक प्रकार के दुःख जो धनिक लोगों में धन व सम्पत्ति के कारण होते हैं, समाज में देखने में आते हैं। स्वास्थ्य सम्बन्धी दुःख भी सभी मनुष्यों को समय समय पर आते जाते रहते हैं, जिनसे बचना दुष्कर है। अतः संसार में मनुष्य जन्म लेकर भी कोई व्यक्ति ऐसा देखने में नहीं आता जिसे कोई दुःख न हो। सबसे बड़ा और अन्तिम दुःख मृत्यु का होता है। मृत्यु के बाद पुनः जन्म की प्रक्रिया में पिता-माता के शरीर में जाना और वहां दस माह तक शरीर निर्माण की प्रक्रिया में रहने व माता के गर्भ में उलटा लटका रहने सहित मल-मूत्र आदि पदार्थों के सान्निध्य में रहना भी सुख की नहीं दुःख की ही स्थिति है। अतः दुख की निवृति के सभी सांसारिक साधन उपयोगी नहीं हैं। मृत्यु आदि दुःख से बचने के लिए ही महर्षि दयानन्द व भगवान बुद्ध ने अपने सुखी पारिवारिक जीवन का त्याग कर दुःख के स्वरूप को जानने एव उसको दूर करने के उपायों को जानकर उनके पालन हेतु कठोर तप किया। महर्षि दयानन्द इस कार्य में सफल हुए। उन्होंने जो ज्ञान व साधन जाने व प्राप्त किये और जिनका उन्होंने अपने निजी जीवन में उपयोग व प्रयोग अर्थात् आचरण किया, उससे सारे संसार को लाभान्वित किया। वह चाहते तो अपना कल्याण करते और समाधि का असीम आनन्द भोगते परन्तु परोपकार के लिए उन्होंने अपनी सभी उपलब्धियों को सार्वजनिक ही नहीं किया अपितु इसका प्रचार व प्रसार करने में अपने जीवन का एक एक क्षण बिना किसी निजी प्रयोजन व लाभ के व्यतीत किया और अन्त में प्राण भी दे दिए।

महर्षि दयानन्द जी ने जो ज्ञान व विवेक प्राप्त किया वह उनके सभी ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। उसका निष्कर्ष है कि जीवात्मा के दुःखों की पूर्ण की निवृत्ति सद्धर्म के पालन और मोक्ष की प्राप्ति में होती है। सद्धर्म मनुष्यों के सत्य कर्तव्यों को कहते हैं। यह सभी सत्कर्तव्य वेदों व वैदिक साहित्य में उपलब्घ होते हैं जिनका सरलीकरण महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य सहित सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि व आर्याभिविनय आदि अनेक ग्रन्थों में किया है। इसको संक्षेप में इस प्रकार जाना जा सकता है कि पाप वा असत्य कर्मों का फल दुःख होता है और पुण्य वा सत्य कर्मों का फल सुख होता है। यदि हम सकाम सत्य व पुण्य कर्म भी करेंगे तो भी हमारा एक के बाद दूसरा जन्म होता रहेगा। इसके लिए मनुष्य को वेद विहित सत्य कर्मों को करना है और साथ ही ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना सहित अग्निहोत्रादि कर्म, माता-पिता-आचार्य-गुरू-विद्वान आदि की सेवा व सत्कार एवं सभी प्राणियों

के प्रति अहिंसा का भाव रखते हुए उनके पोषण में सहायक होना है। योग ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना को ही कहते हैं। इसके सिद्ध होने का अर्थ है समाधि में ईश्वर का साक्षात्कार होना। यह ईश्वर साक्षात्कार तभी सम्भव होता है जब जीवात्मा पर अंकित सभी पाप व असत्य कर्मों के संस्कार रूपी मल-विक्षेप-अहंकार नष्ट व दग्ध-बीज हो जाते हैं। यह स्थिति ईश्वर का ध्यान करने, ईश्वर के गुण, कर्म व स्वभावानुसार अपना आचरण सुधारने वा ईश्वर के गुणों के अनुरूप करने व अपना सारा समय परोपकार व दुखियों की सेवा में लगाने पर ही प्राप्त होती है। समाधि अवस्था में ईश्वर का साक्षात्कार हो जाने पर मनुष्य जन्म मरण के चक्र से छूट जाता है और ईश्वर के निरन्तर आनन्द रूपी सान्निध्य को प्राप्त कर उसमें ही आनन्द को भोगता है। यही मनुष्य जीवन का उद्देश्य, लक्ष्य वा परम उद्देश्य है। महर्षि दयानन्द इसी मार्ग पर चले और कृतकार्य हुए। हमारे सभी ऋषि-महर्षि-योगी-सन्त भी इसी मार्ग का अवलम्बन अपने-अपने जीवन में करते रहे। यह साधना व कार्य कुछ लोगों के ही करने के लिए नहीं अपितु सभी मनुष्य, स्त्री वा पुरुष इसके अधिकारी व पात्र हैं। कभी न कभी तो हमें इसे अपनाना ही है क्योंकि इसके बिना जीवात्मा की मोक्ष की यात्रा पूरी नहीं होती। वह कर्मफल बन्धन में पड़ा रहता है। यह मोक्ष प्राप्ती ही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है। यहां यह भी बता दें कि हम सभी मनुष्यों को इससे पूर्व संसार की सभी योनियों में अनेक-अनेक बार जन्म हो चुके हैं। अनेक बार हम मोक्ष में भी गये है और अवधि पूरी होने पर लौटे हैं। वहां से आकर हम फिर कर्म के बन्धनों में फंस कर वर्तमान स्थिति को प्राप्त हुए हैं। यह तथ्य सत्य है जिसे जानकर सद्कर्मों सहित ईश्वर की सच्ची वैदिक विधि से उपासना में जुट जाना चाहिये जिससे कालान्तर में मोक्ष प्राप्त हो सके। अन्य मार्ग मंजिल पर पहुंचाने के स्थान पर लक्ष्य से दूर करते हैं। अतः केवल वैदिक साधनों का ही अवलम्बन करना उचित है।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

जिसका जन्म उसकी मृत्यु और जिसकी मृत्यु उसका जन्म होना अटल है’ -मनमोहन कुमार आर्य

JANUARY 20, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है कि जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु ध्रुव अर्थात् अटल है और जिसकी मृत्यु होती है उसका पुनर्जन्म वा जन्म होना भी ध्रुव सत्य है। हम अपने जीवन में यदाकदा अपने परिचितों व अपरिचितों की मृत्यु का समाचार सुनते रहते हैं। जिस व्यक्ति से हमारा सम्पर्क व सम्बन्ध होता है उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर हमें दुःख होता है। विगत दो दिन में आर्यसमाज से सम्बन्धित हमारे तीन परिचित बन्धुओं की मृत्यु हुई है। इसके अतिरिक्त हमने जिस विभाग में कार्य किया वहां के तीन सेवानिवृत व्यक्तियों की भी

विगत लगभग 11 दिनों में मृत्यु हुई है। शास्त्रों में मृत्यु को अभिनिवेश क्लेश कहा गया है। यह मृत्यु व इसका समाचार सभी के लिए दुःखदायी होता है। इस दुःख में कुछ रहस्य छिपा हुआ हो सकता है। पहला सन्देश तो यह लगता है कि अन्यों की मृत्यु हमें अपने बारे में सोचने का संकेत करती है। यह बताती है कि एक दिन हमें भी मरना है। यह हमें सावधान करती है कि हम सोच विचार कर भविष्य में होने वाली अपनी मृत्यु का निवारण करें। यही मुख्य सन्देश हमें मृत्यु का प्रतीत होता है।

क्या मृत्यु का निवारण हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि सदा के लिए तो नहीं अपितु कुछ समय के लिए मृत्यु को कुछ पीछे धकेला जा सकता है। यदि हम अपनी दिनचर्या जिसमें हमारा भोजन, व्यायाम, आसन, प्राणायाम, ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना उपासना सम्मिलित है, उन पर ध्यान दें तो निश्चय ही हम मृत्यु के समय को कुछ आगे बढ़ा सकते हैं। ऐसा करके व साथ हि मृत्यु के बारे में अधिक से अधिक वैदिक विचारों का ज्ञान व रहस्यों को जानकर तथा ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना से हम सामान्य लोगों को होने वाले मृत्यु के भय से अभय ना सही, भय को कुछ कम तो कर ही सकते हैं। अतः मृत्यु की उपेक्षा न करके इसके विषय में यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये। हमारा विचार है कि यह कठिन कार्य नहीं है। महर्षि दयानन्द ने इस कार्य को सरल कर दिया है। उन्होंने अपने लिए मृत्यु की जिस ओषधि को खोजा था व जिससे वह अभय बने थे, उसे उन्होंने समाज व देश के सभी लोगों के कल्याण के लिए वितरित व प्रचारित किया था।

वह ओषधि जानने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि हम शरीर नहीं अपितु एक चेतन सत्ता 'जीवात्मा' हैं। चेतन पदार्थ में ज्ञान व कर्म, यह दो गुण स्वभाविकः होते हैं। ईश्वर भी चेतन सत्ता है, अतः उसमें भी ज्ञान व क्रिया अनादि काल से विद्यमान है। सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी व सूक्ष्मतम होने सहित वह सर्वज्ञ भी है। जीवात्मा एकदेशी व सूक्ष्म सत्ता है परन्तु ईश्वर जीवात्मा से भी सूक्ष्म वा सूक्ष्मतम है। हमारी आत्मा वा जीवात्मा एकदेशी होने से अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्वव्यापक होने सर्वज्ञ है। हमें अपनी आत्मा विषयक ज्ञान या तो सीधा ईश्वर से समाधि अवस्था में वा वेदों के अध्ययन से प्राप्त होता है। वेदों का अध्ययन कर हम ईश्वर व आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर अपनी बौद्धिक व आत्मिक उन्नति कर सकते हैं। ईश्वर की बनाई सृष्टि को देखकर व समझकर तथा पदार्थों के गुणों को तर्क की कसौटी पर कस कर भी कुछ कुछ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। हमने विज्ञान का बहुत अधिक तो नहीं परन्तु कार्यसाधक ज्ञान प्राप्त किया है। अध्यात्म के ग्रन्थों को भी पढ़ा है। इससे हमें जीवात्मा व ईश्वर के विषय को जानने व समझने में सहायता मिली है। जीवात्मा अनादि, अजन्मा, अनुत्पन्न, अल्पज्ञ, चेतन, सूक्ष्म अणु के समान वा बिन्दूवत, ईश्वर की कृपा से मनुष्य आदि जन्मों को प्राप्त कर कर्म करने में स्वतन्त्र व उसके सुख-दुःख रूपी फलों को भोगने में परतन्त्र है। अशुभ व बुरे कर्म को छोड़कर केवल निष्काम शुभकर्मों को करके जिसमें ईश्वरोपासना सहित अग्निहोत्र, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय, माता-पिता-आचार्य-विद्वानों-संन्यासी आदि अतिथियों की सेवा-सत्कार सहित परोपकार वा दान आदि कार्य सम्मिलित हैं, मनुष्य कर्म-फल के बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। मोक्ष दुःखों की पूर्णतया वा सर्वथा निवृत्ति, जन्म व मरण से मुक्ति व ईश्वर के सान्निध्य में आनन्द को भोगने की स्थिति

को कहते हैं। मोक्ष में मुक्त जीवात्मा सर्वव्यापक व सर्वत्र आनन्द से परिपूर्ण ईश्वर में विचरती है और ईश्वर के आनन्द का भोग करती हैं। यह ऐसा ही है कि किसी योग्यतम व्यक्ति को उसकी इच्छा की सभी वस्तुयें सुलभ कराना। इन बातों को जान लेने पर मनुष्य का मृत्यु का भय कम वा समाप्त प्रायः हो जाता है। मृत्यु के भय की ओषधि सद्ज्ञान ही है जो महर्षि दयानन्द ने प्राप्त किया था और उससे उन्होंने मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त की थी। यह समस्त ज्ञान उन्होंने सत्यार्थप्रकाश सहित अपने सभी ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है जो सभी के जानने योग्य है।

ईश्वरोपासना के सन्दर्भ में महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना से जीवात्मा के अविद्या-प्रधान काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मल छंटते वा नष्ट प्रायः होते हैं और जीवात्मा के गुण ईश्वर के गुण, कर्म व स्वभाव के अनुरूप होते जाते हैं। जिस प्रकार अग्नि की संगति होने पर शीत का निवारण होता है और जैसे ताप से आतुर पुरूष का ताप जल में स्नान कर दूर होता है उसी प्रकार से ईश्वरोपासना से मनुष्य के बुरे गुण-कर्म-स्वभाव छूट कर ईश्वर के गुणों के अनुरूप होते जाते हैं। इतना ही नहीं अपितु जीवात्मा का बल इतना बढ़ता है कि पहाड़ के समान मृत्यु आदि भयंकर दुःखों को प्राप्त होने पर भी मनुष्य घबराता नहीं है। क्या यह छोटी बात है? अतः मृत्यु के भय से मुक्त होने वा उस पर विजय प्राप्त करने के लिए मनुष्यों को वैदिक ग्रन्थों के स्वाध्याय सहित वैदिक विधि से ही ईश्वरोपासना व यज्ञ आदि कार्य करने चाहिये जिनसे इच्छित परिणाम प्राप्त हो सकते हैं।

जब हम संसार की आदि से अब तक जन्म लेने व मृत्यु को प्राप्त होने वाले मनुष्यों पर विचार करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि सृष्टि की आदि से अब तक खरबों लोग उत्पन्न हुए व मरे, यहां तक की श्री राम व श्री कृष्ण, हनुमान जी व अर्जुन के समान महावीर व योद्धा तथा कोटिशः ऋषि व मुनि हुए परन्तु कोई भी अपने आप को मृत्यु के पाशों से मुक्त नहीं रख सका, तो यह विदित व सिद्ध हो जाता है कि हम सभी को कुछ समय बाद संसार से निश्चय ही जाना है। मृत्यु होनी है, यह तो जन्म के समय ही निश्चित हो जाता है, बस वर्ष, महीने व दिन की जानकारी हमारे पास नहीं होती। यह आज, अगले क्षण व कालान्तर में कभी भी हो सकती है। काल का निश्चय न होने के कारण ही शास्त्रकारों ने कहा है कि हमें मनुष्य जीवन में जो काम करने हैं उसे शीघ्रतम कर लेना चाहिये। हमारे इन प्राणों का कोई भरोसा नहीं की कब यह साथ छोड़ दें। अनेक कामों में मुख्य काम ईश्वर, आत्मा व संसार को जानना, अपनी आत्मा के मलों को दूर करना व शुभ संस्कारों से आत्मा को उन्नत करना है। जितनी जल्दी यह काम पूरा होगा उतना ही शीघ्र इससे हमारे वर्तमान व भविष्य के जीवन में दुःखों की निवृति व सुख लाभ होगा। अतः लक्ष्य की प्राप्ति में लग जाना ही उचित है।

लेख को अधिक विस्तार न देते हुए गीता के दूसरे अध्याय के 22, 23 तथा 27 वें श्लोकों को प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें आत्मा व मृत्यु के सम्बन्ध में अनमोल विचार उपलब्ध हैं। 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।**22**।।', 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति

मारुतः।।23।।', तथा 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।27।।' इनका अर्थ है कि मनुष्य जैसे पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र धारण कर लेता है वैसे ही आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर दूसरे नये शरीर में चली जाती है। शस्त्र इस आत्मा को काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसको सुखा नहीं सकती अर्थात् प्रत्येक स्थिति में यह आत्मा अपरिवर्तनीय रहती है। पैदा हुए मनुष्य की मृत्यु अवश्य होगी और मरे हुए मनुष्य का जन्म अवश्य ही होगा। इस जन्म व मरण रूपी परिवर्तन के प्रवाह का निवारण नहीं हो सकता। अतः जन्म व मृत्यु होने पर मनुष्य को हर्ष व शोक नहीं करना चाहिये। गीता के इन श्लोकों में जो दर्शन दिया गया है वह जन्म व मृत्यु की यथार्थ स्थिति को प्रस्तुत कर रहा है।

जीवात्मा व इसके जन्म व मृत्यु विषयक रहस्यों को जानकर मनुष्यों को मृत्यु के दुःख से यथासम्भव निवृत होना चाहिये। मृत्यु, जो कि सत्य है, होनी ही है, जिसे कोई टाल व बदल नहीं सकता, उसको यथार्थ रूप में जानकर शोक व दुःख से मुक्त होना ही किसी विवेकी पुरुष की सफलता है। हम आशा करते हैं कि पाठक लेख में प्रस्तुत आत्मा व मृत्यु विषयक विचारों को पढ़कर लाभान्वित होंगे।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

'ईश्वर का प्रमाणिक विवरण कहां से प्राप्त हो सकता है?' -मनमोहन कुमार आर्य

JANUARY 20, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

संसार के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तो सबसे पुराना इतिहास भारत का ही उपलब्ध होता है। भारत का इतिहास 1 अरब 96 करोड़ 8 लाख 53 हजार 115 वर्ष पुराना है। लगभग 5,200 वर्ष पहले कुरुक्षेत्र में महाभारत का युद्ध हुआ था। इससे देश का महाविनाश हुआ। इसमें सैनिक व राजा तो मरे ही, इसके साथ अव्यवस्था के कारण हमारा प्रभूत वैदिक ज्ञान व विज्ञान भी ध्वस्त वा विलुप्त हो गया। यह महाभारत युद्ध की सबसे बड़ी क्षति थी। सौभाग्य से कुछ ऋषि बच गये। उनकी कुछ वर्षों तक, महर्षि जैमिनी तक, परम्परा चली। इसके बाद भी महर्षि दयानन्द की तरह कुछ ऋषि हुए जिन्होंने ग्रन्थों के प्रणयन द्वारा वैदिक धर्म व संस्कृति की रक्षा के प्रयास किये। दक्षिणात्य स्वामी शंकराचार्य जी से पूर्व किसी ऐसे ऋषि की जानकारी उपलब्ध नहीं है जिसने महर्षि दयानन्द की भांति, लेखन, उपदेश, शास्त्रार्थ, शंका समाधान आदि द्वारा,

वेदों का प्रचार किया हो। शंकाराचार्य जी ने भी वेदान्त, उपनिषद व गीता का अपनी अद्वैतवादी वेदान्त की विचारधारा के अनुसार प्रचार किया। महाभारत के बाद जो ऋषि हुए उन्होंने अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निरुक्त जैसे कई ग्रन्थों का निर्माण किया। आयुर्वेद के ग्रन्थ चरक व सुश्रुत भी भारत की प्राचीन सम्पदा हैं। यह उस समय के ग्रन्थ हैं जब यूरोप के देश अस्तित्व में भी नहीं आये थे। इसी प्रकार से भारत में उपनिषद, दर्शन आदि अनेकानेक ग्रन्थों की रचना हुई। मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत ग्रन्थ भी किसी प्रकार से बच गये। मुगलों ने यद्यपि तक्षशिला व नालन्दा आदि के विशाल पुस्तकालयों को अग्नि को समर्पित कर दुर्भावना से नष्ट किया, शायद ही उन्होंने हमारे धर्म ग्रन्थों को नष्ट करने का कहीं कोई अवसर छोड़ा हो, तथापि दैव कृपा से बहुत सा साहित्य सुरक्षित रहा, जिसके लिए हमारे इन ग्रन्थों के रक्षक पण्डित व अन्य सभी बन्धु समस्त आर्य-हिन्दू जनता की कृतज्ञता व धन्यवाद के अधिकारी हैं। यह भी प्रसंग से बाहर जाकर लिख दे कि जिन अपने लोगों ने भारत पर राज्य किया व कर रहे हैं, वह वैदिक साहित्य व इसके यथार्थ महत्व से सर्वथा अनभिज्ञ ही रहे हैं। इनकी रक्षा व प्रचार का जो कार्य राज्य स्तर पर किया जाना चाहिये था, वह नहीं किया गया।

वेदों को कण्ठस्थ करने की परम्परा के कारण मानव की सबसे गौरवपूर्ण एवं महनीय बौद्धिक सम्पदा 'वेद' सृष्टि के आरम्भ से अब तक सुरक्षित व अपने मूल रूप में विद्यमान है। इसी प्रकार से खगोल ज्योतिष के भी ग्रन्थ भारत में विद्यमान हैं। हमारे देश व देश से बाहर के पुस्तकालयों में प्राचीन ग्रन्थों की बड़ी संख्या में पाण्डुलिपियां भी विद्यमान हैं जिनकी ओर हमारे सस्कृत के जानकार विद्वानों का ध्यान नहीं है। अभी तक किसी सरकार का इस ओर ध्यान नहीं गया। इन प्राचीन पाण्डुलिपियों के अध्ययन व अनुवाद आदि से जो लाभ मिल सकता था वह नहीं हो पा रहा है। वोटरों को लुभाने की ओर ही सरकारों का मुख्य ध्यान रहता है। यदि यह पाण्डुलिपियां विश्व के किसी अन्य देशों में होती जिनको उनके पूर्वजों ने लिखा होता तो उन्होंने इन सबका अपनी-अपनी भाषाओं में अनुवाद व मूल्यांकन अवश्य किया होता। भारत अपनी प्राचीन बौद्धिक धरोहरों व सम्पदा का मूल्यांकन करने व उसका महत्व जानने में शायद कम ही रूचि लेता है। ऐसा लगता है कि हमारे देश के प्रायः सभी बुद्धिजीवी पश्चिम के भौतिकवाद के प्रभाव से ग्रसित हैं, इसी कारण प्राचीन ज्ञान के अध्ययन की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। सौभाग्य से हमारे आर्य विद्वानों पं. भगवद्दत्त, पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पं. युधिष्ठिर मीमांसक आदि ने इस दिशा में यथासम्भव कार्य किया।

ईश्वर के प्रमाणित ज्ञान के सम्बन्ध में हमारा प्राचीन साहित्य ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण व सहायक है। संसार का सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद है। वेद में ईश्वर सहित जीवात्मा व प्रकृति के यथार्थ ज्ञान पर भी प्रकाश डाला गया है जिसका विस्तार उपनिषदों व दर्शन आदि ग्रन्थों में मिलता है। यह ज्ञान महाभारतकाल के बाद की परिस्थितियों से प्रभावित होकर लुप्त सा हो गया था। उन्नीसवीं शताब्दी में महर्षि दयानन्द (1825-1883) का आविर्भाव हुआ। उन्होंने अपने अपूर्व ब्रह्मचर्य और पुरुषार्थ से वेदों का पूर्ण ज्ञान, जो कि कोई मनुष्य जान सकता है, ग्रहण किया और ईश्वर की प्रेरणा व अपने विवेक से इस कार्य को मानवता का सर्वाधिक कल्याणी जानकर इसका अनेक प्रकार से प्रचार व प्रसार किया। वेद ही एकमात्र ऐसे सर्वप्राचीन

प्रमाणिक ग्रन्थ हैं जिसमें ईश्वर का पूर्णतया सत्य व यथार्थ स्वरुप वर्णित व उपलब्ध है। अन्य मनुष्यकृत ग्रन्थों में से अधिकांश में ईश्वर का जो स्वरुप वर्णित है वह विष सम्पृक्त अन्न के समान त्याज्य हैं।

इससे पूर्व कि हम वेदों के ऋषि महर्षि दयानन्द के वेदों पर आधारित ईश्वर विषयक विचार प्रस्तुत करें, हम यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के आठवें मन्त्र 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः सव्यम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।' इसका अर्थ दयानन्द जी के अनुसार यह है कि 'हे मनुष्यों ! जो ब्रह्म शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान्, स्थूल–सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित, छिद्ररहित और न ही छेद करने योग्य, नाड़ी आदि के साथ सम्बन्धरूप बन्धन से रहित, अविद्यादि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र और जो पापयुक्त पापकारी और पाप में प्रीति करनेवाला कभी नही होता, सब ओर से व्याप्त है, जो सर्वत्र सब जीवों के मनों की वृत्तियों को जाननेवाला, दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला और अनादिस्वरूप जिसकी संयोग से उत्पत्ति तथा वियोग से विनाश और जिसका माता–पिता द्वारा गर्भवास, जन्म वृद्धि और मरण नहीं होते, वह परमात्मा सनातन अनादिस्वरूप अपने–अपने स्वरूप से उत्पत्ति और विनाशरहित प्रजाओं के लिये यथार्थ भाव से सब पदार्थों को विशेष कर बना कर वेद द्वारा प्रकाश करता है। यही परमेश्वर तुम लोगों का उपासना करने के योग्य है।'

ईश्वर का पूर्ण विस्तृत सत्यस्वरुप जानने के लिए पाठकों को महर्षि दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, आर्याभिविनय, वेदभाष्य, आर्योद्देश्यरत्नमाला आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये। इसके साथ सभी उपनिषदें व योगदर्शन भी ईश्वर का सत्यस्वरुप प्रस्तुत करने के साथ उनकी प्राप्ति के उपयों पर भी प्रकाश डालते हैं। ईश्वर का वेदवर्णित सत्यस्वरुप यदि संक्षेप में सरलता से जानना हो तो वह आर्यसमाज के दूसरे नियम, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, आर्योद्देश्यरत्नमाला आदि ग्रन्थों से जाना जा सकता है। हम इन तीनों ग्रन्थों के एतदविषयक उद्धरण यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। आर्यसमाज के दूसरे नियम में ईश्वर के स्वरुप का प्रकाश करते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि 'ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरुप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।' आर्यामन्तव्यामन्तव्यप्रकाश लघु ग्रन्थ में महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि 'जिसके ब्रह्म, परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्ता, धर्ता, हर्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है, उसी को परमेश्वर (कहते हैं) मानता हूं।' आर्योद्देश्यरत्नमाला में ग्रन्थकार ने लिखा है कि '(ईश्वर) जिसके गुण–कर्म–स्वभाव और स्वरुप सत्य ही हैं, जो केवल चेतनमात्र वस्तु तथा जो एक, अद्वितीय, सर्वशक्तिमान, निराकार, सर्वत्र व्यापक, अनादि और अनन्त, सत्य गुणवाला है, और जिसका स्वभाव अविनाशी, ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध, न्यायकारी, दयालु और अजन्मादि है, जिसका कर्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सब जीवों को पाप–पुण्य के फल ठीक–ठीक पहुंचाना है, उसको 'ईश्वर' कहते हैं।'

संसार के अनेक मत-मतान्तरों में इस वैदिक मत का विरोधी व विपरीत ईश्वर का जो स्वरुप वर्णित किया गया है वह असत्य, अप्रमाणिक व अविद्याजन्य है। महर्षि दयानन्द द्वारा वर्णित उपर्युक्त ईश्वर का स्वरुप वह स्वरुप है जो कि एक सिद्ध योगी को समाधि अवस्था में साक्षात्कार होने पर प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। इसी स्वरुप का वेदों व आर्ष वैदिक साहित्य में वर्णन है। तर्क व युक्ति से भी इसकी पुष्टि होती है। ईश्वर के इसी स्वरुप का ध्यान करने से आत्मा के मलों की निवृत्ति होने पर ईश्वर का साक्षात्कार होता है। वैदिक मत के विपरीत पद्धतियों से ईश्वर विषयक पूजा व उपासना से उपासना के मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य ईश्वर के साक्षात्कार की उपलब्धि नहीं होती। इसका निभ्रान्त ज्ञान भी वैदिक साहित्य को पढ़कर व अनुमान से जाना जाता है। हमने उपर्युक्त पंक्तियों में ईश्वर का जो वेद पोषित स्वरुप प्रस्तुत किया है वही प्रमाणिक व सत्य स्वरुप है। संसार के सभी मनुष्यों को इसी स्वरुप को जानकर, वेदाध्ययन करने व ध्यान आदि साधना करने से ईश्वर की प्राप्ति जीवनकाल में ही हो जाती है। यह समाधि व ईश्वर के साक्षात्कार की अवस्था ही स्वर्ग व मोक्ष के समान सर्वाधिक सुख व आनन्द की स्थिति होती है। इसको प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य व लक्ष्य है। यदि मानव जीवन में यह स्थिति प्राप्त नहीं की, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी कर लिया जाये, इसकी तुलना में वह सब हेय व निम्न है। उत्कृष्ट मनुष्य जीवन वही है जिसमें आध्यात्म व भौतिकवाद का समन्वय हो। केवल भौतिकवादी जीवन अपंग ही कहा जायेगा। आशा है कि लेख के विचारों से पाठक लाभान्वित होंगे।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

‘ब्रह्मचर्य का स्वरुप व उसके पालन से लाभ’ - मनमोहन कुमार आर्य

JANUARY 13, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

सभी मनुष्य सुख की ही कामना करते हैं, दुःख की कामना कोई मनुष्य नहीं करता। सुख प्राप्त हों और जीवन में दुःख न आयें, इसके लिए प्रयत्न करना होता है। सुख व दुःख का आधार शरीर है। यदि हमारा शरीर दुर्बल व रोगी है तो यह दुःख का धाम बन जाता है और यदि यह बलवान व निरोग है तो यह सुख का आधार होता है। दुर्बलता और रोगों से रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य एक ऐसा उपाय वा साधन है जिसे धारण करने से मनुष्य दुःखों से बच सकता है और सुखी जीवन व्यतीत कर सकता है। ब्रह्मचर्य क्या है? यह शरीरस्थ सभी इन्द्रियों यथा दर्शन, श्रवण, गन्ध, रस व स्पर्श पर पूर्ण नियन्त्रण को कहते हैं। यदि हमारी कर्म इन्द्रियों के यह पांचों अवयव पूर्णतयः पवित्र हों, इनमें किंचित मलिनता व विकार न हों, तो यही ब्रह्मचर्य वा इसका पालन है। जो मनुष्य अदर्शनीयों वस्तुओं का दर्शन, अश्रवणीय कथाओं का श्रवण,

विपरीत व हानिकारक गन्ध, रस व स्पर्श का सेवन करता है तो उसका ब्रह्मचर्य खण्डित हो जाता है या यह बातें ब्रह्मचर्य को कुप्रभावित व खण्डित करती हैं। हम भोजन के रूप में जो कुछ ग्रहण करते हैं उससे शरीर में भिन्न-भिन्न पदार्थ व धातुएं बनती हैं जिनसे शरीर में शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसी ही धातुओं में से पुरुष शरीर में एक धातु वीर्य होती है। इसका शरीर में अधिक मात्रा व उत्कृष्ट अवस्था में होना शरीर व प्राणों के बल, आरोग्यता व बौद्धिक व आत्मिक उन्नति का कारण व साधन होता है और इसका नाश व अपव्यय ही ब्रह्मचर्य का नाश व खण्डन होता है जो कि पंचकर्मेन्द्रियों की पवित्रता व नियंत्रण न होने के कारण उत्पन्न होता है। हमारी सभी इन्द्रियां मन की प्रेरणा से इच्छित विषयों में आकर्षित होती हैं। यदि मनुष्य को सत्य-असत्य वा उचित-अनुचित का ज्ञान है और मन में असत्य व अनुचित कार्यों को न करने का दृण संकल्प है तो मन इन्द्रियों के अपवित्र व हानिकारक कार्यों से बच जाता है और सुख का लाभ करता है। इस ब्रह्मचर्य की रक्षा व पालन के लिए मनुष्य को वायुसेवन, प्रभातवेला में भ्रमण सहित आसन, प्राणायाम व ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना करना भी आवश्यक होता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में आयु के अनुसार ब्रह्मचर्य के तीन प्रकार लिखे हैं जिनके नाम हैं कनिष्ठ ब्रह्मचर्य, मध्यम ब्रह्मचर्य और उत्तम ब्रह्मचर्य। आज इस लेख में हम इन तीनों प्रकार के ब्रह्मचर्य का पाठकों के लाभार्थ इस हेतु से वर्णन कर रहे हैं कि वह इसे जान व समझ कर स्वयं लाभान्वित हों व इसका प्रचार कर धर्मलाभ प्राप्त करें।

ब्रह्मचर्य का मुख्य प्रयोजन न केवल शरीर व प्राणों को बलवान बनाना है अपितु इसका मुख्य प्रयोजन वेदादि शास्त्रों के ज्ञान व विज्ञान सहित समस्त विद्याओं का अर्जन भी है। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में शास्त्रों के आधार पर लिखा है कि पांचवे वा आठवें वर्ष से लड़के लड़कों की पाठशाला तथा लड़कियां लड़कियों की पाठशालाओं में जावें और नियम-पूर्वक अध्ययन का आरम्भ करें। आठवें वर्ष से आगे छत्तीसवें वर्ष पर्यन्त अर्थात् एक-एक वेद के सांगोपांग पढ़ने में बारह-बारह वर्ष मिल के छत्तीस और आठ मिल के चवालीस अथवा अठारह वर्षों का ब्रह्मचर्य और आठ पूर्व के मिल के छब्बीस वा नौ वर्ष तथा जब तक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवे तब तक ब्रह्मचर्य रक्खे। छान्दोग्य उपनिषद के आधार पर ब्रह्मचर्य का वर्णन करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है। प्रथम कनिष्ठ जो पुरुष अन्न-रस-मय देह और देह में शयन करने वाला जीवात्मा, यज्ञ द्वारा अतीव शुभगुणों से संगत और सत्कर्तव्य है, इसको यह कर्तव्य अवश्य है कि **24** वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रह कर वेदादि विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करे और विवाह करके भी लम्पटता न करें तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभगुणों के वास कराने वाले होते हैं। इस प्रथम वय में जो अपना सारा समय विद्याभ्यास में तपस्या करता हुआ लगाये और वह आचार्य ब्रह्मचारी को वैसा ही उपदेश किया करे और ब्रह्मचारी ऐसा निश्चय रखे कि जो मैं प्रथम अवस्था में ठीक–ठीक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहूंगा तो मेरा शरीर और आत्मा आरोग्य बलवान् होके मेरे प्राण शुभगुणों को बसाने वाले होंगे। महर्षि दयानन्द गृहस्थियों को कहते है कि तुम इस प्रकार से अपने निजी भौतिक सुखों का विस्तार करो कि जिससे ब्रह्मचारी व विद्यार्थी ब्रह्मचर्य का लोप न करें अर्थात् वह भौतिक सुख-सुविधाओं की ओर आकर्षित व कुप्रभावित न हों और वह 24 वर्ष तक तो ब्रह्मचर्य का पालन कर सके। आचार्य ब्रह्मचारी को उपदेश करते हुए विश्वास दिलाता है कि यदि तू **24** वर्ष के पश्चात् गृहाश्रम करेगा तो प्रसिद्ध है कि रोगरहित ररेगा और तेरी आयु भी **70** वा **80** वर्ष होगी।

दूसरा ब्रह्मचर्य मध्यम ब्रह्मचर्य कहलाता है। जो मनुष्य **44** वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रह कर वेदाभ्यास करता है उसके प्राण, इन्द्रियां, अन्तःकरण और आत्मा बलयुक्त होकर सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करने वाले होते हैं। यदि कोई ब्रह्मचारी प्रथम वय में जैसा स्वामीजी ने कहा है, कुछ तपश्चर्या करे तो उसका यह रुद्ररूप प्राणयुक्त मध्यम ब्रह्मचर्य सिद्ध होगा। स्वामीजी कहते हैं कि हे ब्रह्मचारी लोगो ! तुम इस ब्रह्मचर्य को बढ़ाओं। जैसे इस ब्रह्मचर्य का लोप न करके ब्रह्मचारी यज्ञस्वरूप होता है, वह उसी आचार्यकुल से आता और रोगरहित होता है और जैसा यह ब्रह्चारी अच्छा काम करता है वैसा अन्य सभी को करना चाहिये।

उत्तम ब्रह्मचर्य 48 वर्ष पर्यन्त का तीसरे प्रकार का होता है। जैसे 48 अक्षर का जगती छन्द होता है, वैसे ही जो **48** वर्ष पर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है उसके प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं। आचार्य और माता-पिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुणग्रहण के लिये तपस्वी कर और उन्हें तपस्वी होने का उपदेश करें और वे सन्तान आप ही आप अखंडित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावे वैसे अन्य भी बढ़ायें क्योंकि जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर इसका लोप नहीं करते वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

स्वामी दयानन्द जी ने ब्रह्मचर्य की उपर्युक्त तीन अवस्थाओं का वर्णन करने के बाद शरीर की अवस्थाओं का वर्णन करते हुए सुश्रुत के आधार पर बताया है कि इस शरीर की चार अवस्थायें हैं। एक (वृद्धि) जो 16 वें वर्ष से लेके 25 वें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की वृद्धि होती है। दूसरा (यौवन) जो 25 वें वर्ष के अन्त और 26 वें वर्ष के आदि में युवावस्था का आरम्भ होता है। तीसरी (सम्पूर्णता) जो पच्चीसवें वर्ष से लेके चालीसवें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती है। चैथी (किचिंत्परिहाणि) तब सब सांगोपांग शरीरस्थ सकल धातु पुष्ट होके पूर्णता को प्राप्त होते हैं। तदनन्तर जो धातु बढ़ता है वह शरीर में नहीं रहता किन्तु स्वप्न, प्रस्वेदादि द्वारा बाहर निकल जाता है। यही 40 वां वर्ष विवाह का उत्तम समय है। अड़तालीसवें वर्ष में विवाह करना उत्तमोत्तम होता है।

महर्षि दयानन्द ने ब्रह्मचर्ययुक्त जीवन, उसकी महत्ता व लाभों पर यह विचार सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में व्यक्त किये हैं। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष को प्राप्त कराने वाला ब्रह्मचर्ययुक्त जीवन वैदिक आश्रम व्यवस्था के अनुसार जीवन की श्रेष्ठतम् व्यवस्था है। इससे विद्या की प्राप्ति, शारीरिक व प्राण शक्ति को बल की प्राप्ति सहित सुखी व रोगरहित दीर्घायु की प्राप्ति होती है। इतिहास में रामभक्त वीर हनुमान और भीष्म पितामह का नाम ब्रह्मचर्य के व्रत पालन के कारण अमर है। इसके बाद अखण्ड ब्रह्मचारी महर्षि दयानन्द ही हुए हैं जिन्होंने ब्रह्मचर्य के सेवन से प्रशंसनीय शारीरिक व आत्मिक उन्नति प्राप्त की और देश व संसार का अपूर्व उपकार किया। उन्होंने जिस वैदिक विचारधारा को अपने उपदेशों, लेखों व ग्रन्थों के माध्यम से प्रस्तुत किया है, वही विचारधारा समाज, देश व विश्व में सुख व शान्ति का आधार

है। उनके बताये मार्ग पर चल कर ही मनुष्य अभ्युदय व निःश्रेयस की प्राप्ति कर सकते हैं। इन्हें प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। उनका बताया वैदिक मार्ग सनातन व शाश्वत होने के साथ देश व काल से अबाधित व अप्रभावित है। सभी मनुष्यों को उनके विचारों व वैदिक व्यवस्थाओं को जीवन में धारण कर अपना जीवन सफल करना चाहिये।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196 चुक्खूवाला-2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

'ईश्वराधीन कर्म-फल व तद् आश्रित सुख-दुःख व्यवस्था पर विचार'-मनमोहन कुमार आर्य

JANUARY 11, 2016 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

संसार में मनुष्य ही नहीं अपितु समस्त जड़-चेतन जगत क्रियाशील हैं। सृष्टि पंचभौतिक पदार्थों से बनी है जिसकी ईकाई सूक्ष्म परमाणु है। यह परमाणु सत्व, रज व तम गुणों का संघात है। इन्हीं परमाणुओं से अणु और अणुओं से मिलकर त्रिगुणात्मक प्रकृति व सृष्टि का अस्तित्व विद्यमान है। परमाणु में इलेक्ट्रान कण भी निरन्तर गति करते रहते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति से भी पूर्व निर्मित इन परमाणुओं में इलेक्ट्रान ईश्वरीय नियमों के अनुसार गति करते आ रहे हैं एवं प्रलय अवस्था तक यह क्रम निरन्तर चलता रहेगा। मनुष्य व सभी प्राणियों में प्राणों का बाहर आना व अन्दर जाना निरन्तर होता रहता है। पलकें भी निरन्तर झपकती रहती हैं। जागृत अवस्था में मनुष्य का मन भी निरन्तर क्रियाशील रहता है। मन आत्मा से प्रेरणा लेता है और ज्ञान व कर्मेन्द्रियों को कर्मों में प्रवृत्त करता है। उठना-बैठना, चलना-फिरना, सोना-जागना, शौच जाना, भोजन करना, मल-मूत्र का त्याग आदि भी क्रियायें एवं कर्म हैं जो जीवित रहने के लिए आवश्यक हैं। इनसे भिन्न किसी विषय का चिन्तन वा विचार, तदनुसार शरीर को उसके अनुसार प्रवृत्त कर इच्छित परिणाम प्राप्त करना आदि भी सभी मनुष्य करते हैं। हमारे यह सभी कर्म हमारी शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक व आत्मिक उन्नति का आधार होते हैं। हमारे अनेक कार्यों वा क्रियाओं का प्रभाव पर्यावरण-परिवेश-वातावरण व दूसरे मनुष्यों पर भी पड़ता है। इसी प्रकार से दूसरे मनुष्यों व प्राणियों के कर्मों वा क्रियाओं का प्रभाव भी हम पर पड़ता है। उन कर्मों का यदि विभाजन व वर्गीकरण किया जाये तो मुख्यतः यह शुभ व अशुभ कर्म कहे जा सकते हैं। हमारे जिन कर्मों से हमें लाभ होता है परन्तु दूसरे निर्दोष प्राणियों वा मनुष्यों को किसी प्रकार से हानि नहीं पहुंचती, उन्हें शुभ कर्म कहा जा सकता है और इसके विपरीत कर्मों को अशुभ कहा जा सकता है। कर्म-फल व्यवस्था से सम्बन्धित एक शास्त्रीय वचन है 'अवश्यमेव हि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं।' अर्थात् मनुष्य को अपने किये हुए शुभ व अशुभ कर्मों के फल भोगने ही होते हैं।

कर्मफल व्यवस्था के सन्दर्भ में सृष्टि की उत्पत्ति के प्रयोजन को जानना भी महत्वपूर्ण है। सृष्टि की उत्पत्ति क्यों हुई? इसका उत्तर चारों वेदों एवं समस्त वैदिक व अवैदिक साहित्य के मर्मज्ञ महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में दिया है। सत्यार्थप्रकाश के अष्टम् समुल्लास में वह ऋग्वेद के एक मन्त्र 'इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद।।' प्रस्तुत कर इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं कि जिस से यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है, जो धारण और प्रलयकर्ता है, जो इस जगत् का स्वामी है, जिस सर्वत्र व्यापक सत्ता में यह सब जगत् उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय को प्राप्त होता है, सो परमात्मा है। उस को, हे मनुष्य ! तू जान और दूसरे किसी को सृष्टिकर्ता मत मान। इस मन्त्र में ईश्वर की सत्ता तथा उसके सृष्टि उत्पन्न करने के कार्य को बताया गया है। ईश्वर व सृष्टि के अस्तित्व को जान लेने के बाद प्रश्न होता है कि ईश्वर ने यह सृष्टि क्यों व किस प्रयोजन के लिए बनाई है? सृष्टि को देखकर ईश्वर का अपना कोई निजी प्रयोजन विदित नहीं होता। हम संसार में उद्योगों को देखते हैं जहां विवधि वस्तुओं का निर्माण होता है जिसे उद्योगपति दूसरे लोगों के उपयोग व धन कमाने के लिए करता है। उद्योगपति मनुष्य है अतः उसका प्रयोजन धन कमाना है व इससे अन्यों का हित भी जुड़ा, परन्तु ईश्वर मनुष्य नहीं है, वह धन व ऐसे किसी कार्य के लिए सृष्टि की रचना व पालन आदि कार्य नहीं करता। उसे किसी से किसी पदार्थ की अपेक्षा भी नहीं है। हां, जीवों को सुख व दुःख का मिलना इसका प्रयोजन प्रतीत होता है। ऋग्वेद के मन्त्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।।' के शब्दों तयोरन्यः व स्वाद्वत्ति में कहा गया है कि (तयोरन्यः) इस संसार में जीव व ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्ष रूप संसार में पापपुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोक्ता है। यहां कहा गया है कि जीवात्मा अपने शुभ व अशुभ जो पुण्य व पाप कर्म कहे जाते हैं उनके फलों अर्थात् सुख व दुःखी रूपी भोगों को भोक्ता अर्थात् उनका परिणाम व फल को पाता व ग्रहण करता है। वेद अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान के आधार पर ज्ञात होता है कि ईश्वर ने इस सृष्टि को जीवों के पाप व पुण्यरूपी कर्मों के फलों को प्रदान करने के लिए ही अपनी सामथ्र्य से मूल-कारण प्रकृति के द्वारा इस सृष्टि की रचना की है। श्वेताश्वरोपनिषद् के श्लोक 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।' में कहा गया है कि इस अनादि प्रकृति से निर्मित सृष्टि का भोग करता हुआ अनादि जीवात्मा उसमें फंसता है। फंसने का तात्पर्य है कि जीवात्मा सृष्टि में फलों व सुख की कामना से कर्म करता हुआ इसमें फंसता है अर्थात् ईश्वर की कर्म-फल व्यवस्था में बंधता है। यदि इसे उलट दिया जाये तो इसका अर्थ होता कि यदि जीव संसार में सुख आदि भोगों की इच्छा से रहित होकर ईश्वरोपासना व परोपकारादि कर्मों को करता है तो वह बन्धनों में फंसता नहीं अपितु मुक्त हो जाता है।

उपर्युक्त 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' मन्त्र में ईश्वर, जीव व प्रकृति के अस्तित्व को अनादि बताया गया है। यह तीनों पदार्थ वा सत्तायें अनादि काल से विद्यमान हैं। ईश्वर को उपादान कारण प्रकृति से सृष्टि की रचना करने व इसे चलाने का ज्ञान स्वभाविक रूप से अनादि काल से है। जीवों को मनुष्य या प्राणियों के शरीर चाहियें तभी वह अपनी ज्ञान व कर्म स्वभाव वाली सत्ता का उपयोग अर्थात् पूर्व कर्मों का भोग व नये कर्मों को कर सकते हैं। यदि सृष्टि न हो तो उनका अस्तित्व निरर्थक सिद्ध होता है। यदि ईश्वर सृष्टि बनाने की सामथ्र्य रखता है, वह

सृष्टि की रचना न करे तो उसका अस्तित्व होना उपयोगी नहीं और उसका ईश्वरत्व वा स्वामीत्व भी किसी काम का नहीं। इसी प्रकार से प्रकृति से यदि सृष्टि न रची जाये तो इसका अस्तित्व भी निरर्थक ही सिद्ध होता है। अतः जीवों को अपने अपने प्रारब्ध का भोग और नये कर्मों को करने के लिए ईश्वर द्वारा उपादान कारण प्रकृति का उपयोग कर सृष्टि की रचना करना आवश्यक है। ईश्वर कुछ जीवों को मनुष्य और किन्हीं को भिन्न–भिन्न प्राणी योनियों में उत्पन्न करता है, इसका आधार जीवों के सृष्टि के पूर्व कल्पों वा पूर्वजन्मों के कर्म वा उन कर्मों का संचय रूपी प्रारब्ध होता है। यह उत्तर वैदिक दार्शनिकों ने सृष्टि विषयक तथ्यों का सूक्ष्म विवेचन करने पर पाया है। इस प्रकार से ईश्वर पक्षपात रहित न्यायकारी सत्ता सिद्ध होती है। ईश्वर के सर्वव्यापक व सर्वान्तर्यामी होने से वह सृष्टि के सभी जीवों का सभी कालों में साक्षी होता है। उसे हर जीव के हर कर्म का यथावत् अर्थात् मन व आत्मा के आन्तरिक भावों से लेकर कर्म का निर्णय करने से कर्म को करने तक का ठीक-ठीक ज्ञान रहता है, अतः उसे जीवों के कर्मों का फल देने में किसी प्रकार की समस्या व कठिनाई नहीं होती।

संसार में एक नियम काम कर रहा है कि हम जो भी कर्म करते हैं उनमें से कुछ क्रियमाण कर्मों का फल हमें साथ-साथ व कुछ का कालान्तर में मिलता है। जीवन के अन्त अर्थात् मृत्यु से पूर्व कर्म जिन्हें क्रियमाण कर्म कहा जाता है, उनका फल साथ-साथ मिल जाता है और अवशिष्ट संचित कर्मों का फल मृत्यु तक नहीं मिलता। इससे यह ज्ञात होता है कि कर्मों का फल वर्तमान व भविष्य दोनों कालों में सुख व दुःख के रूप में मिलता है। इससे यह भी सिद्ध है कि हमारा वर्तमान का सुख व दुख हमारे कुछ वर्तमान और कुछ पूर्व समय अर्थात् भूतकाल में किये हुए कर्मों पर आधारित है। मृत्यु के समय जिन शुभ व अशुभ कर्मों का फल भोगने से रह जाता है, प्रारब्घ नामी कर्म कहलते हैं, यह प्रारब्ध ही भावी जन्म अर्थात् पुनर्जन्म का आधार है। मनुष्य के जैसे कर्म व प्रारब्ध होगा, उसी के अनुसार नये जन्म में जाति, आयु और भोग प्राप्त होंगे। योगदर्शन की यह बात तर्क एवं युक्ति संगत है। वेदों व स्मृतियों आदि के आधार पर मनुष्यों को सन्ध्या व दैनिक अग्निहोत्र यज्ञ सहित पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ तथा बलिवैश्वदेवयज्ञ करने का विधान है। इन्हें करने से हमारा वर्तमान जीवन और भावी जीवन सुधरता व संवरता है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है। सृष्टि के आरम्भ से लेकर महाभारत काल तक और उसके बाद भी विद्वानों द्वारा वेद मार्ग पर ही चलने का निर्देश दिया गया है। हमारे पूर्वज ज्ञान विज्ञान से पूर्ण सत्य का आचरण करने वाले थे, अतः उनकी युक्ति व तर्क संगत बातों को सभी मनुष्यों को मानना चाहिये। शंकालु बन्धुओं को वेद, दर्शन, उपनिषद, मनुस्मृति व सत्यार्थप्राकाश आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर अपनी भ्रान्तियां दूर करनी चाहिये। संसार के अन्य ग्रन्थों का अध्ययन कर इस विषय का ज्ञान व समाधान नहीं होता। सभी कर्मों का फल ईश्वर देता है। किस कर्म का क्या फल होता है, यह ईश्वर को ज्ञात है जो कि उसकी व्यवस्था से हमें व सभी जीवों व प्राणियों को अवश्य मिलेगा। हमें ईश्वर के पक्षपात रहित व न्यायकारी होने में पूरा विश्वास रखते हुए बुरे कर्म नहीं करने चाहिये और अपने सभी अच्छे कर्मों को ईश्वर को समर्पित कर निश्चिन्त होना चाहिये। इसका परिणाम शुभ होगा।

यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के दूसरे मन्त्र में मनुष्यों को वेदविहित कर्मों को करते हुए सौ वर्ष जीने की कामना करने की शिक्षा दी गई है। वेद विहित कर्मों को करने से मनुष्य अशुभ

व पाप कर्मों करने से बच जाता है जिसका परिणाम दुःखों से मुक्ति व सुखों में वृद्धि होता है। वेद विहित कर्म न केवल सुखों की वृद्धि वा दुःखों की निवृति का आधार हैं वहीं इनसे मोक्ष की प्राप्ति भी होती है। अतः सद्कर्मों को करने के साथ सभी मनुष्यों को इनका प्रचार करने का प्रयत्न भी करना चाहिये।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

'एक ईश्वर, एक संसार और एक ही मनुष्य जाति विषय पर कुछ विचार' -मनमोहन कुमार आर्य,

JANUARY 11, 2016 LEAVE A COMMENT

यह संसार पृथिवी, अग्नि, जल, वायु और आकाश का जीवों के सुख-दुःख के उपयोग की दृष्टि से समुपयुक्त मिश्रित रूप है। वैदिक मान्यताओं के अनुसार संसार को बने हुए 1 अरब 96 करोड़ 8 लाख 53 हजार 115 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इस अवधि में हमने संसार को बांट-बांट कर इस पर दो सौ से अधिक देश बना दिये हैं। इन सभी देशों में भिन्न-भिन्न भाषायें, संस्कृतियां, सभ्यतायें, रीति-रिवाज, धर्म, मत, पंथ, सम्प्रदाय आदि हैं। हमें लगता है कि संसार के बांटने के प्रयास तो बहुत हुए परन्तु बटे हुए भूभागों को जोड़ने वा मिलाने के प्रयास न के बराबर हुए हैं। यदि किसी ने इस प्रश्न को उठाया तो उस पर लोगों का ध्यान या तो गया ही नहीं या समकालीन लोगों ने उसकी उपेक्षा की। हमें लगता है कि आज का संसार मनुष्य जीवन के उद्देश्य व लक्ष्यों के प्रति अधिकांशतः अनभिज्ञ है और उसने सत्य लक्ष्य व उद्देश्यों की उपेक्षा कर केवल सुख के भौतिक साधनों को ही अपना लक्ष्य व उद्देश्य बना लिया है जो कि सत्य से कोसों दूर है। इस सन्दर्भ में विचार करने पर हमें यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मनुष्यों ने विगत लगभग 2 अरब वर्षों में पृथिवी को तो बांटा परन्तु वह अन्य चार प्रमुख तत्वों अग्नि, जल, वायु और आकाश को बांटने में सफल नहीं हुए। भारत, पाकिस्तान और चीन को यदि हम लें तो भारत की उष्णता व शीतलता का प्रभाव अन्य दो देशों में और वहां का प्रभाव भारत पर अग्नि संचरण के सिद्धान्त के आधार पर पड़ता है। इसी प्रकार से भारत की वायु अन्य देशों में व वहां की वायु भारत में वायु के प्रवाह की दिशा व भिन्न-भिन्न स्थानों के तापक्रम के अनुसार बहती व संचरण करती है। जल का मुख्य स्रोत समुद्र और नदियां आदि हैं। आज भी अनेक नदियां इन तीनों देशों में बहती है और कुछ ऐसी भी नदियां हैं जिनका उद्गम एक देश में है और उसका जल दूसरे दूशों में भी बह कर जाता है जिससे दोनों ही देश समान रूप से लाभान्वित हो रहे हैं। समुद्र में सूर्य की उष्णता से जो वाष्प बनती है वह सभी देशों में जाकर समान रूप से बिना पक्षपात वर्षा करती है। आकाश

भी बंटा हुए कहते अवश्य हैं परन्तु वह बटा हुआ इस कारण से नहीं है कि पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है और अपनी धूरी पर भी घूमती है। आकाश गति नहीं करता, इस कारण सभी देशों का आकाश पृथिवी के भ्रमण के कारण चैबीस घंटे में हर पल व हर क्षण बदलता रहता है। इससे क्या शिक्षा मिलती है? यह विचारणीय है। इससे यही शिक्षा मिलती प्रतीत होती है कि यह पृथिवी ईश्वर द्वारा उत्पन्न सभी मनुष्य व प्राणियों के भोग के लिए बनाई गई है। ईश्वर ने पृथिवी पर एक देश बनाया था परन्तु उसकी योग्य व अयोग्य सन्तानों ने इसके टुकड़े कर दिये हैं। ईश्वर ने इसे किसी एक मनुष्य, मत, सम्प्रदाय, धर्म आदि के पृथिवी व सृष्टि को नहीं बनाया। इसका मालिक ईश्वर व केवल ईश्वर है, न कि किसी मत के लोग व आचार्य आदि हैं। इस तथ्य को सभी मतों के आचार्यों व अनुयायियों को समझना चाहिये और वेदों व सत्शास्त्रों का अध्ययन कर ईश्वर की इच्छा को जानने का प्रयास करना चाहिये। उसके अनुसार आचरण करना चाहिये जिससे यह सृष्टि आजकल नरक का धाम न होकर सुख व स्वर्गधाम बन जाये।

इस लेख को लिखने का हमारा अभिप्राय यह है कि संसार के सभी बुद्धिजीवी व पठित व्यक्ति इस सृष्टि के कर्त्ता ईश्वर व सृष्टि रचना के उसके उद्देश्य को सच्ची भावना व स्वार्थों से ऊपर उठकर जानने का प्रयास करें। इस कार्य में उन्हें विचार व चिन्तन करने के साथ प्राचीन वैदिक साहित्य की सहायता लेकर इन प्रश्नों को हल करना चाहिये। मनुष्य जीवन का उद्देश्य बताते हुए वेदों के मर्मज्ञ विद्वान स्वामी दयानन्द ने कहा है कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य सत्य व असत्य का निर्णय करने व कराने के लिए है, परस्पर लड़ाई-बखेड़ा करने के लिए नहीं है। यह बात सभी बुिद्धजीवियों की दृष्टि में सत्य है परन्तु इस पर आचरण शायद ही कोई करता हो अन्यथा संसार की स्थिति ऐसी न होती जैसी की वर्तमान में है।

हम पाठकों का ध्यान स्वामी दयानन्द जी द्वारा की गई मनुष्य की परिभाषा पर भी दिलाना चाहते हैं। वह लिखते हैं कि 'मनुष्य उसी को कहना कि जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख–दुःख और हानि–लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं, कि चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको (यथार्थ मनुष्य को) कितना ही दारूण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपनरूप–धर्म से पृथक कभी न होवे।' स्वामी दयानन्द जी ने इन पंक्तियों में मनुष्य के स्वभाव, व्यवहार व कर्तव्यों को चित्रित किया है। संसार के साहित्य में इस परिभाषा व शब्दों को हम अद्वितीय व मनुष्य की परिभाषा को सर्वाधिक उपयुक्त परिभाषा कह सकते हैं। यह सब उनके वेदों के उच्च. कोटि के ज्ञान के कारण सम्भव हुआ है। इससे वेदों के ज्ञान व शिक्षा की दशा व दिशा का अनुमान लगाया जा सकता है।

हमने इस लेख में कुछ विषयों वा बिन्दुओं पर विचार किया है। आशा है कि पाठक इसे उपयोगी पायेंगे। महर्षि दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश के चैदहवें समुल्लास के अन्तिम कुछ वाक्यों को प्रस्तुत कर हम इस लेख को विराम देते हैं। वह लिखते हैं कि 'हम तो यही मानते हैं कि सत्यभाषण, अहिंसा, दया आदि शुभ गुण सब मतों में अच्छे हंै और बाकी वाद, विवाद, ईर्ष्या, द्वेष, मिथ्याभाषणादि कर्म सब मतों में बुरे हैं। यदि तुमको सत्य मत ग्रहण की इच्छा हो तो वैदिक मत को ग्रहण करो।'

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

स्तुता मया वरदा वेदमाताः डॉ. धर्मवीर जी

JANUARY 4, 2016 LEAVE A COMMENT

उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः।

अहं तद्विद्वला पतिमयसाक्षि विषासहिः।।

– ऋक्. 10/159/1

वैदिक धर्म और संस्कृतिश्रेष्ठतम विचार है। वैदिक धर्म और संस्कृति के सबन्ध में विचार करते हुए, यदि हम एक बात का स्मरण रखें तो हमारे चिन्तन में दोष आने की सभावना समाप्त हो जाती है। वैदिक धर्म का मूलवेद है। वेद में सिद्धान्त प्रतिपादित है और जानने-मानने वाले को, उस विचार को व्यवहार में लाना होता है, उसपर आचरण करना होता है। हम कितना भी अच्छा क्यों न सोचते हों, हमारी अल्पशक्ति, अल्पबुद्धि कुछ-न-कुछ अनुचित कर बैठती है। यदि मनुष्य के पास पूर्ण ज्ञान और सामर्थ्य होता तो संसार में न तो ईश्वर की आवश्यकता होती और न ही संसार की। मनुष्य की अल्पज्ञता ही संसार और ईश्वर की आवश्यकता की प्रतिपादक है। अल्प और सर्व एक सापेक्ष शद हैं, एक शद के अभाव में दूसरे शद की कोई उपयोगिता नहीं बचती। मनुष्य अल्पज्ञ है, अतः सिद्ध है कि कोई सर्वज्ञ है। इसी प्रकार यदि कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान सर्वत्र है, तो वह एक ही होगा। इसमें विकल्प की कल्पना ही अनेकत्व का कारण बनेगी। ज्ञान का प्रवाह अधिक से कम की ओर होगा, अतः सर्वज्ञ परमेश्वर से अल्पज्ञ मनुष्य की ओर ज्ञान की गति स्वाभाविक है।

इस प्रकार ईश्वर एक है, सबको ज्ञान, सामर्थ्य, ऐश्वर्य का देने वाला है, तो उसके ज्ञान के देने में अन्याय या पक्षपात की बात कैसे सभव है। संसार में मनुष्यों को, प्राणियों को देखकर हमें ऐसा लगता है, जैसे परमेश्वर सबको अलग-अलग देकर अन्याय कर रहा है, परन्तु हम भूल जाते हैं कि देने वाला एक है, उसका देने का प्रकार भी एक ही होगा, अन्तर तो भिन्नता की

ओर से होता है, प्राप्त करने वाले मनुष्य पृथक् हैं, अतः देने वाले के दृष्टि में सब एक हैं, परन्तु लेने वाले भिन्न और अनेक हैं, अतः ग्रहण करने के सामर्थ्य में भिन्नता दिखती है।

इतना मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि परमेश्वर द्वारा सबके साथ समान व्यवहार ही हो रहा है, फिर चाहे स्त्री हो, पुरुष हो या कुछ और भी हो, जैसे ईश्वर की सत्ता सर्वत्र है, उसका अनुाव जड़ को तो नहीं होता, चेतन को होता है, उसी प्रकार एक चेतन उसकी सत्ता को अपने ज्ञान और योग्यता के अनुसार ही देख पाता है, अनुभव कर सकता है, दूसरा ज्ञान के अभाव से ऐसा करने में समर्थ नहीं हो पाता। यह अन्तर संसार में देखने में आता है, संसार का सारा व्यापार व्यक्तिपरक है, परमेश्वर सबको यथावत जानता है, अतः सबको उचित ज्ञान और सामर्थ्य देता है। आज इस मनुष्य संसार में स्त्री-पुरुष को लेकर जो जैसा व्यवहार दिखाई दे रहा है, वह सारा मनुष्य बुद्धि का परिणाम है। परमेश्वर सभी मनुष्यों का कल्याण चाहता है। और उनका उपकार करता है। जिस प्रकार एक माता-पिता अपने पुत्र और पुत्री का समान हित चाहते हैं। उसी प्रकार स्त्री पुरुष भी परमेश्वर की पुत्र-पुत्रियाँ हैं वह उनमें भेद और पक्षपात कैसे कर सकता है?

इस सूक्त के मन्त्रों से इस बात को भली प्रकार समझा जा सकता है। यह सूक्त शची पौलीमी कहलाता है, इसका देवता भी यही है, इसका ऋषि भी यही है। यदि कहने वाला किसी बात को कहता है तो कहने वाले को हम ऋषि कहते हैं और कही जाने वाली बात को देवता । ऋषि कभी स्वयं ईश्वर है कभी उसके ज्ञान का कोई प्रवक्ता। ये शद ईश्वर और उसके ज्ञान से सबन्ध रखते हैं अतः यदि मनुष्य के साथ इनको जोड़कर दोंगे तो अर्थ की संगति नहीं लग पायेगी अतः शद को उसके अर्थ की ओर इंगित करने देते हैं तो हमें अर्थ सरलता से समझ में आ जाता है तथा उसक ी संगति भी ठीक लग जाती है। इस सूक्त में एक स्त्री का व्यक्तित्व कैसा होना चाहिए इस बात को समझाया गया है। इस विवरण को व्यक्ति विशेष का वक्तव्य न मानकर स्त्री सामन्य का वक्तव्य मानना उचित होगा। इस विचार से मन्त्र में बताया गया विचार समाज की सभी स्त्रियों का होगा।

वेद उत्साह और आशा की प्रेरणा देता है। वेद में निराशा, पराजय, उदासी की बात नहीं है, यही बात इस सूक्त के मन्त्रों में भी दिखाई देती है। मन्त्र में कहा गया उदसौ सूर्यो अगात् मनुष्य का उत्साह सूर्य के उदय के साथ आगे बढ़ता है, प्रकृति का वातावरण मनुष्य के लिये उत्साह और आनन्द प्राप्त कराता है। प्रत्येक मनुष्य संसार में अपनी भूमिका में स्वयं सुख का अनुभव करता है। और अपने साथ वालों को भी आनन्दित करता है।

जिज्ञासा समाधान: आचार्य सोमदेव

JANUARY 2, 2016 LEAVE A COMMENT

जिज्ञासा 2- मैं महर्षि दयानन्द जी का एक बहुत छोटा सिपाही हूँ, दैनिक यज्ञ एवं दोनों समय सन्ध्या करता हूँ, किन्तु सन्ध्या करते वक्त जब मैं मनसा परिक्रमा मन्त्र का अर्थ भाव के साथ उच्चारण करता हूँ तो निनलिखित शंका घेर लेती है-

(क) मनसा परिक्रमा मन्त्रों में हम दिशाओं, अग्नि, सूर्य, लता आदि जड़ पदार्थों को नमन करते हैं। कृपया, भाव स्पष्ट करें।

(ख) हर जीव अपने पूर्व जन्मों के कर्मों के आधार पर आयु, देश, स्थिति आदि प्राप्त करता है, लेकिन बहुत से लोग बेईमानी, छल-कपट के द्वारा भाग्य से अधिक धन अर्जित कर लेते हैं, जो कि उसके प्रारध से ज्यादा होता है। कृपया, थोड़ा प्रकाश डाल कर अज्ञान दूर करें।

– सुरेन्द्र कुमार, डल्यू-2-349-बी, नांगल राया, नई दिल्ली-110046

समाधान– 2 (क) महर्षि ने सन्ध्या करने का विधान मनुष्यों के लिए किया है। सन्ध्या में जिन मन्त्रों का विनियोग जिस क्रम से किया है, वह अपने आप में सन्ध्योपासना करने की वैज्ञानिक शैली है। सन्ध्या के प्रारभ से अन्त तक जिस क्रम को महर्षि ने रखा है, उस क्रम से साधक स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता चला जाता है।

आर्य जगत् मूर्धन्य दार्शनिक योग्य विद्वान् पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय जी ने इस विषय पर चिन्तन कर सन्ध्या विषय को लेकर 'सन्ध्या क्या, क्यों, कैसे' पुस्तक लिखी है। उसके आधार पर यहाँ हम कुछ लिखते हैं।

सन्ध्या को चार भागों में विभक्त करके देखें- 1. आचमन मन्त्र से लेकर प्राणायाम मन्त्र पर्यन्त, 2. अघमर्षण मन्त्र, 3. मनसा परिक्रमा मन्त्र और 4. उपस्थान मन्त्र। प्रथम भाग में अपने शरीर=पिण्ड में ईश्वर के गुणों का विचार करना। इन्द्रिय स्पर्श, मार्जन एवं प्राणायाम मन्त्र में इसी पर बल दिया गया है, अर्थात् शरीर, प्राण व इन्द्रियों की बलवत्ता पर बल दिया गया है। दूसरा– पिण्ड से आगे ब्रह्माण्ड को देखते हुए, ईश्वर का विचार करना, जो अघमर्षण मन्त्रों में हैं। पिण्ड केवल मेरा अपना है, किन्तु ब्रह्माण्ड मेरा अपना भी है और सभी प्राणियों का भी। ब्रह्माण्ड सबके साझे का पिण्ड है। तीसरा– स्थूल से सूक्ष्मता की ओर लेकर जाने का है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड ये स्थूल हैं, इन स्थूल से सूक्ष्म मन है, उस मन को सर्वत्र दौड़ाकर सर्वत्र परमेश्वर का चिन्तन करना, अर्थात् सब दिशाओं-उपदिशाओं में परमेश्वर का भान करना। चौथा– मन से भी परे आत्मा को परमात्मा के निकट ले जाना, जो कि हम उपस्थान मन्त्रों के द्वारा परमेश्वर के निकट होते हैं। यह स्थिति सन्ध्या में सर्वोत्कृष्ट है। हमें इस स्थिति तक पहुँचना है, अर्थात् परमेश्वर के निकट अपनी आत्मा को ले जाना है।

अब आपकी जिज्ञासा पर विचार करते हैं। मनसा परिक्रमा मन्त्रों में जो कहा गया है कि सब दिशाओं में परमात्मा अपनी विभिन्न शक्ति स्वरूप से स्वामी है। सबके लिए नमस्कार व अपने अन्दर व अन्य के अन्दर स्थित द्वेष को दूर करने की प्रार्थना। आपका कथन है कि ''इन दिशाओं, अग्नि, सूर्य, लता आदि को नमन करने का क्या भाव है?'' इन मन्त्रों में जड़ और चेतन दोनों का ही कथन है और दोनों के लिए नमस्कार करने को कहा है। इन छः मन्त्रों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम, विष्णु और बृहस्पति, ये नाम सब दिशाओं में स्थित परमात्मा के हैं और इसी प्रकार असितः स्वजः और श्वित्र, ये नाम भी परमेश्वर के हैं। इन सभी स्वरूप वाले परमेश्वर को नमस्कार करना, अर्थात् उस परमेश्वर का समान करना, उससे यथायोग्य व्यवहार करना, अर्थात् उसकी आज्ञा का पालन करना। मन्त्रों में एक चेतन परमात्मा का वर्णन है, दूसरे चेतन पितर लोग, कीट-पतंग, विषधर प्राणी, वृक्ष-लता-बेल आदि हैं, इनको भी नमस्कार किया गया है। नमस्कार का अर्थ है- झुकना, नमन करना, यथायोग्य व्यवहार करना। इस यथायोग्य व्यवहार को लेकर जब नमस्कार को देखेंगे तो पितर, जो चेतन हैं, उनके लिए क्या व्यवहार होगा, वह हमारे सामने आ जायेगा। कीट, पतंग, विषधर प्राणी, लता, बेल, वृक्ष आदि ये हमारे लिए कितने उपयोगी हैं, इस प्रकृति के लिए कितने उपयोगी हैं, ऐसा

विचार करना और इनके उपयोग को देखकर वैसा ही इसका उपयोग करना, व्यवहार में लाना, इनके लिए नमस्कार होगा और जो जड़ पदार्थ- आदित्य, अन्न, अशनि, वर्षा है, इनको भी नमस्कार अर्थात् इनका यथायोग्य उपयोग लेना, इनसे उपकार लेना, यह इनके लिए नमस्कार होगा।

कीट, पतंग, विषधर प्राणी, वृक्ष, लता, वेल, आदित्य, अन्न, अशनि, वर्षा, इषु आदि को नमस्कार करने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि इनकी जैसे पौराणिक वर्ग पूजा करता है, वैसे नमस्कारादि करना। यह व्यवहार चेतन मनुष्यों व परमेश्वर के लिए हो सकता है, अन्य के लिए नहीं।

(ख) जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, वह पाप-पुण्य रूप कर्म दोनों ही कर सकता है। इन्हीं पाप-पुण्य रूप कर्म के आधार पर परमेश्वर जीवों को फल देता है। वर्तमान जीवन में पिछले कर्मों के आधार पर व इस जीवन में किये पुरुषार्थ से जीव भोग भोगता है। पिछले कर्म श्रेष्ठ थे, उसके आधार पर बहुत अच्छा शरीर, परिवार, समाज आदि मिला। ये मिलने के बाद भी जीवात्मा इस जीवन में विपरीत कर्म करता हुआ दुःखी हो सकता है। भले ही पिछले कर्म अच्छे थे, किन्तु इस जीवन में उसने जघन्य पाप किये, तो वह इस जीवन व अगले जीवन में दुःख भोगेगा।

एक बात और यहाँ कह दें कि जो कुछ हम जीवन में सुख-दुःख भोगते हैं, वह सब हमारे कर्मों का फल नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि सुख-दुःख फल हमारे कर्मों का होता है, किन्तु सभी सुख-दुःख हमारे कर्मों का नहीं होता। किसी अन्य व्यक्ति के कारण या प्राकृतिक आपदा के कारण भी सुख-दुःख हो सकता है।

अब आपकी बात- जिस व्यक्ति का कर्माशय सामान्य था और इस आधार पर उसको फल भी सामान्य मिलना था, किन्तु वह व्यक्ति छल, कपट, अधर्म कर-करके बहुत धनादि अर्जित कर लेता है। उस अधर्म अर्जित धन वाले व्यक्ति को दूसरे लोग देखकर यह सोचने लग जाते हैं कि धर्म करने वाला दुःखी और यह अधर्म करने वाला सुखी है। ऐसा सोचना नासमझी है, क्योंकि धर्म का फल सदा ही श्रेष्ठ और अधर्म का फल सदा विपरीत ही होता है।

जिस व्यक्ति ने अधर्म से साधन अर्जित किये हैं, निश्चित रूप से उसको आगे जो फल मिलने वाला है, वह घोर दुःख ही होगा। महर्षि दयानन्द ने इस विषय में मनु का श्लोक देते हुए लिखा है-

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।

ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति।।

‘‘जब अधर्मात्मा मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़ (जैसे तालाब के बाँध तोड़, जल चारों ओर फैल जाता है वैसे) मिथ्याभाषण, कपट, पाखण्ड, अर्थात् रक्षा करने वाले वेदों का खण्डन और विश्वासघातादि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर प्रथम बढ़ता है, पश्चात् धनादि ऐश्वर्य से खान-पान, वस्त्र, आभूषण, यान, स्थान, मान, प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। अन्याय से शत्रुओं को भी जीतता है, पश्चात् शीघ्र नष्ट हो जाता है। जैसे जड़ से काटा हुआ वृक्ष नष्ट हो जाता है, वैसे

अधर्मी नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।'' सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 5, इसलिए अधर्मी को बढ़ते देख यह कभी न सोचें कि इसका जीवन अच्छा है, अपितु यह विचारें कि यह नादान परमेश्वर के न्याय को नहीं देख रहा, यह परमेश्वर के न्याय से कभी नहीं बच सकता। जो इसने छल-कपट से अर्जन किया है, उससे वह विशेष सुख तो नहीं ले पायेगा, अपितु परमात्मा के न्याय से उसने जो छल-कपट के कर्म किये हैं, उनका विशेष दुःख अवश्य भोगेगा। अस्तु।

– ऋषि उद्यान, पुष्कर मार्ग, अजमेर

जिज्ञासा समाधान: आचार्य सोमदेव

JANUARY 2, 2016 LEAVE A COMMENT

जिज्ञासा 1- योग के आठ अंगों में जिनका 'साधन पाद' में उल्लेख है, छठा अंग 'धारणा' है। उसमें मन को शरीर के किसी एक अंग- जैसे नासिका, मस्तक आदि पर स्थिर करने की बात कही है। इसी स्थान पर आगे ध्यान, समाधि लगती है, परन्तु 'समाधि पाद' में सप्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत जब वितर्क रूपी स्थिति, जिसमें पृथिवी आदि स्थूल भूतों का साक्षात्कार होता है, उसमें मन को नासिका, जिह्वा आदि अलग-अलग स्थानों पर लगाने का उल्लेख है। मेरी शंका यही है कि धारणा के समय जब एक स्थान चुन लिया है तो फिर वितर्क समाधि में अलग-अलग स्थान क्यों?

आशा है, मैं अपनी जिज्ञासा को ठीक प्रकार प्रकट कर पाया हूँ। आपसे निवेदन है कि इसका समाधान देने की कृपा करें।

– ज्ञानप्रकाश कुकरेजा, 786/8, अर्बन स्टेट, करनाल, हरियाणा-132001

समाधान– योग के आठ अंगों में धारणा छठा अंग है। धारणा की परिभाषा करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने लिखा- ''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।'' इस सूत्र की व्याया करते हुए महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना प्रकरण में लिखा- ''जब उपासना योग के पूर्वोक्त पाँचों अंग सिद्ध हो जाते हैं, तब उसका छठा अंग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है। धारणा उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ाके नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है, उसका विचार करना।'' धारणा के लिए मुय बात अपने मन को एक स्थान पर टिका लेना, स्थिर कर लेना है। टिके हुए स्थान पर ही ध्यान करना और वहीं पर समाधि का लगना होता है। इसके लिए महर्षि पतञ्जलि ने लिखा- ''त्रयमेकत्र संयमः'' अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि तीनों का एक विषय हो जाना संयम कहलाता है। इस सूत्र पर महर्षि दयानन्द ने लिखा- ''जिस देश में धारणा की जाये, उसी में ध्यान और उसी में समाधि, अर्थात् ध्यान करने योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं, जो एक ही काल में तीनों का मेल होना, अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है। उसमें बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है, परन्तु जब समाधि होती है, तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है।'' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

धारणा+ध्यान+समाधि= संयम।

अब आपकी बात पर आते हैं, आपने जो कहा कि ''……सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत जब वितर्क रूपी स्थिति जिसमें पृथिवी आदि स्थूल भूतों का साक्षात्कार होता है, उसमें मन को नासिका, जिह्वा आदि अलग-अलग स्थानों पर लगाने का उल्लेख है।'' आपकी यह बात ''वितर्कविचारानन्दास्मिता…..।'' योगदर्शन 1.17 इस सूत्र में नहीं कही गई, हाँ ''विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी।'' योगदर्शन 1.35 इसमें कही है। इसमें वितर्क समाधि की बात नहीं, यहाँ तो मन की स्थिरता का कारण बताया है। यहाँ कहा है- नासिकाग्र आदि स्थानों पर चित्त को स्थिर करने से उत्पन्न दिव्यगन्धादि विषयों वाली प्रवृत्ति मन की स्थिति का कारण होती है।

इस सूत्र से पहले प्राणायाम का वर्णन किया हुआ है। ऋषि ने प्राणायाम को चित्त की स्थिरता का प्रमुख उपाय कहा है, अर्थात् प्राणायाम मन स्थिर करने का प्रमुख उपाय है। अब इसके आगे मन को स्थिर करने के अन्य गौण उपाय कहे हैं, उनमें यह उपाय भी है। जब योगायासी जिह्वाग्र, नासिकाग्र आदि स्थानों पर मन को स्थिर करता है, तब दिव्यरसादि की अनुभूति होती है। यह अनुभूति रूप व्यापार सामान्य न होकर उत्कृष्ट होता है। यह प्रवृत्ति मन को एकाग्र करने में सहायक होती है और साधक का अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने में विश्वास पैदा होता है और श्रद्धा पैदा होती है। तात्पर्य यह हुआ कि स्थान विशेष पर धारणा कर मन को स्थिर (एकाग्र) करना है।

वितर्क आदि समाधि सालब हैं। वहाँ स्थूल का आलबन करते हैं, अर्थात् नासिकाग्रादि का आलबन करना वितर्क कहलाता है। वितर्क समाधि एक-एक स्थान का आलबन करने से होती है। आपने जो पूछा- 'धारणा के समय जब एक स्थान चुन लिया है तो फिर वितर्क समाधि में अलग-अलग स्थान क्यों?' आप इस वितर्क समाधि के स्वरूप को समझेंगे तो आपको यह शंका नहीं होगी। वितर्क समाधि सालब समाधि है और वे आलबन स्थूल हैं, अलग-अलग हैं। अलग-अलग होने पर अलग-अलग स्थान धारणा के लिए चुने हैं।

धारणा के लिए भी ऋषि ने केवल एक ही स्थान निश्चित नहीं किया, वहाँ भी अनेक स्थान कहें हैं। अनेक में से कोई एक तो है, पर केवल एक नहीं है। जब दिव्य गन्ध की अनुभूति करनी है तो धारणा स्थल एक नासिकाग्र ही होता है, वहाँ स्थान बदले नहीं जाते। ऐसे ही अन्य विषयों में भी है। इसलिए जो अलग-अलग स्थान आप देख रहे हैं, वे अनेक विषयों को लेकर देख रहे हैं, जब एक ही विषय को लेकर देखेंगे तो अलग-अलग धारणा स्थल न देखकर एक ही स्थान देख पायेंगे।

'ईश्वर के प्रति मनुष्य का मुख्य कर्तव्य' -मनमोहन कुमार आर्य

JANUARY 1, 2016 3 COMMENTS

ओ३म्

– देहरादून।

हमें हमारे माता-पिता इस संसार में लाये। जब हम जन्में तब हमें अपना, परिवार, समाज व संसार का किंचित ज्ञान नहीं था। माता की निकटता और प्रेरणाओं से हम शनैः शनैः ज्ञान से युक्त होने लगे। माता-पिता के हमारे प्रति किए गये प्रयासों से हमें उनको व परिवार के सदस्यों को कुछ-कुछ जानने का ज्ञान व अभ्यास हुआ। आयु वृद्धि के साथ हमारा ज्ञान बढ़ता गया और हम भोजन, वस्त्र, निवास, पारिवारिक व सामाजिक लोगों के ज्ञान तक सीमित हो गये। हमने घर में किए जाने वाले पूजा आदि धार्मिक क्रियाओं को भी देख कर उनको करना आरम्भ कर दिया। हमने अपनी आंखों से पृथिवी, सूर्य, चन्द्र एवं पृथिवीस्थ अग्नि, जल, वायु, आकाश, नदी, पहाड़, वन, खेत आदि को देखा परन्तु इन सबसे हमें ईश्वर के वास्तविक स्वरुप का बोध नहीं हुआ। सभी प्राणियों की उत्पत्ति सहित संसार की रचना की ओर हमारा ध्यान ही नहीं गया। ईश्वर की कृपा से हमें एक मित्र के द्वारा आर्यसमाज का परिचय मिला, उन्होंने समाज के नियम, मान्यताओं और सिद्धान्तों के बारे में बताया और हम खाली समय में उनके साथ समाज मन्दिर जाने लगे। पता ही नहीं कब हमें ईश्वर, जीवात्मा व सृष्टि विषयक अनेक सत्ताओं का तर्क व युक्ति से पूर्ण सन्तोषप्रद व निर्भरान्त ज्ञान हो गया। यह ज्ञान हमें विद्वानों के उपदेश व सत्यार्थ प्रकाश के अध्ययन से प्राप्त हुआ। आज भी हम सत्यार्थप्रकाश पढ़ते हैं तो हमें हर बार कुछ नया ज्ञान प्राप्त होता है व अनुभव से हमें महर्षि दयानन्द के ज्ञान की उत्कृष्टता, पराकाष्ठा व उनकी सदाशयता का पता चलता है।

संसार में सभी लोगों को यह तो ज्ञान है कि हमें अच्छा भोजन करना है, स्वस्थ रहना है, धन–सम्पत्ति एकत्र कर सुख भोगने हैं परन्तु ईश्वर, जीवात्मा व सृष्टि विषयक यथार्थ ज्ञान व इनके प्रति हमारे कर्तव्यों का ज्ञान अधिकांश को नहीं है। ईश्वर आदि के प्रति यथार्थ ज्ञान न होने के कारण प्रायः सभी मतों की रूढ़िवादी सोच है। वह जितना जानते हैं व जो कुछ उनके मत की पुस्तक में लिखा है, उससे अधिक न सोचते हैं न जानना चाहते हैं जबकि वास्तविकता यह है कि उनका ज्ञान अति अल्प है जिसमें मिथ्याज्ञान भी सम्मिलित है। महर्षि दयानन्द (1825-1883) इतिहास में एक अनूठे मनुष्य हुए जिन्होंने हर प्रश्न का उत्तर खोजा और अत्यन्त तप व पुरुषार्थ से प्राप्त उस दुर्लभ ज्ञान को संसार के सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेशों, लेखों वा पुस्तकों द्वारा प्रस्तुत किया। आज संसार के विरोधी मत वाले भी उनके द्वारा प्रचारित व प्रसारित मान्यताओं व सिद्धान्तों को न मानने पर भी उनमें कोई न्यूनता व त्रुटि दिखाने की स्थिति में नहीं है। वैदिक व आर्य सिद्धान्तों को न मानना उनका मिथ्याचार है। एक प्रकार से सभी मतों ने महर्षि दयानन्द अर्थात् वेदों की सभी मान्यताओं को स्वीकार कर लिया है परन्तु अज्ञान, स्वार्थ, हठ आदि के कारण वह अपने रूढ़िगत विचारों से ही जुड़े हुए हैं।

ईश्वर है या नहीं, यदि है तो कहां है, कैसा है, आंखों से दिखता क्यों नहीं, उसको जानने व मानने से हमें क्या लाभ होगा या हो सकता है, आदि अनेक प्रश्न हैं जो पूछे जा सकते हैं। ईश्वर है या नहीं का उत्तर है कि ईश्वर अवश्य है। यह जड़-चेतन संसार व इसके नियम ईश्वर के होने का प्रमाण हैं। यदि ईश्वर न होता तो यह संसार भी न होता और हमारी आत्मा का अस्तित्व होने पर भी हमारा मनुष्यादि योनि में जन्म न हुआ होता। जीवात्माओं को प्राणी योनियों में जन्म देना ईश्वर का ही काम है, और इससे ईश्वर सिद्ध होता है। इसे कारण-कार्य सिद्धान्त कह सकते हैं। संसार का कारण ईश्वर व प्रकृति है। ईश्वर निमित्त कारण है और

प्रकृति उपादान कारण है। ईश्वर के होने में अन्य अनेक प्रमाण भी है जिसे सत्यार्थ प्रकाश का स्वाध्याय कर जाना जा सकता है। ईश्वर कहां है? इसका उत्तर है कि सर्वत्र, सब जगह है अर्थात् वह आकाशवत् सर्वव्यापक है। यदि ईश्वर सर्वव्यापक व सर्वत्र न होता तो भी संसार की रचना, जीवात्माओं को उनके कर्मानुसार भिन्न-भिन्न प्राणियोनियों में जन्म व उनका पालन सम्भव नहीं था। अतः ईश्वर का निराकार, सर्वव्यापक व सर्वान्तर्यामी होना तर्क व युक्ति संगत है। ईश्वर कैसा है, प्रश्न भी उत्तर का समाधान चाहता है। इसका उत्तर है कि ईश्वर आकार रहित है, उसका मनुष्य की तरह न शरीर है, न आकृति है, न रंग व रूप है। वह स्वयंभू है और उसकी सत्ता स्वयंसिद्ध है तथा वह सच्चिदानन्द (सत्य+चित्त+आनन्द) स्वरूप है। अत्यन्त सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्मतम् होने के कारण वह आंखों से भी दिखाई नहीं देता। इसको इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि आंखे जितने सूक्ष्म आकार को देख सकती हैं, ईश्वर उससे भी कहीं अधिक सूक्ष्म है, इसलिये वह दिखाई नहीं देता। हमारी आत्मा ईश्वर की तुलना में कम सूक्ष्म है अर्थात् ईश्वर जीवात्मा से भी अधिक सूक्ष्म है। जब हम अपनी व दूसरे प्राणियों की जीवात्माओं को ही नहीं देख सकते, तो ईश्वर का सर्वातिसूक्ष्म होने के कारण हमारी भौतिक आंखों से दिखाई देना सम्भव नहीं है। हां, उसे बुद्धि व ज्ञान से देखा, समझा व अनुभव किया जा सकता है। महर्षि दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश पढ़ने से भी सभी प्रश्नों व शंकाओं का समाधान हो जाता है। ईश्वर को जानने से हमें उसके स्वरुप, गुण, कर्म व स्वभाव का ज्ञान होता है। जिस प्रकार वैज्ञानिकों ने पृथिवीस्थ पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव को जानकर आज कम्प्यूटर, मोबाइल, जहाज, रेल आदि सभी वस्तुयें तथा चिकित्सा पद्धति सहित शल्य क्रिया आदि का ज्ञान उन्नत किया है, इसी प्रकार से ईश्वर को जानकर सभी दुःखों से निवृत्ति, सुखों व आनन्द की प्राप्ति और जन्म-मरण से अवकाश अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। अतः वैदिक धर्म व स्वामी दयानन्द प्रदत्त वैदिक साहित्य में ईश्वर, जीवात्मा व प्रकृति विषयक मनुष्यों के लिए जानने योग्य सभी प्रश्नों का समाधान हो जाता है।

अब हमें मनुष्यों के ईश्वर के प्रति कर्तव्य को जानना है। ईश्वर ने जीवात्माओं को उनके पूर्व कर्मानुसार सुख व दुःख रूपी भोग प्रदान करने के लिए इस सृष्टि की उत्पत्ति की है व विगत 1.96 अरब वर्षों से वह इसका सफलतापूर्वक संचालन करने के साथ सृष्टि में जन्म लेने वाले सभी प्राणियों का पालन करता चला आ रहा है। हमें जन्म भी ईश्वर ने हमारे पूर्व जन्मों के कर्मों के आधार पर ही दिया है। हमारा पहला कर्तव्य तो ईश्वर सहित जीवात्मा और प्रकृति के सत्यस्वरुप को जानने के लिए प्रयत्न करना है। इन्हें जानकर ईश्वर के प्रति हमारा क्या कर्तव्य है यह जानना है। इसके लिए हमारे वेद और वैदिक साहित्य से सहायता ली जा सकती है। महर्षि दयानन्द ने यह कर्तव्य बताया है और कहा कि मनुष्य को ईश्वर की प्रतिदिन प्रातः व सायं सन्ध्या अर्थात् योग पद्धति से सम्यक् ध्यान व उपासना करनी चाहिये। सन्ध्या में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना की जाती है। देवयज्ञ व अग्निहोत्र में भी इसे किया जाता है। सभी शुभ-अशुभ अवसरों पर भी स्तुति-प्रार्थना-उपासना सहित यज्ञ करने का विधान किया गया है। इससे दुःखों की निवृति व सुखों की उपलब्धि होती है। सन्ध्या वा स्तुति–प्रार्थना–उपासना इसलिये की जाती है कि हम ईश्वर के जन्म–जन्मान्तरों के असंख्य व अगणित उपकारों के लिए कृतज्ञता व्यक्त कर उसका धन्यवाद कर सकें। इसके साथ स्तुति करने से ईश्वर से प्रीति, प्रार्थना से निरभिमानता तथा उपासना से दुर्गुण, दुव्र्यस्नों व दुखों की निवृति सहित कल्याणकारक गुण-कर्म-स्वभाव व पदार्थों की उपलब्धि वा प्राप्ति होती है। प्राचीन काल से हमारे सभी पूर्वज,

ऋषि, मुनि, विद्वान, ज्ञानी, विज्ञ, विप्र ईश्वर की उपासना करते आये हैं और उनमें से महर्षि दयानन्द सहित अनेकों ने समाधि को सिद्धकर धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की प्राप्ति की थी। हम भी यदि सन्ध्या-उपासना व यज्ञ आदि कर्मों को करेंगे तो हमें भी यह फल प्राप्त होंगे और यदि नहीं करेंगे तो हम इनसे वंचित रहेंगे। सन्ध्या व यज्ञ की विधि के लिए महर्षि दयानन्द जी की पुस्तक मंचमहायज्ञविधि तथा संस्कारविधि का अध्ययन किया जाना चाहिये।

आज नये आंग्ल वर्ष 2016 का प्रथम दिवस है। यदि हम इसे मनाते हैं तो आज हमें स्वयं को व ईश्वर को जानने तथा इनके प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करने का संकल्प वा व्रत लेना चाहिये। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो हमें बाद में पछताना होगा। आईये, वैदिक ग्रन्थों के स्वाध्याय तथा ईश्वर के प्रति मनुष्य के मुख्य कर्तव्य सन्ध्या व यज्ञ सहित ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना की प्रतिज्ञा करें, संकल्प व व्रत लें।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196 चुक्खूवाला-2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

उपासना क्या, क्यों व किसकी करें तथा इसकी विधि?’ -मनमोहन कुमार आर्य

DECEMBER 30, 2015 4 COMMENTS

ओ३म्

उपासना का उल्लेख आने पर पहले उपासना को जानना आवश्यक है। उपासना का शब्दार्थ है समीप बैठना। हिन्दी में हम अपने परिवार, मित्रों व विद्वानों आदि के पास बैठते हैं परन्तु इसे कोई उपासना करना नहीं कहता, यद्यपि यह उपासना ही है। उपासना शब्द सम्प्रति रूढ़ हो गया है और इसका अर्थ जन साधारण द्वारा ईश्वर की पूजा वा उपासना के अर्थ में लिया जाता है। ईश्वर की पूजा व उपासना भी वस्तुतः उपसना है परन्तु अपने परिवार, मित्रों व विद्वानों आदि के समीप उपस्थित होना व उनसे संगति करना भी उपासना ही है। अब यदि सब प्रकार की उपासनाओं पर विचार कर यह जानें कि सर्वश्रेष्ठ उपासना कौन सी होती है तो इसका उत्तर इस सृष्टि को बनाने व चलाने वाले सर्वगुण, ऐश्वर्य व शक्ति सम्पन्न ईश्वर की उपासना करना ही ज्ञात होता है। यदि मनुष्य ईश्वर की यथार्थ उपासना करना सीख जाये व करने लगे तो मनुष्य का अज्ञान, दुर्बलता व दरिद्रता दूर होकर वह भी ईश्वर की ही तरह गुणवान, बलवान व ऐश्वर्य से सम्पन्न हो सकता है। यह भी जान लें कि उपासना एक साधना है जिसके लिए तप वा पुरुषार्थ करना होता है जिसका विस्तृत निर्देश योगदर्शन व महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों में मिलता है।

पहला प्रश्न है कि उपासना क्या है, दूसरा श्रेष्ठ उपासना किसकी की जानी चाहिये और तीसरा प्रश्न होता है कि उस श्रेष्ठ उपासना की विधि क्या है? पहले प्रश्न का उत्तर जानने के लिए, यह जानकर कि उपासना समीप बैठने व उपस्थित होने को कहते हैं, हमें यह जानना है कि पास बैठने का तात्पर्य क्या है? हम किसी के पास जाते हैं तो हमारा इसका अवश्य कोई प्रयोजन होता है। उस प्रयोजन की पूर्ति ही उपासना के द्वारा अभिप्रेत होती है। हम अपने परिवार के सदस्यों के पास बैठते हैं तो वहां भी प्रयोजन है और वह है संगतिकरण का। संगतिकरण में हम एक दूसरे के बारे में वा उनके सुख-दुःख वा उनकी शैक्षिक, सामाजिक स्थिति आदि की जानकारी प्राप्त करते हैं और वह भी हमारी जानकारी प्राप्त करने के साथ अपने बड़ों से उपदेश व अपनी समस्याओं का समाधान प्राप्त करते हैं। पुत्र ने पुस्तक खरीदनी है, वह अपनी माता व पिता के पास जाता है और उनसे पुस्तक खरीदने की बात बताकर धन प्राप्त करता है। यह एक सीमित उद्देश्य से की गई उपासना, प्रार्थना व उसकी सफलता का उदाहरण है। इसी प्रकार विद्यार्थी अपने विद्यालय में अपनी कक्षा में अपने गुरुओं व अन्य विद्यार्थियों की उपासना व संगति कर इच्छित विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। वेद, ऋषियों व विद्वानों के ग्रन्थों के अध्ययन से हमने जाना कि ईश्वर ज्ञानस्वरुप, प्रकाशस्वरुप, आनन्दस्वरुप, सर्व-ऐश्वर्य-सम्पन्न, सर्वशक्तिमान तथा आदि-व्याधियों से रहित है। हमें भी अपना सम्पूर्ण अज्ञान, दरिद्रता, निर्बलता, रोग, आदि-व्याधियों, भीरुता व दुःखों का निवारण करना है और इसको करके हमें ज्ञान, ऐश्वर्य, आरोग्य वा स्वास्थ्य तथा वीरता, दया, करुणा, प्रेम, सत्य, अंहिसा, स्वाभिमान, निर्बलों की रक्षा आदि गुणों को धारण करना है। इन सब अवगुणों को हटाकर गुणों को धारण करानेवाला सर्वाधिक सरलतम व मुख्य आधार सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, निराकार, सर्वऐश्वर्यसम्पन्न व स्वयंभू गुणों से युक्त परमेश्वर है। अतः इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए हमें ईश्वर के पास जाकर अर्थात् उसकी उपासना को प्राप्त होकर इन गुणों वा शक्तियों के लिए उसकी स्तुति व प्रार्थना करनी है। इस प्रक्रिया को सम्पन्न करने का नाम ही ईश्वर की उपासना है और यही संसार व विश्व में सर्वश्रेष्ठ उपासना है। ईश्वर की उपासना से पूर्व एक महत्वपूर्ण कार्य यह करना आवश्यक है कि हमें ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति के यथार्थ स्वरुप का ज्ञान प्राप्त करना है। यह ज्ञान वेदाध्ययन, ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों 4 ब्राह्मण-ग्रन्थ, 6 दर्शन, 11 उपनिषद्, मनुस्मृति, चरक व सुश्रुत आदि आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थ, वाल्मीकि रामायण व व्यासकृत महाभारत सहित महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, आर्याभिविनय, संस्कारविधि, व्यवहारभानु आदि ग्रन्थों का अध्ययन करने से प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों के अध्ययन के बाद ईश्वर की उपासना करना सरल हो जाता है और इच्छित परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। माता-पिता, अन्य विद्वानों व महिमाशाली व्यक्तियों की उपासना करना सरल है जिसे हम अपने माता-पिता व बड़ों से जान सकते हैं व सभी जानते ही हैं।

मनुष्य को सभी उपासनाओं में श्रेष्ठ ईश्वर की उपासना करनी है जिससे वह मनुष्य जीवन के लक्ष्य को जानकर व उसके अनुरुप साधन व उपाय कर ईश्वर को प्राप्त होकर ज्ञान, बल व ऐश्वर्य आदि धनों को प्राप्त कर अपने जीवन के उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष को प्राप्त कर सके। ईश्वर की उपासना के लिए ईश्वर के सत्य व यथार्थ स्वरुप का ज्ञान होना अनिवार्य है अन्यथा हम मत-मतान्तरों व कृत्रिम अज्ञानी गुरुओं के चक्र में फंस कर अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को नष्ट कर सकते हैं व अधिकांश कर रहे हैं। अतः हमें मत-मतान्तरों में न फंस कर उनसे दूरी बनाकर ईश्वर प्रदत्त वेद और उस पर आधारित सत्य वैदिक साहित्य को

पढ़कर ही जानने योग्य सभी प्रश्नों के उत्तर जानने चाहिये और उनको स्वयं ही तर्क व वितर्क की कसौटी पर कस कर जो अकाट्य मान्यता, युक्ति व सिद्धान्त हों, उसी को स्वीकार कर उसका आचरण, उपदेश व लेखन आदि के द्वारा प्रचार करना चाहिये।

हमें यह तो ज्ञात हो गया कि हमें मनुष्य जीवन के श्रेष्ठ धन वा रत्न ज्ञान व कर्मों की प्राप्ति के लिए ईश्वर की उपासना करनी है, परन्तु ईश्वर उपासना की सत्य व प्रभावकारी तथा लक्ष्य को प्राप्त कराने वाली विधि क्या है, इस पर भी विचार करना है। यद्यपि यह विधि हमारे पास उपलब्ध है फिर भी हम उस तक पहुंचने के लिए भूमिका रुप में कुछ विचार करना चाहते हैं। ईश्वर की उपासना करने के लिए हमें ईश्वर के पास बैठना है। ईश्वर सर्वव्यापक व सर्वान्तर्यामी होने से सदा-सर्वदा सबको प्राप्त है और इस कारण से हर क्षण ईश्वर व सभी जीवात्माओं की ईश्वर के साथ उपासना सम्पन्न हो रही है। यह उपासना तो है परन्तु यह ज्ञान व विवेक रहित उपासना है अतः इसका परिणाम कुछ नहीं निकलता। हमारे शरीर ने ईश्वर ने हमें बुद्धि व मन दिया है। मन एक समय में एक ही विषय का चिन्तन कर सकता है, दो व अधिक का नहीं। हम प्रायः दिन के 24 घंटे ससार वा सांसारिक कार्यों से जुड़े रहते है, अतः संसार, समाज व परिवार की उपासना ही कर रहे होते हैं। ईश्वर की उपासना के लिए हमें इन उपासनाओं से स्वयं को पृथक कर अपने मन को सभी विषयों से हटा कर केवल और केवल ईश्वर पर ही केन्द्रित करना होता है। मन चंचल है अतः मन को साधने अर्थात् उसे ईश्वर के गुणों व कर्मों में लगाने अर्थात् उनका ध्यान करने के लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है। नियत समय पर प्रातः सायं अभ्यास करने से मन धीरे-धीरे ईश्वर के गुणों व स्वरुप में स्थिर होने लगता है। इसके लिए शरीर का स्वस्थ होना और मनुष्य का अंहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, वेद व सत्य वैदिक ग्रन्थों का स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान से युक्त जीवन व्यतीत करना भी आवश्यक है। इसकी अनुपस्थिति में हमारा मन ईश्वर में निरन्तर स्थिर नहीं होता व रहता। अतः योगदर्शन का अध्ययन कर इस विषय में विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुरुप जीवन व्यतीत करना चाहिये। ऐसा करने पर जब हम ईश्वर की उपासना के लिए आसन में स्थित होकर ईश्वर के गुणों व कर्मों के ध्यान द्वारा उपसना करेंगे और ऐसा करते हुए उससे जीवन को श्रेष्ठ मार्ग में चलाने और गलत मार्ग से हटाने की प्रार्थना सहित सभी दुर्गुण, दुव्यस्न और दुःखों को दूर करने और जो कुछ भी हमारे लिए श्रेष्ठ और श्रेयस्कर गुण-कर्म और स्वभाव हैं, उनको प्रदान करने की प्रार्थना करेंगे तो हमारी प्रार्थना व उपासना निश्चय ही सफल होगी। ईश्वर की इसी स्तुति-प्रार्थना-उपासना को यथार्थ रुप में सम्पादित करने के लिए महर्षि दयानन्द ने "सन्ध्योपासना विधि" लघु ग्रन्थ की रचना की है जो आकार में लघु होने पर भी मनुष्य के जीवन के लक्ष्य को पूरा करने में कृतकार्य है। इसका अध्ययन कर व इसके अनुसार ही सन्ध्योपासना अर्थात् ईश्वर का भली-भांति ध्यान व उपासना सभी मनुष्यों को करनी चाहिये और अपने जीवन को सफल करना चाहिये। यह सन्ध्याविधि वेद व ऋषि-मुनियों के प्राचीन ग्रन्थों पर आधारित है। महर्षि दयानन्द जी के बाद इस संध्योपासनाविधि में विद्वानों द्वारा कहीं कोई न्यूनता व त्रुटि नहीं पाई गई और न भविष्य में इसकी सम्भावना ही है। अनेक पौराणिक विद्वानों ने भी इस विधि को अपनाया है। अतः स्तुति, प्रार्थना व उपासना के ज्ञान व विज्ञान को जानकर सभी मनुष्यों को एक समान विधि, वैदिक विधि से ही ईश्वर की उपासना करने में प्रवृत्त होना चाहिये जिससे लक्ष्य व आशानुरुप परिणाम प्राप्त हो सके। अशिक्षित, अज्ञानी व साधारण बुद्धि के लोग,

जो उपासना को ज्ञान, चिन्तन–मनन–ध्यान पूर्वक सश्रम नहीं कर सकते, वह गायत्री मन्त्र के अर्थ की धारणा सहित एक मिनट में 15 बार मन में बोल कर उपासना कर किंचित लाभान्वित हो सकते हैं। यह कार्य दिन में अनेक अवसरों पर सम्पन्न किया जा सकता है। यह भी सरलतम व अल्पकालिक उत्तम उपासना ही है जो भविष्य में दीर्घावधि की उपासना की नींव का काम कर सकती है। मनुष्य जीवन में ईश्वर को प्राप्त करने का उपासना ही एक वैदिक व सत्य मार्ग हैं जिससे सभी को लाभ उठाना चाहिये। ओ३म् शम्।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

आत्म-चिन्तन और मनन – रमेश मुनि

DECEMBER 30, 2015 LEAVE A COMMENT

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।

क्रोधाद् भवति समोहः समोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

– (गीता 2-62,63)

शराबी आदमी शराब पी कर गिरता है। वह खड़ा होना, ठीक ढंग से चलना चाहता है, किन्तु नहीं हो पाता, ठीक ढंग से नहीं चल पाता। इस अवस्था में वह आदमी नहीं रह जाता- यह उसकी करुणाजनक स्थिति होती है। वह शरीर से उत्तम है, सुन्दर कपड़े पहने हुए है, किन्तु मदिरा के मस्तिष्क में पहुँच जाने के कारण बुद्धि बिगड़ जाती है, बुद्धि में अन्तर आ जाता है। इसी से सन्तुलन बिगड़ जाता है, जिसके कारण वह चलने के लिए उठता है, किन्तु गिर पड़ता है, फिर उठता है फिर गिर पड़ता है, इसी प्रकार की स्थिति बनी रहती है। संसार में हम सब की भी ऐसी स्थिति प्रायः बनी रहती है। सांसारिक विषयों की इच्छाओं के प्रभाव के कारण सभी का सन्तुलन बिगड़ा रहता है, उठना-गिरना, उठना-गिरना सभी में होता रहता है, सभी में ऐसी स्थिति चलती रहती है। ऐसी स्थिति के कारण ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि दोष प्रबल हो जाते हैं, जिस कारण व्यक्ति छल, कपट, ऊँच, नीच करता रहता है। सदा एक बुद्धि को बनाए नहीं रख सकता, जिससे शराबी की तरह पगलाया रहता है। ईश्वर और आत्माएँ नित्य

हैं, जबकि संसार अनित्य है, सदा रहने वाला नहीं है। इस तत्त्व को वह या तो जानता ही नहीं, यदि जानता भी है तो इसे मानता नहीं है और विषयों के प्रभाव के कारण सांसारिक पदार्थों को नित्य मान कर अपना व्यवहार करता है।

ईश्वर ने मानव के लिए अत्युत्तम पदार्थ बुद्धि बनाई है, किन्तु अपने कर्मों या व्यवहार के कारण इससे वञ्चित हो जाता है। मानवपन तब सार्थक होता है, जब वास्तविकता को समझ कर आचरण ठीक कर समाधिनिष्ठ होगा, जिससे बुद्धि सात्विक होगी और शराबी के तरह का भाव समाप्त हो जाएगा। शराबी यदि अपने व्यवहार को ठीक नहीं करता तो उसका जीवन दुःखमय रहता है, इसी प्रकार सामान्य मानव भी विषयों के नशे में रहेगा तो जीवन दुःखमय बना रहेगा। जिस प्रकार शराबी की उस अवस्था को देख हम उसे दया का पात्र मानते हैं, इसी प्रकार अपने को भी दया का पात्र मानना चाहिए। मानव जीवन का लक्ष्य यह है कि विशेष उपलधि से अपने को वञ्चित देखकर हमें ग्लानि अनुभव करनी चाहिए और दोष को दूर करना चाहिए। शराबी के मन में खड़े होने, ठीक प्रकार से चलने का प्रयास करके अपने आपको अच्छा दिखाने की भावना होती है। वह प्र्यास से अपने समान को सुरक्षित करना चाहता है, किन्तु बुद्धि बिगड़ने से नहीं कर पाता। यही स्थिति हमारी भी है। हम दिखाना चाहते हैं कि मैं जो कर रहे हैं, ठीक कर रहे हैं, लेकिन वह काम गलत होता है।

योगी विवेकी जानता है कि आम आदमी को ऐसी हालत में देख कर ईश्वर हमें उस शराबी की तरह का समझता है। इस अवस्था को उत्पन्न करने का मूल कारण हमारी इच्छाएँ हैं (योगदर्शन के अनुसार वृत्तियाँ)। इन्हें हटाने का प्रयास करें। यदि हम अपनी इच्छा को रोक लेते हैं तो वृत्तियाँ स्वयं रुक जाएँगी, इच्छा बढ़ने से चञ्चलता के कारण वृत्तियाँ, प्रवृत्तियाँ बढ़ जाएँगी, जीवन दुःखमय हो जाएगा।

न्याय दर्शन सूत्र (4-2-2)- ''दोष निमित्तं रूपादयो विषयाः संकल्पकृताः'' अर्थात् मिथ्या इच्छाओं से उत्पन्न रूप, रस आदि पाँच विषय राग, द्वेष आदि दोषों को उत्पन्न करते हैं। मिथ्या इच्छाओं को समाप्त करके रूपादि विषयों के प्रति आसक्ति को दूर करके शराबी के व्यवहार से बच सकते हैं।

आनन्दमयोऽयासात् (वेदान्त 1-1-12)

परमात्मा आनन्द स्वरूप है। अर्न्तदृष्टि से परमात्मा का अयास करने से, यम-नियमों का अनुष्ठान, पालन करने से ईश्वर की अनुभूति होती है।

जब इच्छा के साथ भिन्न-भिन्न विषय जुड़ते जाते हैं तो कामनाएँ जोर मारने लगती हैं। जब इच्छा शरीर को प्राप्त करने की हो तो यह काम कहलाती है। इसमें यदि दूसरा व्यक्ति प्रतियोगी है और समान स्तर का है तो उससे ईर्ष्या। यदि वह बाधा करता है तो द्वेष और यदि प्रतियोगी निर्बल हो तो उसे मारने या नष्ट करने की प्रवृत्ति बन जाया करती है।

इच्छा यदि अनुकूल विषय से जुड़ गई तो राग बन जाती है, वही अनुभूति बढ़ने से प्रीति या प्रेम कहलाती है। इच्छाएँ लगातार बढ़ती जाएँगी। यदि मिल गया तो फिर मिले। यदि इच्छा की पूर्ति में समय अधिक लगेगा तो व्याकुलता होगी या निराशा, यदि उपलधि समीप आ रही

हैं तो आशा। इस प्रकार अलग-अलग अवस्थाएँ भावों को बदलती रहती हैं- कभी आशा, कभी निराशा, कभी क्र ोध, की क्षमा आदि।

इसका निदान है इच्छा को पकड़ लें, रोक दें, चाहे बलपूर्वक या बुद्धिपूर्वक। यदि मन में धारणा बना ली कि मुझे कुछ नहीं चाहिए तो संकल्प करते ही मन में स्थिरता आएगी, शान्ति मिलेगी। यदि इच्छा बढ़ाते हैं तो क्लेश होगा। जब इच्छा हमारे ऊपर है तो क्लेश और जब हम क्लेश के ऊपर हैं तो शान्ति मिलेगी, आत्मा शक्तिशाली अनुभव करेगा। इस प्रकार कोई भी इच्छा करते समय बुद्धिपूर्वक विचार करेंगे, चिन्तन करेंगे तो क्लेश-दुःख से बच कर सुख शान्ति पाएँगे।

गीता ठीक कहती है- विषयों का निरन्तर सेवन करते रहने से व्यक्ति का क्रमशः पतन होता चला जाता है और निरन्तर साधना से व्यक्ति ऊर्ध्वमुखी होता चला जाता है। यही अध्यात्म है। – ऋषि उद्यान, अजमेर।

‘ईश्वर के कृतज्ञ सभी मनुष्यों को वैदिक विधि से ईश्वर-स्तुति करनी चाहिये’ -मनमोहन कुमार आर्य

DECEMBER 22, 2015 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

मनुष्य विज्ञान की नई-नई खोजों के वर्तमान युग में ईश्वर व अपनी जीवात्मा के मूल स्वरुप को भूल बैठा है। आज ईश्वर को मानना व नाना प्रकार के मत-मतान्तरों प्रचलित विधि से उसकी स्तुति व प्रार्थना करना एक प्रकार का फैशन सा लगता है। कोई भी काम करने से पहले उसका यथेष्ट ज्ञान व विधि जानना आवश्यक होता है। एक कलर्क की नौकरी पाने के लिए कक्षा 10 या बारह उत्तीर्ण होना आवश्यक होता है। इसके साथ टंकण का ज्ञान भी उसके लिये अनिवार्य माना जाता है। हम ईश्वर, जो इस सृष्टि का रचयिता व पालनकर्त्ता है, उसकी स्तुति व प्रार्थना करते हैं तो क्या हमें इसके लिए निर्धारित किसी योग्यता को तय करना आवश्यक नहीं है? सभी मत-मतान्तर वाले कहेंगे की उनके मत में जो रीति व नीति है, वही इस कार्य के लिए उपयुक्त है। वैदिक साहित्य के अध्ययन व ज्ञान से हमें लगता है कि ईश्वर व जीवात्मा के स्वरुप को जानकर तथा वेद की शिक्षाओं को समक्ष रखकर ही ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना की सत्य व यथार्थ रीति व नीति तय की जा सकती है। हम यह मानते हैं कि भिन्न-भिन्न मतों में ईश्वर व जीवात्मा विषयक जो ज्ञान है, वह अल्प व सीमित होने से अपूर्ण व अपर्याप्त है। इसके साथ ही मत-मतान्तरों में ईश्वर के सत्य स्वरुप से भिन्न असत्य बातें भी जुड़ी हुई हैं। अतः यदि उन्हीं के आधार पर स्तुति-प्रार्थना-उपासना की जाती है, तो हम ईश्वर के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के अपने यथार्थ उद्देश्य व लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। मनुष्य जीवन के उद्देश्य को जानने व इसके लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हमें ईश्वर, जीवात्मा और सृष्टि के यथार्थ स्वरुप का ज्ञान होना आवश्यक व अनिवार्य है।

मनुष्य जीवन पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि मनुष्य माता-पिता के द्वारा सृष्टि नियमों के अनुसार उत्पन्न होता है। जन्म के समय इसका शरीर अत्यन्त लघु व सामथ्र्यविहीन होता है। माता के दुग्ध, पालन व स्वास्थ्यप्रद भोजन से शरीर की उन्नति होती है। किशोरावस्था व युवावस्थ्यायें आती हैं और अन्त में प्रौढ़ व वृद्धावस्था आने के बाद 100 वर्ष की आयु प्राप्त कर व उससे पहले कभी भी किसी रोग, दुर्घटना व अन्य कारणों से मृत्यु हो जाती है। मृत्यु के होने पर मनुष्य का शरीर निष्क्रिय हो जाता है जिससे अनुमान लगता है कि शरीर में निवास करने वाली एक चेतन सूक्ष्म अदृश्य सत्ता शरीर से निकल गई है। मानव शरीर तो पंचभौतिक तत्वों अर्थात् पृथिवी के तत्वों से मिलकर बना होता है। अतः इसे अग्नि में रखकर पंचतत्वों में ही विलीन कर देने का प्राचीन काल से विधान चला आ रहा है। यह प्रक्रिया उपयुक्त, सरल, अल्पव्ययसाध्य व शीघ्र उद्देश्य की पोषक है। बहुत से लोग अन्त्येष्टि संस्कार की महत्ता को अभी तक जान व समझ नहीं पाये हैं, अतः वह शव को जलाने के स्थान पर भूमि में गाढ़ देना ही उचित समझते हैं। अन्त्येष्टि का संबंध ज्ञान व विज्ञान तथा सृष्टि के नियमों से है। यदि मतों के आग्रह से इसे बाहर निकाल कर निर्णय किया जाये, तो यह इस सृष्टि के लिए उचित होगा।

मनुष्य वा प्राणियों का जीवात्मा एक चेतन तत्व होता है। यह अल्प परिणाम, सूक्ष्म, ज्ञान व कर्म अथवा गति के स्वभाव से युक्त, ससीम, अनादि, अनुत्पन्न, नित्य, अनिवाशी, अजर व अमर गुणों वाला है। अस्त्र व शस्त्रों से इसका छेदन नहीं होता, अग्नि से यह जलता नहीं है, वायु इसे सुखा नहीं सकती और वायु इसे गला नहीं सकती है। इस जीवात्मा को ईश्वर के द्वारा इसके पूर्व कर्मानुसार जिसे प्रारब्घ कहते हैं, नाना योनियों में से किसी एक योनि में जन्म मिलता है। जन्म दिये जाने का कारण पूर्व कर्मों के सुख व दुःख रुपी फलों को भोग व मनुष्य योनि में मोक्ष को केन्द्रित कर वेद निर्दिष्ट व निर्धारित शुभ कर्मों को करके धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति करना है। जिस प्रकार से मनुष्य को जन्म व मृत्यु ईश्वर से प्राप्त होती है, कर्मों के सुख व दुःख रुपी फल ईश्वर से प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार से मोक्ष की प्राप्ति भी ईश्वर के द्वारा ही होती है। मोक्ष सभी प्रकार के दुःखों की पूर्णतया निवृति तथा जन्म व मरण से छुट्टी का नाम है। जिस प्रकार विद्यालय में परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर उन्नति होकर उससे आगे की कक्षा में प्रवेश मिलता है और पूर्व कक्षा के पाठ्यक्रम व अध्ययन आदि कार्यों से अवकाश मिल जाता है, इसी प्रकार से मोक्ष में भी जन्म-मरण से अवकाश होकर इससे ऊपर व ऊंची मोक्ष की अवस्था प्राप्त होती है। अनुमानतः महर्षि दयानन्द व उनके समान कुछ आत्माओं को मोक्ष की प्राप्ति होने का अनुमान किया जाता है।

मनुष्य को जन्म व जीवन ईश्वर के द्वारा प्राप्त होता है जिसमें माता-पिता, समाज एवं पर्यावरण की एक सहायक के रूप में भूमिका होती है। ईश्वर कैसा है, इसका उत्तर हम महर्षि दयानन्द के शब्दों में देना उचित समझते हैं। यही ज्ञान व विज्ञान से युक्त उत्तर है। वेदों के यथार्थ अर्थों के विद्वान महर्षि दयानन्द के अनुसार ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वज्ञ, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उन्होंने यह भी बताया कि संसार में केवल एक ईश्वर ही उपासनीय अर्थात् हमारी स्तुति व प्रार्थनाओं के योग्य है अर्थात् इनका

पात्र है। स्वामीजी के अनुसार ईश्वर के गुण–कर्म–स्वभाव और स्वरुप सत्य ही हैं, वह केवल चेतनमात्र वस्तु है जो एक अद्वितीय, सर्वत्र व्यापक अर्थात संसार के भीतर व बाहर विद्यमान व उपस्थित है, सत्य गुणवाला है, जिसका स्वभाव अविनाशी है, वह ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध और अजन्मा आदि है। ईश्वर का कर्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सब जीवों को उनके पाप–पुण्य के फल ठीक–ठीक पहुंचाना है। ओ३म्, ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम ईश्वर के ही हैं और इस सृष्टि को बनाकर इसका पालन व संहार करने का कार्य भी ईश्वर ही करता है। ऐसे गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरुप वाली सत्ता ही ईश्वर संज्ञक व नाम वाली है। ईश्वर का यह सत्य वा यथार्थ स्वरुप है। जीवात्मा व मनुष्यों को इस स्वरुपवान ईश्वर की ही स्तुति, प्रार्थना व उपासना करनी चाहिये। स्तुति व प्रार्थना करने से लाभ यह होता है कि हम ईश्वर के जिस गुण की स्तुति करते हैं वह गुण हमारी आत्मा व जीवन में प्रविष्ट हो जाता है। स्तुति के प्रभाव ये आत्मा के मल रूपी सभी दुर्गुण, दुःख व दुव्र्यस्न दूर होने आरम्भ हो जाते हैं और इनका स्थान स्तुति व प्रार्थना किये गये गुण, कर्म व स्वभाव लेने लगते हैं। धीरे-धीरे स्तोता व प्रार्थना करने वाले की आत्मिक, बौद्धिक, सामाजिक व शारीरिक उन्नति होती है। अविद्या का नाश व विद्या की वृद्धि भी होती है। स्तुति, प्रार्थना व उपासना का सबसे बड़ा लाभ यह है कि मनुष्य ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करता है। इस कृतज्ञता प्रदर्शित करने का नाम ही स्तुति–प्रार्थना–उपासना है। कृतज्ञता इस लिए कि ईश्वर ने हमें मनुष्य के रूप में जन्म दिया, माता–पिता–भाई–बहिन–संबंधी व इष्ट–मित्र प्रदान किये। वेदों का सत्य ज्ञान प्रदान किया, हमारे लिए ही उसने इस सृष्टि को रचा व इसमें नाना प्रकार के सुख प्रदान करने वाले अन्न, जल, वायु व रत्नादि भोग प्रदान किये। वह सर्वान्तर्यामी रूप से हमारी आत्मा में विद्यमान हमें सत्कर्मों करने की प्रेरणा करता रहता है। जब हम कोई अच्छा, परोपकार, सेवा, ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना-उपासना, यज्ञ आदि का कार्य करते हैं तो हमें सुख, आनन्द व उत्साह की अनुभूति कराता है और बुरा काम करने पर भय, शंका व लज्जा की अनुभूति कराकर उस कर्म को करने से रोकता है। इस सुख, आनन्द, उत्साह तथा भय, शंका, लज्जा रूपी प्रेरणा करने से ही ईश्वर की जीवात्मा में विद्यमानता व सर्वव्यापकता सहित निराकारता सिद्ध होती है। पुष्प, सृष्टि तथा नाना प्रकार के प्राणियों की रचना व इनमें अनेक विशेष्टिताओं को देखकर भी ईश्वर की सत्ता का होना व अस्तित्व सिद्ध होता है। ईश्वर के सभी मनुष्यों व प्राणियों पर इतने उपकार हैं कि उन्हें गिना नहीं जा सकता। वह हमारे पूर्व के विभिन्न योनियों में अनन्त जन्मों में भी मित्र रूप से हमारा साथी रहा है और आगे भी रहेगा। अतः उसके प्रति स्तुति–प्रार्थना–उपासना, देव यज्ञ अग्निहोत्र आदि वेदानुकूल कर्मों को करके हमें अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करनी चाहिये। इससे जीवन के सभी दुःखों की निवृत्ति होकर सुखों की प्राप्ति सहित हमारे भावी जन्म अति उन्नत होंगे और आगामी किसी न किसी जन्म में मोक्ष की प्राप्ति भी हो सकती है।

संसार भर में रहने वाले सभी मनुष्यों को ईश्वर, जीवात्मा व प्रकृति के सत्य स्वरुप को जानकर उसकी वेद व ऋषियों के द्वारा निर्मित विधि से स्तुति-प्रार्थना-उपासना आदि कर्तव्य करने चाहिये। ईश्वर प्रदत्त देव ज्ञान संसार के सभी मनुष्यों के लिए है। भारत के ऋषि-मुनि संसार के वर्तमान सभी मनुष्यों के पूर्वज हैं। उनका सम्मान करना सबका सामूहिक धर्म है। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो ऐसे मनुष्यों का न तो यह जन्म और न भावी जन्म ही उन्नत होंगे और न कभी उन्हें मोक्ष की प्राप्ति की सम्भावना हो सकती है। इसका कारण मोक्ष वेद विहित कर्म-सापेक्ष उपलब्धि है। अन्यथा इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः संसार के सभी लोगों को एक ही ईश्वर के सत्य स्वरुप को जानकर वैदिक विधि से ईश्वर की स्तुति–प्रार्थना–उपासना द्वारा उसे

प्राप्त कर कृतघ्नता के दोष से बचना चाहिये और अपना वर्तमान व भविष्य सुधारना चाहिये। सभी मनुष्यों को सत्य को जानकर एक मतस्थ होना व सबको एक मतस्थ करना भी कर्तव्य व धर्म है। आईये, वेदानुसार कृतज्ञता स्वरूप ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना तथा यज्ञादि कर्मों को करके हम ईश्वर, देश व समाज के प्रति कृतघ्नता के दोष से बचें और अपनी सर्वांगीण उन्नति करें।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून**-248001**

फोनः**09412985121**

ईश्वर सबको हर क्षण देखता है और सभी कर्मों का यथोचित फल देता है’ -मनमोहन कुमार आर्य

DECEMBER 20, 2015 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

बहुत से अज्ञानियों के लिए यह संसार एक पहेली है। संसार की जनसंख्या लगभग 7 अरब बताई जाती है परन्तु इनमें से अधिकांश लोगों को न तो अपने स्वरुप का और न हि अपने जीवन के उद्देश्य व लक्ष्य का ज्ञान है। उन्हें इस संसार को बनाने वाले व हमें व अन्य सभी प्राणियों को जन्म देने वाले ईश्वर के स्वरुप व कर्मों का भी ज्ञान नहीं है। जब अपना, ईश्वर तथा सृष्टि के सत्य स्वरुप का ज्ञान ही नहीं है, तो वह अपने जीवन को सही मार्ग पर चला भी कैसे सकते हैं? अर्थात् नहीं चला सकते। महर्षि दयानन्द अपने बाल जीवन में इनसे मिलते-जुलते अनेक प्रश्नों से परिचित हुए थे परन्तु तब उन्हें अपने पिता व आचार्यों से इन प्रश्नों का समाधान नहीं मिला था। इस कारण उन्हें स्वयं ही इन प्रश्नों के उत्तर व समाधानों की खोज करनी पड़ी जिसकी परिणति उनके समाधि सिद्ध योगी बनने व वेद ज्ञान अर्जित करने पर समाप्त हुई। यह अवस्था उन्हें सन् 1863 में तब प्राप्त हुई जब मथुरा के दण्डी गुरु स्वामी विरजानन्द जी के यहां उनका अध्ययन समाप्त हुआ था। इसके बाद स्वामी दयानन्द जी के सामने एक ही कार्य था कि वह एक गुरुकुल रूपी विद्यालय खोलकर वहां विद्यार्थियों को योग व संस्कृत व्याकरण सहित वैदिक साहित्य और वेद की शिक्षा देते। स्वामीजी ने अभी अपने भावी जीवन में किये जाने वाले कार्य की योजना तय नहीं की थी। गुरु-दक्षिणा के अवसर पर उनके गुरुजी ने उन्हें संसार में फैले अविद्यान्धकार का परिचय कराकर उसे दूर करने का अनुरोध किया। उनका कहना था कि संसार में जितने भी मत-मतान्तर प्रचलित हैं, वह सभी अज्ञान व मिथ्या-विश्वासों से पूर्ण है। इन मत-मतान्तरों के कारण ही मनुष्य ईश्वर, जीवात्मा तथा सृष्टि-प्रकृति के सत्यस्वरुप से परिचित नहीं हो पा रहे थे और अपना अमृतमय पावन दुर्लभ जीवन बर्बाद कर रहे थे। उन्होंने ऋषि को आज्ञापूर्ण निवेदन किया कि वह संसार से मत-मतान्तरों का अज्ञान, मिथ्या-विश्वासों, अवैदिक कुरीतियों व नाना सामाजिक विषमताओं व विसंगतियों को मिटाकर इसके साथ हि सत्य ईश्वरीय ज्ञान वेदों का प्रकाश कर

लोगों को ईश्वर, जीवात्मा व प्रकृति के सच्चे स्वरुप, जो कि चेतन व जड़ के रूप में हैं, उसको विश्व में फैलायें, उसका प्रकाश व प्रचार करें।

महर्षि दयानन्द जी ने गुरुजी की बात के एक-एक शब्द को स्वीकार किया और उन्हें वचन दिया कि वह अपने भावी जीवन में ऐसा ही करेंगे। गुरुजी दयानन्द जी के व्यक्तित्व व व्रतपालन के व्यवहार से परिचित थे। उन्हें विश्वास हो गया कि जो कार्य वह करना चाहते थे परन्तु प्रज्ञाचक्षु वा नेत्रान्ध होने के कारण नहीं कर पाये थे, वह उनका शिष्य अवश्य करेगा। इस विश्वास से उनको अत्यन्त हर्ष हुआ था। महर्षि दयानन्द जी ने अज्ञान, अन्धविश्वास व कुरीतियों को मिटाने व समाज का सुधार करने के लिए अपूर्व रीति से वेदों का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। जो महत्वपूर्ण घटनायें उनके प्रचार कार्यों से जुड़ी हैं उनमें 16 नवम्बर, 1869 को हुआ काशी के लगभग 30 शीर्षस्थ पौराणिक पण्डितों से मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ, उसके बाद 10 अप्रैल, सन् 1875 को मुम्बई नगरी में आर्यसमाज की स्थापना, सन् 1874 में सत्यार्थ-प्रकाश का लेखन और प्रकाशन, उसके बाद ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका सहित वेदभाष्य एवं संस्कार-विधि, आर्याभिविनय, गोकरुणानिधि, व्यवहारभानु, आर्योद्देश्यरत्नमाला, संस्कृत की वर्णोच्चरणशिक्षा से लेकर 14 व्याकरण ग्रन्थों की रचना आदि कुछ प्रमुख कार्य भी थे। उन्होंने जीवन में अनेक शास्त्रार्थ किये, सभी मतों के विद्वानों की शंकाओं का उत्तर व समाधान किया, लाहौर, बिहार के आरा आदि अनेक स्थानों पर आर्यसमाजों की स्थापना की तथा परोपकारिणी सभा की स्थापना आदि प्रमुख कार्य किये।

महर्षि दयानन्द ने वेदों के आधार पर ईश्वर के जिस सत्य–स्वरुप का प्रचार किया उसके अनुसार ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकत्र्ता है। यह भी सिद्ध किया कि संसार में केवल ईश्वर ही उपासनीय व हमारी स्तुति व प्रार्थनाओं के योग्य अर्थात इनका पात्र है। स्वामीजी के अनुसार ईश्वर के गुण–कर्म–स्वभाव और स्वरुप सत्य ही हैं, वह केवल चेतनमात्र वस्तु है जो एक अद्वितीय, सर्वत्र व्यापक अर्थात संसार के भीतर व बाहर विद्यमान व उपस्थित है, सत्य गुणवाला है, जिसका स्वभाव अविनाशी है, वह ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध और अजन्मा आदि है। ईश्वर का कर्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सब जीवों को उनके पाप–पुण्य के फल ठीक–ठीक पहुंचाना है। ओ३म्, ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम ईश्वर के ही हैं और इस सृष्टि को बनाकर इसका पालन व संहार करने का कार्य भी ईश्वर ही करता है। ऐसे गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरुप वाली सत्ता ही ईश्वर संज्ञक व नाम वाली है। जिसका जन्म हुआ व होता है तथा जिसकी मृत्यु हुई व होती है, वह ईश्वर कदापि नहीं हो सकता। उनके अनुसार ईश्वर का कभी अवतार भी नहीं होता क्योंकि ईश्वर निराकार-स्वरुप से ही अपने समस्त कार्यों को करने में सक्षम व समर्थ है। महर्षि दयानन्द ने जीवात्मा का स्वरुप बताते हुए कहा है कि जीवात्मा सूक्ष्म, चेतन, एकदेशी, अल्प शक्ति व सामर्थ्य वाली, अल्पज्ञ, अनादि, अनुत्पन्न, अविनाशी, अमर, जन्म-मरण को प्राप्त होने वाली, योग द्वारा उपासना कर समाधि में ईश्वर का साक्षात्कर कर तथा वेदों के ज्ञान व उसके प्रचार-प्रसार से मोक्ष को प्राप्त होने वाली सत्ता है। जीवात्मा के स्वरुप तथा विभिन्न व्यवहारों पर उन्होंने अपने ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश में व्यापक रुप से

प्रकाश डाला हे। इसी प्रकार से प्रकृति के जड़ स्वरुप व सृष्टि के रुप में इसकी रचना पर भी उन्होंने यथावश्यक प्रकाश डाला है।

ईश्वर निराकार, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान व जीवों के पाप-पुण्य रुपी फलों को देने वाला है। इसका अर्थ है कि ईश्वर हमारे प्रत्येक कर्म का साक्षी है और वह अपने कर्म-फल विज्ञान के अनुसार हमारे सभी कर्मों के सुख-दुःख भोग रूपी फल हमें प्रदान करता है। कर्म-फलों को प्रदान करने के लिए ईश्वर का सर्वव्यापक, साक्षी, व सर्वशक्तिमान होना आवश्यक है। ईश्वर हमारे सभी कर्मों का निराकार, सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी रूपी से हर क्षण का साक्षी है। इसका प्रमाण हमारा और अन्य प्राणियों का मनुष्य व अन्य प्राणी योनियों में जन्म है तथा हम सभी प्राणियों को नित्य प्रति सुख-दुख का भोग करते हुए देख रहे हैं। मृत्यु का समय आने पर जीवात्मा को शरीर से पृथक करने का कार्य भी ईश्वर द्वारा ही सम्पन्न होता है। न चाहकर भी जीव को संसार व शरीर को छोड़कर जाना पड़ता है। पूर्व जन्मों में जिन्होंने वेदानुसार अच्छे शुभ कर्म किये थे, ईश्वर द्वारा इस जन्म में वह मनुष्य बनाये गये और मनुष्यों में भी सुख विशेष की सम्पत्ति उन्हें प्रदान हुई है। कर्मों के न्यूनाधिक होने से ही हमारे परस्पर के सुख व दुःखों में अन्तर होता है। जैसे-जैसे मनुष्य विद्यादि का ग्रहण व तदनुरुप आचरण करता है उसके दुःखों में कमी व सुखों में वृद्धि होती जाती है। कुछ कर्मों के फल इस जन्म के होते हैं व कुछ भोग पूर्व जन्मों व भूतकाल के कर्मों के होते हैं। कुछ कर्मों के फलों का ज्ञान मनुष्य अपनी बुद्धि व विवेक से जान पाता है और कुछ का नहीं जान पाता क्योंकि मनुष्य अल्पज्ञ व अल्पशक्तिवाला है।

कर्मफल व्यवस्था पर एक प्रचलित श्लोक है-'अवश्यमेव हि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुंभाशुभं।' *अर्थात् मनुष्य को अपने किये शुभ व अशुभ कर्मों के फल अवश्य ही भोगने पड़ते हैं।* यह इस कारण है कि ईश्वर हमारे कर्मों पर अपनी दृष्टि जमाये हुए है और उनका साक्षी है। अतः हमें स्वस्थ रहने हेतु जहां व्यायाम व योगासनों को करना है, स्वास्थ्यवर्धक सुपाच्य भोजन करना है, वहीं वेदों का स्वाध्याय व प्रचार करने के साथ हमें सन्ध्या-योग-समाधि का भी अभ्यास भी करना चाहिये और वेद-निर्दिष्ट यज्ञ आदि कर्मों को करके हम पापों से बचकर धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष का लाभ प्राप्त करें। यही ईश्वर-वेदों, ऋषियों व महर्षि दयानन्द का सन्देश है और यही विवेक से भी सिद्ध होता है। यह भी विशेष रुप से हमें सदैव ध्यान रखना है कि ईश्वर हमारे सभी कर्मों का साक्षी है, हम कर्म करने में स्वतन्त्र है, वह हमें शुभ व अशुभ कर्म करने से रोकता नहीं परन्तु साक्षी होने से असत्य व बुरे कर्मों में भय, शंका व लज्जा उत्पन्न करके उसे न करने की प्रेरणा देता है और जब हम शुभ कर्म करते हैं तो वह हमें अपना समर्थन उत्साह, सुख एवं आनन्द की उत्पत्ति करके करता है। यह भी जानने योग्य है मनुष्यों की ही तरह ईश्वर के पास भी देखने, सुनने, चखने, सूंघने व वाणी आदि जैसी सभी शक्तियां व सामर्थ्य चरम रूप में है। भौतिक आंख न होने पर भी वह हमसे अधिक स्पष्ट देखता है, कान न होने पर भी सुनता है, मुख न होने पर भी उसके पास वेद-वाणी आदि है और अन्य सभी शक्तियों से युक्त वह सर्वशक्तिमान है। ईश्वर सब जीवों के सभी अच्छे व बुरे कर्मों को हर क्षण देखता है वा उनका साक्षी है, यह जानकर उसके कर्म फल विधान को समझकर आईये वेदाध्ययन, वेदाचरण, वेदप्रचार, सन्ध्या व यज्ञ आदि करने का व्रत लें। हमें लगता है कि

राजनीति से जुड़े लोगों को ईश्वर के सर्वदर्शी व न्यायकारी दण्ड देने वाले स्वरुप को जानने की अधिक आवश्यकता है। उन्हें वेदाध्ययन कर ईश्वर के कर्म-फल विधान को जानना चाहिये।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून**-248001**

फोनः**09412985121**

स्तुता मया वरदा वेदमाता- डॉ धर्मवीर जी

DECEMBER 20, 2015 LEAVE A COMMENT

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौयसो वोऽस्त।

संज्ञान सूक्त के अन्तिम मन्त्र की दूसरी पंक्ति में दो बातों पर बल दिया गया है। एक में कहा है कि परिवार में प्रेम का वातावरण सदा ही रहना चाहिए। यहाँ दो पद पढ़े गये हैं, सायं प्रातः, अर्थात् हमारे परिवारिक वातावरण में प्रेम का प्रवाह प्रातः से सायं तक और सायं से प्रातः तक प्रवाहित होते रहना चाहिए। यह प्रेम सौमनस्य से प्रकाशित होता है। हमारे मन में सद्भाव का प्रवाह होगा, सद्विचारों की गति होगी तो सौमनस्य का भाव बनेगा। प्रेम के लिये शारीरिक पुरुषार्थ तो होता ही है। जब हम किसी की सहायता करते हैं, सेवा करते हैं, छोटों से स्नेह और बड़ों का आदर करते हैं, तब हमारे परिवार में सौमनस्य का स्वरूप दिखाई पड़ता है।

हम यदि सोचते हैं कि प्रेम हमारे परिवार के सदस्यों में स्वतः बना रहेगा, कोई हमारा भाई है, बेटा है, पिता या पुत्र है, इतने मात्र से परस्पर प्रेम उत्पन्न हो जायेगा, यह अनिवार्य नहीं है। हम पारिवारिक सबन्धों में प्रेम की सहज कल्पना करते हैं, परन्तु परिवार का प्राकृतिक सबन्ध प्रेम उत्पन्न करने की सहज परिस्थिति है। इसमें प्रेम के अंकुर निकलते हैं, जिन्हें विकसित किया जा सकता है।

प्रेम का अंकुरण विचारों से होता है, मनुष्य अपनी सेवा सहायता चाहता है, अपना आदर, समान चाहता है, अपनी प्रशंसा की इच्छा करता है। यह विचार हमें सुख देता है, कोई व्यक्ति दृष्टि सेवा सहायता करता है, समान देता है। ऐसे सुख की कामना सभी में होती है, अतः जो भी किसी के प्रति ऐसा करने का भाव रखेगा, उसके मन में इसी प्रकार आदर के भाव उत्पन्न होंगे। आप किसी का आदर करते हैं, दूसरा व्यक्ति भी आपका आदर करता है। आप किसी की सहायता करते हैं, दूसरे व्यक्ति के मन में भी आपके प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है। आवश्यकता पड़ने पर वह भी आपकी सेवा के लिये तत्पर रहता है।

मनुष्य के मन में स्वार्थ की पूर्ति की इच्छा स्वाभाविक होती है। स्वार्थ पूर्ण करने के लिये उपदेश करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। परोपकार, धर्म, सेवा, आदर आदि में कार्य बुद्धिपूर्वक सोच-विचार कर ही किये जा सकते हैं, अतः ये विचार हमारे हृदय में सदा बने रहें, इसका प्रयत्न करना पड़ता है। इसी के उपाय के रूप में कहा गया है कि हमें सौमनस्य की निरन्तर रक्षा करनी होती है, तभी सौमनस्य सपूर्ण समय बना रह सकता है।

सौमनस्य बनाना पड़ता है, उसके लिये बहुत सावधानी सतर्कता की आवश्यकता होती है। मनुष्य में स्वार्थ की वृत्तियाँ सदा सक्रिय रहती हैं। उनपर नियन्त्रण रखने के लिये सदा सजग रहने की आवश्यकता है। इसके लिये वेद में उदाहरण दिया गया है, जैसे देवता लोग अमृत की रक्षा में तत्पर रहते हैं, वैसे मनुष्य को भी अपने वातावरण में सदाव सौमनस्य की रक्षा करने के लिये तत्पर रहना चाहिए। पुराणों में कथा आती है- देवताओं और असुरों ने मिलकर समुद्र मन्थन किया और सोलह पदार्थ प्राप्त किये। जब समुद्र से अमृत निकला तो देवताओं ने उस पर अपना अधिकार कर लिया। इस बात का जैसे ही असुरों को ज्ञान हुआ, वे अमृत प्राप्त करने के लिये देवताओं से संघर्ष करने लगे। जहाँ-जहाँ इस संघर्ष के कारण अमृत के बिन्दु गिरे, वहाँ-वहाँ अच्छी-अच्छी चीजें बनीं, उत्पन्न हुईं उन पदार्थों में कोई न्यूनता है तो असुरों के स्पर्श के कारण, जैसे लशुन की अमृत से उत्पत्ति मानी गई है, परन्तु इसमें दुर्गन्ध का कारण इससे असुरों का स्पर्श कहा गया है।

प्रकृति में देवता निरन्तर नियमपूर्वक कार्य करते हैं, तभी संसार नियमित रूप से चल रहा है। यदि एक क्षण के लिये भी देवता अपना काम छोड़ दें तो संसार में प्रलय उत्पन्न हो जायेगी। हम सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु आदि को देखकर इस बात का निश्चय भली प्रकार कर सकते हैं। इसी कारण व्रत धारण करते समय देवताओं के व्रत धारण को उदाहरण के रूप में स्मरण किया जाता है, 'अग्ने व्रतपते' हे अग्नि! तू व्रत पति है तेरा व्रत भी नहीं टूटता मैं भी तेरे समान व्रत पति बनूँ कहा गया है।

देवताओं का एक नाम अनिमेष है। वे कभी पलक भी नहीं झपकाते, सदा सतर्क, सावधान रहते हैं। वैसे भी परिवार समाज में सौमस्य बनाये रखने के लिये मनुष्य को सदा सावधान रहना चाहिए, सौमनस्य बना रह सकता है। देवताओं का देवत्व अमृत से ही है, अमृत नहीं है तो उनका देवत्व ही समाप्त हो जाता है। और अमरता है- व्रत न टूटना। व्रत टूटते ही मृत्यु है…….. हमें देवताओं के समान अपने सदविचारों की सदा रक्षा करनी चाहिये, तभी सौमनस्य की प्राप्ति सभव है।

-प्राचीन भारत का स्वर्णिम आदर्श इतिहास- 'कैकेय नरेश महाराज अश्वपति की सार्वजनिक घोषणा'- मनमोहन कुमार आर्य

DECEMBER 11, 2015 4 COMMENTS

ओ३म्

भारत विगत लगभग पौने दो अरब वर्षों से अधिक तक वैदिक धर्म व वैदिक संस्कृति का अनुयायी रहा है। भारत वा आर्यावर्त्त का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि यह ब्रह्माण्ड। सृष्टि की आदि, लगभग 1 अरब 96 करोड़ 8 लाख, 53 हजार वर्ष, से वेदों को मानने व उसके अनुसार शासन करने वाले लाखों राजा हुए हैं जिन्होंने वेदों की मान्यताओं एवं सिद्धान्तों के अनुसार राज्य व शासन किया है। भारत का इतिहास अत्यन्त प्राचीन होने व इसके लिखित रूप में सुरक्षित न होने के कारण उसके विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है। इसका दूसरा कारण यह भी है कि अनेक विधर्मियों ने वैदिक साहित्य का नाश किया जिसके कारण अनेक प्रमुख इतिहास आदि के ग्रन्थ नष्ट हो गये। इतिहास में यहां तक विवरण हैं कि विधर्मियों ने जब तक्षशिला व नालन्दा के पुस्तकालयों को अग्नि को समर्पित किया तो वहां महीनों तक अग्नि जलती रही व उन ग्रन्थों का धुआं आकाश में उठता रहा। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारा कितना साहित्य नष्ट किया गया। इसका कारण हमारे कुछ व अनेक पूर्वजों की अकर्मण्यता को ही माना जा सकता है।

हमारा सौभाग्य है कि हमारे पास वर्तमान में भी अनेक प्राचीन ग्रन्थ बचे हुए हैं। इनमें से एक शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ है। यह यद्यपि अति प्राचीन ग्रन्थ है परन्तु काल प्रवाह में इसमें भी अनेक प्रक्षेप भी हुए हैं। प्रक्षेप करने वालों ने अपने-अपने मतानुसार उस-उस शास्त्र के सिद्धान्तों के विपरीत विचारों को उसमें मिलाया अवश्य परन्तु यह अच्छी बात हुई कि उसमें से कुछ निकाला नहीं। इन प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह परिणाम निकलता है। यदि प्रक्षेपकत्ता प्राचीन ग्रन्थों में से अच्छी बातों को निकालते तो फिर मनुस्मृत्यादि ग्रन्थों में श्रेष्ठ व उत्तम विचार व बातें न होती? शतपथ ब्राह्मण वा छान्दोग्य उपनिषद में एक प्रसिद्ध प्रकरण आता है जिसमें कैकेय राज्य के राजा अश्वपति अपने राज्य की आदर्श स्थिति का वर्णन वा घोषणा करते हैं। वैदिक साहित्य के प्रवर विद्वान पं. विश्वनाथ विद्यालंकार जी ने इसका उल्लेख अपने ग्रन्थ 'शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयन–समीक्षा' के बारहवें परिशिष्ट में किया है। वहीं से यह प्रकरण उद्धृत कर रहे हैं।

"शतपथ ब्राह्मण काण्ड 10 अध्याय 6 ब्राह्मण 1 कण्डिका 1-11 में अश्वपति तथा अरुण-आपवेशि आदि 6 विद्वानों में वैश्वानर के स्वरूप विषयक जो संवाद हुआ, उसी संवाद का वर्णन, कतिपय परिवर्तनों सहित, छान्दोग्य उपनिषद, अध्याय 5, खण्ड 11 से 18 तक में भी हुआ है। प्राचीनशाल औपमन्यव, सत्ययज्ञ पौलुषि, इन्द्र-द्युम्न भाल्लवेय, जन शाकराक्ष्य, बुडिल आश्वतराश्वि तथा उद्दालक आरुणि, ये 6 विद्वान, ''आत्मा और ब्रह्म का क्या स्वरुप है'' इसे जानने के लिये केकय के राजा अश्वपति के पास आए। प्रातःकाल जाग कर अश्वपति ने उनके प्रति कहा किः-

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो।

नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।। **(खण्ड 11 कण्डिका 5)**

तथा साथ यह भी कहा कि हे भाग्यशालियों ! मैं यज्ञ करूंगा, जितना–जितना धन मैं प्रत्येक ऋत्विज् को दूंगा उतना–उतना आप सबको भी दूंगा, तब तक आप प्रतीक्षा कीजिये और यहां निवास कीजिये।

उपर्युक्त श्लोक का अर्थ निम्नलिखित हैः-

न मेरे जनपद अर्थात् राज्य में कोई चोर है, न कंजूस स्वामी और वैश्य है, न कोई शराब पीने वाला है न कोई यज्ञकर्मो से रहित है, न कोई अविद्वान् है। न कोई मर्यादा का उल्लंघन करके स्वेच्छाचारी है, स्वेच्छाचारिणी तो हो ही कैसे सकती है।

इस श्लोक में कही गई बातों का अभिप्राय यह है कि आत्मज्ञ और ब्रह्मज्ञ शासक ही, प्रजाजनों को उत्तम शिक्षा देकर, उन्हें सामाजिक तथा धार्मिक भावनाओं से सम्पन्न कर सदाचारी बना सकते हैं।" हमारा अनुमान है कि आज पूरे विश्व में एक भी आत्मज्ञ एवं ब्रह्मज्ञ शासक नहीं है। यह उन्नति नहीं अपितु अवनति का प्रतीक है।

राजा अश्वपति ने जो घोषणा की, उसके अनुसार उनके देश केकय में तब तक कोई नागरिक चोर नहीं था अर्थात् उनके राज्य में चोरी नहीं होती थी। दूसरी विशेषता थी कि कोई नागरिक कंजूस नहीं था। तीसरी विशेषता थी कि कोई नागरिक शराब नहीं पीता था। चैथी विशेषता उन्होंने यह बतायी कि कोई नागरिक यज्ञ कर्म न करने वाला नहीं है अर्थात् प्रत्येक नागरिक प्रतिदिन प्रातः सायं वेदाज्ञानुसार यज्ञ करता है। कोई प्रजाजन अविद्वान नहीं है अर्थात् सभी वेदों के ज्ञान से सम्पन्न हैं। ऐसा भी कोई नागरिक नहीं था जो मर्यादा का उल्लंघन करे अर्थात् स्वेच्छाचारी हो। जब स्वेच्छाचारी व चारित्रिक पतन वाला एक भी पुरुष ही नहीं था तो स्वेच्छाचारिणी स्त्रियां तो होने का प्रश्न ही नहीं था। हम जब इस श्लोक को पढ़ते हैं और संसार की वर्तमान स्थिति को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि संसार का पतन किस सीमा तक हुआ है। यह भारत के मूल निवासी आर्य राजा की घोषणा है जब इस देश में सभी निवासी आर्य थे, कोई आदिवासी या आर्येत्तर वनवासी जैसा भेद नहीं था। आर्य बाहर से आये, यह महाझूठ अंग्रेजों ने अपने स्वार्थ के लिए प्रचारित किया था जिसे आज के अज्ञानी व विदेशियों के उच्छिष्ठ भोजी भी अपने स्वार्थ के लिए यदा कदा प्रयोग करते रहते हैं। हमें ऐसे लोगों के बुद्धिमान व मनुष्य होने भी सन्देह होता है। आज हम भारत को आदर्श, स्वावलम्बी व समृद्ध राष्ट्र बनाने की बातें तो करते हैं परन्तु महाराजा अश्वपति के राज्यकाल के एक भी गुण को वर्तमान के नागरिकों में शत प्रतिशत स्थापित करने का हमारा किंचित संकल्प नहीं है। यह बात अलग है कि वैदिक धर्मी आर्यसमाजी अनेक मनुष्य ऐसे मिलेंगे जो आज भी शत-प्रतिशत इन नियमों व आदर्शों का पालन करते हैं। हमें लगता है कि यह श्लोक आदर्श राज्य का नमूना प्रदर्शित करता है जो प्राचीन काल में न केवल कैकय में अपितु सर्वत्र भारत में लाखों व करोड़ो वर्ष तक रहा है। आज का भारत कैसा है, इसे आज के समाचार पत्रों व टीवी समाचारों सहित हमारी लोकसभा में होने वाली घटनाओं को देखकर जाना जा सकता है।

महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना न केवल इस श्लोक में वर्णित प्राचीन भारत के आदर्श के अनुरुप देश को बनाने की थी अपितु वह पूरे विश्व को ही इसके अनुरुप बनाना चाहते थे। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, संस्कारविधि, आर्याभिविनय एवं वेदभाष्य आदि ग्रन्थों की रचना भी इसी अभिप्राय से की थी। ऐसा भारत व विश्व ही आदर्श रामराज्य कहा जा सकता है। महर्षि दयानन्द का स्वप्न भविष्य में कभी साकार होगा या नहीं, कहा नहीं जा सकता परन्तु हम महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के अनुयायियों का आदर्श ऐसा ही राज्य हो सकता है। हम शतपथब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषदकारों को इस श्लोक को प्रस्तुत करने के लिए उनका अभिनन्दन करते हैं। यदि एक वाक्य में कहा जाये तो इस श्लोक के बारे में यह कहा जा सकता है कि कैकय राज्य के समान भारत को बनाने के लिए सभी मनुष्यों को सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा, प्रत्येक पल-क्षण, उद्यत रहना चाहिये। वेदमन्त्र 'ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्नासुव।।' अर्थात् ईश्वर हमारी समस्त बुराईयों, दुःखों व दुर्व्यस्नों को हमसे दूर करे और हमारे लिए जो भद्र वा कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव व पदार्थ हैं वह सब हमें प्राप्त कराये।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून**-248001**

फोनः**09412985121**

ईश्वर है या नहीं एक विश्लेषण – ब्र. कश्यप कुमार

DECEMBER 11, 2015 2 COMMENTS

संसार में ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने वालों की संख्या बहुत अधिक है, यद्यपि ईश्वर के स्वरूप एवं गुण-कर्म-स्वभाव के सबन्ध में उनमें मतैक्य नहीं है। परन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिनका मत यह है कि ईश्वर नाम की कोई सत्ता या शक्ति नहीं है और न उसकी कोई आवश्यकता है। सब नास्तिक मत इसी विचार के मानने वाले हैं। इस सोच का आधार है कि ईश्वर किसी को दिखाई नहीं पड़ता है। किसी की पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ आज तक ईश्वर को न देख पाई है, न छू सकी है, न श्रवण, घ्राण आदि के द्वारा अनुभव कर सकी हैं। ईश्वर को न मानने वालों को पूर्व पक्ष और उस परमशक्ति के होने में विश्वास करने वालों को उत्तर-पक्ष मानते हुए चर्चा को इस प्रकार आगे बढ़ा सकते हैं-

पू.- वह इन पाँचों इन्द्रियों से भी नहीं दिखाई देता। अतः वह ईश्वर जो आप कहते हैं। वह नहीं हो सकता।

उ.- इसका स्पष्ट तात्पर्य इतना है कि आप पाँचों इन्द्रियों तक सिमट गये हो, इसके आगे भी विचार करें। अभी तो मन तथा बुद्धि भी अवशिष्ट है।

पू.- अरे भाई! आज तक आपने कभी सुना है कि यह व्यक्ति देखो मन से अथवा बुद्धि से दोता है।

उ.- आप जिसे ''देखना मात्र'' मानते हो, वही ''मात्र देखना'' नहीं होता, देखना अर्थात् जानना भी होता है। ज्ञान प्राप्त करने के अर्थ में भी ''देखना'' शद का प्रयोग होता है। अब इसे भी उदाहरण से देखते हैं। यदा-कदा हम कुछ बातों को भूल जाते हैं, तब आँखें बन्द कर विचार करते हैं और झट से याद आने पर कहते हैं- मैंने विचार कर देखा। वास्तव में वही सही है।

इस वाक्य में भी ''देखा'' शद का प्रयोग हुआ, पर वह जानने अर्थ में, न कि ''नेत्र से देखने अर्थ में या अन्य इन्द्रियों से देखने अर्थ में। एक प्रयोग और देखिये- अरे भाई! आप एक बार अनुमान करके तो देखो, आपको पता लगेगा। यहाँ भी ''देखो'' शद का प्रयोग ''जानो'' अर्थ में ही हुआ है। इससे पता चलता है कि बहुत वस्तुएँ ''मन एवं बुद्धि'' से भी जानी जाती है। वह देखना, यह देखना, वह देखा, यह देखा, वह दिखेगा, वहाँ दिखेगा इत्यादि प्रयोग जानने अर्थ में होते हैं न कि मात्र चाक्षुष प्रत्यक्ष में।

पू.- तो मन से या बुद्धि से तो जाना जाना चाहिये परन्तु ऐसा भी तो नहीं।

उ.- अविद्यारूपी घोर अन्धकार को दूर करो और ईश्वर का आनन्द उठाओ अर्थात् अविद्यारूपी आवरण की परत बहुत मोटी है। जो हमें प्रत्यक्ष होने में बाधा पहुँचाती है, उसे दूर करना चाहिये। इसमें शास्त्रों के अनेक प्रमाण है।

न्यायदर्शन. प्रमाणप्रमेय......तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसाधिगमः।

वैशेषिक. धर्मविशेषप्रसूताद्.........तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसम्।

योग दर्शन. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।

स्वयं वेद भी प्रमाण है।

परीत्यभूतानि परित्य लोकान्.......

आत्म नात्मानमपि सं विवेश।

-यजु. 32/11

तो जब अविद्या का अवसरण हो जावेगा तब मन के माध्यम से आत्मा तक और आत्मा से ईश्वर तक पहुँच सकेंगे।

और बुद्धि से तो अनुमान कर ही सकते हैं। बिना अनुमान किये ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे भोजन सामने रखा है, पर उसे ग्रहण करने का प्रयत्न यदि न किया जावे, तो भूख नहीं हट सकती। उसी प्रकार ईश्वर को जानने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता है।

पू.- वह प्रयास किस प्रकार से करें?

उ.- जैसे आप धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान अथवा पुत्र को देखकर जन्मदाता का अनुमान या आधेय को देखकर आधार का अनुमान करते हैं। तब आप मन-ही-मन एक व्याप्ति बनाते हैं और जान लेते हैं कि यह ज्ञान सही होता है।

व्याप्ति का स्वरूप– जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है या जहाँ-जहाँ आधेय होता है, वहाँ-वहाँ आधार होना आवश्यक है।

इसी प्रकार- जो-जो कार्य होता है, उसका कारण अवश्य होता है। आपने किसी घर को बना देखा, तो आपने अनुमान किया कि इसका बनाने वाला कोई अवश्य ही है, घर एक कार्य रूप में देख कर, आपने उसके बनाने वाले का अनुमान किया और निश्चय किया कारण गुणपूर्वक ही कार्य होता। अब यह भी विचार किया कि मैं इसको कार्य, क्यूँ कह रहा हूँ? क्योंकि वह क्षीण होता है। तो एक व्याप्ति आपने और तैयार की कि जो-जो कार्य होता है, वह क्षीण होता है। तो क्षीण होने वााला कार्य होता है और कार्य का कारण भी अवश्य होता है अर्थात् कार्य को कार्य रूप देने वाला कर्त्ता भी जरुरी है। अब इस सृष्टि को ही ले लेते हैं। सृष्टि एक कार्य है यह पता चलता है क्षीण होना प्रत्यक्ष देखें जाने से और उस कार्य का कर्त्ता भी आवश्यक है, अब वही कौन है, यह भी अनुमान से सिद्ध होता है कि इस संसार को निर्माण करने वाला एक देशी अथवा अल्पज्ञ नहीं हो सकता, अतः ईश्वर का अनुमान होता है।

पू.- यह संसार तो अपने आप ही बना है।

उ.- अब आप उक्त सिद्धान्त के विरुद्ध जा रहे हैं। प्रथम आपने स्वीकार किया था कि जो बना होता है, उसे बनाने वाला होता है। अब सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न कह रहे, वह ठीक नहीं।

पू.- क्योंकि यदि ईश्वर ने भी यदि इस संसार को बनाया है, यह कहे तो प्रश्न होगा कि ईश्वर को किसने बनाया?

उ.- हमारा सिद्धान्त जो स्थापित किया था उस तरफ ध्यान दें। जो कार्य होता है, वह क्षीण होता रहता है और जो क्षीण होता हुआ, कोई भी कार्य दिखाई पड़ता है, उसको बनाने वाला कोई अवश्य ही होता है और ईश्वर क्षीण नहीं होता। अतः उसे बनाने वाला कोई भी नहीं हुआ, न है और न होगा। अपितु उसने ही इस संसार को बनाया।

पू.- तो वह ईश्वर कहाँ है?

उ.- वह सर्वत्र कण-कण में है, वह सर्वव्यापक है। तभी तो उसने इतनी बड़ी रचना की है अन्यथा एकदेशी होकर, इसे करना सभव नहीं, यह पीछे बता ही आये। और वह सर्वव्यापक है, अतः सर्वज्ञ भी है।

पू.- तब तो प्राकृतिक आपदाएँ नहीं आनी चाहिये। क्योंकि सर्वव्यापक है, अतः उसे ध्यान देना चाहिये कि ये आपदाएँ जीवात्माओं को कष्ट पहुँचायेगी तथा मेरा कार्य करना भी व्यर्थ होगा, क्योंकि मैंने तो आत्माओं को सुख देने के लिए संसार बनाया है और यह बाधाएँ इनको कष्ट दे रही है। इतना ही नहीं अपितु सर्वज्ञ होने से, उसे उस प्रकार का निर्माण करना चाहिये कि कोई भी आपदाएँ आने ही न पावें।

उ.- यह सब ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार होता है वा नियमानुसार कहो। क्योंकि ईश्वर को कर्मफल भी तो देने हैं। अतः इसमें हमारे कर्म ही कारण होते हैं। इससे अतिरिक्त, यह प्रदूषण करने का प्रभाव या परिणाम भी हो सकता है। जैसे कोई मनुष्य एक यन्त्र बनाता है और उसमें विद्युत् को सहन करने की क्षमता एक क्षमता तक ही होती है। यदि उसमें कोई अधिक विद्युत् दे देवें, तो वह जलकर नष्ट ही होगा। इसी प्रकार यह पृथ्वी भी एक सीमा तक ही सहन कर सकती है या सह सकती है। उसके पश्चात् जो होता है, वह हम देखते ही हैं। यदि व्यवस्था को कोई अव्यवस्था रूप देना चाहे, तो उसमें ईश्वर को क्या दोष?

पू.- यदि ईश्वर है और आप उसे मानते हैं, तो बताइये कि आज पूरे विश्व में इतने दुष्टकर्म हो रहे हैं परन्तु ईश्वर तो कुछ भी नहीं करता?

उ.- ईश्वर को क्या करना चाहिये, आप ही बताइये?

पू.- उसे शरीर धारण करना चाहिये और दुष्टों की समाप्ति कर देनी चाहिये।

उ.- यदि वह शरीर धारण करे तो स्थान-स्थानान्तर, देश-देशान्त, विश्व-विश्वान्तर या लोक-लोकान्तर में तथा मोक्ष में प्रत्येक जीवात्मा का ध्यान कौन देगा? उनके कर्मों का ज्ञान कैसे होगा और ज्ञान नहीं होगा तो उनका फल भी नहीं दे सकेगा।

पू.- तो सर्वव्यापक होते हुए, कुछ भी तो नहीं करता?

उ.- आपको कैसे पता कि वो कुछ भी नहीं करता?

पू.- क्या करता है, बताईये?

उ.- वही तो सभी के कर्मों का यथावत् फल देता है। ये भिन्न-भिन्न योनियाँ जो दिखाई पड़ती है, वह सब इसी के व्यवस्था के अन्तर्गत है और आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है और ईश्वर उसे हाथ पकड़कर रोक दे, तो वह तो परतन्त्र होवेगा। अतः ईश्वर को उसी रूप में जानना चाहिये, जिस रूप में वह है।

पू.- वह कैसे मिलेगा?

उ.- यह जो हम लोग पाप कर्म करते हैं, उसके कारण को (मिथ्या ज्ञान) को हटा दें तो वह आनन्दस्वरूप परमात्मा प्राप्त होता है, यह शास्त्र कहता है, वेद भी कहता है।

''अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते''

अर्थात् तत्वज्ञानपूर्वक ही आप ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं। उसके लिए आप शास्त्रों का अध्ययन कर शीघ्रता से प्राप्त कर सकते हैं।

विशेष सार– यदि हम परमात्मा पर विश्वास नहीं करते तो दोष-पर-दोष ही करते चले चलते हैं।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चिदहावेदीन्महती विनिष्टः।

भूतेषू-भूतेषू विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।

– उप.।।

भावार्थः– इस जन्म में उसे जान लिया तो अच्छा होगा, नहीं तो महाविनाश होगा। धीर लोग प्रत्येक जड़-चेतन का भेद जानकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

– ऋषि उद्यान, पुष्कर मार्ग, अजमेर

प्राणोपासना – तपेन्द्र कुमार

DECEMBER 9, 2015 LEAVE A COMMENT

इस संसार में तीन नित्य पदार्थ हैं- ईश्वर, जीव व प्रकृति। प्रकृति सत्तात्मक है, जीव सत्तात्मक तथा चेतन हैं। ईश्वर सत्तात्मक, चेतन तथा आनन्दस्वरूप है। परमपिता परमात्मा ने सृष्टि की रचना आत्मा के भोग तथा अपवर्ग के लिए की है। पूर्व जन्मों के प्रबल संस्कारवान् व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम से सीधे ही साधना की ओर अग्रसर हो जाते हैं तथा जिनके उतने सुदृढ़ संस्कार नहीं होते, वे गृहस्थ आश्रम आदि में संसार के भोगों में दुःख मिश्रित सुख का अनुभव करके साधना का मार्ग अपनाते हैं। जीव स्वभावतः आनन्द चाहता है तथा आनन्द केवल परम पिता परमात्मा में है, अतः परमात्मा की उपासना करके ही आनन्द को प्राप्त किया जा सकता है। परमपिता परमात्मा को प्राप्त करने के कई साधन तथा प्रक्रियाएँ संसार में प्रचलित है, उनसे मन की कुछ एकाग्रता भी सभव है, परन्तु सीधा व सही मार्ग तो वेदसमत मार्ग ही है।

महर्षि स्वामी दयानन्द जी महाराज ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के उपासना विषय में मुण्डकोपनिषद् का सन्दर्भ देते हुए लिखा है-

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्य्यां चरन्तः।

सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्यात्मा।

– मुण्डक. ख. 2 मं.।।

‘‘(तपः श्रद्धे.) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर एवं उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदयरूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़ तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य्य आदि कर्म करके संन्यास वा किसी अन्य आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुण वाले मनुष्य प्राणद्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके (विरजाः) अर्थात् सब दोषों से छूट के परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते हैं, जहाँ कि पूर्ण पुरुष सबमें भरपूर, सबसे सूक्ष्म (अमृतः) अर्थात् अविनाशी और जिसमें हानि-लाभ कभी नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके, सदा आनन्द में रहते हैं।’’ पुञ्जन्ति ब्रह्ममरुषं चरन्तं परितस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि।।(ऋग्वेद 1, 1, 11, 9) का अर्थ करते हुए महर्षि लिखते हैं- ‘‘सब पदार्थों की सिद्धि का मुय हेतु जो प्राण है, उसको प्राणायाम की रीति से अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त

करते हैं। इसी कारण वे लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं।'' सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुनया।। (यजु. 12.67) की संस्कृत व्याया में महर्षि स्पष्ट करते हैं- ''(सीराः) योगायासोपासनार्थं नाडीर्युञ्जन्ति, अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमयस्यन्ति.....(सुनया) सुखेनैव स्थित्वा परमानन्दं (युञ्जन्ति) प्राप्नुवन्तीत्यर्थः।'' पुनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं.... यजु. 12.68 के भाषार्थ में महर्षि लिाते हैं कि.... हे उपासक लोगो! तुम योगायास तथा परमात्मा के योग से नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द को (वितनुध्वं) विस्तार करो।

इस प्रकार महर्षि ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि प्राणद्वार से परमेश्वर को प्राप्त किया जा सकता है, प्राणनाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द की प्राप्ति की जा सकती है, प्राण को परमात्मा में युक्त करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। प्राण नाड़ियों में ही परमात्मा को जानने प्राप्त करने का अयास करणीय है।

परमेश्वर की उपासना करके उसमें प्रवेश करने की रीति भी महर्षि दयानन्द जी महाराज ने उपासना विषय में ही स्पष्टतः प्रतिपादित की है- ''(अथ यदिद.) कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर-भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है।'' इस प्रकार स्पष्ट उल्लेख है कि हृदय देश में परमेश्वर की प्राप्ति/दर्शन होते हैं, उस परमपिता परमात्मा के मिलने का कोई दूसरा उत्तम स्थान व मार्ग नहीं है।

उपासना विषय के ऊपर उद्धृत उद्धरणों में तीन शद विशेषतः आये हैं- प्राण, प्राणनाड़ियाँ तथा हृदय। अतः इन तीनों पर मनन किया जाना समीचीन होगा।

प्राण अचेतन एवं भौतिक तत्त्व है। प्राण जीवात्मा के साथ संयुक्त होकर सब चेष्टा आदि व्यवहारों को सिद्ध करता है तथा समस्त शरीर को धारण करता है। प्राण हवा या गैस नहीं है। प्राण विशिष्ठ प्रकार की शुद्ध ऊर्जा है।**1** आत्मनः एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायेतस्मिन् नेतदाततं मनोकृतेनाऽऽयात्यस्मिं शरीरे। प्रश्न. 3.3। प्राण की उत्पत्ति आत्मा से होती है जैसे पुरुष के साथ छाया लगी है, इसी प्रकार आत्मा के साथ प्राण लगा है।

अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः।

आपः समुद्रियाधारास्तास्ते शल्यमसिस्रसन्।।

-अथर्ववेद 7.10.7.1

सूर्य की सात किरणें आकाश से अन्तरिक्ष में रहने वाले धारा रूप प्राणों को उतारती हैं। प्रश्नोपनिषद् 1-6 के अनुसार-

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते..... यत् सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते।

जिस समय सूर्य उदय होकर पूर्व दिशा में प्रवेश करता है तो उसके द्वारा पूर्व दिशा में प्राणों को अपनी किरणों के अन्दर सयक् रूप से निरन्तर धारण करता है..... उन सभी दिशाओं में प्राणों को अपनी किरणों के अन्दर सयक् रूप से निरन्तर धारण करता हुआ प्रकाशित होता है।

आदित्यो ह वै बाह्य,

प्राण उदयत्येष ह्नेन चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णनः।

– प्रश्नो. 3.8

निश्चय ही आदित्य ही बाह्य प्राण है, यह चाक्षुष प्राण पर अनुग्रह करता हुआ उदित होता है। इस प्रकार सूर्य की प्रकाश किरणों के अन्दर रखे हुए तथा किरणों के माध्यम से ऊर्जाकण निरन्तर प्राप्त हो रहे हैं, वे बाह्य प्राण हैं। छान्दोग्य. 6.5.2 के अनुसार-

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं

भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः।।

आहार के द्वारा जीवों के शरीरों में पाचन क्रिया द्वारा जल का अणुतम भाग प्राण रूपी ऊर्जा में परिणत हो जाता है।

प्राण जीवों को दो तरह से प्राप्त होता है, एक बाह्य प्राण कहलाता है, जो सूर्य रश्मियों से प्राप्त होता है तथा सर्वत्र व्याप्त है। यह जीवों के नेत्रों द्वारा प्राप्त होता है। दूसरा जठराग्नि द्वारा जल से उत्पन्न प्राण ऊपर उठकर हृदय में बाह्य प्राण से मिल जाता है। हृदय शरीरों में प्राण का केन्द्र है।

प्राणनाड़ियों के सबन्ध में उपनिषदों में स्पष्ट प्रमाण है। प्रश्नोपनिषद् प्रश्न 3/6-

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति।

– कठोपनिषद् षष्ठ वल्ली 16

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तानासां मूर्धनमभिनिःसृतैका।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति।।

......यदेतदन्तहृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः संचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति.....।

– बृहदारण्यक 4.2.3

उपनिषदों के ऊपरलिखित कुछेक प्रमाणों से स्पष्ट है, हृदय में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, इनमें से एक नाड़ी मूर्धा को वेधकर कपाल शीर्ष तक गई है, बृहदारण्यक उपनिषद् में इस नाड़ी को संचरणी कहा गया है। शेष सौ नाड़ियों का नाम हिता है। इन सौ हिता प्राण-नाड़ियों से प्रत्येक से एक सौ और भी सूक्ष्म उपनाड़ियाँ निकलती हैं। प्रत्येक उपनाड़ी से भी और भी सूक्ष्म बहत्तर-बहत्तर हजार उप-उपप्राण-नाड़ियाँ निकलती हैं। हृदय से निकली हुई ये प्राणनाड़ियाँ सपूर्ण शरीर में व्याप्त हो रही हैं। इन नाड़ियों को पुरीवत प्राणनाड़ियाँ कहा जाता है। हिता नाड़ियों की मोटाई बाल के हजारवें हिस्से जितनी है, अर्थात् ये प्राणनाड़ियाँ बहुत सूक्ष्म हैं।

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेवं निरुक्तं हृदयामिति। -छान्दो. 8.3.3 के अनुसार देह में जीवात्मा का मुयालय हृदय है जो एक गुह्य रहस्यमय स्थान है। यह शरीर का स्थूल इन्द्रिय नहीं है। यह रक्तप्रेषण करने वाला हृदय भी नहीं है। यह हृदय गुहा, ब्रह्मपुर, दहर, परमव्योम आदि नामों से भी कहा गया है। मनुष्य के शरीर में छाती के बीच में अंगुष्ठमात्र परिणाम वाला गड्ढा-सा है, जिसमें व्योम=आकाश है। यह हृदय हिता नामक प्राणनाडियों से बना हुआ है। बृहदारण्यक 4.2.4 के अनुसार हृदय में सब ओर प्राण ही प्राण हैं। छान्दोग्य उपनिषद् 3.14.3 एष म आत्मा अन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा….. से स्पष्ट है कि आत्मा का स्थान हृदय है।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः। स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्।।

– मुण्डक. 2.2.6

जैसे भिन्न-भिन्न अरे रथ की नाभि में जुड़े होते हैं, वैसे भिन्न-भिन्न नाड़ियाँ हृदय में संहत हो जाती है। अनेक रूपों में प्रकट होने वाला विराट् पुरुष हृदय के भीतर ही विचरता है।

दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योनि आत्मा प्रतिष्ठितः।

मुण्डक 2.2.7 के अनुसार यह दिव्य आत्मा ब्रह्मपुर-ब्रह्म की नगरी-हृदयाकाश रूपी ब्रह्मपुर में स्थित है। शंकराचार्य उक्त की व्याया करते हुए लिखते हैं-

…………पुरं हृदयपुण्डरीकं तस्मिन्यद्व्योम तस्मिन् व्योन्याकाशे हृत्पुण्डरीकं मध्यस्थे, प्रतिष्ठित इवोपलयते।

…..हृदय कमल ब्रह्मपुर है, उसमें जो आकाश है, उस हृदयपुण्डरीकान्तर्गत आकाश में प्रतिष्ठित (स्थित) हुआ-सा उपलध होता है।

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

-कठो. 2.20

जो व्यक्ति प्राणी के हृदय गुहा में स्थित सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा महान् से महान् परमेश्वर को देख पाता है.....।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभाव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वैतत्।। -कठो. 4.12। हुए और होने वाले जगत् का अध्यक्ष पूर्ण परमात्मा अँगूठे के बराबर हृदयाकाश में रहने वाले जीवात्मा के मध्य में रहता है, उसके ज्ञान से कोई ग्लानि को नहीं पाता, यही वह ब्रह्म है।**2**

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम्

यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा।

-मुण्डक. 3.1.9

सभी जीवों के चित्त प्राणों से ओतप्रोत हैं, उन्हीं प्राणों में यह आत्मा विशुद्ध रूप से प्रकाशित होता है।

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते।

– बृहद. 4.4.22

यह महान् तथा अजन्मा आत्मा विज्ञानमय है, प्राणों में रहता है और हृदय के भीतर जो आकाश है, उसमें विश्राम करता है।**3**

स यथा शकुनिः प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोय तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलध्वा प्राणमेवोपाश्रयते प्राणबन्धनं हि सौय मन इति।

– छान्दोग्य. 6.8.2

जिस प्रकार डोरी से बँधा हुआ पक्षी दिशा-विदिशाओं में उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलने पर बन्धन स्थान का ही आश्रय लेता है, इसी प्रकार यह मन दिशा-विदिशाओं में उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलने से प्राण का ही आश्रय लेता है, क्योंकि मन प्राणरूप बन्धनवाला ही है।

इस प्रकार प्राण अचेतन ऊर्जा है, बाह्यप्राण सूर्य से व अन्तःप्राण भुक्त जल से प्राप्त होता है। हृदय प्राण का केन्द्र है, प्राणों में आत्मा प्रतिष्ठित है तथा परमात्मा हृदयाकाश में रहने वाले जीवात्मा के मध्य रहता है। अतः प्राणों में उपासना करके आत्मा तथा परमात्मा का साक्षात्कार या दर्शन किया जा सकता है, जो मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है।

सन्दर्भ

1. ब्रह्मोपासना और उसका विज्ञान- स्वामी सत्यबोध सरस्वती
2. महात्मा नारायण स्वामी जी भाष्य

– **53/203,** मानसरोवर**,** जयपुर**,** राज.

‘यज्ञ का महत्व एवं याज्ञिकों को इससे होने वाले लाभ’ -मनमोहन कुमार आर्य

DECEMBER 8, 2015 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

चार वेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद, ईश्वरीय ज्ञान है जिसे सर्वव्यापक, सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान सृष्टिकर्ता ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा को दिया था। ईश्वर प्रदत्त यह ज्ञान सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद सभी मनुष्यों के लिए यज्ञ करने का विधान करते हैं। ऋग्वेद के मन्त्र **1/13/12** में ‘स्वाहा यज्ञं कृणोतन’ कहकर ईश्वर ने स्वाहापूर्वक यज्ञ करने की आज्ञा दी है। ऋग्वेद के मन्त्र **2/2/1** में ‘यज्ञेन वर्धत जातवेदसम्’ कहकर यज्ञ से अग्नि को बढ़ाने की आज्ञा है। इसी प्रकार यजुर्वेद के मन्त्र **3/1** में ‘समिधाग्निं दुवस्यत धृतैर्बोधयतातिथिम्’ कहकर समिधा से अग्नि को पूजित करने व घृत से उस अग्निदेव अतिथि को जगाने की आज्ञा है। ‘सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन’ (यजुर्वेद **3/2)** के द्वारा आज्ञा है कि सुप्रदीप्त अग्निज्वाला में तप्त घृत की आहुति दो। यह संसार ईश्वर का बनाया हुआ है और सभी मनुष्यों व प्राणियों को उसी ने जन्म दिया है। अतः ईश्वर सभी मनुष्यादि प्राणियों का माता**,** पिता व आचार्य है। उसकी आज्ञा का पालन करना ही मनुष्य का धर्म है और न करना ही अधर्म है। इस आधार पर यज्ञ करना मनुष्य धर्म और जो नहीं करता वह अधर्म करता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञों की चर्चा की है। अग्निहोत्र एक नैत्यिक कर्तव्य है जो शास्त्र-मर्यादा के अनुसार सभी को करना होता है। अन्य यज्ञों को करने के सभी अधिकारी हों, ऐसा नहीं है। लाभों का ज्ञान न होने पर भी वैदिक विधान होने से ही अग्निहोत्र सबको करणीय है। लाभ जानकर किया जाए तो उसमें अधिक श्रद्धा होती है। उन लाभों को प्राप्त करने की प्रेरणा भी मिलती है और उसके लिए मनुष्य प्रयत्न भी करता है। अतः वेदादि शास्त्रों ने भी तथा स्वामी दयानन्द जी ने भी यज्ञ एवं अग्निहोत्र के अनेकानेक लाभ बताए हैं। इन लाभों में अनागत रोगों से बचाव, प्राप्त रोगों का दूर होना, वायु-जल की शुद्धि, ओषधि-पत्र-पुष्प-फल-कन्दमूल आदि की पुष्टि, स्वास्थ्य, दीर्घायुष्य, बल, इन्द्रिय-सामथ्र्य, पाप-मोचन, शत्रु-पराजय, तेज, यश, सदविचार, सत्कर्मों में प्रेरणा, गृह-रक्षा, भद्र-भाव, कल्याण, सच्चारित्र्य, सर्वविध सुख आदि दर्शाए गए हैं। वन्ध्यात्व-निवारण, पुत्र-प्राप्ति, वृष्टि, बुद्धिवृद्धि, मोक्ष आदि फलों का भी प्रतिपादन किया गया है। यहां शंका यह हो सकती है कि क्योंकि प्रत्येक अग्निहोत्री को ये फल प्राप्त नहीं होते, अतः यह फल श्रुति मिथ्या है। इसलिए इसका विवचेन किया जाना आवश्यक है।

यज्ञ, अग्निहोत्र या होम के लाभों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम प्रकार के वे लाभ हैं, जो होम से स्वतः प्राप्त हो सकते हैं, यथा वायुशुद्धि, जलशुद्धि, स्वास्थ्य-प्राप्ति, इन्द्रिय-

सामथ्र्य, दीर्घायुष्य आदि। यदि अग्नि में यथोचित मात्रा में सुगन्धित, मिष्ट, पुष्टिप्रद एवं रोगहर द्रव्यों का होम किया गया है, तो यजमान चाहे या न चाहे, इन लाभों के प्राप्त होने का अवसर रहता ही हैं। शीत ऋतु में गुड़, मेथी, सोंठ, अजवाइन, गूगल जैसी साधारण वस्तुओं के होम से ही गृह-सदस्यों को सर्दी के अनेक रोगों से बचाव और छुटकारा मिलता देखा गया है। दूसरे प्रकार के लाभ वे हैं, जो अग्निहोत्री यजमान के इच्छा, प्रेरणाग्रहण एवं प्रयत्न पर निर्भर हैं। यदि यजमान मन्त्रों के अर्थ का अनुसरण करता हुआ परमेश्वर के एवं परमेश्वररचित यज्ञाग्नि के परमेश्वरकृत गुण-कर्म-स्वभाव का चिन्तन करता हुआ उन्हें अपने अन्दर धारण करने का व्रत लेता है और तदर्थ प्रयत्न करता है, तो वह सन्मार्ग पर चलने की सद्बुद्धि प्राप्त करेगा, पापकर्मों से बचेगा, सदाचारी बनेगा, तेजस्वी एवं यशस्वी होगा और मोक्षप्राप्ति के अनुरूप कर्म करने की प्रेरणा लेगा, तो मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। यदि कोई यजमान इन लाभों को पाने का प्रयत्न ही नहीं करता, सूखे मन से आहुतिमात्र देता है, फलतः उसे यह लाभ प्राप्त नहीं होते, तो उसमें यज्ञ का दोष नही है।

जहां तक बड़े-बड़े रोगों को दूर करने, महामारियां रोकने आदि का प्रश्न है, प्राचीन काल में इस प्रकार के यज्ञ होते रहे हैं। पुत्र-प्राप्ति के लिए पुत्रेष्टियां भी की जाती रही हैं। इनकी सफलता कुछ तो मनोबल, श्रद्धा एवं आशावादिता पर निर्भर है, दूसरे अधिक योगदान इस बात का है कि कौन-सी ओषधियों से होम किया जाता है। जैसे अन्य चिकित्सा-पद्धतियों आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा, जल-चिकित्सा, ऐलोपैथी, होम्योपैथी आदि हैं, वैसे ही अग्निहोत्र–चिकित्सा भी एक वैज्ञानिक पद्धति है। अग्निहोत्र-चिकित्सा द्वारा वेदोक्त रोगकृमि-विनाश, ज्वर-चिकित्सा, उन्माद-चिकित्सा, गण्डमाला-चिकित्सा एवं गर्भदोष-चिकित्सा की जाती है जो सफल परिणामदायक होती है। इस विषय में मार्गदर्शन हेतु यज्ञ विषयक ग्रन्थों का अनुशीलन किया जाना चाहिये। इस विषय से सम्बन्धित आर्यजगत के विद्वान डा. रामनाथ वेदालंकार जी की "यज्ञ मीमांसा" पुस्तक विशेष रूप से लाभदायक है। इस पुस्तक में विद्वान लेखक ने यज्ञ के विभिन्न पक्षों पर सात अध्यायों में बहुमूल्य जानकारी दी है। पहला अध्याय यज्ञ और अग्निहोत्र विषय में सामान्य विचार से सम्बन्धित है। दूसरा अध्याय वैदिक यज्ञ-चिकित्सा पर है। तीसरा अग्निहोत्र के प्रेरक तथा लाभ-प्रतिपादक वेदमन्त्रों पर, चौथा अग्निहोत्र की विधियों तथा मन्त्रों की व्याख्या, पांचवा अध्याय बृहद् यज्ञ के विशिष्ट मन्त्रों पर तथा षष्ठ अध्याय आत्मिक अग्निहोत्र एवं अग्निहोत्र के भावनात्मक लाभों पर है। अन्तिम सातवां अध्याय यज्ञ एवं अग्निहोत्र-विषयक सूक्तियों पर है। इस ग्रन्थ का अध्ययन करने से यज्ञ विषयक सभी पक्षों का ज्ञान होता है। यह ग्रन्थ सभी यज्ञ प्रेमी पाठकों के लिए पढ़ने योग्य है। यज्ञ के प्रति पाठकों में जागृति उत्पन्न हो और वह स्वस्थ रहते हुए यशस्वी जीवन व्यतीत करें और धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर हों, इस लिए यह कुछ संक्षिप्त उल्लेख किया है। इस लेख की समस्त सामग्री डा. रामनाथ वेदालंकार जी की पुस्तक यज्ञमीमांसा पर आधारित है। उनका पुण्यस्मरण कर उनका हार्दिक धन्यवाद करते हैं।

दैनिक अग्निहोत्र नैत्यिक कर्तव्य है। कुछ लोग घरों में नियम से दोनों समय या एक समय दैनिक अग्निहोत्र करते हैं। कुछ लोग आर्यसमाजों में होनेवाले सामूहिक दैनिक या साप्ताहिक अग्निहोत्र में सम्मिलित होते हैं, घर पर अग्निहोत्र नहीं करते। स्वामी दयानन्द ने अपनी

'संस्कारविधि' पुस्तक में घृत की प्रत्येक आहुति न्यूनतम छः माशे की लिखी है। वह धृत भी कस्तूरी, केसर, चन्दन, कपूर, जावित्री, इलायची आदि से सुगन्धित किया होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सुगन्धि, मिष्ट, पुष्ट एवं रोगनाशक द्रव्यों की हवन-सामग्री होनी चाहिये। समिधाएं भी चन्दन, पलाश, आम आदि की होनी चाहिएं। उन्होंने अग्निहोत्र के जो लाभ अपने ग्रन्थों में लिखे हैं, वे घर-घर होने वाले इसी प्रकार के अग्निहोत्र की दृष्टि में रखकर हैं। इस प्रकार का अग्निहोत्र हो, तो उसमें दोनों समय का मिलाकर काफी दैनिक व्यय होने का अनुमान है। इतना व्यय करने का सामथ्र्य और उत्साह विरलों का ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में श्रद्धा और सामर्थ्य के अनुसार जैसा भी बन पड़े होम करना उचित है। हव्य चारों प्रकार के होने चाहिएं, जिसमें वायु मण्डल सुगन्धित तथा रोगहर ओषधियों के अणुओं से युक्त हो तथा उसमें श्वास लेने से लाभ पहुंचे। जो एक काल के ही व्रत का निर्वाह करना चाहें, वे वैसा कर सकते हैं। अग्नि प्रज्जवलित रहे ओर धुआं न उठे, ऐसा प्रयास होना चाहिए। यह विचार पूज्य आचार्यप्रवर पं. रामनाथ वेदालंकार जी के हैं। आशा है कि पाठक यज्ञ विषयक इस लेख में प्रस्तुत विचारों से लाभान्वित होंगे।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

स्तुता मया वरदा वेदमाता : डॉ धर्मवीर

DECEMBER 8, 2015 LEAVE A COMMENT

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोयेकश्नुष्टीन्त्संवनेन सर्वान्।

एक परिवार एक साथ सुखपूर्वक कैसे रह सकता है, यह इस सूक्त का केन्द्रीय विचार है। सामनस्य सूक्त का यह अन्तिम मन्त्र है। इस मन्त्र में परिवार को एक साथ सौमनस्यपूर्वक रहने के लिये उसको धार्मिक होने की प्रेरणा दी गई है। मन्त्र में एक शद है 'सध्रीचीनान्'। परिवार के जो लोग एक साथ रह रहे हैं, वे 'संमनसः' समान मत वाले होने चाहिएँ। समान मन एक दूसरे के लिये अनुकूल सोचने वाले होते हैं। परस्पर हित की कामना करते हैं, तभी समान बनते हैं। वेद कहता है- समान हित सोचने के लिये 'एकश्नुष्टीन्'- एक धर्म कार्य में प्रवृत्त होने वाला होना चाहिए। जो धार्मिक नहीं है, वे शान्त मन वाले, परोपकार की भावना वाले नहीं हो सकते। परिवार को सुखी और साथ रखने के लिये परिवार के सदस्यों का धार्मिक होना आवश्यक है। परिवार के सदस्य धार्मिक हैं, तो उनमें शान्ति और सहनशीलता का गुण होगा। धार्मिक व्यक्ति स्वाभाविक रूप से उदार और सहनशील होता है।

आज समाज में जहाँ भी संघर्ष है, पारिवारिक विघटन है, वहाँ सहनशीलता का अभाव देखने में आता है। हम क्रोध करने को, विरोध करने को, असहमति को अपना सामर्थ्य मान बैठे हैं,

जबकि वस्तुस्थिति यह है कि जिस मनुष्य को जितनी शीघ्रता से क्रोध आता है, प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, वह उतना ही दुर्बल होता है। सामर्थ्यवान व्यक्ति का सहज गुण क्रोध न आना है, जिसे क्रोध नहीं आता, वही सहनशील होता है। परिवार के सदस्य धार्मिक होते हैं तो वे सहनशील और उदार होते हैं। परिवार के बड़े सदस्यों में उदारता तथा छोटे सदस्यों में नम्रता और बड़ों के प्रति आदर का भाव होता है। ये गुण धर्म की कसौटी है। परिवार में धार्मिकता होने से ईश्वर-भक्ति का भाव सभी सदस्यों में रहता है। अच्छे कार्यों में मन लगने से बुरे कार्यों और स्वार्थ भावना से मनुष्य दूर रहता है।

धार्मिक होना मनुष्य के लिये आवश्यक है, अधार्मिक व्यक्ति में स्वार्थ और अन्याय का भाव आता है। परिवार के किसी भी सदस्य में स्वार्थ का भाव उत्पन्न हो जाता है तो मनुष्य अन्याय करने में संकोच नहीं करता। एक गाँव में दो भाई एक साथ रहते थे। परिवार में सामञ्जस्य था, अच्छी प्रगति हो रही थी। दोनों भाई दुकान में बैठे थे। बच्चे बाहर से खेलते हुए आये। बड़े भाई के पास आम रख थे, बड़े भाई ने बच्चों में आम बाँट दिये। बच्चे आम लेकर खेलने चले गये। दो दिन बाद छोटे भाई ने बड़े भाई को प्रस्ताव दिया- भाई अब हमें अपना व्यवसाय, घर बाँट लेना चाहिए। बड़े भाई ने पूछा- तुहारे मन में ऐसा विचार क्यों आया, तो छोटे भाई ने बड़े भाई से कहा- भैया जब परसों बच्चे दुकान पर आये, आपने बच्चों को आम बाँटे, परन्तु आपने अपने बेटे को क्रम तोड़कर आम का बड़ा फल दिया, तभी मैंने निर्णय कर लिया था कि अब हमें अलग हो जाना चाहिए। बड़ा भाई कुछ नहीं बोल सका और दोनों भाई अलग हो गये।

इस प्रकार धर्म उचित व्यवहार का नाम है। जो लोग धर्म को अनावश्यक या वैकल्पिक समझते हैं, उन्हें जानने की आवश्यकता है कि धर्म विकल्प नहीं, जीवन का अनिवार्य अंग है।

मनुष्य को स्वार्थ, अन्याय से दूर रहने के लिये धार्मिक होना चाहिए। धार्मिक व्यक्ति परोपकार करने में प्रवृत्त होता है। जिस परिवार के सदस्य धार्मिक आचरण और परोपकार की भावना वाले होते हैं, वही परिवार सुखी और संगठित रह सकता है।

हाँ, वेद में गो हत्यारे को मारने का आदेश है: डॉ. धर्मवीर

DECEMBER 5, 2015 1 COMMENT

आजकल गो मांस खाने, न खाने को लेकर तथाकथित साहित्यकार, मानव अधिकारवादी, प्रगतिशील और कांग्रेस समर्थक राजनैतिक लोग प्रतिदिन ही शोर करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि इनको गाय, घोड़े से कुछ भी लेना देना नहीं है, इनका उद्देश्य हिन्दू विरोध है। इस देश में गत साठ वर्षों तक जो लोग सत्ता के साथ रहे और वहाँ से लाभ उठाते रहे, आज उनका सत्ता सुख छिन गया तो चिल्ला रहे हैं। यदि इन लोगों के अन्दर थोड़ी भी संवेदनशीलता या मनुष्यता होती तो जो कुछ आज मुस्लिम देशों में हो रहा है, उसका विरोध करने का साहस अवश्य करते। मूल रूप से ये लोग पाखण्डी हैं, इनको हिन्दू विरोध करने का आर्थिक लाभ मिलता था, मोदी सरकार के आने से वह बन्द हो गया, इस कारण इनका यह

पीड़ा-प्रदर्शन उचित ही है। हिन्दू विरोध के नाम पर राष्ट्रद्रोह करना इनका स्वभाव बन चुका है।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि हिन्दू लोग गौ की तुलना में मनुष्य का मूल्य नहीं समझते, किसी ने किसी जानवर को मार दिया तो क्या हो गया, जानवर का मनुष्य के सामने क्या मूल्य है? संसार के सभी प्राणी मनुष्य के लिए ही बने हैं। उन्हें मारने-खाने में कोई अपराध नहीं होता। संसार की सभी वस्तुयें मनुष्य के उपयोग के लिये बनी हैं, इसका यह अभिप्राय तो नहीं हो सकता कि आप उन्हें नष्ट कर दें। संसार के प्राणी भी मनुष्य के लिये हैं तो इनको मारकर खा जाना ही तो एक उपयोग नहीं है। पहली बात, जो भी संसार की वस्तुयें और प्राणी हैं, वे सभी मनुष्यों की साझी सपत्ति हैं, सबके लिये उनका उपयोग होना चाहिए। सबका हित सिद्ध होता हो, ऐसा उपयोग सबको करना उचित है। संसार की वस्तुओं का श्रेष्ठ उपयोग मनुष्य की बुद्धिमत्ता की कसौटी है। कोई मनुष्य घर को आग लगाकर कहे कि लकड़ियाँ तो मेरे जलाने के लिये ही हैं। लकड़ियाँ जलाने के काम आती है, परन्तु घर बनाने के भी काम आती हैं, उनका यथोचित उपयोग करना मनुष्य का धर्म है।

कोई भी मनुष्य किसी का अहित करके अपना हित साधना चाहता है तो उसको ऐसा करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। समाज में व्यक्तिगत आचरण की पूर्ण स्वतन्त्रता है, परन्तु सामाजिक परिस्थितियों में प्रत्येक व्यक्ति को समाज के नियमों के अधीन चलना होता है। जो लोग गाय का मांस खाने को अधिकार मानते हैं, वे मनुष्य का मांस खाने को भी अधिकार मान सकते हैं। समाज में कोई ऐसा करता है तो उसे अपराधी माना जाता है, उसे दण्डित किया जाता है, जैसा निठारी काण्ड में हुआ है। वैसे ही गाय भारत में हिन्दू समाज में न मारने योग्य कही गई है। आप कानून व नियम का विरोध करके गो मांस खाने को अपना अधिकार बता रहे हैं। एक वर्ग-बहुसंयक वर्ग जब गौ हत्या की अनुमति नहीं देता, तब यदि आप ऐसा करते हैं तो देश और समाज से द्रोह करना चाह रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में जब एक वर्ग नियम को मानने से इन्कार करता है तो दूसरा वर्ग भी नियम तोड़ने लगता है, जैसा कश्मीर में हुआ, यदि गोहत्या करना, गोमांस खाना इंजीनियर रशीद का अधिकार है तो गाय की रक्षा करने का और गोहत्यारे को दण्डित करना भी हिन्दू का अधिकार है। ये दोनों स्थिति समाज में अराजकता उत्पन्न करने वाली हैं, समाज के हित में नहीं है। हमें समाज के हित को सर्वोपरि रखना होगा। यदि गोहत्या करके एक अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहता है तो दूसरा सूअर को लेकर आपकी भावनाओं को आहत करता है। यह संघर्ष निन्दनीय है।

जो लोग गोहत्या के पक्षधर हैं, वे अपने भोजन की चिन्ता में पूरे समाज के भोजन पर संकट उत्पन्न कर रहे हैं। गाय का मांस तो कुछ लोगों की आवश्यकता है, परन्तु गाय का दूध पूरे समाज की आवश्यकता है। यह मांस खाने वालों की भी आवश्यकता है। इन लोगों के मांस खाने से समाज में आज दूध का भयंकर संकट उत्पन्न हो गया है। आपको अपने परिवार में दूध चाहिए या नहीं, छोटे बच्चों को दूध चाहिए, बड़ों को, रोगियों को दूध चाहिए। घर में दूध, दही, मक्खन, घी, मिठाई, मावा, खीर, पनीर आदि में प्रतिदिन जितने दूध की आवश्यकता है, दूध का उत्पादन उसकी अपेक्षा बहुत थोड़ा हो रहा है, इसीलिये दूध, दही, मावा, पनीर, मिठाई में सब कुछ नकली आ रहा है। दूध से बनी हर वस्तु में आज मिलावट है, क्योंकि गौहत्या के निरन्तर बढ़ने से गाय, भैंस आदि पशु घट गये हैं। यदि यही क्रम जारी रहा तो आपके लिये सोयाबीन का आटा घोलकर पीने के अतिरिक्त कोई उपाय ही नहीं बचेगा।

गोमांस खाने और गोमांस के व्यापार के कारण देश गहरे संकट की ओर जा रहा है। भोजन में गोदुग्ध के पदार्थों को निकाल दिया जाय तो भोजन में कुछ बचता नहीं है। हम समझते हैं कि कारखानों, उद्योगों से समृद्धि आती है, समृद्धि का वास्तविक आधार पशुधन है। मनुष्य की जितनी आवश्यकताओं की पूर्ति पशुओं से प्राप्त होने वाली वस्तुओं से होती है, उतनी अन्य पदार्थों से नहीं होती। जीवित पशु हमें अधिक लाभ पहुँचाते हैं, मरकर तो पहुँचाते ही हैं। स्वयं मरे पशु का उपयोग कम नहीं अतः पशुवध की आवश्यकता नहीं है। गोदुग्ध और उससे बने पदार्थ जहाँ मनुष्य के लिये बल, बुद्धि के बढ़ाने वाले होते हैं, वहाँ मांस तमोगुणी भोजन है, इसलिये महर्षि दयानन्द ने पहले ही घोषणा कर दी थी कि गौ आदि पशुओं के नाश से राजा और प्रजा का भी नाश होता है। इस भारत के नाश के लिये अंग्रेजों ने हमारी समृद्धि के दो सूत्र समझे थे और उनका पूर्णतः नाश किया था। प्रथम हमारी शिक्षा, हमारे विचार और चिन्तन के उत्कर्ष का आधार थी, उसे नष्ट किया तथा दूसरा पशुधन विशेष रूप से गाय जो हमारी समृद्धि का मूल थी, उसका नाश कर इस देश को दरिद्र बना गये। उन्हीं के दलालों के रूप में जो लोग इस देश में उन्हीं से पोषण पाते हैं, उन्हीं के इशारे पर काम करते हैं, उन्हीं का षड़यन्त्र है। वे गोमांस खाने जैसी बातें उठाकर विवाद उत्पन्न करते हैं, विदेशों में देश की छवि खराब करते हैं।

गाय हमारे बीच हिन्दू-मुसलमान की पहचान नहीं है, गाय तो सब की है। गाय उपयोगिता की दृष्टि से दूध न देने पर भी उपयोगी है। उसके गोबर से खाद और गोमूत्र से औषध का निर्माण होता है। पिछले दिनों गाय पर किये जा रहे अनुसन्धानों ने सिद्ध कर दिया है कि गाय न केवल हमारी भोजन की समृद्धि को अपने दूध से बढ़ाती है, अपितु खेती की उर्वरा-शक्ति का संरक्षण भी गोबर की खाद से करती है। गोमूत्र से अमेरिका जैसे देश कैंसर की दवा का निर्माण करते हैं। महर्षि दयानन्द ने अपने जीवन में गाय की रक्षा के लिये बहुत प्रयत्न किया था। स्वामी जी ने गोहत्या के विरोध में करोड़ों लोगों के हस्ताक्षर कराकर महारानी विक्टोरिया को भेजने और गोहत्या बन्द करने का आन्दोलन चलाया था। स्वामी जी ने गोकरुणानिधि में एक गाय के जीवन भर के दूध से कितने लोगों का पालन-पोषण होता है तथा एक गाय के मांस से एक बार में कितने लोगों का पेट भरता है, इसकी तुलना करके गौ का अर्थशास्त्र समझाया था। गाय को हिन्दुओं ने पवित्र माना, यह केवल एक धार्मिक भावना का प्रश्न नहीं है। आज गाय के दूध के गुणों के कारण भारतीय गायों की नस्ल का संरक्षण ब्राजील और डेन्मार्क जैसे देशों में किया जा रहा है। वहाँ गौ संवर्धन का कार्य बड़े व्यापक स्तर पर किया जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में हमारे देश में यह विवाद निन्दनीय और चिन्ताजनक है। भारतीय गायों की तुलना में विदेशी नस्ल की गायों के दूध में कितना विष है, इसका बहुत बड़ा अनुसन्धान हो चुका है। भारतीय गाय आज समाप्त होने के कगार पर है। ऐसी परिस्थिति में यह विवाद स्वयं प्रेरित नहीं कहा जा सकता। जो सामाजिक ताने-बाने को तोड़कर राष्ट्र की प्रगति को रोकना चाहते हैं, यह ऐसे लोगों का काम है।

भोजन की स्वतन्त्रता के नाम पर जो कानून को तोड़ना चाहते हैं, उन्हें यह भी अवश्य ही ज्ञात होगा कि स्वतन्त्रता की बात तो तब आती है, जब आपके पास कोई वस्तु सुलभ हो। यदि कोई यह समझता है कि उसे गोमांस खाने की स्वतन्त्रता और अधिकार है तो क्या गोमांस खाने वालों के अधिकार से गोदुग्ध पीने वालों का अधिकार समाप्त हो जाता है। गोमांस और गोदुग्ध के अधिकार में गोमांस खाने की बात करना, दिमागी दिवालियेपन की पहचान है। नई वैज्ञानिक खोजों ने सिद्ध किया है कि प्राणियों की हिंसा और निरन्तर बढ़ रही

क्रूरता से पृथ्वी का पर्यावरण सन्तुलन बिगड़ता जा रहा है। प्राणियों की हत्या करने का कार्य नई तकनीक और विज्ञान के प्रयोग से बहुत बड़े स्तर पर चलाया जा रहा है, उसमें क्रूरता भी उतनी ही बढ़ गई है। मनुष्य चमड़े के लोभ में पशुओं के गर्भस्थ शिशुओं की हत्या करता है और भोजन के नाम पर पशुओं को यातनायें देता है। इन यातनाओं से मनुष्य का स्वभाव क्रूर होता है। आजकल हमारे समाज में बच्चों से लेकर बड़ों तक, ग्राम से नगर तक सबके स्वभाव में असहिष्णुता और क्रूरता का समावेश हुआ है, उसका मुय कारण हमारे व्यवहार में आई हुई हिंसा है। जिन धर्मों में दया और संयम का स्थान नहीं है, उनको धर्म कहना ही उचित नहीं है, अहिंसा और संयम के बिना समाज में कभी भी मर्यादाओं की रक्षा नहीं की जा सकती। गौ आदि प्राणियों के रक्षण और पालन से समृद्धि के साथ सद्गुणों का भी समावेश होता है।

कुछ लोग गाय को माता कहने का मजाक बनाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोग नहीं जानते कि इन शदों का भावनात्मक मूल्य क्या है? भारतीय जब भी संसार के पदार्थों के गुणों को समझते हैं और उनसे लाभ उठाते हैं, उनके साथ आत्मीय भाव विकसित करते हैं। जिनके साथ मनुष्य का आत्मीय भाव होता है, मनुष्य उनकी रक्षा करता है, उन वस्तुओं से प्रेम करता है। हिन्दू भूमि को माता कहता है, गाय को माता कहता है, अपना पालन-पोषण करने वाली धरती आदि को माता कहता है। सबन्धों में बड़े गुरु, राजा आदि की पत्नी को माता कहता है। यह शद समान और उसके प्रति कर्तव्य का बोध कराने वाला है।

जो लोग गाय का मांस खाने को अपना अधिकार बताते हैं और तर्क देते हैं कि ईश्वर ने पशुओं को मनुष्य के खाने के लिये बनाया है, उनसे पूछा जाना चाहिए कि क्या सूअर को ईश्वर ने न बनाकर क्या मनुष्य ने बनाया है और सूअर भी यदि ईश्वर ने बनाया है तो क्या ईश्वर अपवित्र वस्तु व प्राणी बनाता है? वस्तु व प्राणियों की पवित्रता-अपवित्रता मनुष्य की अपेक्षा से होती है। परमेश्वर के लिये सारी रचना पवित्र ही है। जहाँ तक मनुष्य अपने को पवित्र समझें तो उन्हें योग दर्शन की पंक्ति का स्मरण करना चाहिए- मनुष्य का शरीर जन्म से मृत्यु तक अपवित्रता का पर्याय है। फिर कोई प्राणी रचना से कैसे पवित्र-अपवित्र है, परमेश्वर की सी रचना पवित्र है। मनुष्य अपने ज्ञान, रुचि एवं आवश्यकता के अनुसार वर्गीकरण कर लेता है।

आज गौ को बचाने के लिए गोमांस के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता है। विदेशों में, विशेषकर खाड़ी के देशों को मांस का निर्यात होता है, मांस के व्यापारी धन के लोभ में अधिक-अधिक गोमांस का निर्यात कर रहे हैं। इस पर अंकुश लगाने की आवश्यकता है। राज्य व्यवस्था में गोहत्या राज्य का विषय होने से प्रशासन में एक मत नहीं हो पा रहा है। भाजपा शासित राज्यों में गोहत्या पर प्रतिबन्ध और इस अपराध के लिये दण्ड विधान है, दूसरे राज्यों में नहीं। इस कार्य को करने की आवश्यकता है।

अब एक बात सोचने की है, गोहत्यारे को मृत्युदण्ड बयान विवादित कैसे है? वेद में तो हत्यारे को मारने का विधान स्पष्ट है, विवादित बयान उनका हो सकता है जो लोग वेद में गो हत्या करने का विधान बताते हैं। वेद में हत्या का विधान होने से गो हत्यारे की हत्या तो हो नहीं जायेगी, क्योंकि भारत का शासन वेद के नियम से तो चलता नहीं है। यह तो भारत के संविधान से चलता है। कुरान में लिखा है कि काफिर को मारने वाले को खुदा जन्नत देता है,

तो क्या लिखा होने से भारत में इसे लागू कर देंगे? वेद और कुरान में जो लिखा है, लिखा रहने दें, इससे परेशान होने की क्या आवश्यकता है, वेद तो कहता है- यदि कोई तुहारे गाय, घोड़े, पुरुष की हत्या करता है तो सीसे की गोली से मार दो। मन्त्र इस प्रकार है-

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।

तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नासो अवीरहा।

– अथर्ववेद 1/16/4

– धर्मवीर

मैं ब्रह्म नहीं, अल्प, चेतन व बद्ध जीवात्मा हूं' - मनमोहन कुमार आर्य

DECEMBER 4, 2015 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

हम इस जड़-चेतन संसार में रहते हैं। यह सारा जगत हमारा परिवार है। सभी जड़ पदार्थ हमें अपने गुणों से लाभ पहुंचाते हैं। हमें पदार्थों के गुणों को जानना है और जानकर उनका सदुपयोग करना है। हमारे वैज्ञानिकों ने यह कार्य सरल कर दिया है। उन्होंने जड़ पदार्थों को अन्यों की तुलना में कहीं अधिक जाना है और सभी पदार्थों के गुणों को जानकर उन्हें मानव जीवन को सहयोगी बनाने के लिए अनेक सुख-सुविधाओं की वस्तुएं बनाई हैं। उनके इस कार्य से हमारे पर्यावरण को भी हानि पहुंची है जिससे सारा संसार त्रस्त वा चिन्तित है। इससे बचने के उपाय खोजे जा रहे हैं। इसके साथ ही वैज्ञानिकों ने मानवता के विनाश की भी पर्याप्त सामग्री का निर्माण किया है जिसे युद्ध में प्रयोग होने वाली सामग्री कहा जा सकता है। हानिकारक रायायनिक खाद भी इनमें सम्मिलित है। यह सब होने पर भी हमारे वैज्ञानिक एवं हमारे मत-मतान्तरों के आचार्य मनुष्य व इसमें निवास करने वाली जीवात्मा को इसके के यथार्थ स्वरुप में अभी तक जान नहीं सके हैं। विज्ञान का क्षेत्र केवल भौतिक पदार्थों तक सीमित है। वर्तमान संसार में विज्ञान का विकास व उन्नति प्रायः पश्चिम के देशों में ही अधिक हुई है। वहां जो मत-मतान्तर प्रचलित हैं, वह एकांगी होने व ईश्वर व जीवात्मा के सत्यस्वरुप को पूर्णतया न जानने के कारण वैज्ञानिकों को सन्तुष्ट व सहमत नहीं कर सके जिससे वैज्ञानिकों ने ईश्वर व जीवात्मा के पृथक, अनादि, अमर, अविनाशी स्वरुप को मानना ही छोड़ दिया। इसके विपरीत आर्यावर्त्त भारत में आदि काल से ही ईश्वरीय ज्ञान वेदों की सुलभता के कारण यहां के ऋषि-मुनि व शिक्षित लोग ईश्वर व जीवात्मा के सत्यस्वरुप को जानते आये हैं और आत्मा की उन्नति के लिए वेद एवं वैदिक साहित्य के अनुसार जीवनयापन करते रहे हैं। महाभारत के बाद परा व अपरा अर्थात् आध्यात्मिक एवं भौतिक ज्ञान व विद्याओं का प्रचार प्रसार न होने के कारण अज्ञान व अन्धविश्वास उत्पन्न हो गये जिसके परिणामस्वरुप भारत और दूरस्थ देशों में अज्ञान व अन्धविश्वास पर आधारित नाना मत-मतान्तर उत्पन्न हो गये। इस कारण ईश्वर व जीवात्मा का सत्यस्वरुप लोगों की दृष्टि से ओझल हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध (1863-1883) में महर्षि दयानन्द ने व उसके

बाद उनके अनुयायियों ने अपने पुरुषार्थ से वेदों के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त किया और उसे देश व विश्व में फैलाया जिससे लोगों को ईश्वर व जीवात्मा सहित प्रकृति के यथार्थ स्वरुप का ज्ञान प्राप्त हुआ। इससे लाभ यह हुआ कि मनुष्य योनी में जीवात्मा अपने कर्तव्य-कर्मों का निर्धारण कर जीवन के लक्ष्य धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हुए इन्हें प्राप्त कर सकता है।

लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत में स्वामी शंकराचार्य जी हुए हैं जिन्होंने अद्वैत मत का प्रचार किया। उनके समय में बौद्ध व जैन मत ने अपनी जड़े जमा ली थी और बहुत से वैदिक धर्मी लोग इन मतों से आकर्षित होकर इनकी शरण में जा चुके थे। यह मत वैदिक मतावलम्बियों के समान ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते थे। इन मतों में ईश्वर के अस्तित्व के प्रति घोर अन्धकार होने के कारण इन्होंने ईश्वर को मानता व उसकी स्तुति, प्रार्थना व उपासना करना छोड़ दिया था। स्वामी शंकाराचार्य जी ने इनसे ईश्वर के स्वरुप को स्वीकार कराने के लिए शास्त्रार्थ किये और संसार में केवल एक ईश्वर ही है, अन्य कोई पदार्थ यथा जीवात्मा व भौतिक पदार्थ जैसे यह दीखते हैं, नहीं है, का प्रचार किया। वह शास्त्रार्थ में इन मतों से विजयी हो गये जिससे उनके मत को सभी बौद्ध व जैन मतानुयायियों को स्वीकार करना पड़ा था। स्वामी शंकराचार्य जी जीवात्मा को ईश्वर का अंश मानते थे जो अज्ञानता के कारण ईश्वर से पृथक व्यवहार करता है तथा ज्ञान हो जाने वा अविद्या के नष्ट होने पर ईश्वर में ही मिल जाता या उसका उसमें विलय और समावेश हो जाता है। फिर उस जीवात्मा वा ईश्वरांश का पृथक अस्तित्व नहीं रहता। प्रकृति व भौतिक पदार्थों के पृथक अस्तित्व को न स्वीकार कर वह इसे ईश्वर की माया मानते थे जो कि वस्तुतः अस्तित्वहीन पदार्थ है। महर्षि दयानन्द सत्य ज्ञान व विद्याओं के जिज्ञासु थे। उन्हें गुरु विरजानन्द जी से जो ज्ञान व शिक्षा मिली थी वह यह थी कि ईश्वर, जीवात्मा व प्रकृति इन तीन पृथक-पृथक पदार्थों का अस्तित्व है। इन तीन शाश्वत व सनातन पदार्थो को त्रैतवाद के नाम से जाना व पुकारा जाता है। सत्यार्थ प्रकाश में महर्षि दयानन्द ने इस अद्वैतवाद से जुड़े प्रश्नों को प्रस्तुत कर उनका समाधान किया है। इस लेख में भी हम वैदिक ज्ञान के आलोक में कुछ प्रश्नों के समाधान की चर्चा कर रहे हैं।

अद्वैतवादियों का जीव के विषय में पक्ष है कि जीव व ब्रह्म, पृथक नहीं अपितु एक हैं जिनकी संज्ञा ब्रह्म या ईश्वर है। इसलिए वह जीव व जीवात्मा का निरोध व निषेध करते हैं। वह कहते हैं कि जीव के अस्तित्व न होने से उसके आवरण में आने, जन्म लेने व बन्धन में फंसने का प्रश्न ही नहीं है। उनके अनुसार जीवात्मा ईश्वर के गुणों व उसके स्वरुप का साधक न होकर उसे ईश्वर वा ब्रह्म की साधना की किंचित अपेक्षा नहीं है। जीव न बन्धन से छूटने की इच्छा करता है और न जीव की कभी मुक्ति होती है क्योंकि जब जीव है ही नहीं तो उसका बन्धन मानना ही गलत है और जब जीव का बन्धन हुआ ही नहीं तो मुक्ति को मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अद्वैतवादी मत के इन विचारों व मान्तयाओं को रेखांकित कर महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में उनका उत्तर वा समाधान प्रस्तुत किया है। वह कहते हैं कि नवीन वेदान्तियों का यह कहना सत्य नहीं है क्योंकि जीव का स्वरुप अल्प होता है, इसलिए वह आवरण में आता है। यह अल्प परिमाण व आवरण ऐसा है कि इसके कारण जीव को

ईश्वर व संसार का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। इस अल्प स्वरुप व परिमाण वाला होने से जीव का मुनष्य आदि अनेक योनियों में जन्म होता है और वह जीव पाप रूप कर्मों को करके फल भोगरूप बन्धनों में फंसता है। इन बन्धनों से छूटने हेतु जीव अनेक साधनों को करता है। दुःख किसी भी जीवात्मा की पसन्द नहीं है, इस कारण सभी जीव दुःखों से छूटने के लिए प्रयत्न करते हैं। दुःखों से छूटने के लिए जीव जिन-जिन वेद व शास्त्र विहित साधनों का आश्रय लेता है, उनसे वह दुःखों से निवृत्त होते हुए मुक्ति को प्राप्त होकर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त होता है व सुख व आनन्द का भोग करता है।

अद्वैतवादी प्रश्न करते हैं कि सुख व दुःखों को भोगना देह और अन्तःकरण के धर्म हैं, जीव के नहीं। उनका कहना है कि जीव तो पाप पुण्य से रहित साक्षी मात्र है। शीत व उष्णता का अनुभव उनके अनुसार शरीरादि के धर्म्म हैं, आत्मा तो निर्लेप है। इन आरोपों व शंकाओं का वैदिक समाधान है कि देह और अन्तःकरण जड़ पदार्थ हैं और यह चेतन तत्व जीवात्मा से पृथक हैं। इन देह और अन्तःकरण को शीत व उष्णता का भोग व अनुभव नहीं होता ऐसे ही कि जैसे पत्थर को शीतलता और उष्णता का अनुभव व भोग नहीं होता है। जो चेतन मनुष्यादि प्राणी शीत व उष्ण पदार्थों को स्पर्श करता है, उसी को इनका अनुभव वा भोग प्राप्त होता है। पत्थर के समान ही मनुष्य के प्राण भी जड़ हैं। न प्राणों को भूख लगती है न पिपासा, किन्तु प्राण वाले जीवात्मा को क्षुधा व तृषा (भूख व प्यास) लगती है। प्राणों के समान ही मनुष्य का मन भी जड़ है। न मन को हर्ष, न शोक हो सकता है किन्तु मन से हर्ष, शोक, दुःख, सुख का भोग मन अपने लिए नहीं अपितु जीव को कराता है वा जीव करता है। जैसे बाह्य क्षोत्रादि इन्द्रियों से अच्छे बुरे शब्दादि विषयों का ग्रहण करके जीव सुखी-दुःखी होता है वैसे ही अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार से संकल्प, विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान का करने वाला 'जीवात्मा' दण्ड और मान्य का भागी होता है। उदाहरण के रुप में जैसे तलवार से मारने वाला 'मनुष्य वा जीवात्मा' दण्डनीय होता है, तलवार नहीं होती वैसे ही देहेन्द्रिय अन्तःकरण और प्राणरूप साधनों से अच्छे बुरे कर्मों का कत्र्ता जीव सुख-दुःख का भोक्ता है। जीव कर्मों का साक्षी नहीं, किन्तु कत्र्ता व भोक्ता है। जीवात्मा ही अन्तःकरण व इन्द्रियों को भोग में प्रवृत्त करता है इसलिये कर्मों के पाप व पुण्य के अनुसार इनका भोक्ता भी जीवात्मा ही होता है। जीवात्मा वा मनुष्य के कर्मों का साक्षी तो एक अद्वितीय परमात्मा है। जो कर्म करने वाला जीव है वही कर्मों में लिप्त होता है। जीवात्मा न तो ईश्वर है और न जीवों अर्थात् अपने ही किए कर्मों का साक्षी मात्र हैं। ईश्वर ही साक्षी है और जीवात्मा कर्त्ता, भोक्ता व साक्षी है।

इस विवेचन से जीवात्मा का ईश्वर से पृथक अस्तित्व सिद्ध होता है। जीवात्मा साक्षी नहीं अपितु पाप-पुण्य रूपी कर्मों का कर्ता है और ईश्वर उसके कर्मों का साक्षी व फल प्रदाता है। मैं, मुनष्य, जीवात्मा हूं। मेरा शरीर मुझ जीवात्मा का शरीर है जो कर्मो को करने व फल भोगने के लिए ईश्वर से मिला है। जीवात्मा से शरीर व इसकी इन्द्रियों को प्रेरित कर कर्मों को करके मैं इनके फल भोग में फंसता हूं। सभी मनुष्यों को निरासक्त भाव से ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना तथा दैनिक अग्निहोत्र आदि वेदविहित पुण्य कर्मों को करके अपनी जीवात्मा को बन्धन व दुःखों से मुक्त करना चाहिए और साथ हि परमानन्द स्वरूप ईश्वर की

प्राप्ति के लिए साधन व प्रयत्न करने चाहिये, तथा 'मैं ब्रह्म हूं', इस मिथ्या उक्ति से बचना चाहिये।।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196 चुक्खूवाला-2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

'महर्षि दयानन्द प्रोक्त वेद सम्मत ब्राह्मण वर्ण के गुण-कर्म-स्वभाव' -मनमोहन कुमार आर्य,

NOVEMBER 26, 2015 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

वैदिक वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में

यह जड़-चेतन संसार ईश्वर से उत्पन्न हुआ है। ईश्वर, जीवात्मायें और प्रकृति, तीन नित्य सत्तायें हैं जिनमें ईश्वर व जीवात्मा चेतन एवं प्रकृति जड़ पदार्थ हैं। ईश्वर व जीवात्मा संवेदनाओं से युक्त व प्रकृति संवेदनारहित है। जीवात्माओं के पूर्व जन्म में अर्जित प्रारब्ध वा कर्मों के फलों एवं सुख-दुःख रुपी भोग प्रदान करने के लिए ही ईश्वर ने इस संसार को रच कर जीवात्मा को विभिन्न योनियों में उत्पन्न किया है। हमें मनुष्य योनि वा इसमें माता-पिता, भाई व बहिन सहित जो परिवेश मिला है वह सब हमारे प्रारब्ध पर आधारित है। मनुष्यों की उत्पत्ति एक प्रकार से होने के कारण संसार के सभी मनुष्यों की जाति एक है। जन्मना जाति का सिद्धान्त अनावश्यक है जिससे सामाजिक विषमता उत्पन्न हाती है, अतः इसे समाप्त किया जाना चाहिये। मनुष्यों के गुण-कर्म-स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं जिसमें बहुत बड़ा कारण हमारे पूर्व जन्म का प्रारब्ध और इस जन्म के विद्यादि गुणों पर आधारित कर्म व संस्कार होते हैं। मनुष्यों के इन गुण-कर्म व स्वभाव में भिन्नता व समाज की आवश्यकता के अनुरुप उनका वर्गीकरण कर वेदानुसार चार वर्णों यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र का विधान हमारे प्राचीन ऋषियों ने किया जो ईश्वरीय ज्ञान वेद पर आधारित है। इससे सम्बन्धित यजुर्वेद का मन्. 31/11 हैः

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याम् शूद्रौ अजायत।।

इस मन्त्र का अर्थ है कि जो (अस्य) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सब में मुख्य उत्तम हो, वह (ब्राह्मण) ब्राह्मण, (बाहू) 'बाहुर्वै बलं बाहुर्वै वीर्यम्' (शतपथ ब्राह्मण) बल वीर्य का नाम बाहु है, वह जिसमें अधिक हो, सो (राजन्यः) क्षत्रिय, (ऊरू) कटि के अधो और जानु के ऊपर के भाग का नाम है। जो सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से जावे, आवे, प्रवेश करे, वह (वैश्यः) वैश्य और (पद्भ्याम्) जो पग के अर्थात् नीचे अंग के सदृश मूर्खत्वादि गुण वाला हो, वह शूद्र है। यह वेद मन्त्र का सत्यार्थ है। इसमें कहीं नहीं कहा कि ब्राह्मण माता-पिता से ब्राह्मण, क्षत्रियों से क्षत्रिय आदि उत्पन्न होते हैं। मुख के सदृश से तात्पर्य यह है कि जैसा मुख सब अंगों में श्रेष्ठ है, वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त होने से मनुष्य जाति में उत्तम ब्राह्मण कहाता है। जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अंग ही नहीं है तो मुख से उत्पन्न होना असंभव है। अतः ब्राह्मण श्रेष्ठ गुणों, कर्मों व स्वभाव को धारण कर आचरण करने से होता है, यह वेद का विधान है।

ब्राह्मण के लिए धारण व आचरण करने योग्य कौन-कौन से गुण कर्म व स्वभाव का वेद एवं वैदिक साहित्य में विधान है, इसका वर्णन महर्षि दयानन्द ने स्वरचित ग्रन्थ संस्कार विधि में किया है और अपने अन्य ग्रन्थों में भी इस पर प्रसंगानुसार प्रकाश डाला है। संस्कार विधि में वह वेदानुकूल मनुस्मृति व गीता के श्लोकों को उद्धृत करते हैं। यह श्लोक निम्न हैः

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।।1।। मनुस्मृति।।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमस्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।2।। गीता।।

अर्थ–एक-निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावे। दो-पूर्ण विद्या पढ़ें। तीन-अग्निहोत्रादि यज्ञ करें। चैथा-यज्ञ करावें। पांच-विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें। छठा-न्याय से धनोपार्जन करनेवाले गृहस्थों से दान लेवें भी। इनमें से तीन कर्म-पढ़ना, यंज्ञ करना, दान देना धर्म हैं और तीन कर्म-पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना, जीविका हैं। परन्तु–प्रतिग्रहः प्रत्यवरः।। (मनुस्मृति) जो दान लेना है वह नीच (बुरा) कर्म है, किन्तु पढ़ा कर और यज्ञ करा कर जीविका करनी उत्तम है।।1।।

(शमः) मन को अधर्म में न जाने दें, किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने देंवे। (दमः) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रक्खे, दूर रखके धर्म ही के बीच में प्रवृत्त रक्खे। (तपः) ब्रह्मचर्य, विद्या, योगाभ्यास की सिद्धि के लिए शीत उष्ण, निन्दा-स्तुति, क्षुधा-तृषा, मानापमान आदि द्वन्द्वों को सहना। (शौचम्) राग-द्वेष-मोहादि से मन और आत्मा को तथा जलादि से शरीर को सदा पवित्र रखना। (क्षान्तिः) क्षमा, अर्थात् कोई निन्दा-स्तुति आदि से सतावें तो भी उन पर कृपालु रहकर क्रोधादि का न करना। (आर्जवम्) निरभिमान रहना, दम्भ, स्वात्मश्लाघा, अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र सरल, शुद्ध, पवित्रभाव रखना। (ज्ञानम्) सब शास्त्रों को पढ़के, विचारकर उनके शब्दार्थ-सम्बन्धों को यथावत् जानकर पढ़ाने

का पूर्ण सामर्थ्य करना। (विज्ञानम्) पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों को जान और क्रियाकुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् करके यथावत् उपकार ग्रहण करना-कराना। (आस्तिक्यम्) परमेश्वर, वेद, धर्म, परलोक, परजन्म, पूर्वजन्म, कर्मफल और मुक्ति से विमुख कभी न होना। ये नव कर्म और गुण, धर्म में समझना। सबसे उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव को धारण करना। यह गुण-कर्म जिन व्यक्तियों में हों वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें। विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण-कर्म-स्वभावों को मिलाकर ही करें। मनुष्यमात्र में से इन्हीं (गुण, कर्म व स्वभावों से युक्त मनुष्यों को ही, अन्य इन गुणों से रहित मनुष्यों को नहीं) को ब्राह्मण वर्ण का अधिकार होवे।।2।। यह ध्यान देने योग्य बात है कि महर्षि दयानन्द स्वयं जन्मना उच्च कुलीन ब्राह्मण थे तथापि वेदाध्ययन कर व वेदों का सत्य तात्पर्य जानकर उन्होंने पक्षपात से मुक्त होकर ब्राह्मण वर्ण का होने व कहलाने के सत्य, यथार्थ व वास्तविक तात्पर्य को प्रस्तुत किया है। प्रत्येक बुद्धिमान यह बात स्वीकार करेगा कि जब हमारे देश व समाज में ऐसे बुद्धिमान ब्राह्मण होंगे तभी देश व समाज की उन्नति होगी अन्यथा सामाजिक समरसता व देश व समाजोन्नति की बात करना अन्धेरे में तीर चलाने जैसा निरर्थक कार्य है। इन वैदिक विचारों से जन्मना जातिवाद का भी खण्डन हो रहा है क्योंकि ब्राह्मण परिवार में सभी सन्तानें इन गुणों वाली नहीं होती हैं। जो नहीं हों, उनका वर्ण गुण-कर्म-स्वभावानुसार इतर तीन वर्णों में से किसी एक में निर्धारित किया जाना चाहिये। महर्षि दयानन्द ने इससे आगे क्षत्रिय, वैश्य व शूद्रों के लक्षण वा गुण-कर्म-स्वभावों का भी वर्णन किया है जो श्रेष्ठ समाज का आधार है। पाठकों से निवेदन है कि वह संस्कार विधि का अध्ययन कर उन्हें वहीं देखने का कष्ट करें।

हम आशा करते हैं कि वैदिक व सनातन धर्म के बुद्धिमान एवं विवेकी लोग महर्षि दयानन्द के विचारों पर सद्भावना पूर्वक विचार करेंगे और इसे समाज में प्रतिष्ठा देने के अपनी ओर से हर सम्भव उपाय करेंगे जिससे भविष्य का समाज श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव सम्पन्न समाज बन सके।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

'ईश्वर प्रदत्त ज्ञान वेद सरल व सुबोध हैं' -मनमोहन कुमार आर्य

NOVEMBER 26, 2015 LEAVE A COMMENT

सृष्टि के आदि में मनुष्यों को ज्ञानयुक्त करने के लिए सर्वव्यापक निराकार ईश्वर ने चार आदि ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद का

ज्ञान दिया था। महर्षि दयानन्द की घोषणा है कि यह चार वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तकें हैं और इनका पढ़ना, दूसरों को पढ़ाना, स्वयं सुनना व अन्यों को सुनाना संसार के सभी मनुष्यों का परम धर्म है। वेद संस्कृत में हैं और संस्कृत भाषा सबको आती नहीं है। हिन्दी भाषी लोग भी संस्कृत को एक कठिन भाषा समझते हैं। ऐसी स्थिति में यदि कोई कहे कि संस्कृत भाषा के ग्रन्थ चारों वेद सरल हैं तो सम्भवतः सभी आश्चर्य करेंगे। आर्यसमाज में दूसरी व तीसरी पीढ़ी के वेद के प्रमुख विद्वानों में स्वामी वेदानन्द तीर्थ जी का नाम अन्यतम है। आपका जन्म मध्य प्रदेश के उज्जैन नगरी में सन् 1892 में हुआ था। आप एक सम्पन्न, उच्च शिक्षित व प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल में जन्मे थे। आपके छोटे भाई जज थे। आपने 'जीवन की भूलें' नाम से अपनी आत्मकथा लिखी है जो मरणोपरान्त प्रकाशित हुई। आपकी दिल्ली में सन् 1956 में मृत्यु के बाद आपके सहयोगी आर्यविद्वान मेहता जैमिनी और पं. शान्तिप्रकाशजी ने आपके जन्म स्थान व कुल की चर्चा करते हुए यह लिखा था कि आप मुलतान के एक अरोड़ा घराने में पैदा हुये। आपने 'वेद परिचय' नाम से एक लघु ग्रन्थ लिखा है। इस पुस्तक में आपने 'वेद सरल हैं, कठिन नहीं' शीर्षक से अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि 'आर्यों-अनार्यों सभी में यह भ्रम फैला हुआ है कि वेद बहुत कठिन हैं। ऐसा भासता है कि जब ब्राह्मणों द्वारा ब्राह्मणेतरों को वेद पढ़ाना बन्द किया गया, उस समय वेद के जिज्ञासु न रहने से स्वयं ब्राह्मणों में भी वेद के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो गई। उस समय यदि कोई तथाकथित ब्राह्मण भी वेदार्थ की जिज्ञासा करता तो अपना अज्ञान छिपाने के लिए 'वेद कठिन है' ऐसा कहकर उस जिज्ञासु को हतोत्साहित कर दिया जाता था।

वास्तविकता इसके विपरीत है। जगदीश्वर ने मनुष्य को सृष्टि के पदार्थों एवं अपने विषय में ज्ञान कराने के लिए वेद प्रदान किया है। उसे वह कठिन कैसे बना सकता है? हम इसको ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र द्वारा स्पष्ट करते हैं। ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है-अग्निमीले पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्।। इस मन्त्र के पदों पर दृष्टि दीजिए–अग्निम्, इडे, पुरोहितं, यज्ञस्य, देवम्, ऋत्विजम्, होतारं, रत्नधातमम्। इतने पद (शब्द) इस मन्त्र में हैं। हमारा विचार है कि यदि ईडे का अर्थ आपको बता दिया जाए, तो शेष पदों का अर्थ आपमें से प्रायः सभी जानते हैं। अग्नि-शब्द से आप परिचित हैं। इसी भांति पुरोहित-शब्द भी आपको ज्ञात है, यज्ञ, देव तथा ऋत्विक् भी आपसे अज्ञात नहीं है। ऋत्विजों में एक होता भी होता है, इसे भी आप जानते हैं। रत्न को सभी समझते हैं, रत्न के साथ लगे धातमम् का अर्थ निर्माण करनेवाला आपको अविदित नहीं है।

ईड का अर्थ है–स्तुति करना, पूजा करना, वर्णन करना (अरबी भाषा का ईद इस ईड धातु का रूप है, अरबी में ट वर्ग है ही नहीं)। अग्नि-शब्द का अर्थ लोक प्रसिद्ध आग कर दिया जाए, तो अर्थ बनता है–मैं अग्नि का वर्णन करता हूं जो पुरोहित=पहले रखा गया है, सभी जानते हैं कि सूर्यरूपी अग्नि सभी वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्यादि से पूर्व बनाया गया। जीवन-यज्ञ को अग्नि प्रकाशित करता है। शरीर की अग्नि शान्त हो जाए तो जीवन की समाप्ति हो जाती है। ऋत्विज ऋतुओं की व्यवस्था अग्नि-सूर्य द्वारा होती है। होता हवन का साधन। रत्नधातमम्=रत्नों=रमणसाधनों का निर्माण करनेवाला। जीवन के सभी उपयोगी पदार्थों को रत्न

कहते हैं। उनके निर्माण में अग्नि का कितना उपयोग है, यह बात आज बताने की आवश्यकता नहीं है।

भूगर्भविज्ञान तथा रत्नविज्ञान का एक विद्वान् इसे सुनकर कहता है कि यह तो भूगर्भस्थ अग्नि का वर्णन है। रत्न वास्तव में पत्थर का कोयला ही है। एक विशेष समय तक विशेष ताप के संयोग से वह कोयला रत्न बन जाता है, अतः उसको रत्न बनानेवाले अग्नि को लक्ष्य करके मन्त्र में रत्नधातमम् कहा है। आत्मवित् कहता है, अग्नि का अर्थ आगे ले-जानेवाला। सभी जानते हैं कि आत्मसंयोग से ही शरीर की वृद्धि-पुष्टि होती है, अतः इस मन्त्र में आत्मा का निरूपण है। मन्त्र का अर्थ उनके अनुसार यह है-मैं आत्मा का वर्णन करता हूं, जो पुरोहित है, शरीर-निर्माण के लिए प्रथम आता है। जीवन यज्ञ का प्रकाशक है, होता=लेने-देनेवाला, खानेवाला है। आत्मा न हो तो शरीर द्वारा भोजनादि भी नहीं हो सकता। आत्मा ऋत्विक् है शरीर को व्यवस्थित रखता है। समस्त उत्तम पदार्थों की रचना जीवन के लिए हुई है, यह सबको मान्य है।

एक अन्य कहता है–अग्नि का वास्तविक अर्थ ब्रह्म है। ये सारे विशेषण उसी पर घटते हैं। वह पुरोहित है। इस जगत् से पूर्व भी वह था, संसार-यज्ञ का प्रकाशक एवं व्यवस्थापक वही है, वही सबका दाता तथा सब पदार्थों (सभी पदार्थ भोग्य होने से रत्न हैं) का धाता=विधाता है।

यह तो विचार की गम्भीरता है। शब्दों की दृष्टि से वेद अत्यन्त सरल है।'

स्वामी वेदानन्द तीर्थ जी ने अपनी इसी पुस्तक में बुराई से भलाई शीर्षक से भी वेदों के विषय में कुछ महत्वपूर्ण विचारों को प्रस्तुत किया है। उपयोगी होने से उन्हें भी यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। वह लिखते हैं कि येन केनापि प्रकारेण वेद की हेयता व तुच्छता सिद्ध करने के लिए योरुपियन विद्वानों ने अदम्य उत्साह एवं अविश्रान्त परिश्रम से वेद एवं वैदिक साहित्य का आलोडन, आलोचन, मन्थन किया। इसके लिए उन्होंने वैदिक ग्रन्थों के सुपरिष्कृत संस्करण भी निकाले। वेद पुस्तक सर्वप्रथम योरुप में ही मुद्रित हुए। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जर्मनी से वेद मंगवाये थे। वेद तो भारत में सहस्रों नहीं लाखों घरों में हस्तलेखों के रूप् में विद्यमान थे। सहस्रों ब्राह्मण इनको कण्ठस्थ करने में दिन–रात निष्कामभाव से अनवरत परिश्रम करते थे, किन्तु स्वामीजी के समय तक भारत में वेद मुद्रित नहीं हुए थे। हम पाठको के लाभार्थ स्वामी वेदानन्द जी की विनम्रता का एक उदाहरण भी प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहे हैं। प्रा. राजेन्द्र जिज्ञासु जी ने लिखा है कि एक बार आप उपदेशकों से घिरे बैठे थे तो नवयुवक भजनोपदेशक श्री ओम्प्रकाश वर्म्मा ने कहा, ''आप ऋषि दयानन्द जी के काल में होते तो ऋषि आप सरीखा प्रकाण्ड विद्वान् शिष्य के रूप में पाकर अभिमान करते।" इस पर आपने झट से कहा, ''अभिमान या गौरव तो नहीं करते। पास बैठने का अधिकार दे देते। इतना कहते कि यह कुछ जानता है।" यह भी बता दें कि स्वामी वेदानन्द जी बहुभाषा विद थे। वह संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, अरबी, उर्दू, फारसी सहित बंगला, गुजराती, मराठी, सिंधी आदि भाषायें भी जानते थे। उनका बहुत सा साहित्य सम्प्रति अनुपलब्ध है, जिसे आर्य प्रकाशकों द्वारा संग्रहित कर एक या दो

जिल्दों में प्रकाशित किया जाना उत्तम होगा अन्यथा यह सदा सर्वदा के लिए विलुप्त होकर नष्ट हो जायेगा।

वेद सरल हैं अवश्य परन्तु वेदार्थ के लिए संस्कृत व्याकरण का ज्ञान अपरिहार्य है। संस्कृत विख्यात विद्वानों में ऋषि दयानन्दभक्त पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी का नाम अन्यतम है। आपने संस्कृत आर्ष व्याकरण के प्रचार प्रसार का महनीय कार्य किया। आपने दो खण्डों में 'बिना रटे संस्कृत पठन पाठन की अनुभूत सरलतम विधि' पुस्तक भी लिखी है जिससे अनेक लोगों ने लाभ उठाया है। सम्प्रति रामलालकपूर ट्रस्ट, रेवली इस ग्रन्थ का प्रकाशन करता है। जिज्ञासुजन इस ग्रन्थ को पढ़ने व समझने में होनी वाली कठिनाईयों और अपनी शंकाओं के निवारण के लिए आर्यसमाज व इसके गुरुकुलों के संस्कृत विद्वानों की सहायता ले सकते हैं। महर्षि दयानन्द और उनके अनुवर्ती विद्वानों ने हिन्दी भाषी लोगों के लिए वेदाध्ययन को अधिक सरल व सुगम बना दिया है। महर्षि दयानन्द यजुर्वेद का सम्पूर्ण तथा ऋग्वेद का आंशिक भाष्य किया है जिसमें उन्होंने भाष्य किये गए सभी मन्त्रों का पदच्छेद कर उनका अन्वय और प्रत्येक पद के संस्कृत व हिन्दी में अर्थों को प्रस्तुत कर उनकी व्याख्या करने के साथ मन्त्र का भावार्थ भी दिया है। इससे वेदाध्ययन बहुत ही सरल हो गया है। सत्यार्थ प्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका को पढ़कर वेदों के महत्व को जाना जा सकता है। हम आशा करते हैं कि लेख से पाठक इस लेख से लाभान्वित होंगे।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

स्तुता मया वरदा वेदमाता-21

NOVEMBER 26, 2015 LEAVE A COMMENT

सपञ्चोऽग्नि सपर्यत

प्रसंग है परिवार को एक सूत्र में बांधकर रखने के क्या उपाय हैं। मन्त्र कहता है- परिवार के लोग कहीं तो मिलकर बैठे। मिलकर बैठने का एक मात्र स्थान है- यज्ञ वेदि। यज्ञ जब भी करेंगे तब मिलकर बैठेंगे। यज्ञ करते हुए दोनों लोग परस्पर मिलकर कार्य सपादित करते हैं। इस समय ऋत्विज यज्ञ कराने वाले तथा यजमान यज्ञ करने वाले दोनों एक मत होकर यज्ञ करते हैं। ऋत्विज् यजमान का मार्गदर्शन करते हैं और यजमान ऋत्विज् के निर्देशों का पालन करते हैं। मन्त्र में निर्देश है। परिवार के लोग अग्नि की उपासना करो और कैसे करने चाहिये तो कहा गया –सयञ्च अर्थात् भलीप्रकार मिलकर सब लोग अग्नि की उपासना करें।

यज्ञ का स्थान विद्वानों का, बड़ों के निर्देश का पालन प्राप्त करने का स्थान है, यज्ञ की सफलता यज्ञ को श्रद्धापूर्वक सपन्न करने में है। यजमान आदरपूर्वक निर्देशों का पालन करते हुए यज्ञ सपादित करते हैं। जिस परिवार में प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक यज्ञ किया जाता है, वहाँ परस्पर प्रेमभाव बना रहता है। बड़ों व विद्वानों के प्रति आदर का भाव रहता है। यज्ञ करने से मनुष्य में उदारता का भाव उत्पन्न होता है। यज्ञ में मनुष्य देने का दान करने का सहयोग करने का भाव रखता है। यज्ञ से मन की संकीर्णता और स्वार्थ की वृत्ति समाप्त होती है। मनुष्य जब यज्ञ करने का विचार करता है, उसी समय उसके अन्दर सात्विक भाव उत्पन्न होते हैं। सात्विक विचारों का लक्षण यही बताया गया है। मनुष्य दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, परोपकार करना आदि विचार करता है, उस समय उसके मन में सतोगुण का उदय होता है। यज्ञ करने से मनुष्य की सात्विक वृत्ति का विस्तार होता है। यज्ञ से मन का विस्तार होता है। विस्तार खुलेपन का प्रतिक है। बन्धन है परोपकार मुक्ति है।

इसीलिये यज्ञ की भावना से कार्य करने का निर्देश किया है, श्री कृष्ण अर्जुन को कहते हैं- इस संसार में यज्ञ भावना से रहित होकर कोई व्यक्ति बन्धन से मुक्ति नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्य को कोई भी कार्य यज्ञ भावना से युक्त होकर करना चाहिए। यज्ञ में समर्पण है, साथ है, साथ से संग को लाभ मिलता है तथा संवाद का अवसर भी प्राप्त होता है। समर्पण भी होता है, यही भाव परिवार में सब को एक साथ रखने के लिये आवश्यक है, उपयोगी है। मन्त्र कहता है- परिवार के लोग मिलकर यज्ञ करें, आदरपूर्वक यज्ञीय भावना से करें, इससे परिवार के सदस्यों के मन पवित्र और आदर की भावना से युक्त होते हैं। इसका परिणाम सब परस्पर जुड़े रहते हैं।

मन्त्र का अन्तिम वाक्य है- आरा नाभिभिवामितः। जैसे यज्ञ करने वाले यज्ञ रूप नाभि से सभी बन्धे रहते हैं, उसी प्रकार परिवार के सदस्य भी केन्द्र से जुड़े रहते हैं। मन्त्र में उपमा दी गई है। जिस प्रकार गाड़ी आरे अक्ष से जुड़े रहते हैं और अपना-अपना कार्य करते हुए केन्द्र से बंधे रहते हैं। उसी प्रकार परिवार के सदस्यों का भी एक केन्द्र होना चाहिए, जिससे सभी सदस्य जुड़े रहें। जहाँ एक व्यक्ति के निर्देशन में परिवार चलता है, वहाँ सभी कार्य व्यवस्थित होते हैं, सभी एक दूसरे का ध्यान रखते हैं। जहाँ यज्ञीय भावना नहीं होती, वहां सब अपने-अपने बारे में ही सोचते हैं, वहां स्वार्थ बुद्धि होती है। स्वार्थ से मन में द्वेष भाव और अन्याय उत्पन्न होता है। अतः मन्त्र में दो बातों को एक साथ बताया है, घर में यज्ञ होना चाहिए, सभी लोग मिलकर श्रद्धा से यज्ञ करेंगे तो परिवार के लोग परस्पर आरे की भांति केन्द्र से जुडेंगे, बड़ों से सबन्ध बनाकर रखेंगे तभी परिवार एक होकर रह सकता है, परिवार में सुख, शान्ति बनी रह सकती

पृथिव्यादि भूतों के संयोग से शरीर में चेतनता उत्पन्न होती है: सत्येन्द्र सिंह आर्य

NOVEMBER 25, 2015 LEAVE A COMMENT

(वेदगोष्ठी 2013 के अवसर पर प्रस्तुत निबन्ध)

उपर्युक्त विषय चारवाक दर्शन का सिद्धान्त है। बौद्ध और जैन मतों की भांति चारवाक भी नास्तिक मत है। ये सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने वैदिक धर्म के सिद्धान्तों की चर्चा अपने अमरग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में प्रथम दश समुल्लासों में की है। तथा वाममार्गियों सहित आर्यावर्त्तीय (वेद विरुद्ध) मत पंथों की समालोचना एकादश समुल्लास में और बौद्ध, जैन व नास्तिक मतों की समालोचना द्वादश समुल्लास में है। महर्षि की यह मान्यता थी कि पाँच सहस्र वर्षों के पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था क्योंकि वेदोक्त सब बातें विद्या से अविरुद्ध हैं। वेदों की अप्रवृत्ति होने के कारण महाभारत युद्ध हुआ । इनकी अप्रवृत्ति से अविद्या अन्धकार के भूगोल में विस्तृत होने से मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया, वैसा मत चलाया। उन सब मतों में चार मत अर्थात् जो वेदविरुद्ध पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी सभी मतों के मूल हैं, वे क्रम से एक के पीछे दूसरा-तीसरा-चौथा चला है। अब इन चारों की शाखा एक सहस्र (यह संया तो महर्षि जी के समय की है, अब तो लपट बापुओं, बाबाओं, व्यापारी गुरुओं और गुरुमाँओं की आई बाढ़ के कारण यह संया कई सहस्र हो गयी होगी) से कम नहीं है। उन्हीं में से एक यह चारवाक मत है।

चारवाक मत की चर्चा आरा करते हुए ऋषिवर लिखते हैं- ''कोई एक बृहस्पति नामा'' पुरुष हुआ था जो वेद, ईश्वर और यज्ञादि उत्तम कर्मों को भी नहीं मानता था। उनका मत –

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

(सर्वदर्शनसंग्रह चारवाकदर्शन)

कोई मनुष्यादि प्राणी मृत्यु के अगोचर नहीं है अर्थात् सबको मरना है इसलिए जब तक शरीर में जीव रहै, तब तक सुख से रहै। जो कोई कहे कि ''धर्माचरण से कष्ट होता है, जो धर्म को छोड़ें तो पुनर्जन्म में बड़ा दुःख पावें।'' उसको चारवाक उत्तर देता है कि अरे भोले भाई! जो मरे के पश्चात् शरीर भस्म हो जाता है कि जिसने खाया पिया है, वह पुनः संसार में न आवेगा। इसलिए जैसे हो सके वैसे आनन्द में रहो, लोक में नीति से चलो, ऐश्वर्य को बढ़ाओ और उससे इच्छित भोग करो। यही लोक समझो, परलोक कुछ नहीं । देखो! पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन चार भूतों के परिणाम से यह शरीर बना है, इसमें इनके योग से चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे मादक द्रव्य खाने-पीने से नशा उत्पन्न होता है, इसी प्रकार जीव शरीर के साथ उत्पन्न होकर शरीर के नाश के साथ आप भी नष्ट हो जाता है, फिर किसको पाप-पुण्य का फल होगा।

तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा

देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्।।

– चारवाक दर्शन

इस शरीर में चारों भूतों के संयोग से जीवात्मा उत्पन्न होकर उन्हीं के वियोग के साथ ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि मरे पीछे कोई भी जीव प्रत्यक्ष नहीं होता। हम एक प्रत्यक्ष ही को

मानते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष के बिना अनुमानदि होते ही नहीं। इसलिए मुय प्रत्यक्ष के सामने अनुमानादि गौण होने से उनका ग्रहण नहीं करते। सुन्दर स्त्री के आलिङ्गन से आनन्द का करना पुरुषार्थ का फल है।

उपरिलिखित चर्चा से स्पष्ट है कि चारवाक मत नास्तिकता का पर्यायवाची है। नास्तिक तो बौद्ध और जैन भी हैं, क्योंकि चारवाकों के समान वे भी ईश्वर और वेद की निन्दा करते और जगद्रचना के लिए किसी चेतन सत्ता के अस्तित्व को नहीं मानते हैं। परन्तु वे जीवन, चेतन, पुनर्जन्म, परलोक और मुक्ति के साथ प्रत्यक्षादि प्रमाणों को भी मानते हैं।

वैदिक धर्म जहाँ त्रैतवाद (तीन अनादि नित्य सत्ताओं की अवधारणा) को मानता है, वहीं चारवाक ईश्वर की सत्ता को नकारता है, जीव को शरीर के साथ उत्पन्न होने वाला और शरीर के साथ ही नष्ट होने वाला मानता है। पुनर्जन्म और पाप-पुण्य , परलोक आदि के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं है, प्रमाणों में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही चारवाक को स्वीकार्य है। पंच महाभूतों में भी उसने आकाश को गायब कर दिया, विषयभोग को पुरुषार्थ का फल घोषित कर दिया। उसकी विचारधारा की नींव 'खाओ, पियो और मौज करो' श्वड्डह्ल, ड्डह्म्द्बठ्ठद्म ्नठ्ठस्र क्चद्ग रूद्गह्म्ह्म्ब् की नीति पर टिकी है। यह सब बातें वेद की उस मान्यता के विपरीत बैठती हैं जहाँ कहा है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

– यजुः 40/2

अर्थात् मनुष्य इस संसार में सौ वर्ष तक वेदोक्त, धर्मानुसार, निष्काम कर्म करते हुए जीने की इच्छा करे।

जिस यज्ञ को चारवाक नहीं मानता, वैदिक मान्यता के अनुसार जो धर्म के तीन स्कन्ध- विद्याध्ययन, यज्ञ और दान माने गए हैं, उनमें यज्ञ है। यहाँ तो पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादि ईश्वराज्ञा जो वेदों से अविरुद्ध है, उसी को धर्म की संज्ञा दी गयी है। यज्ञ उसका अङ्ग है।

चारवाक की बातों का ऋषिवर ने युक्तियुक्त उत्तर दिया है। वे लिखते हैं- ''ये पृथिव्यादि भूत जड़ हैं, उनसे चेतन की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। जैसे अब माता-पिता के संयोग से देह की उत्पत्ति होती है, वैसे ही आदि सृष्टि में मनुष्यादि शरीरों की आकृति परमेश्वर कर्त्ता के बिना कभी नहीं हो सकती। मद के समान चेतन की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, क्योंकि मद चेतन को होता है, जड़ को नहीं। पदार्थ ''नष्ट'' अर्थात् अदृष्ट होते हैं, परन्तु अभाव किसी का नहीं होता, इसी प्रकार अदृश्य होने से जीव काी अभाव न मानना चाहिए। जब जीवात्मा सदेह होता है तभी उसकी प्रकटता होती है। जब शरीर को छोड़ देता है, तब वह शरीर जो मृत्यु को प्राप्त हुआ है, वह जैसा चेतनयुक्त पूर्व था वैसा नहीं हो सकता। इस बात की पुष्टि में महर्षि दयानन्द जी बृहदारण्यक का वह वचन उद्धृत करते हैं जिसमें याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयि से कहते हैं कि ''आत्मा अविनाशी है जिसके योग से शरीर चेष्टा करता है।'' जब जीव शरीर से पृथक् हो जाता है तब शरीर में ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। आत्मा देह से पृथक् है, इसी कारण शरीर में उसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता होती है।

महर्षि जी ने आगे स्पष्ट किया कि जो सुन्दर स्त्री के साथ समागम ही को पुरुषार्थ का फल मानो तो क्षणिक सुख और उससे दुःख भी होता है, वह भी पुरुषार्थ ही का फल होगा। जब ऐसा है तो स्वर्ग की हानि होने से दुःख भोगना पड़ेगा। इससे मुक्ति सुख की हानि हो जाती है, इसलिए यह पुरुषार्थ का फल नहीं।

चारवाक– जो दुःख-संयुक्त सुख का त्याग करते हैं, वे मूर्ख हैं। जैसे धान्यार्थी धान्य का ग्रहण और भुस का त्याग करता है, वैसे इस संसार में बुद्धिमान् सुख का ग्रहण और दुःख का त्याग करें। क्योंकि इस लोक के उपस्थित सुख को छोड़ के अनुपस्थित स्वर्ग के सुख की इच्छा कर, धूर्तकथित वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड का अनुष्ठान परलोक के लिए करते हैं, वे अज्ञानी है। जो परलोक है ही नहीं, तो उसकी आशा करना मूर्खता का काम है। क्योंकि-

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।

बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः।।

(चारवाक दर्शन)

चारवाक मत प्रचारक 'बृहस्पति' कहता है कि- ''अग्निहोत्र, तीन वेद, तीन दण्ड और भस्म का लगाना बुद्धि और पुरुषार्थ रहित पुरुषों ने जीविका बना ली है।'' किन्तु काँटे लगने आदि से उत्पन्न हुए दुःख का नाम 'नरक', लोकप्रसिद्ध राजा 'परमेश्वर' देह का नाश होना 'मोक्ष' है, अन्य कुछ भी नहीं है।

चारवाक की घोषणाका उत्तर देते हुए महर्षि जी ने कहा कि- ''विषयरूपी सुखमात्र को पुरुषार्थ का फल मानकर विषयदुःख निवारणमात्र में कृतकृत्यता और स्वर्ग मानना मूर्खता है। अग्निहोत्रादि यज्ञों से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि द्वारा आरोग्यता का होना, उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है, उसको न जानकर, वेद और वेदोक्त धर्म की निन्दा करना धूर्तों का काम है। जो त्रिदण्ड और भस्मधारण का खण्डन है, सो ठीक है।''

''यदि कण्टकादि से उत्पन्न ही दुः का नाम नरक हो तो उससे अधिक महारोगादि नरक क्यों नहीं? यद्यपि राजा को ऐश्वर्यवान् और प्रजापालन में समर्थ होने से श्रेष्ठ मानें तो ठीक है परन्तु जो अन्यायकारी पापी राजा हो, जो उसको भी परमेश्वरवत् मानते हो, तो तुहारे जैसा कोई भी मूर्ख नहीं। शरीर का विच्छेद होना मात्र मोक्ष है तो गदहे, कुत्ते आदि और तुममें क्या भेद रहा, किन्तु आकृति ही मात्र भिन्न रही।''

द्वादश समुल्लास में निर्दिष्ट चारवाक और बौद्धमत का विवरण सायणाचार्य विरचित 'सर्वदर्शन संग्रह' पर ही प्रधान रूप से आश्रित है क्योंकि उस समय इन दोनों मतों के अन्य पुस्तक उपलध न थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने चारवाक दर्शन की मुय-मुय बातों को दर्शाने के लिए उनके निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं-

अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः।

केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः।। **1**।।

न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।

नैव वर्णाश्रमादीनां क्रि याश्च फलदायिकाः ।। 2।।

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।

स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते।। 3।।

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेतृप्तिकारणम्।

गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्।। 4।।

स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।

प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते।। 5।।

यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।। 6।।

यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।

कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः।। 7।।

ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।

मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित्।। 8।।

त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।

जर्फ रीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्।। 9।।

(चारवाक दर्शन, श्लोक 1 से 9)

चारवाक, आभाणक, बौद्ध और जैन भी जगत् की उत्पत्ति स्वभाव से मानते हैं। जो-जो स्वाभाविक गुण हैं, उस-उससे द्रव्य संयुक्त होकर सब पदार्थ बनते हैं, कोई जगत् का कर्त्ता नहीं ।। 1।।

परन्तु इनमें से चारवाक ऐसा मानता है। किन्तु परलोक और जीवात्मा बौद्ध-जैन मानते हैं, चारवाक नहीं। शेष इन तीनों का मत कोई-कोई बात छोड़ के एक सा है।

न कोई स्वर्ग, न कोई नरक और न कोई परलोक में जाने वाला आत्मा है। और न वर्णाश्रम की क्रिया फलदायक है।। 2।।

जो यज्ञ में पशु को मार होम करने से वह स्वर्ग को जाता हो, तो यजमान अपने पिता आदि को मार यज्ञ में होम करके स्वर्ग को क्यों नहीं भेजता।। 3।।

जो मरे हुए जीवों को श्राद्ध और तर्पण तृप्तिकारक होता है तो परदेश में जाने वाले मार्ग में निर्वाहार्थ अन्न, वस्त्र, धन को क्यों ले जाते? क्योंकि जैसे मृतक के नाम से अर्पण किया हुआ स्वर्ग में पहुँचता है, तो परदेश में जाने वालों के लिए उनके सबन्धी घर में अर्पण कर देशान्तर में पहुँचा देवें । जो यह नहीं पहुँचता, तो स्वर्ग में क्यों कर पहुँच सकता है? ।। 4।।

जो मर्त्यलोक में दान करने से स्वर्गवासी तृप्त होते हैं, तो नीचे देने से घर के ऊपर स्थित पुरुष तृप्त क्यों नहीं होता? ।। 5।।

इसलिए जब तक जीवे, तब तक सुख से जीेवे। जो घर में पदार्थ न हो तो ऋण करके आनन्द करे,ऋण देना नहीं पड़ेगा। क्योंकि जिस शरीर में जीव ने खाया पिया है, उन दोनों का पुनरागमन न होगा, फिर किससे कौन माँगे और देवेगा?।। 6।।

जो लोग कहते हैं कि मृत्यु समय जीव शरीर से निकलके परलोक को जाता है, यह बात मिथ्या है, क्योंकि जो ऐसा होता, तो कुटुब के मोह से बद्ध होकर पुनः घर में क्यों नहीं आ जाता?।।7।।

इसलिए यह सब ब्राह्मणों ने अपनी जीविका का उपाय किया है। जो दशगात्रादि मृतक क्रिया करते हैं, यह सब उनकी जीविका की लीला है।।8।।

वेद के करने हारे भांड, धूर्त और राक्षस ये तीन हैं। 'जर्फरी' 'तुर्फरी' इत्यादि पण्डितों के धूर्ततायुक्त वचन हैं।। 9।।

इन सब बातों का बुद्धि संगत उत्तर ऋषिवर ने बिन्दुवार दिया है। इनमें जो कुछ बातें ठीक थीं, उनको अखण्डनीय कहा है, यह स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज का ऋषित्व है।

विना चेतन परमेश्वर के निर्माण किये जड़ पदार्थ आपस में स्वभाव से नियमपूर्वक मिलकर उत्पन्न नहीं हो सकते। इस वास्ते सृष्टि का कर्त्ता अवश्य होना चाहिए। जो स्वभाव से हों तो द्वितीय पृथिवी, सूर्य,चन्द्र आप से आप क्यों नहीं होते।। 1।।

'स्वर्ग' सुखभोग और 'नरक' दुःखभोग का नाम है। जो जीवात्मा न होता तो सुख-दुःख का भोक्ता कौन हो सके? जैसे इस समय सुख-दुःख का भोक्ता जीव है, वैसे परजन्म में भी होता है। क्या सत्य भाषणादि दया आदि क्रिया भी वर्णाश्रमियों की निष्फल होंगी? कभी नहीं।। 2।।

पशु मार के होम करना वेद में कहीं नहीं है, इसलिए यहाण्डन अखण्डनीय है और मृतकों का श्राद्ध भी कपोलकल्पित होने से वेद विरुद्ध पुराण मत-वालों का मत है।। 3,4,5।।

जो वस्तु है उसका अभाव कभी नहीं होता। तो विद्यमान जीव का अभाव कभी नहीं हो सकता। देह भस्म हो जाता है, जीव नहीं। जीव तो दूसरे शरीर में जाता है, इसलिए जो ऋणादि से सुख भोग करेगा, वह दूसरे जन्म में अवश्य भोगेगा।। 6।।

देह से निकल के जीव स्थानान्तर और शरीरान्तर को प्राप्त होता है। उसको पूर्वजन्म का ज्ञान कुछ भी नहीं रहता, इसलिए पुनश्च कुटुब में नहीं आता।। 7।।

हाँ ब्राह्मणों ने प्रेत का कर्म जीविका के लिए किया है, वेदोक्त नहीं।। 8।।

जो चारवाक आदि ने असल वेद देखे होते, तो वेद की निन्दा कभी न करते। भाँड, धूर्त और निशाचरवत् पुरुष टीकाकार हुए हैं, उन्हीं की धूर्तता है, वेद की नहीं। परन्तु शोक है चारवाक, आभाणक ,बौद्ध और जैनियों पर कि इन्होंने मूल वेद भी न सुने, न देखे और न किसी विद्वान् से पढ़े, इसलिए भ्रष्ट टीका और वाममार्गियों की लीला देख के वेदों से विरोध करके, नष्ट -भ्रष्ट बुद्धि होकर वेदों की निन्दा करने लगे हैं। यही वाममार्गियों की दुष्ट चेष्टा चारवाक, बौद्ध और जैनों के होने का कारण है, क्योंकि चारवाक आदि भी वेदों का सत्य अर्थ नहीं जान सके।। 9।।

ऋषिवर ने चारवाक शब्द का अर्थ किया है- जो बोलने में प्रगल्भ और विशेषातार्थ वैतण्डिक होता है। उनकी पहचान है नास्तिकता, वेद और ईश्वर की निन्दा पर मत द्वेष, यज्ञ का विरोध और जगत् का कर्त्ता कोई नहीं मानना आदि। चारवाक ने वर्णाश्रम व्यवस्था की भी निन्दा की है। जबकि सत्य यह है कि वर्णाश्रम व्यवस्था के बिना कोई समाज नहीं चल सकता। भले ही ब्राह्मण को बुद्धि जीवी, अध्यापक, विधायक, उपदेशक, पुरोहित । (द्गढठ्ठह्लद्गद्यद्यद्गष्ह्लह्वड्डद्यह्य, ञ्जद्गड्डष्द्धद्गह्म्ह्य, ष्टद्यद्गह्म्द्दब्, छवह्वस्रद्दद्ग, ष्ठशष्ह्लशह्म्) आदि नामों से पुकारा जाये, क्षत्रिय को पुलिस, सेना, सुरक्षाबल आदि नाम दे दिये जाएं, वैश्य को व्यापारी (क्चह्वह्यद्बठ्ठद्गह्यह्यद्बड्डठ्ठ, ञ्जह्म्ड्डस्रद्गह्म्, द्गढठ्ठस्रह्वह्यह्लह्म्द्बड्डद्यद्बह्यह्ल) आदि नामों से अभिहित किया जाए और शूद्र को श्रमिक, मजदूर या लेबरर (रुड्डड्ढशह्वह्म्द्गह्म्) कहा जाय। इसी प्रकार ब्रह्मचारी को विद्यार्थी, गृहस्थ को (॥शह्वह्यद्ग-॥शद्यस्रद्गह्म्) और वानप्रस्थ संन्यासी को अवकाश प्राप्त (क्रद्गह्लद्बह्म्द्गस्र शह्म् क्कद्गठ्ठह्यद्बशठ्ठद्गह्म्) जैसे नाम दिये जायें। प्राचीन ऋषियों ने इस प्रकार के विभाजन को ही वर्णाश्रम के रूप में व्यवस्थित कर दिया था। इनके पालन से होने वाले लाभों से कौन इनकार कर सकता है?

वेदों के कर्त्ता धूर्त–यजुर्वेद के 23 वें अध्याय के 19से 31 तक के मन्त्रों का महीधर ने इतना अश्लील अर्थ किया है कि उसे देखकर कोई भी यही कहेगा कि ''त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्त निशाचराः।'' वैसा करने पर महीधर स्वयं ग्लानि अनुभव कर 32 वें मन्त्र का अर्थ करते हुए कहते हैं- ''अश्लील भाषणेन दुर्गन्धं प्राप्तानि अस्माकं मुखानि सुरभीणि करोत्वित्यर्थः।'' अर्थात् इस अश्लील भाषण से जो हमारे मुख अश्लील हो गये हैं, उन्हें यज्ञ सुगन्धित कर दे। मन्त्रों में न अश्लील शब्द हैं और न मन्त्रार्थ में कोई अश्लीलता है। स्वयं ही पहले जानबूझकर अश्लीलता आरोपित कर दी और स्वयं ही उस अपराध के लिए प्रायश्चित की बात कह दी। महीधर का अर्थ मात्र इसलिए त्याज्य नहीं कि वह अश्लील और बेहूदा है अपितु इसलिए कि मन्त्रों का वह अर्थ है ही नहीं।

जर्फरी तुर्फरी- इन शदों से निर्दिष्ट मन्त्र इस प्रकार है-

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।

उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु।।

– ऋ ग्वेद 10/106/6

यह मन्त्र (13/5 निरुक्त में) इस प्रकार व्यायात है-

(सृण्या इव जर्भरी तुर्फरीतू) हे द्यावा पृथिवी के स्वामी जगदीश्वर। तू दात्री की तरह भर्त्ता और हन्ता है। (नैतोशा इव तुर्फरी पर्फ रीका) तू शत्रुहन्ता राजकुमार की तरह दुष्टों को शीघ्र नष्ट करने वाला और उन्हें फाड़ने वाला है, (उदन्यजा इव जेमना मदेरु) और तू चान्द्रमस अथवा सामुद्ररत्न की तरह मन को जीतने वाला अर्थात् अपनी ओर खींचने वाला तथा प्रसन्नताप्रद है, (ता मे मरायु जरायु) हे अश्वी! वह तू मेरे मरणधर्मा शरीर को (अजरम्) बुढापे से रहित कर।

इससे स्पष्ट है कि वेदमन्त्रों के वास्तविक अर्थों को न जानने वाले ही वेदों के रचयिता को धूर्तादि नामों से पुकार सकते हैं। यदि चारवाक मत के संस्थापक ने वेदों का प्रामाणिक अर्थ शतपथब्राह्मणादि के आधार पर किया गया देखा होता तो वेदों के सबन्ध में उनकी विचारधारा इतनी दूषित न होती। वे बिना विचारे वेदों की निन्दा करने पर तत्पर हुए। उनमें इतनी विद्या ही नहीं थी जो सत्यासत्य का विचार कर सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन करते। वास्तव में वाममार्गियों ने मिथ्या कपोल कल्पना करके वेदों के नाम से अपना प्रयोजन सिद्ध करना अर्थात् यथेष्ट मद्यपान मांस खाने और परस्त्री गमन करने आदि दुष्ट कामों की प्रवृत्ति होने के अर्थ वेदों को कलङ्कित किया। इन्हीं बातों को देखकर चारवाक वेदों की निन्दा करने लगे और पृथक् एक वेद विरुद्ध अनीश्वरवादी अर्थात् नास्तिक मत चला दिया।

– जागृति विहार, मेरठ

‘‘ईश्वर की सिद्धि में प्रत्याक्षादि प्रमाण सिद्ध नहीं है’’ – की समीक्षा – डॉ. कृष्णपालसिंह

NOVEMBER 24, 2015 LEAVE A COMMENT

[वर्ष 2013 में ऋषि – मेले के अवसर पर आयोजित वेद-गोष्ठी में प्रस्तुत एवं पुरस्कृत यह शोध लेख पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत है।] -सपादक

त्रद्धि जैन सिद्धान्त एक ही है पृथक् नहीं:– महर्षि दयानन्द ने सर्वदर्शनसंग्रह, राजाशिव प्रसाद कृत ‘इतिहास तिमिरनाशक’ ग्रन्थ के आधार पर बौद्ध और जैन मतावलबियों को एक ही माना है। चाहे बौद्ध कहो, चाहे जैन कहो एक ही बात है। एतद्विषयक कुछ सन्दर्भ प्रस्तुत हैं। राजा शिवप्रसाद जो जैन मत के अनुयायी और महर्षि के घोर विरोधी थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ ‘इतिहासतिमिरनाशक’ में लिखा है, कि इनके दो नाम हैं, एक जैन और दूसरा बौद्ध। ये पर्यायवाची शब्द हैं। परन्तु बौद्धों में वाममार्गी मद्यमांसाहारी बौद्ध हैं उनके साथ जैनियों का विरोध है परन्तु जो महावीर और गौतमगण धर हैं उनका नाम बौद्धों ने बुद्ध रखा है और जो जैनियों ने गणधर और ‘जिनवर’ इसमें इनकी परपरा जैन मत है।**1** इसी ग्रन्थ के तृतीय भाग में राजा शिवप्रसाद ने लिखा है कि स्वामी शंकराचार्य से पहले जिनको हुए कुल एक हजार वर्ष के लगभग गुजरे हैं सारे भारतवर्ष में बौद्धों अथवा जैन मत (धर्म) फैला हुआ था, इस पर नोटः- बौद्ध कहने से हमारा आशय उस मत से है जो महावीर के गणधर गौतम स्वामी के समय से शंकर स्वामी के समय तक वेदविरुद्ध सारे भारत वर्ष में फैल रहा था और जिसको

अशोक सप्रति महाराज ने माना उससे जैन बाहर किसी तरह नहीं निकल सकते। 'जिन' जिससे जैन निकला और बुद्ध जिससे बौद्ध निकला दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, कोश में दोनों का अर्थ एक ही लिखा है और गौतम को दोनों ही मानते हैं, वर्ना दीपवंश इत्यादि पुराने बौद्ध ग्रन्थों में शाक्य मुनि गौतम बुद्ध को अक्सर महावीर ही के नाम से लिखा है। उनके समय में एक उनका मत रहा होगा। हमने जो जैन न लिखकर गौतम के मत वालों को बुद्ध लिखा उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि उनको दूसरे देशवालों ने बौद्ध ही के नाम से लिखा है।**2** अमरकोश कार अमरसिंह ने भी अपने ग्रन्थ में ऐसा ही लिखा है।

सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः।

समन्तभद्रो भगवान।।**3**

स्वामी वेदानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश के 12वें समुल्लास के ऊपर एक टिप्पणी में लिखा है कि 'वैदिक धर्म के विरोध में उठे ये सप्रदाय मनुष्यों को ईश्वर मानने के कारण एक हैं। बौद्धों ने परमेश्वर की सत्ता को अस्वीकार तो किया किन्तु उसके स्थान में बुद्ध को लोकनाथ (परमेश्वर) तथा सर्वज्ञ मानकर उसकी उपासना आराधना करने लगे। जैन भी ईश्वर को न मान ऋषभदेव आदि 24 तीर्थकंरों को सर्वज्ञ मान कर उनकी पूजा अर्चना करते हैं। यतः बुद्ध तथा जिन वर्तमान में जब इनको उपास्य मानने की भावना का उदय हुआ प्रत्यक्ष नहीं है, अतः उनकी मूर्ति बनाकर पूजा प्रचलित हुई।'

ईश्वर को मानने वाले जो-जो गुण ईश्वर में मानते हैं, उन-उन सबका आरोप जैन, बौद्धों ने अपने सादि आराध्यों में किया। दोनों ने अपने -अपने आराध्यों को समन्तभद्र, अर्थात् सब प्रकार से निर्दोष कहा है किन्तु बुद्ध तथा महावीर रोगाक्रान्त हुए। रोगाक्रान्त दोष का भूल का फल है। अतः जहाँ उनके 'समन्तभद्र' पने का निरास होता है, वहाँ उनके सर्वज्ञ होने का भी खण्डन हो जाता है।**4** ....स्वामी वेदानन्द जी ने ब्र. शीतलप्रसाद जैन जो दिगबर जैन सप्रदाय के लध प्रतिष्ठित विद्वान् हैं उनकी 'जैन बौद्धतत्वज्ञान' नामक पुस्तक के अनेक उदाहरण देते हुए लिखा है कि जहाँ तक मैंने बौद्धों व निर्वाण और निर्वाण के मार्ग का अनुभव करके विचार किया तो उसका बिल्कुल मेलान जैनियों के निर्वाण और निर्वाण के मार्ग से हो जाता है.....हमें तो ऐसा अनुमान होता है कि जैसे जैनों में एक सिद्धान्त मानते हुए भी दिगबर व श्वेताबर दो भेद पड़ गये उसी तरह श्री महावीर स्वामी के समय में ही वस्त्र सहित साधु चर्या स्थापित करने से बौद्ध संघ जैन संघ से पृथक् होगया।.........हमारी राय में जैन व बौद्ध में कुछ भी अन्तर नहीं है।**5** चाहे बौद्ध धर्म प्राचीन कहें या जैन धर्म प्राचीन कहें एकही बात है।......गौतम बुद्ध ने साधु मात्र की चर्या सुगम की, सिद्धान्त वही रखा।.......इस तरह जैन तत्व ज्ञान में समानता है।**6**

उपर्युक्त दीर्घ चर्चा करने का हमारा उद्देश्य इतना ही है कि ये दोनों सप्रदाय एक ही हैं, भिन्न नहीं। अतः चाहे बौद्ध कहो या चाहे जैन कहो कोई भेद नहीं है। इन्होंने प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलधि रूप छः (6) प्रमाणों के आधार पर ईश्वर की असिद्धि करने का यत्न किया। परन्तु आचार्य उदयन ने स्वरचित न्यायकुसुमाञ्जलि के तृतीय स्तवक में इनके विचारों का प्रबल प्रत्ययान किया है। आचार्य विश्वेश्वर ने उक्त ग्रन्थ की टीका स्पष्ट एवं अति सरल संक्षिप्त रूप में की है। इस लो में उनके विचारों का पुष्कल मात्रा में उपयोग किया गया है। महर्षि दयानन्द ने भी 12 वें समुल्लास में इनके विचारों तथा इनके सिद्धान्त,

ग्रन्थों का उद्धरहण देते हुए सटीक समीक्षा की है। उन्होंने लिखा है कि 'जिसलिये हम इस समय परमेश्वर को नहीं देखते इसलिये कोई सर्वज्ञ अनादि परमेश्वर प्रत्यक्ष नहीं है, जब ईश्वर में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं तो अनुमान भी नहीं घट सकता, क्योंकि एकदेश प्रत्यक्ष के बिना अनुमान नहीं हो सकता।जब प्रत्यक्ष, अनुमान नहीं तो आगम अर्थात् नित्य अनादि सर्वज्ञ परमात्मा का बोधक शब्द प्रमाण भी नहीं हो सकता। जब तीनों प्रमाण नहीं तो अर्थवाद अर्थात् स्तुति -निन्दा-परकृति अर्थात् पराये चरित्र का वर्णन और पुराकल्प अर्थात् इतिहास का तात्पर्य भी नहीं घट सकता। और अन्यार्थ प्रधान अर्थात् बहुब्रीहि समास के तुल्य परोक्ष परमात्मा की सिद्धि का विधान नहीं हो सकता। पुनः ईश्वर के उपदेष्टाओं से सुने बिना अनुवाद भी कैसे हो सकता है।'**7**

सत्यार्थ प्रकाश के उपर्युक्त सन्दर्ा में छः (6) प्रमाणों द्वारा ईश्वर की सत्ता का निषेध किया गया है। महर्षि ने उसका समाधान उसी दार्शनिक परिपेक्ष में किया है। परन्तु हम यहाँ पर न्यायकुसुमाञ्जलि के तृतीय स्तवक के आधार पर समीक्षा करने का प्रयास करेंगे।

ईश्वर की अभावसिद्धि में अनुपलधि की समीक्षाः–

इहभूतले घटाभाव वदीश्वर स्याप्यनुपलधेः अभावस्य ग्रहात्।**8**

अर्थात् इस भूतल में घटाभाव के समान ईश्वर की अनुपलधि से उसका भी अभाव ग्रहण होने से ईश्वर नहीं है। तात्पर्य यह है कि भूतल में घटाभाव जैसे अनुपलधि से सिद्ध होता है वैसे ही ईश्वर के प्रत्यक्ष न होने से उसका भी अनुपलधि से आाव ग्रहण नहीं होता तो प्रत्यक्ष के अयोग्य 'शशशृण्ङ्ग का भी अभाव सिद्ध नहीं होगा।**3** इस पूर्वपक्ष के समाधान में आचार्य उदयन का कहना है कि 'प्रत्यक्ष के अयोग्य परमात्मा में योग्यनुपलधि कहाँ घटता है? जिससे ईश्वर का अभाव सिद्ध हो। और जो अनुपलधि पाई जाती है वह केवल अनुलधि रूप से अभाव साधिका नहीं है अन्यथा बौद्धाभिमत आकाश, धर्माधर्म आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों का भी लोप हो जायेगा। अतः अनुपलधि मात्र से ईश्वर का अभाव सिद्ध नहीं होता है। और आपने जो यह कहा है कि योग्यानुपलधि को अभाव साधिका का मानने पर प्रत्यक्ष के अयोग्य होने से शशशृङ्ग का अभाव अनुपलधि से सिद्ध नहीं होगा । आपका यह प्रतिबन्ध भी कहाँ बनता है? क्योंकि प्रत्यक्ष के अयोग्य (शश) श्रृङ्ग का बाघ हम कहाँ करते हैं, हम तो शृङ्ग में शशीयत्व, शशसबन्ध का निषेध करते हैं, शशशृङ्ग नामक पदार्थ का निषेध नहीं करते हैं। श्रृङ्ग प्रत्यक्ष के योग्य ही है।**9**'

अभिप्राय यह है कि अनुपलधि अभाव साधिका नहीं है अपितु प्रत्यक्ष योग्यानुपलधि अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य पदार्थ की अनुपलधि उसकी अभाव साधिका है। यहाँ यह भी जानना चाहिये कि केवल अनुपलधि को यदि अभाव साधिका मान लिया जायेगा तब तो बौद्धाभिमत आकाश धर्माधर्म आदि पदार्थ भी दिखाई न देने के कारण अनुपलधि मात्र से अभाव सिद्ध हो जायेगा। परन्तु बौद्ध इन पदार्थों की सत्ता मानते हैं। इस कारण अनुपलधिमात्र को अभाव साधिका नहीं माना जा सकता अपितु योग्यानुपलधि ही अभाव साधिका है।

'प्रत्यक्षयोग्य परमात्मा में योग्यानुपलधि कहाँ है, वही बाधिका है और जो केवल अनुपलधि मात्र पाई जाती है, वह अभाव साधिका मान लिया जाय तो बौद्धाभिमत आकाश, धर्माधर्म आदि का विलोप हो जायेगा।'

आकाशादि अप्रत्यक्ष अर्थों का भी अभाव मानना होगा, जो बौद्ध को अभिमत नहीं है। योग्यानुपलधि को अभाव साधक मानने में शशशृङ्ग का भी अभाव सिद्ध नहीं होगा यह जो प्रतिबन्ध दिया है उसका भाव अगर यह है कि हम प्रत्यक्ष के अयोग्य शशशृङ्गनामक किसी पदार्थ का निषेध नहीं करते हैं अपितु शशरूप आधार में प्रत्यक्ष योग्य शृङ्ग के संयोग सबन्ध का निषेध करते हैं। शृङ्ग तो प्रत्यक्ष के योग्य ही है इसलिये प्रतिबन्ध नहीं बन सकता। अयोग्य शृङ्ग का निषेध नहीं करते हैं। तब उसकी सत्ता सिद्ध हो जायेगी यह शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि उसके विषय में साधक प्रभावों का अभाव ही है। इसलिये अनुपलधि ईश्वर के अभाव को सिद्ध नहीं करता। इस पर बौद्ध ने ईश्वर के अभाव सिद्धि के लिये एक अन्य अनुमान प्राप्त किया कि 'ईश्वरः न क्षित्यादिकर्त्ता शरीर सबन्ध भावात प्रयोजना भावात च'**10**अर्थात् ईश्वर क्षित्यादिका न कर्त्ता हैं क्योंकि शरीर सबन्ध का अभाव होने से प्रयोजन के न होने के कारण। इस अनुमान वाक्य का अभिप्राय यह है कि परमात्मा के प्रत्यक्ष योग्य होने से उसके क्षिति कर्तृत्वादि कर्म भी प्रत्यक्ष के अयोग्य हैं। यहाँ जो अनुमान प्रयुक्त किया गया है उसका आधार शरीर सबन्ध और प्रयोजन ये दो कर्तव्य के व्यापक धर्म हैं।

'यत्र यत्र कर्तृत्व तत्र तत्र शरीर सबन्धःप्रयोजन च'**11** अर्थात् जहाँ जहाँ कर्त्ता होता है वहाँ वहाँ शरीर युक्त अवश्य होता है। और उस कार्य के करने में उसका कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। परन्तु ईश्वर न शरीरी है और न ही सृष्टि के निर्माण में उसका अपना कोई स्वार्थ अथवा कारुण्यरूप प्रयोजन ही है। यदि उसका कोई स्वार्थ है तो वह पूर्ण काम नहीं रहेगा। अन्य आत्माओं के उद्धार की कारुण्य भावना इसलिये नहीं बनती है कि दुःखी प्राणी को देखने के बाद ही करुणा हो सकती है, उसके पूर्व नहीं। दुःख संसार काल में ही हो सकता है अतएवं करुणा भी संसार काल में ही हो सकती है, सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व नहीं।**12**इसलिए सृष्टि निर्माण में उसका कोई प्रयोजन भी नहीं है और शरीर सबन्ध भी नहीं है। अतः ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं हो सकता यह बौद्धों का पक्ष है।

इस पर नैयायिक आचार्य उदयन का कहना है कि बौद्धों ने जो अनुमान दिया है जिसे हम पहले भी दिखा चुके हैं विषय स्पष्टीकरणार्थ पुनः प्रस्तुत करने में कोई आपत्ति नहीं है-

ईश्वरः न क्षित्यादिकर्त्ता शरीरसबन्धावात् प्रयोजनाभावात् च।**13**

इस अनुमान वाक्य में ईश्वर पक्ष या आश्रय है, जब वही सिद्ध नहीं है तो यह हेतु 'आश्रयासिद्ध हेत्वामास' होने से साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है।**14**

आश्रयासिद्ध हेत्वाभासः– इस हैत्वाभास को समझाने के लिये हेत्वाभास पद का अर्थ जानना भी आवश्यक है। 'हेतुवद् आभासते इति हेत्वाभासः' जो हेतु के समान भासित होता है वस्तुतः दोषयुक्त होने के कारण हेतु नहीं होता उसे हेत्वाभास कहते हैं। प्रकृत हेत्वाभास असिद्ध हेत्वाभास का एक वर्ग है। यह तीन प्रकार का होता है। (1) आश्रय सिद्ध (2) स्वरूपासिद्ध (3) व्याप्यत्वासिद्ध। प्रकृत स्थल पर आश्रयसिद्ध हेत्वाभास की ही चर्चा करेगें क्योंकि पूर्व पक्ष ने जो अनुमान दिया है वह आश्रयासिद्ध हेत्वाभास के अन्तर्गत आता है। इस का लक्षण है 'आश्रयासिद्धो यथा, गगतारविन्दं सुरभिः अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दं आश्रय सच नास्त्येव।**15**'

जैसे आकाश कमल सुगन्धित होता है। यह प्रतिज्ञा क्योंकि वह कमल अथवा उसमें कमलत्व है (यह हेतु) सरोज में उत्पन्न कमल के समान (उदाहरण) यहाँ आकाश कमल आश्रय है वह होता ही नहीं है। बौद्धों ने जो अनुमान वाक्य दिया उसमें ईश्वर पक्ष या आश्रय हैं, जब वही सिद्ध नहीं है, इसलिये यह हेतु आश्रयासिद्ध हेतवाभास होने से साध्य को सिद्ध नही कर सकता है और यदि आश्रय सिद्धि से बचने के लिए ईश्वर की सत्ता मान लें तो जिस प्रमाण से उसकी सत्ता मानेंगे उसी धार्मिक ग्राहक प्रमाण से उसका क्षित्यादि कर्तव्य भी सिद्ध हो जायेगा। उस स्थिति में यह हेतु बाधित विषयत्व हेत्वाभास हो जायेगा। अतः एव दोनों प्रकार के हेत्वाभास होने से शरीर सबन्ध भावात् हेतु ईश्वर के अभाव का साधक नहीं हो सकता है।**16**

मिथ्याज्ञानवश ईश्वर की मान्यताः– अब बौद्ध यह कहते हैं कि कुछ लोग मिथ्या ज्ञानवश ईश्वर को मानते हैं, उसका यह मिथ्याज्ञान, या भ्रम या असत्याति कहलाता है। इस असत्याति से ईश्वरवाद जिस परमात्मा को मानते हैं, उनको पक्ष बनाकर 'ईश्वरः न क्षित्यादिकर्त्ता शरीर सबन्धाभावात् प्रयोजनाभावात् च' यह अनुमान प्रस्तुत करते हैं अथवा 'ईश्वरो नास्ति शरीरसबन्धाभावात् प्रयोजनाभावात्च'**17**यह अनुमान किया जा सकता है।

इसके समाधान में आचार्य उदयन का कहना है कि पहले अनुमान वाक्य में ईश्वर के कर्तव्य का अभाव सिद्ध किया जा रहा है। (क्षित्यादिकर्तृत्वाभाववानीश्वरः) उसमें ईश्वर विशेष्य और क्षित्यादि कर्तृत्वाभाव उसका विशेषण है। जबकि दूसरे अनुमान में 'ईश्वर नास्ति' में ईश्वर का अभाव प्रदर्शित किया जा रहा है। 'यस्याभाव स तस्य प्रतियोगी इति नियमात्' इस नियम के अनुसार जिसका अभाव होता है वह उस अभाव का प्रतियोगी कहलाता है। अतः ईश्वर अभाव का प्रतियोगी है, 'विशेषता' और 'प्रतियोगिता' दोनों ऐसे धर्म है जो किसी यथार्थ वस्तु में ही रह सकते हैं, मिथ्या या असत्याति से सिद्ध वस्तु में नहीं रह सकते क्योंकि विश्ेाष्यता का अर्थ वियोषणाश्रयता है, यह आश्रयता अभाव पदार्थ में नहीं रह सकती है और प्रतियोगिता अभाव विरोधी भावरूप ही होती है। अतः एवं प्रतियोगिता भी वस्तु में ही रह सकती है। इसलिये असत्याति से उपनीत ईश्वर न तो विशेष्य हो सकत है और न ही प्रतियोगी । अतः ईश्वर के अभाव साधक दोनों अनुमान नहीं बन सकते।**18**

योग्यानुपलधि ही अभावसाधिका है अनुपलधिमात्र नहींः– जैसा कि हम यह बात पहले भी कह चुके हैं कि योग्यानुपलधि को अभाव साधिकमान से शशशृङ्ग का भी अभाव सिद्ध नहीं होगा क्योंकि वह प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है, यह प्रतिबन्धक कहा गया है। यह पूर्वपक्ष का विचार है। अब सिद्धान्त पक्ष का इस विषय में यह कहना है कि हम अयोग्य शशशृङ्ग का अभाव सिद्ध नहीं करते हैं अपितु प्रत्यक्षयोग्य शृङ्ग का शश के साथ सबन्ध का निरास करते हैं, और शशशृङ्ग का निषेध न करने से उसका भाव सिद्ध नही हो सकता है क्योंकि उसका साधक कोई प्रमाण है ही नहीं। यदि आप शशशृङ्ग भी प्रत्यक्ष के योग्य है, और उसकी अनुपर्ल्गव्ध योग्यानुपलधि ही है। अब यह प्रश्न उठता है कि यदि शशशृङ्ग प्रत्यक्ष के योग्य है तो उसका प्रत्यक्ष भी होना चाहिए, पर प्रत्यक्ष होता नहीं है। इस आशंका का समाधान करते हुए आचार्य उदयन का कहना है कि हाँ- जब उसके प्रत्यक्ष की सामग्री होगी तब उसका प्रत्यक्ष अवश्य होगा और यदि प्रत्यक्ष नहीं होता है तो यह मानना होगा कि उसके प्रत्यक्ष की सामग्री ही नहीं है। शशशृङ्ग के प्रत्यक्ष की सामग्री दोषयुक्त इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आदि हैं। जैसे पीलिया रोग के रोगी को (पीतः शङ्ख) की प्रतीति होती है। यहाँ इस प्रतीति में पित्तादि दोषयुक्त नेत्र कारण होते हैं। एवमेव शशश्रृङ्ग के प्रत्यक्ष में भी दुष्ट अर्थात् दोष धरित प्रत्यक्ष, सामग्री होगी

और उस सामग्री के होने पर शशशृङ्ग कााी प्रत्यक्ष हो सकता है। इसलिये शशशृङ्ग भी प्रत्यक्ष के योग्य हैं उसका अभाव योग्यानुपलधि से सिद्ध हो सकता है।19इस समीक्षा का निष्कर्ष यह है कि योग्यानुपलधि ही अभाव साधिका है, अनुपलधिमात्र नहीं।

आत्मा को पक्ष बनाकर बौद्धानुमान ईहाः– इसके बाद अब बौद्ध आत्मा को पक्ष बनाकर अनुमान प्रस्तुत करने की ईहा (चेष्टा) करता है कि 'आत्मा न सर्वज्ञः आत्मत्वात्' अथवा 'आत्मा नक्षित्यादि कर्त्ता आत्मवात् अस्मदादिवत्'21 यह अनुमान प्रतिपादित किया है। इस अनुमान विषय पर आचार्य उदयन का कहना है कि पूर्व पक्षी बौद्ध किस आत्मा को पक्ष बनाकर यह अनुमान प्रदर्शित किया है। प्रसिद्ध आत्मा को अर्थात् जीवात्मा को अथवा अप्रसिद्धात्मा अर्थात् परमात्मा को यदि जीवात्मा को पक्ष बनाया गया है तो सिद्ध साधन या इष्टसिद्धि है, क्योंकि हम भी जीवात्मा को सर्वज्ञ या क्षित्यादि का कर्त्ता नहीं मानते हैं। और यदि अप्रसिद्ध आत्मा अर्थात् परमात्मा को पक्ष बनाया गया है तो उसके सिद्ध न होने से आश्रृ या सिद्धि हेत्वाभास तो पूर्ववत् है ही उसके अतिरिक्त 'हेत्वसिद्धि अर्थात् स्वरूपासिद्धि भी हो जायेगी। पक्ष वृत्तिहोन हेतु का ज्ञान अनुमान का प्रयोजक होता है वह यहाँ पक्ष के न होने से पक्षवृत्तित्व विशिष्ट हेतु का ज्ञान भी अभाव होने से हेतु सिद्धि भी होगी।22'

एवमेव बौद्धों द्वारा ईश्वर के निरासार्थ अनेक प्रमाणों, अनुमानों का प्रयोग किया गया परन्तु उन सभी अनुमानों में आश्रय सिद्धि या स्वरूपा सिद्धि हो जाने से अभीष्ट सिद्धि न हो पाई है। आचार्य उदयन ने यह सिद्ध किया कि अनुपलधि तथा अनुमान इन दोनों प्रमाणों से ईश्वर का अभाव सिद्ध करने का प्रयास उनका असफल रहा क्योंकि अनुपलधि का अभाव सही मानने में तो आकाश, धर्माधर्मादि का भी विलोम हो जाता है जो बौद्ध को मान्य नहीं है। ये नित्य आत्मा तथा ईश्वर की सत्ता को तो नहीं मानते परन्तु आकाश, धर्माधर्मादि का अस्तित्व मानते हैं। इसलिये अनुपलधि को अभाव साधिका मानने से तो उक्त पदार्थों का निषेध होने लग जाता है तो बौद्धायभीत हो उठता है। इसी प्रकार अनुपलधि को अभाव साधिका मान लेने पर अनुमान प्रमाण का कोई उपयोग नहीं रहता है और उसके अनुमान का भी लोप हो जाता है, यह भी बौद्ध को अभीष्ट नहीं है क्योंकि बौद्ध प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमानादि प्रमाण को मानता ही नहीं है। और जब आकाश, धर्माधर्मादि और अनुमान के लोप का अवसर आता है तब वह चुप हो जाता है फलस्वरूप वह अनुपलधि को अभाव साधिका भी नहीं मान सकता है। वस्तुतः यह उसके सिद्धान्त की बहुत बड़ी कमजोरी है इस कारण वह ईश्वर का अभाव सिद्ध करने में असमर्थ रहा है।

प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर सिद्धिः– महर्षि दयानन्द प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि करना अभीष्ट मानते हैं। वह यह जानते थे कि चार्वाक, जैन बौद्धादि नास्तिक मतानुयायी ईश्वर विषय में ईश्वर प्रत्यक्ष दिखाने पर बल देते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है। 1. बाह्य प्रत्यक्ष 2. आयन्तर प्रत्यक्ष प्रथम कोटि का प्रत्यक्ष चक्षुरादि इन्द्रिय जन्य होता है जो ईश्वर में नहीं घटता है क्योंकि ईश्वर सर्वातिसूक्ष्म होने के कारण चक्षुरादि स्थूल इन्द्रियों का विषय नहीं है। दूसरा अयन्तर प्रत्यक्ष है जो आत्मा द्वारा ही परमात्मा का साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्राप्त करता है। जैसा कि प्राचीन ऋषियों ने आत्मा के द्वारा आत्मा (परमात्मा) को प्रत्यक्ष किया। इसलिये महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम पृष्ठ पर लिखा 'नमो ब्राह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मवदिष्यामि'23

सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास जिसमें ईश्वर विषय तथा वेद विषय का निरूपरण किया है। इसमें ही ईश्वर सिद्धि के विषय में पूर्व प्रश्न उठाते हुए लिखा है कि 'आप ईश्वर ईश्वर कहते हो उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो? (उत्तर) सब प्रत्यक्षादिप्रमाणों से (पूर्व) ईश्वर में प्रत्यक्षादिप्रमाण कभी नहीं घट सकते (उत्तर) इन्द्रियान सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानं अव्ययदेश्यं अव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।' यह गौतम महर्षि कृत न्याय दर्शन (1/1/4) का सूत्र है। जो श्रोत्रत्व चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध, सुख, दुःख, सत्य और असत्य विषयों के साथ सबन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु वह निर्भ्रम हो। अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं । जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ज्ञान होने से गुणी पृथिवी उसका आत्मयुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है वैसे इस प्रत्यक्ष के होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है। जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता है वा चोरी आदि बुरी व परोपकार आदि अच्छी बाते करने में जिस क्षण में आरभ करता है उस समय जीव की इच्छा ज्ञान आदि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है, उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे काम करने में आय, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है। और जब जीवात्मा शुद्ध हो के परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है? क्योंकि कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता है। (पूर्व.) ईश्वर व्यापक है वा किसी देश विशेष में रहता है? (उत्तर) व्यापक है, क्योंकि जो एक देश में रहता तो सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता सबका स्रष्टा, सबका धर्त्ता और प्रलय कर्त्ता नहीं हो सकता, अप्राप्तदेश में कर्त्ता की क्रिया का असभव है।**24**

उपदेश मंजरी के प्रथम उपदेश में ही ईश्वर सिद्धि का विषय है। यहाँ पर महर्षि ने कहा कि प्रथम हमें ईश्वर की सिद्धि करनी चाहिए उसके पश्चात् धर्मप्रान्ध का वर्णन करना योग्य है क्योंकि 'सति कुडये चित्रम्' इस न्याय से जब तक ईश्वर की सिद्धि नहीं हो जाती तब तक धर्म व्यायान करने का अवकाश नहीं।**25**

क्या उपासनार्थ उपास्य के आकार की आवश्यकता है**?**ः-

भक्त लोग प्रायः यह कहा करते हैं कि परमेश्वर की उपासना करने के लिए उसके आकार की आवश्यकता महसूस होती है। 'इसी प्रकार भक्तों को उपासना करने के लिये ईश्वर का कुछ आकार होना चाहिए, परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शरीरस्थ जो जीव है, वह भी आकार रहित है, यह सब कोई मानते हैं अर्थात् वैसा आकार न होते भी हम परस्पर एक दूसरे को पहचानते हैं, प्रत्यक्ष कभी न देखते हुए भी केवल गुणानुवादों ही से सद्भावना और पूज्यबुद्धि मनुष्यादि के विषय में रखते हैं। उसी प्रकार ईश्वर के सबन्ध में नहीं हो सकता, यह कहना ठीक नहीं है। इसके सिवाय मन का आकार नहीं है मन के द्वारा परमेश्वर ग्राह्य है, उसे जड़ इन्द्रिय ग्राह्यता लगाना यह अप्रयोजक है।'**26** प्रमाण बहुत प्रकार के हैं यथा-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द.......परन्तु सब शास्त्रकार अपने शास्त्र के उपयोगी प्रमाण को मानते हैं। 'सारे प्रमाणों का अन्तर्भाव करके तीन प्रमाण अपशिष्ट रहते हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रत्यक्ष भी सविकल्प और निर्विकल्प होता है। अनुमान तीन प्रकार का होता है-पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट। इन तीन प्रकार के प्रमाणों की व्यापिका ईश्वर सिद्धि

विषयक प्रयत्न करते समय प्रत्यक्ष की व्यापिका (विचार) करने से पूर्व अनुमान की लापिका करनी चाहिये क्योंकि प्रत्यक्ष का ज्ञान बहुत संकुचित और शुद्र है'.........इससे प्रत्यक्ष को एक ओर रखकर शास्त्रीय विषयों में अनुमान प्रमाण ही विशेष गिना गया है। व्यवहार के लिये अनुमान आवश्यक है। अनुमान के बिना भविष्य के व्यवहारों के विषय में हमारा जो दृढ़ निश्चय रहता है, वह निरर्थक होगा। कल सूर्य उदय होगा यह प्रत्यक्ष नहीं है तथापि इस विषय में किसी के मन में तिलमात्र की भी शंका नहीं होती।**27**

अनुमान और प्रत्यक्ष से ईश्वर सिद्धिः– 'तीन प्रकार के अनुमान की लापिक करने से ईश्वर= परमपुरुष= सनातन ब्रह्म सब पदार्थों का बीज है, ऐसा सिद्ध होता है। रचना रूपी कार्य दिखता है, इससे अनुमान होता है कि इस सृष्टि को रचने वाला अवश्य कोई है। पंच महाभूतों की सृष्टि आप ही आप रची हुई नहीं है, क्योंकि व्यवहार में घर का सामान विद्यमान होने ही से केवल घर नहीं बन जाता, यह हमारा देाा हुआ अनुभव सर्वत्र है। साथ ही साथ पंच महाभूतों का मिश्रण नियमित प्रमाण से विशिष्ट उत्पन्न होने की ही सुगमता के लिए कभी भी आप स्वयं घटित नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि की व्यवस्था जो हम देखते हैं, उसका उत्पादक और नियंता ऐसा कोई श्रेष्ठ पुरुष अवश्य होना चाहिये।'**28**

'अब किसी को यह अपेक्षा लगे कि ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण होना चाहिए, उसका विचार यूँ है कि प्रत्यक्ष रीति से गुण का ज्ञान होता है। गुण का अधिकरण जो गुणी द्रव्य है उसका ज्ञान प्रत्यक्ष रीति से नही होता। इसी प्रकार ईश्वर सबन्धी गुण का अधिकरण जो ईश्वर है उसका ज्ञान होता है, ऐसा समझना चाहिए।'**29** 'हिरण्य गर्ाः' इस मन्त्र को प्रस्तुत करके लिखा है कि हिरण्यगर्ा का अर्थ शालिग्राम की वटिया नहीं है, किन्तु हिरण्य अर्थात् 'ज्योति जिसके उदर में है, वह ज्योति स्वरूप परमात्मा ऐसा अर्थ है।'

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् शृणोति नान्यत्विजानाति स भूमा

यत्र अन्यत् पश्यति अयत् शृणोति, अन्यत् विजानति तत् अल्पभ।

यो वैभूमा तदमृतमथ यदलयं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन्

प्रतिष्ठितः इति स्वे महिति यदिवा न महिम्नीति।**30**

जब उपासक अन्य वस्तुओं को जानता नहीं। वह भूमा है। और जब उपासक अन्य वस्तु को देखता है। अन्य वस्तु को सुनता है। अन्य वस्तु को जानता है। वह अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है। जो अल्प है वही मर्त्य मरण योग्य है। नारद- वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है? सनत्कुमार-निज महिमा में यह प्रतिष्ठित है।

एतदालबनं श्रेष्ठ एतदालंवनं परम्।

एतदालंवनं ज्ञात्वा स ब्रह्म लेके महीयते।।

टिप्पणियाँ

1. सत्यार्थप्रकाश, पृ. 383

2. सत्यार्थप्रकाश, पृ. 383-384
3. अमरकोश 118
4. सत्यार्थप्रकाश, 12वाँ समु., पृ. 384 पर स्वामी वेदानन्द की टिप्पणी
5. वही देखें, पृ. 384
6. वही देखें, पृ. 384
7. न्याय कुसुमांजलि, तृतीयस्तबक, पृ. 101
8. वही देखें, पृ. 101
9. न्याय कुसुमांजलि, पृ. 101
10. वही देखें, पृ. 103
11. वही देखें, पृ. 102
12. वही देखें, पृ. 102
13. वही देखें, पृ. 103
14. वही देखें, पृ. 103
15. तर्कभाषा, पृ. 111
16. वही देखें, पृ. 103
17. वही देखें, पृ. 103
18. वही देखें, पृ. 104
19. वही देखें, पृ. 105
20. वही देखें, पृ. 106
21. वही देखें, पृ. 106
22. सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समु., पृथम पृथम पृष्ठ
23. सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समु., पृ. 154-155
24. उपदेश मंजरी, पृ. 2
25. वही देखें, पृ. 3
26. उपदेश मंजरी, पृ. 3
27. वही देखें, पृ. 4
28. छान्दोग्योपनिषद् 7/24/1

– ई-**128,** गोविन्दपुरी**,** सोडाला**,** जयपुर**,** राज.

स्तुता मया वरदा वेदमाता-20 समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।।

NOVEMBER 19, 2015 LEAVE A COMMENT

घर में सदस्यों के मध्य सौमनस्य कैसे बना रहे, इसके उपाय इस मन्त्र में बताये गये हैं, उनमें प्रथम है- सदस्यों का खानपान समान हो। भोजन आच्छादन के पश्चात् व्यवहार में आने वाले साधन और किये जाने वाले कार्य भी समान हों। इस मन्त्र में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई है, हमारे परिवार में सामान्य रूप से जिस प्रकार के कार्य होते हैं, उन्हें सपन्न करने के लिए उसी प्रकार के साधन भी अपनाये जाते हैं। आजकल साधन केवल सपन्नता के

प्रतीक बनकर रह गये है। आपके घर में कैसे साधन हैं। वे कितने नये, कितने मूल्यवान हैं, यही बात महत्त्वपूर्ण हो गई है।

साधन आवश्यक तो हैं, साधनों की उपस्थिति मनुष्य को सपन्न बनाती है। साधन साध्य के लिये होते हैं। साध्य को सिद्ध करने के काम आते हैं। यदि ये साधन साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हैं तो साधन व्यर्थ का बोझ बन जाते हैं। साधनों की जहाँ तक आवश्यकता होती है, उनका वहीं तक संग्रह उचित है परन्तु अधिक साधन मनुष्य को अपना सेवक बना लेते हैं। साधनों को संग्रह करने के लिये धन का संग्रह करना पड़ता है। यथाकथंचित् उतना धन संग्रह में लग जाता है। फिर उस संग्रह का उपयोग होने या न होने की दशा में उनके रख रखाव पर धन और समय का अपव्यय करना पड़ता है। हमारे जीवन में साध्य छूट जाता है। साधन ही साध्य का स्थान ले लेते हैं। कभी हमारे इन घर, वाहन, वस्त्र, आभूषण या धन आदि की जीवन को चलाने के लिये आवश्यकता होती है परन्तु जब साधन साध्य का स्थान लेने लगते हैं तो हमारी साधना व्यर्थ हो जाती है। हमारा साधनों के प्रति प्रेम इतना बढ़ जाता है कि हम इन वस्तुओं की सेवा में ही पूरा जीवन और सामर्थ्य समाप्त कर देते हैं, वेद कहता है- साधन आपके लिये हैं, आप साधनों के लिये नहीं। अतः मनुष्य को साधनों के आधीन नहीं होना चाहिए।

हमारे देश में साधन सपन्न दो ही वर्ण होते हैं- प्रथम क्षत्रिय और दूसरा वैश्य तथा आश्रम परपरा में तो केवल एक ही आश्रम साधनों की सपन्नता रखता है, शेष तीन तो इसी एक आश्रम पर नर्िार रहते हैं और इस परिस्थिति को ही आदर्श माना गया है। चार आश्रमों में केवल एक गृहस्थ को ही सपन्नता का अधिकार दिया गया है। शेष ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी व संन्यासी तीनों ही गृहस्थ पर सर्वथा निर्भर करते हैं। तो क्या शेष तीन आश्रमों के पास साधन नहीं होने चाहिएं। साधन तो चाहिए परन्तु इनके उपार्जन का सामर्थ्य उनके आश्रमवस्था में सिद्ध करने वाले प्रयोजनों को व्यर्थ कर देंगे। विद्यार्थी के पास न साधन हैं, न आवश्यकता है, उनकी चिन्ता तो माता-पिता को भी नहीं करनी। ब्रह्मचारियों की चिन्ता करना समाज और राज्य का विषय है। वानप्रस्थी और संन्यासी को साधनों की आवश्यकता अत्यन्त न्यून हो जाती है, उनका भार समाज पर है। इस प्रकार साधन सपन्न रहकर सभी आश्रमों की सेवा करना एक गृहाश्रमी का दायित्व है।

इसी प्रकार वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण को साधनों के संग्रह का निर्देश नहीं है, उसे अपना जीवन ज्ञान की खोज, संग्रह और उसके प्रचार-प्रसार में लगाना है, यदि इसमें साधनों की आवश्यकता पड़े तो उसका उत्तरदायित्व समाज और राज्य का है। यहाँ ध्यान रखने की बात है, ये लोग साधन जुटाने का सामर्थ्य नहीं रखते, ऐसा नहीं है। परन्तु साधनों के उपार्जन करने में समय, धन और परिश्रम लगता है, यह सब ज्ञान की तुलना में तुच्छ है, अतः मुय विषय पर समय लगाने की बात शास्त्र करता है। शूद्र के पास सामर्थ्य का अभाव है, अतः उसे किसी प्रकार बाध्य नहीं किया गया।

मन्त्र में साधन को साध्य के लिये लगाने की बात कही है। हमारे पास हमारे जीवन के प्रयोजन को सिद्ध करने योग्य साधन होने चाहिये और साधनों को पूरा उपयोग धर्मार्थ की सिद्धि के लिये किया जाना उचित होगा तभी परिवार में विरोध का भाव उत्पन्न नहीं होगा। मनुष्य के आराम, विलास, आलस्य, प्रमाद की स्थिति में साधन अपव्यय और संघर्ष का कारण

बनते हैं। अतः कहा है- समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि तुहें समान साधन देकर सत्कर्मो में लगाता हूँ।

चार्वाक दर्शन एवं वेद: – डॉ. वेद प्रकाश

NOVEMBER 18, 2015 1 COMMENT

(सत्यार्थप्रकाश के द्वादश समुल्लास के आलोक में)

– डॉ. वेद प्रकाश

[वर्ष 2013 में ऋषि – मेले के अवसर पर आयोजित वेद-गोष्ठी में प्रस्तुत एवं पुरस्कृत यह शोध लेख पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत है।] -सपादक

सृष्टि के प्रारभ से ही आर्यावर्त में वेद की प्रतिष्ठा रही है। ईश्वर द्वारा प्रदत्त तथा वैदिक ऋषियों द्वारा अनुभूत वेद ज्ञान सत्यासत्य के निर्णय का एक मात्र आधार रहा है। भारतीय चिन्तन में वैदिक ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता इस बात से भी परिलक्षित होती है कि आस्तिकता और नास्तिकता का नियामक भले ही लोक में ईश्वर है, परन्तु शास्त्र की दृष्टि से वेद है। अर्थात् जो वेद को मानता है वह आस्तिक है तथा जो वेद को नहीं मानता , वह नास्तिक है। मनु के शदों में 'नास्तिको वेदनिन्दकः'(मनुस्मृति 2.11)। परन्तु धीरे-धीरे भारत में वेद मन्त्रों के मनमाने अर्थ किये जाने लगे तथा वैदिक यज्ञों एवं कर्मकाण्ड में आडबर, हिंसा आदि अमानवीय भावनाओं का प्रभुत्व बढता गया। परिणामस्वरूप वेद विद्या के स्थान पर अविद्या का प्रसार होने लगा। इसी के परिणामस्वरूप भारत में चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। ये दर्शन वेद को प्रमाण नहीं मानते हैं, अतः इन्हें भारतीय दार्शनिक परपरा में नास्तिक दर्शन कहा जाता है।

चार्वाक दर्शन के सिद्धान्त अन्य दार्शनिक ग्रन्थों यथा ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, विवरणप्रणेयसंग्रह, न्यायमञ्जरी, सर्वसिद्धान्तसंग्रह, षड्दर्शनसमुच्चय, तर्करहस्यदीपिका, सर्वदर्शनसंग्रह आदि ग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में हुआ है। चार्वाक दर्शन का आधार मुय रूप से वेद-विरोध है, जैसा कि इनके वेदविषयक सिद्धान्तों से विदित होता है-

त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भाण्डधूर्तनिशाचराः।

प्रस्तुत शोधपत्र में महर्षि दयानन्द द्वारा सत्यार्थप्रकाश के बारहवें समुल्लास में प्रस्तुत चार्वाक दर्शन के सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर उनकी दार्शनिक ग्रन्थों के आधार पर प्रामाणिकता सिद्ध की गयी है। इसके पश्चात् महर्षि दयानन्द द्वारा चार्वाक दर्शन के सिद्धान्तों का खण्डन तथा उनकी वेदानुकूलता प्रस्तुत कर चार्वाक दर्शन के जो सिद्धान्त वेदानुकूल है, उनकी समीक्षा महर्षि दयानन्द द्वारा प्रस्तुत सत्यार्थप्रकाश के बारहवें समुल्लास के सन्दर्भ में की गयी है।

महर्षि दयानन्द द्वारा सत्यार्थप्रकाश के बारहवें समुल्लास में चार्वाक दर्शन के निम्नलिित सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है-

पुनर्जन्म का सिद्धान्त– चार्वाक दर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता है। महर्षि दयानन्द ने इस कथन की पुष्टि के लिए 12 वें समुल्लास के प्रारभ में बृहस्पति नामक आचार्य का एक प्रसिद्ध पद्य प्रस्तुत किया है –

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

अर्थात् जब तक जीवन है, सुखपूर्वक जीयें। क्योंकि मृत्यु से कुछ भी अगोचर नहीं है। भस्मीभूत होने वाले इस शरीर का पुनः आगमन कहां होगा? अर्थात् मृत्यु के पश्चात् जीव पुनः संसार में नहीं आता है। अतः-

यावज्जीवेत्सुखं जीवेद्दणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।**3**

अर्थात् सुखपूर्वक जीने के लिए ऋण लेकर भी घी पीना चाहिए।

महर्षि दयानन्द जीव को अनादि मानते हैं। परलोक के सबन्ध में उनका विचार है कि जैसे इस समय सुख दुःख का भोक्ता जीव है, वैसे ही परजन्म में भी होता है।4 वेद में पुनर्जन्म के समर्थन में अनेक मन्त्र प्राप्त होते हैं, जिनका सारांश निम्न प्रकार से है- सत्य के ज्ञाता और अहिंसक उन जीवों ने फिर प्राणधारण किया।5 किसने मुझे पुनः विशाल पृथिवी पर जन्म दिया।6 मैं पुनः जन्म लेकर माता-पिता के दर्शन करुँ।7 कठोपनिषद् का यह प्रसिद्ध वाक्य –

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।**8** तथा-

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।।**9**

अर्थात् जिसका जैसा कर्म होता है और शास्त्रादि के श्रवण के द्वारा जिसको जैसा भाव प्राप्त हुआ है, उन्हीं के अनुसार शरीर धारण करने के लिए कितने ही जीव अनेक प्रकार की योनियों को प्राप्त हो जाते हैं और अन्य कितने ही स्थावर भाव का अनुसरण करते हैं।

शरीर में चार महाभूतों के योग से चैतन्य-उत्पत्ति – चार्वाक की यह मान्यता है कि हमारा शरीर पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु इन चार महाभूतों के संयोग से बना है। चार्वाक चार ही महाभूत स्वीकार करता है।10 वह आकाश को स्वीकार नहीं करता। इस शरीर में इन चार महाभूतों के योग से चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे मादक द्रव्य खाने पीने से मद उत्पन्न होता है, इसी प्रकार जीव शरीर के साथ उत्पन्न होकर शरीर के नाश के साथ ही नष्ट हो जाता है।11 फिर किसको पाप-पुण्य का फल होगा? अर्थात् शरीर के नष्ट होने के साथ ही जीवन भी नष्ट हो जाता है। अतः पाप-पुण्य का भोक्ता कौन होगा अर्थात् कोई नहीं।

महर्षि दयानन्द इसके समाधान में कहते हैं कि पृथिव्यादि भूत जड़ हैं तथा जड़ पदार्थों से चेतन की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। मद के समान चेतन की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, क्योंकि मद चेतन को होता है, जड़ को नहीं। पदार्थ नष्ट अर्थात् अदृष्ट होते हैं परन्तु अभाव किसी का नहीं होता। इसी प्रकार अदृश्य होने पर जीव का भी अभाव नहीं मानना चाहिए। जब जीवात्मा सदेह होता है तभी उसकी प्रकटता होती है। जब वह शरीर को छोड़ देता है, तब यह शरीर जो मृत्यु को प्राप्त हुआ है वह जैसा चेतनयुक्त पूर्व में था वैसा नहीं हो सकता।

महर्षि दयानन्द के उपरोक्त विचारों का वेद में समर्थन प्राप्त होता है। जैसा कि चार्वाक मानते हैं कि शरीर के नष्ट होने के साथ ही जीव भी नष्ट हो जाता है। परन्तु वेद कहता है कि – मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि।**12** अर्थात् मनुष्यों में अमर जीवात्मा विद्यमान है। जहाँ तक जीवात्मा के पाप-पुण्य भोगने की बात है, वहाँ भी चार्वाक का मत वेद विरुद्ध है। वेद के अनुसार – जीवात्मा भोक्ता रूप में सांसारिक विषयों का भोग करता है।**13** चार्वाक चार महाभूतों को ही स्वीकार करता है। वह प्रत्यक्ष न होने से आकाश को स्वीकार नहीं करता है। उपनिषद् का वचन है-

सर्वेषां वा एष भूतानामाकाशः परायणम् सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव जायन्ते।**14**

चैतन्यविशिष्टदेह ही आत्मा – चार्वाकों का सिद्धान्त है कि –

तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्।**15**

अर्थात् चैतन्यविशिष्टदेह ही आत्मा है, देह से अतिरिक्त आत्मा के विषय में प्रमाण का अभाव होने से। इस शरीर में चारों भूतों के संयोग से जीवात्मा उत्पन्न होकर उन्हीं के वियोग के साथ ही नष्ट हो जाता है। क्योंकि मरने के बाद कोई जीव प्रत्यक्ष नहीं होता।

महर्षि दयानन्द इसके समाधान में कहते हैं कि जो देह से पृथक् आत्मा न हो तो जिसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता होती है, वह देह से पृथक् है। जैसे आँख सबको दोती है पर वह स्वयं को नहीं देख सकती। इसी प्रकार प्रत्यक्ष का करने वाला अपने ऐन्द्रिय का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। जैसे आँख से सब घट-पटादि पदार्थ देखता है वेसे आँख को अपने ज्ञान से देखता है। जो दृष्टा है वह दृष्टा ही रहता है, दृश्य कभी नहीं होता। कठोपनिषद् से इस तथ्य की पुष्टि होती है –

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।**16**

पुरुषार्थ का फल – चार्वाकों के अनुसार सुन्दर स्त्री से आलिङ्गन करना ही पुरुषार्थ का फल है।17

यदि इसे पुरुषार्थ का फल मानते हैं तो इससे क्षणिक सुख और दुःख भी होता है, वह भी पुरुषार्थ का ही फल होगा। जब ऐसा है तो स्वर्ग ही की हानि होने से दुःख भोगना पड़ेगा। जो

कहो कि सुख के बढ़ाने और दुःख के घटाने में प्रयत्न करना चाहिए तो मुक्ति सुख की हानि हो जाती है। इसलिए वह पुरुषार्थ का फल नहीं।18

परलोक– चार्वाक परलोक की धारणा को व्यर्थ मानते हैं। क्योंकि इस लोक के उपस्थित सुख को छोड़कर अनुपस्थित स्वर्ग के सुख की इच्छा कर धूर्त कथित वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड का अनुष्ठान परलोक के लिए करते हैं, वे अज्ञानी हैं। जो परलोक है ही नही, उसकी आशा करना मूर्खता का काम है । क्योंकि-

यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।

कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः।।**19**

यदि इस देह से निकल कर जीव किसी अन्य लोक में जाता है तो वह अपने बन्धुओं के स्नेह के कारण पुनः अपने घर में ही क्यों नहीं आ जाता।

इस सन्दर्भ में चार्वाकों की वेद विरुद्धता पुनर्जन्म के निरुपण के समय ही स्पष्ट कर दी गयी है। महर्षि दयानन्द इस विषयमें कहते हैं कि देह से निकल कर जीव स्थानान्तर और शरीरान्तर को प्राप्त होता है और उसको पूर्वजन्म तथा कुटुबादि का ज्ञान कुछ भी नहीं रहता, इसलिए वह पुनः कुटुब में नहीं आ सकता।20

अग्निहोत्र, वेद, त्रिदण्ड, भस्मगुण्ठन – चार्वाकों के अनुसार-

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।

बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः।।**21**

अग्निहोत्र, वेद, त्रिदण्ड, भस्मगुण्ठन ये सभी बुद्धि एवं पौरुषहीन व्यक्तियों की आजीविका के साधन हैं।

त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भाण्डधूर्तनिशाचराः।

जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्।।**22**

अर्थात् तीनों वेदों के कर्ता भाण्ड, धूर्त और निशाचर हैं तथा जर्फरी-तुर्फरी इत्यादि पण्डितों के धूर्ततायुक्त वचन हैं।

अश्वस्यात्र हि शिश्नन्तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम्।

भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्त्तितम्।।**23**

तथा अश्व के शिश्न को यजमान की पत्नी ग्रहण करे।

मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्।।**24**

मांसाहार प्रतिपादन करने वाला वेद राक्षसों का बनाया हुआ है।

महर्षि दयानन्द के अनुसार अग्निहोत्रादि यज्ञों से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि द्वारा आरोग्यता का होना, उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है।25 उपनिषद् का वाक्य है कि स्वर्ग की कामना के लिए अग्निहोत्र करें –

अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः।**26** तथा –

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्य्युपासते।

एवँ्सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते।।**27**

चार्वाकों द्वारा किया गया त्रिदण्ड तथा भस्मधारण का खण्डन ठीक है। क्योंकि सपूर्ण वैदिक वाङ्मय में स्तुति, प्रार्थना अथवा उपासना की पद्धति में कहीं भी त्रिदण्ड अथवा भस्मधारण क उल्लेख नहीं है। महर्षि दयानन्द कहते हैं कि जो चार्वाकादि ने वेदादि सत्यशास्त्र देखे, सुने वा पढ़े होते तो वेदों की निन्दा कभी न करते कि वेद भांड, धूर्त और निशाचरवत्् पुरुषों ने बनाये हैं, ऐसा वचन कभी न निकालते हाँ। भांड धूर्त निशाचरवत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं, उनकी धूर्तता है, वेदों की नहीं।28

जहाँ तक वेदों के निर्माण का प्रश्न है महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्ति विषय में शतपथ ब्राह्मण के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद को प्रस्तुत किया है –

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।**29**

अर्थात् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे मैत्रेयी! महान् आकाश से भी वृहद् परमेश्वर से ही ऋग्वेदादि वेद्चतुष्टय निःश्वास के समान सहज रूप से निकले हैं, ऐसा मानना चाहिए। जैसे शरीर से उच्छ्वास निकल कर पुनः शरीर में ही प्रवेश कर जाता है, वैसे ही ईश्वर से वेद का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है, ऐसा मानना चाहिए।**30**

भला! विचारना चाहिए कि स्त्री से अश्व के लिङ्ग का ग्रहण कराके उससे समागम कराना और यजमान की कन्या से हाँसी ठट्ठा आदि करना सिवाय वाममार्गी लोगों से अन्य मनुष्यों का काम नहीं है। बिना इन महापापी वाममार्गियों के भ्रष्ट, वेदार्थ से विपरीत, अशुद्ध व्यायान कौन करता? और जो माँस खाना है यह भी उन्हीं वाममार्गी टीकाकारों की लीला है। वेदों में कहीं माँस का खाना नहीं लिखा।**31**

मोक्ष – चार्वाकों के अनुसार देह का नाश होना ही मोक्ष है।32

इस पर महर्षि दयानन्द कहते हैं कि- तो फिर गधे, कुत्ते आदि पशुओं और मनुष्यों में क्या अन्तर रहा।33 अर्थात् वैदिक और दार्शनिक ग्रन्थों में मोक्षप्राप्ति के यम-नियमादि मार्ग बतलाये गये हैं, उनकी कोई प्रासङ्गिकता न रहेगी।

जगत् स्वाभाविक है – चार्वाकों के अनुसार अग्नि उष्ण है, जल शीत है, तथा वायु स्पर्श में सम है। ऐसा इनको किसने बनाया है? अर्थात् किसी ने भी नहीं। इसलिए जगत् के समस्त पदार्थ स्वाभाविक हैं।

अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः।

केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तदव्यवस्थितिः।।**34**

महर्षि दयानन्द इसके समाधान में कहते हैं कि बिना चेतन परमेश्वर के निर्माण किये जड़ पदार्थ स्वयं आपस में स्वभाव से नियमपूर्वक मिलकर उत्पन्न नहीं हो सकते। इस वास्ते सृष्टि का कर्ता अवश्य होना चाहिए। यदि स्वभाव से ही होते तो द्वितीय सूर्य, चन्द्र, पृथिवी और नक्षत्रादि लोक आपसे आप क्यों नहीं बन जाते हैं।**35** इस सन्दर्भ में वेद का कथन है कि वह ईश्वर सत् वस्तुओं का कारण तथा अमूर्त वायु आदि का प्रकाशक है।**36**

वर्ण एवं आश्रम – चार्वाकों के अनुसार न कुछ स्वर्ग है, न अपवर्ग है तथा न ही यह आत्मा दूसरे लोक में जाता है तथा न ही वर्णाश्रम आदि की क्रियाएँ फल देने वाली हैं।

न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।

नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः।।**37**

महर्षि दयानन्द कहते हैं कि स्वर्ग सुख भोग और नरक दुःख भोग का नाम है। जो जीवात्मा न होता तो सुख दुःख का भोक्ता कौन हो सके? जैसे इस समय सुख दुःख का भोक्ता जीव है वैसे परजन्म में भी होता है। क्या सत्यभाषण और परोपकारादि क्रिया भी वर्णाश्रमियों की निष्फल होगी? की नहीं।**38**

सुख दुःख का भोक्ता जीव है, इस तथ्य की पुष्टि उपनिषद् इस प्रसिद्ध मन्त्र से हो जाती है –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।**39**

यज्ञ में पशुबलि – चार्वाक कहते हैं कि ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा हुआ पशु यदि स्वर्ग में जायेगा, ऐसा मानकर यजमान यज्ञ में पशु की हिंसा करता है तो वह अपने पिता को मारकर स्वर्ग में क्यों नहीं भेज देता।

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।

स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते।।**40**

महर्षि दयानन्द इसके समाधान में कहते हैं कि पशु मार के होम करना वेदादि सत्यशास्त्रों में कहीं नहीं लिखा है।41

श्राद्ध एवं तर्पण – चार्वाक कहते हैं कि यदि मृतक प्राणियों का श्राद्ध उन मरे हुए प्राणियों की तृप्ति का कारण है तो कहीं अन्य स्थान पर जाते हुए व्यक्तियों के लिए पाथेय अर्थात् मार्ग के लिए भोज्यादि सामग्री आदि की कल्पना व्यर्थ है। स्वर्ग में स्थित व्यक्ति जब दान से तृप्त हो जाते हैं तब प्रासाद के ऊपरि भाग में स्थित व्यक्ति को नीचे से भोजन क्यों नहीं पहुँचाया जा सकता है। अतः ब्राह्मणों के द्वारा अपनी जीविकोपार्जन के लिए ही मृतकों के लिए ये प्रेतक्रियाएँ बनायी गयी हैं।**42**

इस पर महर्षि दयानन्द का मन्तव्य है कि मृतकों का श्राद्ध, तर्पण करना कपोलकल्पित है क्योंकि यह वेदादि सत्यशास्त्रों के विरुद्ध होने से भागवतादि पुराणवालों का मत है। इसलिए इस बात का खण्डन अखण्डनीय है।**43**

नरक – चार्वाकों के अनुसार काँटे आदि के लगने से होने वाले दुःख का नाम नरक है।**44** इस पर महर्षि दयानन्द कहते हैं कि तो महारोगादि नरक क्यों नहीं।**45** अर्थात् लोक में और भी बड़े-बड़े दुःख दिखायी देते हैं। उन सबको नरक मानना चाहिए।

परमेश्वर – चार्वाकों की मान्यता है कि लोकसिद्ध राजा ही परमेश्वर है।**46**

इस पर महर्षि दयानन्द कहते हैं कि राजा को ऐश्वर्यवान् और प्रजापालन में समर्थ होने से श्रेष्ठ माने तो ठीक है, परन्तु जो अन्यायकारी और पापी राजा हो तो उसको भी परमेश्वर के समान मानते हो तो तुहारे जैसा कोईाी मूर्ख नहीं।**47**

अतः स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द द्वारा सत्यार्थप्रकाश के बारहवें समुल्लास में चार्वाक दर्शन के सपूर्ण सिद्धान्तों को स्पष्ट किया गया है तथा साथ ही प्रसिद्ध दार्शनिक गन्थ सर्वदर्शन संग्रह के उद्धरणों को प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया गया है। महर्षि दयानन्द द्वारा चार्वाक दर्शन के सिद्धान्तों के सबन्ध में दोनों ही प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं। वे चार्वाक दर्शन के कुछ मतों का समर्थन करते हैं तथा कुछ मतों का विरोध भी। परन्तु यहाँ समर्थन अथवा विरोध का एकमात्र कारण चार्वाकों के सिद्धान्तों की वेदानुकूलता है। चार्वाकों के जो मत वेदानुकूल हैं, महर्षि दयानन्द उनका समर्थन करते हैं तथा जो वेदानुकूल नहीं हैं, उनका विरोध। चार्वाकों के त्रिदण्ड, भस्मगुण्ठन, यज्ञ में पशुबलि तथा श्राद्ध एवं तर्पण विषयक विचारों का महर्षि दयानन्द समर्थन नहीं करते हैं। वस्तुतः ये सभी मत वेदविरुद्ध हैं। त्रिदण्ड एवं भस्मगुण्ठन का विधान किसी भी वैदिक यज्ञ अथवा विधान में नहीं है तथा न ही इनकी दैनिक जीवन में कोई उपयोगिता दिखायी देती है। जहाँ तक यज्ञ में पशुबलि का प्रश्न है, इसका भी कहीं वेद में समर्थन नहीं मिलता। परन्तु कुछ वेद के भाष्यकार ऐसे भी हुए जिन्होंने वेदमन्त्रों से यज्ञ में पशुबलि को सिद्ध किया। अतः यह दोष उन तथाकथित वेदभाष्यकारों का है, न कि वेद का। यहीं स्थिति श्राद्ध एवं तर्पण के विषय में है। ये दोनों ही जीवित व्यक्तियों के सन्दर्भ में हैं। परन्तु कालान्तर में जनमानस पर पोराणिक प्रभाव के कारण कुछ कर्मकाण्डियों ने इन्हें अपनी जीविका का साधन बना लिया। चार्वाकों ने वेदों का अध्ययन तो किया नहीं, अपितु उन्होंने महीधरादि वेदभाष्यकारों तथा पौराणिकों द्वारा यज्ञादि के नाम से समाज में प्रचलित किये गये पाखण्ड को वेद से जोड़ दिया तथा वेद की निन्दा करने लगे।

इसके अतिरिक्त महर्षिदयानन्द ने चार्वाक दर्शन के पुनर्जन्म का सिद्धान्त, शरीर में चार महाभूतों के योग से चैतन्य-उत्पत्ति, चैतन्यविशिष्टदेह ही आत्मा, पुरुषार्थ का फल, परलोक,

अग्निहोत्र, वेद, मोक्ष, जगत् स्वाभाविक है, वर्ण एवं आश्रम, नरक तथा परमेश्वर विषयक सिद्धान्तों का खण्डन किया है। खण्डन का सपूर्ण आधार वेद है, जैसा कि प्रस्तुत शोध-पत्र में प्रत्येक स्थल पर प्रदर्शित किया गया है। अन्त में महर्षि दयानन्द के ही शदों में- जो वाममार्गियों ने मिथ्या कपोलकल्पना करके वेदों के नाम से अपना प्रयोजन सिद्ध करना अर्थात् यथेष्ट मद्यपान, माँस खाने और परस्त्री गमन करने आदि दुष्ट कामों की प्रवृत्ति होने के अर्थ वेदों को कलङ्क लगाया, इन्हीं बातों को देखकर चार्वाक, बौद्ध तथा जैन लोग वेदों की निन्दा करने लगे और पृथक् एक वेदविरुद्ध अनीश्वरवादी अर्थात् नास्तिक मत चला लिया। जो चार्वाकादि वेदों का मूलार्थ विचारते तो झूठी टीकाओं को देखकर सत्य वेदोक्त मत से क्यों हाथ धो बैठते? क्या करे बिचारे 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः'। जब नष्ट भ्रष्ट होने का समय आता है तब मनुष्य की उल्टी बुद्धि हो जाती है।**48**

सन्दर्भ –

1. चार्वाकसमीक्षा, पृ. 6
2. सर्वदर्शनसंग्रह पृ. 2, पंक्ति 17-18
3. वही पृ. 14, पं. 122-123
4. सत्यार्थ प्रकाश पृ. 291 आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली -6,65 वाँसंस्करण, नवबर 2007
5. असुं स ईयुरवृका ऋतज्ञाः। ऋग्वेद 10.15.1

6 को नो मह्या अदितये पुनर्दात्। वही 1.24.1

7 पितरं च दृशेयं मातरं च। वही 1.24.1

8 कठोपनिषद् 1.1.6

9 वही 2.4.7

10 अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः। सर्वदर्शनसंग्रह पृ. 7, पंक्ति 60

11 तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि। तेय एव देहाकारपरिणतेयः किण्वादियो मदशक्तिवच्चैतन्य-मुपजायते। तेषु विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति।

वही पृ. 2-3, पंक्ति 23-25

12 ऋग्वेद 10.45.7

13 अथर्ववेद 10.8.21

14 नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् 3.5

15 सर्वदर्शनसंग्रह पृ.3, पं. 27-28

16 कठोपनिषद् 3.12

17 अङ्गनाद्यालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः। सर्वदर्शनसंग्रह पृ. 3, पं. 29-30

18 सत्यार्थप्रकाश, पृ. 289

19 सर्वदर्शनसंग्रह पृ. 14, पं. 124-125

20 सत्यार्थप्रकाश, पृ.291

21 सर्वदर्शनसंग्रह पृ. 5, पं. 50-51

22 वही पृ. 14, पं. 128-129

23 वही पृ. 15, पं. 130-131

24 वही पृ. 15, पं. 132

25 सत्यार्थप्रकाश, पृ. 289

26 मैत्रायण्युपनिषद् 6.36

27 छान्दोग्योपनिषद् 5.24.5

28 सत्यार्थप्रकाश पृ. 289

29 श. का. 14, अ. 5 (ब्रा. 4, क. 10)

30 याज्ञवल्क्योऽभिवदति – हे मैत्रेयी! महत आकाशादपि बृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशादृग्वेदादिवेदचतुष्टयं (निःश्वसित) निःश्वासवत्सहजतया निःसृतमस्तीति वेद्यम्। यथा शरीराच्छ्वासो निःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशति तथैवेश्वराद्वेदानां प्रादुर्भावतिरो-भावौ भवतः इति निश्चयः। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोत्पत्तिविषय 3

31 सत्यार्थप्रकाश, पृ. 291-292

32 देहोच्छेदो मोक्षः। सर्वदर्शनसंग्रह पृ.6,पं. 53

33 सत्यार्थप्रकाश, पृ. 289

34 सर्वदर्शनसंग्रह पृ. 13,पं. 110-111

35 सत्यार्थप्रकाश, पृ. 291

36 सतश्च योनिमसतश्च वि वः। यजुर्वेद 13.3

37 सर्वदर्शनसंग्रह पृ. 13, पं. 114-115

38 सत्यार्थप्रकाश, पृ. 291

39 श्वेताश्वतरोपनिषद् 4.6

40 सर्वदर्शनसंग्रह पृ. 13, पं. 114-115

41 सत्यार्थप्रकाश पृ. 291

42 मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।

गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्।।

स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।

प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते।।

ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।

मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित्।। सर्वदर्शनसंग्रह पृ. 13-14, पं. 116, 118, 120, 121, 126, 127

43 सत्यार्थप्रकाश, पृ. 291

44 कण्टकादिजन्यं दुःखमेव नरकः। सर्वदर्शनसंग्रह पृ. 6, पं. 52

45 सत्यार्थप्रकाश, पृ. 289

46 लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः। वही पृ. 6, पं. 52-53

47 सत्यार्थप्रकाश, पृ. 289

48 वही, पृ. 292

सन्दर्भ ग्रन्थ –

1 अथर्ववेद, भाष्यकार – क्षेमकरणदास त्रिवेदी, आर्य प्रकाशन, दिल्ली, 2007

2 उपनिषद् संग्रह – सं. – पं. जगदीश शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1980

3 ऋग्वेद, भाष्यकार – महर्षि दयानन्द सरस्वती, आर्य प्रकाशन, दिल्ली, 2005

4 ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका – महर्षि दयानन्द सरस्वती, दिल्ली

5 चार्वाकसमीक्षा – स्वामी कृष्णानन्द सरस्वती, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, 1964

6 सत्यार्थप्रकाश – महर्षि दयानन्द सरस्वती, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 65 वाँ संस्करण, नवबर 2007

7 सर्वदर्शनसंग्रह – सायण-माधव, प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर, पुना, 1924

8 यजुर्वेद, भाष्यकार – महर्षि दयानन्द सरस्वती, आर्य प्रकाशन, दिल्ली, 2006

– सहायक आचार्य, पंजाब विश्वविद्यालय, विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत एवं भारत-भारती अनुशीलन संस्थान, होशियारपुर

‘प्रातः व सायं संन्ध्या करना सभी मनुष्यों का मुख्य धर्म’ -मनमोहन कुमार आर्य

NOVEMBER 17, 2015 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

प्रतिदिन प्रातः व सायं सूर्योदय व सूर्यास्त होता हैं। यह किसके ज्ञान व शक्ति से होता है? उसे जानकर उसका ध्यान करना सभी प्राणियों मुख्यतः मनुष्यों का धर्म है। यह मनुष्य का धर्म क्यों है, इसलिए है कि सूर्योदय व सूर्यास्त करने वाली सत्ता से सभी प्राणियों को लाभ पहुंच रहा है। जो हम सबको लाभ पहुंचा रहा है उसके प्रति कृतज्ञ होना निर्विवाद रूप से कर्तव्य वा धर्म है। यदि सूर्योदय व सूर्यास्त होना बन्द हो जाये तो हमारी क्या दशा व स्थिति होगी, इस पर हमें विचार करना चाहिये। ऐसा होगा नहीं, परन्तु यदि सूर्योदय होना बन्द हो जाये तो हमारा जीवन दूभर हो जायेगा। एक स्थान पर यदि दिन है तो वहां दिन ही रहेगा और रात्रि व सायं का समय है तो वहां हमेशा अर्थात् प्रलय काल तक वैसा ही रहेगा जिससे मनुष्यों का जीवन किंचित आगे चल नहीं सकता। वैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा होने पर संसार की प्रलय हो जायेगी और सब कुछ नष्ट हो जायेगा। यह तो हमने एक ही दृष्टि से विचार किया परन्तु यदि हम सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर वनस्पति व प्राणी जगत की उत्पत्ति तक के, सृष्टि के सभी अपौरूषेय कार्यों पर विचार करें तो हमें इस सृष्टि को बनाने, चलाने, वनस्पति व प्राणी जगत को उत्पन्न करने, सृष्टि की आदि में वेद ज्ञान देने, समय पर ऋतु परिवर्तन करने, सृष्टि में मनुष्यों व अन्य प्राणियों के नाना प्रकार के सुख वा भोग के पदार्थ बनाकर बिना किसी मूल्य के हमें देने के लिए हमें स्रष्टा ईश्वर का ऋणी तो होना ही है। इस ऋण को चुकाने के लिए हमारे पास अपनी कोई वस्तु नहीं है जिसे ईश्वर को देकर हम उऋण हो सकते हों। इसके लिए तो बस हमें ईश्वर की प्रतिदिन प्रातः व सायं स्तुति, प्रार्थना व उपासना ही करनी है। ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना की सत्य व लाभकारी विधि चार वेद व वैदिक साहित्य में ही मिलती है जिसके आधार पर महर्षि दयानन्द ने ईश्वर उपासना के लिए ‘‘सन्ध्या पद्धति’’ का निर्माण कर हमें प्रदान की है। यदि हम इस विधि से ईश्वर का ध्यान न कर अन्य प्रचलित पद्धतियों को अपनाते हैं, तो हमारा मानना है कि इससे हमें वह लाभ नहीं होगा जो कि वैदिक सन्ध्या पद्धति से ईश्वर की

स्तुति, प्रार्थना उपासना करने से होता है। अतः अन्य पद्धतियां हमारे लिए लाभकारी कम हानिकारक अधिक सिद्ध होंगी।

सन्ध्या क्या है? यह ईश्वर के स्वरूप का चिन्तन करते हुए उसके द्वारा हमारे निमित्त किये गये सभी उपकारों को स्मरण करना और उसकी स्तुति अर्थात् उसके सत्य गुणों का वर्णन करते हुए उससे ज्ञान, सद्बुद्धि, सद्गुणों, स्वास्थ्य, बल, ऐश्वर्य आदि की प्रार्थना करना और साथ हि सभी उपकारों के लिए उसका धन्यवाद करना है। यह सन्ध्या व ईश्वर का सम्यक् ध्यान सूर्योदय से पूर्व व सायं सूर्यास्त व उसके बाद लगभग 1 घंटा व अधिक करने का विधान है। इसके लिए सभी दिशा निर्देश महर्षि दयानन्द ने 'पंचमहायज्ञ विधि' पुस्तक में किये हैं। सन्ध्या में ईश्वर का ध्यान करने से मनुष्य की आत्मा व उसके स्वभाव के दोष दूर होकर ईश्वर के समान गुण, कर्म व स्वभाव सुधरते व बनते हैं। ईश्वर सकल ऐश्वर्य सम्पन्न है, अतः सन्ध्या करने से जीवात्मा वा मनुष्य भी अपनी अपनी पात्रता के अनुसार ईश्वर द्वारा ऐश्वर्यसम्पन्न किया जाता है। अतः ऐश्वर्य की प्राप्ति के लीिए सभी मनुष्यों को प्रतिदिन सन्ध्या अवश्य ही करनी चाहिये। यदि सन्ध्या नहीं करेंगे तो हम कृतघ्न ठहरेंगे और यह कृतघ्नता महापातक वा महापाप होने से किसी भी अवस्था में मननशील व बुद्धिजीवी मनुष्य के लिए करने योग्य नहीं है। आप कल्पना कर सकते हैं कि यदि ईश्वर एक क्षण भी अपने कर्तव्य कर्मों में किंचित असावधानी व व्यवधान पैदा कर दे, तो सारे संसार में प्रलय की स्थिति आ जायेगी। ऐसी अवस्था में उस अपने प्रियतम ईश्वर के प्रति अपने कर्तव्य ''सन्ध्या" का आचरण न करना घोर अवज्ञा, कृतघ्नता और दण्डनीय कार्य हो जाता है। इससे सभी को बचना चाहिये।

सन्ध्या के लिए यदि हमें किसी महापुरुष का उदाहरण लेना हो तो हम कौशल्या-दशरथ नन्दन मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम, देवकी-वसुदेव नन्दन योगेश्वर श्री कृष्ण व कर्षनजी तिवारी के पुत्र महर्षि दयानन्द सरस्वती को ले सकते हैं। यह तीनों ईश्वर भक्त व उपासक थे। इनका जीवन पूर्णतया ईश्वरीय ज्ञान वेद की पालना में ही व्यतीत हुआ है। आज तक भी इनका यश है जबकि सृष्टि में विगत समय में अगणित मनुष्यों का जन्म व मृत्यु हो चुका है जिनका नाम किसी को स्मरण नहीं। हमें लगता है कि विस्मृत महापुरूषों के जीवनों के अतिरिक्त यह तीनों ही महापुरूष मानवता के सच्चे आदर्श व मुक्तिगामी महापुरूष थे। यदि हम इनका अनुकरण करेंगे तो हमारा जीवन भी इनके अनुरूप ही यशस्वी व सफल होगा अन्यथा हम भी एक सामान्य व साधारण मनुष्य की तरह कालकवलित होकर विस्मृत हो जायेंगे। इन महापुरूषों का अनुकरण करने के लिए हमें वेद व योगदर्शन सहित समस्त वैदिक साहित्य, बाल्मिकी रामायण, महाभारत, गीता, महर्षि दयानन्द जी के पं. लेखराम, पं. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, स्वामी सत्यानन्द रचित जीवन चरित्र व सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि, आर्याभिविनय आदि उनके ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये। इस अध्ययन से मनुष्य ईश्वर व जीवात्मा का ज्ञान प्राप्त कर अभ्युदय व निःश्रेयस प्राप्त कराने वाली जीवन शैली को प्राप्त कर, निःशंक एवं निभ्र्रान्त होकर, मनुष्य जीवन को सफल कर सकता है।

जिस परिवार में वैदिक पद्धति से नियमित सन्ध्या होगी वह परिवार आजकल के प्रदूषित सामाजिक वातवारण में भी सच्चा आस्तिक परिवार होगा और उसमें अन्यों की तुलना में सुख, शान्ति व कल्याण की स्थिति अधिक अच्छी होगी। माता-पिता व वृद्ध जन अपने छोटो को सुशिक्षित करने के लिए प्रयत्नरत रहेंगे और इस प्रकार से निर्मित संस्कारित सन्तानें भी माता-पिता व परिवार के वृद्धों के प्रति अपने कर्तव्यों को जानकर उनकी सेवा श्रुशुषा करेंगीं। आजकल के समाज की भांति माता-पिता व सन्तानों के विचारों में जीवन शैली के प्रति मत-भिन्नता व बिखराव नहीं होगा। सन्ध्या के अन्त में उपासक ध्याता ईश्वर को समर्पण करते हुए कहता है कि 'हे ईश्वर दयानिधे ! भवत्कृपयानेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः।' अर्थात् 'हे परमेश्वर दयानिधे ! आपकी कृपा से जप और उपासना आदि कर्मों को करके हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को शीघ्र प्राप्त होवें।' सन्ध्या करने से होने वाले अनेक लाभों में से एक लाभ आत्मा को ईश्वर का साक्षात्कार होना है। महर्षि दयानन्द ने स्वानुभूत विवरण देते हुए बताया है कि जब जीवात्मा शुद्ध (अविद्या, दुर्गुण व दुव्यस्नों से मुक्त) होकर परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उस को उसी समय दोनों, ईश्वर व आत्मा, प्रत्यक्ष होते है। सन्ध्या से हमारा जीवन व आचरण श्रेष्ठ बनेगा, हम आर्थिक रूप से सुखी व समृद्ध होंगे और इससे हम अपने सभी सत्य स्वप्नों, कामनाओं व इच्छाओं को पूर्ण कर सकेंगे, साथ ही मृत्यु के बाद बार-बार जन्म व मृत्यु के बन्धन से भी छूट जायेंगे।

वैदिक धर्म में मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति है। जीवात्मा के इस मोक्ष की किसी भी मत में तार्किक चर्चा नहीं है। यह केवल वैदिक व आर्य धर्म में ही है जिसे तर्क व युक्तियों से महर्षि दयानन्द सहित उनके पूर्ववर्ती दर्शनकारों ने सिद्ध किया है। वेदों में भी इसकी चर्चा है। मोक्ष का ही अन्य नाम ''अमृत" है। अमृत का अर्थ है मृत्यु को प्राप्त न होने वाला वा मृत्यु से छूट जाने वाला। वैदिक धर्म व जीवन पद्धति पर चलकर ही मनुष्य को अमृत व मोक्ष की प्राप्ति होती है जिससे वह सदा-सदा के लिए जन्म-मरण रूपी दुःखों व कर्मों के बन्धनों से छूट जाता है। आईये, वैदिक धर्म की शरण लें और ईश्वर की सन्ध्या सहित अन्य उपादेय यज्ञ आदि अनुष्ठानों को करके धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति कर उसे सिद्ध करें।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196 चुक्खूवाला-2**

देहरादून-248001

फोनः**09412985121**

क्यों माने ईश्वर को?' -मनमोहन कुमार आर्य

NOVEMBER 16, 2015 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

ईश्वर को क्यों माने? यह प्रश्न किसी भी मननशील मनुष्य के मस्तिष्क में आ सकता है। वह अपनी बुद्धि के अनुसार विचार करेगा और हो सकता है कि उसे कोई सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त न हो। यदि वह अपने परिवार व मित्रों से इसकी चर्चा करेगा तो सबके उत्तर अलग-अलग होंगे। सभी मतों व सम्प्रदायों के विचार व उत्तर, परस्पर वैचारिक समानता न होने के कारण, अलग-अलग होंगे, यह निश्चित है। अब जिज्ञासु मनुष्य को उन सभी विचारों व मान्यताओं पर विचार कर निर्णय करना होगा। हमें लगता है कि उसे जो भी उत्तर प्राप्त होंगे या तो वह गलत होंगे या अधूरे होंगे जिससे जिज्ञासु प्रवृत्ति के विवेकशील मनुष्य का समाधान नहीं हो सकेगा। उसके पास एक ही मार्ग शेष रहता है कि वह किसी वेद या आर्य विद्वान की शरण ले और उससे इस प्रश्न की चर्चा करे, तो अनुमान है कि उसका पूरा समाधान अवश्य ही होगा। इसका कारण यह है कि वेद व आर्य विद्वानों के पास ईश्वर प्रदत्त ज्ञान वेद का प्रकाश है। इन वैदिक आर्य विद्वानों में ईश्वर की विशेष कृपा भी होती है जो कि सम्भवतः अन्य मतों के विद्वानों व अनुयायियों में नहीं देखी जाती जबकि उनके दावे बड़े-बड़े होते हैं। विभिन्न मतों के आचार्यों व उनके अनुयायियों के ईश्वर सम्बन्धी किए जाने वाले दावो में उनकी अज्ञानता छिपी हुई दिखाई देती है। सत्य व असत्य का जैसा विश्लेषण व समीक्षा वेद व आर्य विद्वान करते हैं, वैसी समीक्षा व विश्लेषण अन्य किसी मत में नहीं किया जता है। यही कारण है कि वेदभक्त आर्यों को ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होने के साथ उन्हें ईश्वर के मानने से लाभ व न मानने से होने वाली हानियों का भी पूरा-पूरा ज्ञान होता है।

हम एक पौराणिक मान्यता व विश्वास वाले परिवार में जन्में और अपनी आयु के 18 से 20 वर्षों तक हम अपने सभी धामिर्क कार्य यथा पूजा-उपासना आदि पौराणिक रीति के अनुसार ही करते थे। एक युवा सज्जन विद्वान मित्र की प्रेरणा से हमें आर्यसमाज का परिचय मिला जो हमें रविवार के अवकाश के दिन खाली समय में वहां धुमाने ले जाने लगे। हमने वहां विद्वानों के प्रवचनों को सुना और समाज-मन्दिर में उपलब्ध सत्यार्थ प्रकाश आदि वैदिक साहित्य को लेकर पढ़ा। आर्यसमाज के विद्वानों के तर्क पूर्ण प्रवचनों और सत्यार्थप्रकाश की बुद्धि व तर्क पूर्ण मान्यताओं को पढ़कर उन विचारों व मान्यताओं का हमारे मन व मस्तिष्क पर धीरे-धीरे प्रभाव होने लगा। अब विचार करने पर हमें अपनी जन्मना पौराणिक मान्यताओं की सत्यता के सन्तोषप्रद समाधान नहीं मिले और आर्यसमाज की वेदमूलक मान्यताओं की सत्यता की साक्षी व पुष्टि हमारा मन-मस्तिष्क व हृदय करने लगा। फिर जो होना था वही हुआ। हमने आर्यसमाज की सदस्यता का फार्म लेकर भर दिया और आर्यसमाज के साप्ताहिक यज्ञ व सत्संगों में वहां जाने लगे। हर बार वहां से किसी नये धार्मिक विषय की पुस्तक ले आते जिसे पढ़कर उस विषय का ज्ञान हो जाता था। वेद व आर्यसमाज की मान्यताओं को हम अपने पौराणिक तर्कों से काटना चाहते थे, परन्तु हमारे पास तर्क होते ही नहीं थे। अतः वैदिक विचारों ने हमारे पौराणिक विचारों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली जिसका परिणाम है कि हम विगत 40 से 45 वर्षों से मन व आत्मा से आर्यसमाज की विचारधारा से जुड़े हुए हैं।

ईश्वर को मानना व न मानना हमारी निजी सोच पर निर्भर होता है। संसार में बहुत से लोग हैं जो ईश्वर को नहीं मानते। उन्हें साम्यवादी कह सकते हैं। यह बात अलग है कि बंगाल व अन्यत्र रहने वाले हमारे भारत के साम्यवादी व उनके कुटुम्बी दुर्गापूजा आदि जैसे नाना

प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान भी करते हैं। जो लोग ईश्वर को बिल्कुल नहीं मानते और जो विदू्रप ईश्वर पूजा को मानते व करते हैं, उसके पीछे सबसे बड़ा कारण यह है कि वह न तो स्वयं आत्मचिन्तन करते हैं और न ही ईश्वर व जीवात्मा विषयक सर्वाधिक प्रमाणिक वैदिक साहित्य को पढ़ते हैं। यदि यह लोग उपनिषद ही पढ़ ले तो ईश्वर के स्वरूप से परिचित हो सकते हैं। उपनिषदें यद्यपि संस्कृत भाषा में है परन्तु इनके हिन्दी सहित अनेक भाषाओं में भाष्य व अनुवाद उपलब्ध हैं। ईश्वर व जीवात्मा के स्वरूप और संसार की रचना की पहेली के यथार्थ रहस्य को जानने के लिए ''सत्यार्थप्रकाश" ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में ईश्वर की सत्ता को तर्क व युक्ति से समझाया गया है।

सत्यार्थ प्रकाश के सातवें समुल्लास में महर्षि दयानन्द जी ने प्रश्न प्रस्तुत किया है कि आप ईश्वर–ईश्वर कहते हो, परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो? इसका उत्तर देते हुए वह कहते हैं कि सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से। फिर वह प्रश्न प्रस्तुत करते हैं कि ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते। इसके उत्तर में वह न्यायदर्शन का सूत्र ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।" प्रस्तुत करते हैं और बताते हैं कि श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख, दुःख, सत्यासत्य विषयों के साथ जो सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु वह निर्भ्रम हो। अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उस का आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचनाविशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है। और जब आत्मा, मन और इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा, ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाते हैं। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशकता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से (होता) है। और जब जीवात्मा शुद्ध होकर परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उस को उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का (शुद्ध हृदय से विचार व ध्यान करने पर) प्रत्यक्ष होता है अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है? क्योंकि कार्य को देख के कारण का अनुमान होता है। हमने इन पंक्तियों में महर्षि दयानन्द के विचारों की कुछ झलक प्रस्तुत की है। विस्तार से जानने के लिए जिज्ञासुओं को सत्यार्थ प्रकाश का गहन अध्ययन करना चाहिये। हमारा अनुमान है कि बार-बार सत्यार्थ प्रकाश के अध्ययन से अध्येता को ईश्वर के बारे में निभ्र्रान्त ज्ञान अवश्य हो जाता है।

ईश्वर है और उसी ने इस सृष्टि को बनाया है तथा वही इसका संचालन कर रहा है। उसी से, जन्म के बाद मृत्यु की भांति, संसार की प्रलय होती है व आगे चलकर इस सृष्टि की भी होगी। उसी परमात्मा से सभी प्राणी अस्तित्व में आते हैं और अपने कर्मानुसार सुख-दुःख रूपी फलों का भोग करते हैं। इस सन्दर्भ में हम यह निवेदन करना चाहते हैं कि संसार के किसी वैज्ञानिक, मत-पन्थ के आचार्य व अन्य के पास सृष्टि और सभी प्राणियों के जन्मदाता का बुद्धिसंगत निर्भान्त ज्ञान व उत्तर उपलब्ध नहीं है। यह केवल वेद और वैदिक साहित्य में

ही उपलब्ध होता है। अभी तक ईश्वर व जीवात्मा विषयक वेद, दर्शन, उपनिषद व सत्यार्थ प्रकाश आदि किसी ग्रन्थ की मान्यताओं व सिद्धान्तों का किसी वैज्ञानिक व नास्तिक विद्वान ने युक्ति व तर्कपूर्वक खण्डन नहीं किया है। अतः ईश्वर व जीवात्मा के अस्तित्व विषयक अन्य कोई सन्तोषजनक पक्ष न होने के कारण सभी मनुष्यों को वेदसम्मत ईश्वर को मानने में ही कल्याण है। ईश्वर है, यदि उसे मानेंगे तो ईश्वर को मानने से मिलने वाले लाभों से समृद्ध होंगे और यदि नहीं मानेंगे तो उन लाभों से वंचित हो जायेंगे। कुछ क्षण के लिए यदि इस मिथ्या मान्यता को भी स्वीकार कर लें कि ईश्वर नहीं है, तो भी ईश्वर को मानने से हमें कोई हानि नहीं होगी। क्योंकि जब वह है हि नहीं तो हानि होने का प्रश्न ही नहीं है। परन्तु यदि ईश्वर है और हम उसे नहीं मानेंगे तो हानि होना निश्चित है। अतः दोनों ही स्थितियों में ईश्वर को मानने में ही मनुष्य को लाभ है।

ईश्वर को मानने से क्या लाभ हैं? पहला लाभ तो यह है कि ईश्वर को जानने व मानने तथा उसकी स्तुति प्रार्थना व उपासना करने से जीवात्मा के बुरे गुण-कर्म-स्वभाव छूट कर ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुरूप, शुद्ध व पवित्र, हो जाते हैं। आत्मा का बल इतना बढ़ता है कि जिससे दुःखों की निवृत्ति होने के साथ सभी प्रकार के भय दूर होते हैं। मृत्यु का भय भी समाप्त हो जाता है। अभ्युदय व निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। मनुष्य को स्वस्थ जीवन का लाभ होने के साथ सुख व समृद्धि सहित धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की उपलब्धि होती है। इसके विपरीत ईश्वर को न मानने पर मनुष्य इन अधिकांश लाभों से वंचित हो जाता है। उसे केवल अपने सत्यासत्य कर्मों के फल ही ईश्वर की व्यवस्था से प्राप्त होते हैं। ईश्वर से जो सत्प्रेरणायें जीवात्माओं को प्राप्त होती है उसका अनुभव अधार्मिक नास्तिक लोग नहीं कर पाते। असली सहिष्णुता ईश्वर को मानने वाले धार्मिक लोगों में ही पायी जाती है। ईश्वर के सच्चे स्वरूप को न जानने व मानने वाले लोग सहिष्णुता का दिखावा करते हैं, वह सहिष्णुता के मूल स्वभाव व चरित्र से कोशों दूर होते हैं। जीवात्मा अनादि, अनुत्पन्न, नित्य, अविनाशी व अमर है। इसका पुनर्जन्म सुनिश्चित व अवश्यम्भावी है जो जीवात्मा के कर्मानुसार ईश्वर द्वारा दिया जाता है। यदि ईश्वर को नहीं मानेंगे तो हमारा आगामी जीवन बिगड़ेगा अर्थात् निम्न व नीच योनियों में जन्म लेकर दीर्घ अवधि तक दुःखों को भोगना ही होगा। ईश्वर को मान कर और उसकी वैदिक विधि से स्तुति-प्रार्थना उपासना कर नास्तिकों व अर्धनास्तिक मत-पन्थ के अनुयायियों को होने वाली हानियों से बचा जा सकता है। हम आशा करते हैं कि यह लेख पाठकों को उपयोगी होगा।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून**-248001**

फोनः**09412985121**

सृष्टि की उत्पत्ति किससे, कब व क्यों? -मनमोहन कुमार आर्य

NOVEMBER 15, 2015 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

हम जिस संसार में रहते हैं वह हमें बना बनाया मिला है। हमारे जन्म से पूर्व इस संसार में हमारे माता-पिता व पूर्वज रहते आयें हैं। न तो हमें हमारे माता-पिता से और न हमें अपने अध्यापकों व विद्यालीय पुस्तकों में इस बात का सत्य ज्ञान प्राप्त हुआ कि यह संसार कब, किसने व क्यों बनाया है। क्या यह प्रश्न महत्वहीन है, या फिर इसका ज्ञान संसार में किसी को है ही नहीं? हमें दूसरा प्रश्न ही कुछ सीमा तक उचित प्रतीत होता है। यदि इन प्रश्नों के उत्तर हमारे वैज्ञानिकों, विद्वानों वा अध्यापकों आदि के पास होते तो वह निश्चय ही इसका प्रचार करते। अध्ययन करने पर इसका मुख्य कारण ज्ञात होता है कि विगत 5 हजार वर्षों में हमारे देश के लोगों ने वेद और वैदिक साहित्य का सत्य वेदार्थ प़द्धति से अध्ययन करना छोड़ दिया जिस कारण मनुष्य न केवल इन प्रश्नों के उत्तर से ही वंचित व अनभिज्ञ हो गया अपितु ईश्वर व जीवात्मा आदि के सच्चे ज्ञान से भी दूर होकर अज्ञान, अन्धविश्वासों और कुरीतियों से ग्रसित हो गया। यही स्थिति महर्षि दयानन्द के 12 फरवरी, 1825 को गुजरात के टंकारा नामक स्थान पर जन्म के समय भी थी परन्तु उनमें इन प्रश्नों को जानने की जिज्ञासा थी और इसके लिए अपना जीवन लगाने का जज्बा भी उनमें था। उन्होंने घर के सभी सुखों का त्याग कर इस संसार के सत्य रहस्यों को जानने का निश्चय किया और विद्वानों की संगति व सेवा में जाकर जिससे जितना व जो भी ज्ञान प्राप्त हो सकता था, उसे प्राप्त किया। स्वामी दयानन्द ने किसी एक ही व्यक्ति को अपना गुरू बनाकर सन्तोष नहीं किया अपितु देश में सर्वत्र घूम कर जिससे जहां जो भी ज्ञान मिला उसे अपनी बुद्धि व स्मृति में स्थान दिया जिसका परिणाम हुआ कि अनेक विद्वानों के सम्पर्क में आकर वह शून्य से आरम्भ होकर अनन्त ज्ञान वेद व ईश्वर तक पहुंचे और सभी जिज्ञासाओं, प्रश्नों, शंकाओं व भ्रान्तियों के उत्तर प्राप्त किये और उससे सारे संसार को भी आलोकित व लाभान्वित किया। मथुरा के गुरू प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द का तीन वर्ष शिष्यत्व प्राप्त कर उनसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर वह सन्तुष्ट हुए थे।

सृष्टि की रचना व उत्पत्ति के प्रसंग में यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि संसार में कोई भी रचना व उत्पत्ति बिना कर्त्ता के नहीं होती। इसके साथ यह भी महत्वपर्ण तथ्य है कि कर्ता को अपने कार्य का पूर्ण ज्ञान होने के साथ उसको सम्पादित करने के लिए पर्याप्त शक्ति वा बल भी होना चाहिये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह सृष्टि एक कर्ता जो ज्ञान व बल से युक्त है, उसी से बनी है। वह स्रष्टा कौन है? संसार में ऐसी कोई सत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती जिसे इस सृष्टि की रचना का अधिष्ठाता, रचयिता व उत्पत्तिकर्ता कहा व माना जा सके। अतः यह सुनिश्चित होता है कि वह सत्ता है तो अवश्य परन्तु वह अदृश्य सत्ता है। क्या संसार में कोई अदृश्य सत्ता ऐसी हो सकती है जिससे यह सृष्टि बनी है? इस पर विचार करने पर हमारा ध्यान स्वयं अपनी आत्मा की ओर जाता है। हम एक ज्ञानवान चेतन तत्व वा पदार्थ है जो शक्ति वा बल

से युक्त हैं। हमने स्वयं को आज तक नहीं देखा। हम जो, इस शरीर में रहते हैं व इस शरीर के द्वारा अनेक कार्यों को सम्पादित करते हैं, वह आकार, रंग व रूप में कैसा है? हम अपने को ही क्यों ले, हम अन्य असंख्य प्राणियों को भी देखते है परन्तु उनके शरीर से ही अनुमान करते हैं कि इनके शरीरों में एक जीवात्मा है जिसके कारण इनका शरीर कार्य कर रहा है। इस जीवात्मा के माता के गर्भ में शरीर से संयुक्त होने और संसार में आने पर जन्म होता है और जिस चेतन जीवात्मा के निकल जाने पर ही यह शरीर मृतक का शव कहलाता है। हम यह भी जानते हैं कि सभी प्राणियों के शरीरों में रहने वाला जीवात्मा आकार में अत्यन्त अल्प परिणाम वाला है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इसका अस्तित्व होकर भी यह दिखाई नहीं देता है। अतः संसार में हमारी इस आत्मा की ही भांति जीवात्मा से सर्वथा भिन्न एक अन्य शक्ति, निराकार स्वरूप और सर्वव्यापक, चेतन पदार्थ, आनन्द व सुखों से युक्त, ज्ञान-बल-शक्ति की पराकाष्ठा से परिपूर्ण, सूक्ष्म जड़ प्रकृति की नियंत्रक सत्ता ईश्वर वा परमात्मा हो सकती है। ऐसी ईश्वर नामी सत्ता से ही सूर्य, चन्द्र, ग्रह-उपग्रह, नक्षत्र, असंख्य सौर मण्डलों से युक्त यह संसार, सृष्टि, ब्रह्माण्ड व जगत अस्तित्व में आ सकता है, इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं। यही एक मात्र विकल्प हमारे सामने हैं। अन्य कोई दूसरा विकल्प है ही नहीं। अब इस अनुमान का प्रमाण प्राप्त करना है जोकि वेद व वैदिक साहित्य के गहन व गम्भीर अध्ययन तथा ईश्वरोपासना, विचार, चिन्तन, मनन, ध्यान व समाधि के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

अब हमें यह भी विचार करना है कि वस्तुतः वेद और वैदिक साहित्य है क्या? इसको जानने के लिए हमें इस सृष्टि के आरम्भ में जाना होगा। जब सुदूर अतीत में यह सृष्टि उत्पन्न हुई तो अन्य प्राणियों को उत्पन्न करने के बाद मनुष्यों को भी उत्पन्न किया गया होगा। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति माता-पिता से न होकर अमैथुनी विधि से परमात्मा व सृष्टिकर्ता करता है। इसका भी अन्य कोई विकल्प नहीं है, अतः ईश्वर द्वारा अमैथुनी सृष्टि को ही मानना हमारे लिए अनिवार्य व अपरिहार्य है। सृष्टि, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि तथा पृथिवी पर अग्नि, वायु, जल व प्राणी जगत सहित मनुष्य भी उत्पन्न हो जाने पर मनुष्यों को ज्ञान की आवश्यकता होती है जिससे वह अपने दैनन्दिन कार्यों का सुगमतापूर्वक निर्वाह कर सके। यह ज्ञान भी उसे यदि मिल सकता है वा मिला है तो वह सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक व सर्वान्तर्यामी ईश्वर से ही मिला है। इसके अनेक प्रमाण हमारे पास हैं। पहला प्रमाण तो परम्परा का है। भारत में विपुल वैदिक साहित्य है जिसमें सर्वत्र वेदों को ईश्वरीय ज्ञान अर्थात् ईश्वर से प्रदत्त ज्ञान बताया गया है। वेद संसार में सबसे प्राचीनतम होने के कारण भी ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध होता है। मनुष्य अपने सारे जीवन में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं करता, वह तो ज्ञान की खोज करता है जो इस सृष्टि में पहले से ही सर्वत्र विद्यमान है। यह ज्ञान ईश्वर का स्वाभाविक गुण है और उसमें सदा सर्वदा व सनातन काल से है और शाश्वत व नित्य भी है। ईश्वर ने अध्ययन, ध्यान व चिन्तन आदि से ज्ञान को उत्पन्न नहीं किया अपितु यह उसमें स्वतः अनादि काल से चला आ रहा है। परिमाण की दृष्टि से पूर्ण होने के कारण इसमें न्यूनाधिक नहीं होता और यह अनादि काल से ही एकरस व एक समान बना हुआ है और आगे भी इसी प्रकार का बना रहेगा। वेदों का अध्ययन कर भी वेद ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध होते हैं क्योंकि वेदों में ईश्वर, जीवात्मा, प्रकृति व संसार विषयक पूर्ण मौलिक ज्ञान बीज रूप में विद्यमान है जिसका समर्थन ज्ञान व विज्ञान से भी होता है। वेदों का ज्ञान पूर्णरूपेण सृष्टि-क्रम के अनुकूल होने से विज्ञान का पोषक है। वेदों की सभी मान्यतायें ज्ञान, बुद्धि, तर्क, ऊहा

व वाद-विवाद कर सत्य सिद्ध होती हैं। सृष्टि के आदि से महर्षि दयानन्द पर्यन्त कोटिशः सभी ऋषियों ने वेदों का अध्ययन कर यही निष्कर्ष निकाला है। अतः वेद ज्ञान ईश्वर प्रदत्त आदि ज्ञान सिद्ध होता है जो सभी सत्य विद्याओं सहित सभी प्रकार के आधुनिक ज्ञान व विज्ञान का भी एकमात्र व प्रमुख आधार है। यदि सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर से मनुष्यों को ज्ञान न मिलता तो यह संसार आगे चल ही नहीं सकता था। वही वैदिक ज्ञान काल के प्रवाह व भौगोलिक कारणों से आज अनेक भाषाओं में न्यूनताओं को समेटे हुए हमें सर्वत्र प्राप्त होता है। सृष्टि के आरम्भ में वेदों की उत्पत्ति व ऋषियों को उसकी प्राप्ति के पश्चात समय-समय पर ऋषियों ने लोगों के हितार्थ विपुल वैदिक साहित्य की रचना की। संक्षेप में कहें तो वैदिक आर्ष व्याकरण, निरुक्त, वैदिक ज्योतिषीय ज्ञान, कल्प ग्रन्थ, 6 दर्शन, उपनिषद, प्रक्षेपों से रहित शुद्ध मनुस्मृति और वेदों की शाखायें हमारे ऋषियों ने अल्पबुद्धि वाले हम मनुष्यों के लिए बना दी जिससे मनुष्य जाति का उपकार व हित हो सके।

यह सिद्ध हो गया है कि सृष्टि उत्पत्ति विषयक सभी प्रश्नों का सत्य उत्तर हमें वेद और वैदिक साहित्य से ही प्राप्त होगा। सृष्टि की उत्पत्ति किससे हुई प्रश्न का उत्तर है कि यह सृष्टि ईश्वर कि जिसके ब्रह्म, परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्ता, धर्ता, हर्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षण युक्त है, उसी से ही यह सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। सृष्टि कब उत्पन्न हुई, का उत्तर है कि एक अरब छियानवें करोड़ आठ लाख त्रेपन हजार एक सौ पन्द्रह वर्ष पूर्व। यह काल गणना भी वैदिक परम्परा व ज्योतिष आदि शास्त्रों के आधार पर है। सृष्टि की रचना क्यों हुई का उत्तर है कि जीवात्माओं को उनके जन्म जन्मान्तरों के कर्मों के सुख व दुःख रूपी फलों वा भोगों को प्रदान करने के लिए परम दयालु परमेश्वर ने की। सृष्टि रचना व संचालन का कारण जीवों के कर्म व उनके सुख–दुःख रूपी फल प्रदान करना ही है। जीवात्मा को उसके लक्षणों से जाना जाता है। उसके शास्त्रीय लक्षण हैं, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान, कर्म, अल्पज्ञता व नित्यता आदि।

हमने अपने विगत 45 वर्षों में जो अध्ययन किया है उसके अनुसार हमें यह ज्ञान पूर्णतयः सत्य, बुद्धि संगत व विज्ञान की आवश्यकताओं के अनुरुप लगता है। हमारे वैज्ञानिक अनेक कारणों से ईश्वर व धर्म को नहीं मानते। आने वाले समय में उन्हें इस ओर कदम बढ़ाने ही होंगे अन्यथा उनकी सत्य की खोज अधूरी रहेगी। इन्हीं शब्दों के हम लेख को विराम देते हैं।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून**-248001**

फोनः**09412985121**

‘सब सत्य विद्याओं एवं उससे उत्पन्न किए व हुए संसार व पदार्थों का मूल कारण ईश्वर’ -मनमोहन कुमार आर्य

NOVEMBER 14, 2015 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

हम कोई भी काम करते हैं तो उसमें विद्या अथवा ज्ञान का प्रयोग करना अनिवार्य होता है। अज्ञानी व्यक्ति ज्ञान के अभाव व कमी के कारण किसी सरल कार्य को भी भली प्रकार से नहीं कर सकता। जब हम अपने शरीर का ध्यान व अवलोकन करते हैं तो हमें इसके आंख, नाक, कान, श्रोत्र, बुद्धि, मन व मस्तिष्क आदि सभी अवयव किसी महत् विद्या के भण्डार व सर्वशक्तिमान सत्ता रूपी कर्ता का ही कार्य अनुभव होतें हैं। बिना विद्या के कोई भी कर्ता कुछ कार्य नहीं कर सकता और बिना कर्ता के भी कोई कार्य नहीं होता। इससे यह सिद्ध है कि हमारे शरीर व इस सृष्टि के सभी पदार्थों का कर्ता व रचयिता एक निराकार, सर्वविद्या व ज्ञान से पूर्ण सूक्ष्मातिसूक्ष्म अदृश्य सत्ता व उसका अस्तित्व है। उस सत्ता के आंखों से न दिखने के अनेक कारण हो सकते हैं जिनमें से एक कारण उसका अति सूक्ष्म होना भी व ही है। यह सारा ब्रह्माण्ड उस ईश्वर की रचना है और इस रचना से ही इसके कर्त्ता ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है। संसार में आज तक ऐसी रचना देखने को नहीं मिली जो स्वमेव, बिना किसी बुद्धिमान-ज्ञानी-चेतनसत्ता के उत्पन्न हुई हो और जो मनुष्यों व प्राणियों के उपयोगी वा बहुपयागी हो जैसी कि हमारी यह सृष्टि व इसके पदार्थ सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, अग्नि, जल, वायु, हमारे व अन्य प्राणियों के शरीर, वनस्पति जगत आदि हैं।

इससे यह निर्विवाद रुप से सिद्ध होता है कि यह संसार एक निराकार, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, अनादि, नित्य, अमर सत्ता की रचना है। रचना को देखकर इसमें प्रयुक्त ज्ञान से ईश्वर का सर्वज्ञ अर्थात् सर्वज्ञान व विद्याओं का भण्डार होना भी सिद्ध होता है। इस निष्कर्ष पर पहुंच कर हमें सभी विद्याओं की प्राप्ति के लिए ईश्वर की शरण में ही जाना आवश्यक हो जाता है। ईश्वर की शरण में कैसे जा सकते हैं? इसका उपाय सद्ग्रन्थों का अध्ययन वा स्वाध्याय, ज्ञानी–निर्लोभी–निरभिमानी–अनुभवी गुरूओं का शिष्यत्व सहित बुद्धि को शुद्ध, पवित्र व सात्विक बनाकर उससे ईश्वर के स्वरुप का चिन्तन व मनन करना है। किसी विषय का गहन चिन्तन व मनन करना ही ध्यान कहलाता है। जब एक ही विषय यथा ईश्वर के स्वरुप का नियमित रूप से निश्चित समय पर लम्बी अवधि तक मनुष्य चिन्तन व मनन करते हैं तो वह ध्यान की अवस्था ही कालान्तर में समाधि का रूप ले लेती है। इस अवस्था में एक समय वा दिवस ऐसा आता है कि जब ध्याता को ध्येय ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है। यह साक्षात्कार मनुष्य वा योगी में यह योग्यता उत्पन्न करता है कि जिससे वह जब जिस विषय का अध्ययन व चिन्तन करता है, कुछ ही समय में उसका उसको साक्षात ज्ञान हो जाता है। यह सफलता ईश्वर द्वारा प्रदान की जाती है। इसी लिए हमारे देश में जितने भी ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न ऋषि व मुनि हुए हैं, वह सभी योगी ही हुआ करते थे। यदि हम आजकल के वैज्ञानिकों व उच्च श्रेणी के ज्ञानियों की स्थिति पर विचार करें तो हमें ज्ञात होता है कि यह सभी भी विचारक, चिन्तक, इष्ट वा अभीष्ट विषय का निरन्तर ध्यान करने वाले व समाधि की

स्थिति व उससे कुछ पूर्व की स्थिति तक पहुंचे हुए व्यक्ति ही प्रायः होते हैं। अतः ज्ञान की प्राप्ति विचार, चिन्तन व ध्यान से ही होती है। यह भी स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया को अपनाकर बुद्धि में प्राप्त ज्ञान ईश्वर से ही प्रेरित वा प्राप्त होता है। हम यह भी अनुभव करते हैं कि हमारे आज के वैज्ञानिक व इंजीनियर बन्धुओं को जो उच्च ज्ञान विज्ञान की उपलब्धि हुई है वह, कोई माने या न माने, ध्यान व किंचित समाधि की अवस्था आने पर ईश्वर के द्वारा ही सुलभ हुई है।

संसार को समझने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है और ज्ञान के रूप में सृष्टि के सबसे प्राचीन ग्रन्थ "वेद" हमें उपलब्ध है। प्रमाण, परम्परा, तर्क व विवेचन से यह सिद्ध होता है कि चारों वेदों का ज्ञान सृष्टि की आदि में चार ऋषियों को ईश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान है। इस बारे में गहन स्वाध्याय व अध्ययन न करने वालों को अनेक प्रकार की भ्रान्तियां हैं जिसका कारण उनका इस विषय का अध्ययन न करना ही मुख्य है। यदि वह इसका अध्ययन करें तो उनकी सभी शंकाओं व भ्रान्तियों का निवारण हो सकता है जिस प्रकार से सृष्टि के आदि काल से महाभारत काल पर्यन्त ऋषियों सहित महर्षि दयानन्द सरस्वती और पं. गुरुदत्त विद्यार्थी जी आदि का हुआ था। महर्षि दयानन्द जी और उनके अनुवर्ती आर्य विद्वानों का वेदभाष्य इस बात का प्रमाण है कि वेद परा और अपरा विद्या का आदि स्रोत व भण्डार होने के साथ पूर्णतया सत्य ज्ञान है। महर्षि दयानन्द की यह घोषणा भी हमें ध्यान में रखनी चाहिये कि ''वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।" इस लिए वेदों का सभी आर्यों वा मनुष्यों को पढ़ना व पढ़ाना परम धर्म है। इससे यह सिद्ध हो रहा है कि मनुष्य धर्म वेदों अर्थात् सत्य ज्ञान का अध्ययन व आचरण करना ही है। हमारे वैज्ञानिकों ने बहुत सी अपरा विद्याओं को खोज कर अपूर्व कार्य किया है। वह विश्व मानव समुदाय की ओर से अभिनन्दन के पात्र हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि हमारे वैज्ञानिक बन्धु परा विद्या वा ईश्वर-जीवात्मा के सत्य ज्ञान से बहुत दूर हैं। इसकी पूर्ति वैज्ञानिक विधि से रिसर्च व अनुसंधान से नहीं होगी। इसका उपाय तो वेद और वैदिक साहित्य का अध्ययन, योगाभ्यास, ध्यान व समाधि को सिद्ध कर ही प्राप्त होगा। जिस दिन हमारे वैज्ञानिक विज्ञान के शोध व उपयोग के साथ वेद व वैदिक साहित्य के अध्ययन सहित योगाभ्यास में अग्रसर होंगे, तभी उनका अपना जीवन भी पूर्णता को प्राप्त होगा और इससे मानवता का भी अपूर्व हित व कल्याण होगा। हमें लगता है कि महर्षि दयानन्द सहित सभी प्राचीन ऋषियों में ईश्वर विषयक ज्ञान व आधुनिक वा भौतिक विज्ञान दोनों का ही समन्वय था जिससे संसार में सुख अधिक और दुःख कम थे और आज की परिस्थितियों में स्थिति सर्वथा विपरीत है। अध्यात्मिक ज्ञान से ही मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों व बुरे आचरण पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

इस लेख में हमने यह समझने का प्रयास किया है कि संसार की विद्याओं व ज्ञान की उत्पत्ति का आदि स्रोत ईश्वर है और उसी से सभी विद्यायें इस सृष्टि की रचना, इसके पालन व वेदों के माध्यम से प्रकट हुई है। हमें चिन्तन, मनन व ध्यान आदि की क्रियाओं से उसे और अधिक उन्नत करना होता है। यदि ईश्वर यह संसार न बनाता और वेदों का ज्ञान न देता तो हम और हमारे विचारकों, चिन्तकों व वैज्ञानिकों को करने के लिए कुछ न होता। अतः सबको कल्पित ईश्वर नहीं अपितु सच्चे ईश्वर की शरण में जाना आवश्यक है जिससे जीवन के

उद्देश्य वा लक्ष्य धर्म-अर्थ-काम व मोक्ष की प्राप्ति हो सके। इसी के साथ इस लेख को विराम देते हैं।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

मैं और मेरा देश' -मन मोहन कुमार आर्य

NOVEMBER 9, 2015 LEAVE A COMMENT

मैं अपने शरीर में रहने वाला एक चेतन तत्व हूं। आध्यात्मिक जगत् में इसे जीवात्मा कह कर पुकारा जाता है। मैं अजन्मा, अविनाशी, नित्य, जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसा हुआ तथा इससे मुक्ति हेतु प्रयत्नशील, चेतन, स्वल्प परिमाण वाला, अल्पज्ञानी एवं ससीम, आनन्दरहित, सुख-आनन्द का अभिलाषी तत्व हूं। मेरा जन्म माता-पिता से हुआ है। मेरे माता-पिता व इस संसार को, जिसमें मुझे भेजा गया है, पहले से ही रचा व बनाया गया है। पहले सृष्टि की रचना किसी सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और चेतन सत्ता ने की, उसके पश्चात वनस्पति और पशु व पक्षी आदि प्राणियों की रचना करके मनुष्योत्पत्ति की। विगत 1,96,08,53,115 वर्षों से यह क्रम अनवरत जारी है। मुझे, मेरे माता-पिता को व इस सृष्टि को बनाने वाला कौन है? इसका उत्तर शास्त्रों के अध्ययन, चिन्तन-मनन व विवेक से मिलता है कि कोई सत्य, चेतन, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, निराकार, कारण प्रकृति का स्वामी व नियंत्रक, नित्य, अनुत्पन्न, अविनाशी, सर्व-अन्तर्यामी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व है जिसे हम ईश्वर, परमात्मा, भगवान, सृष्टिकर्ता, गाड, खुदा, अल्लाह, रब, मालिक आदि नामों से जानते हैं। यह ईश्वर सत्ता एक ही हो सकती है, एक से अधिक नहीं, ऐसा सृष्टि को देखकर व विचार करने पर ज्ञात होता है। सृष्टि के आरम्भ से अब तक इस जगत में अनेक श्रेष्ठ पुरूषों ने जन्म लिया है जिनका यश व कीर्ति आज तक विद्यमान है। यह सभी सत्याचारी, अन्याय से पीड़ित लोगों की रक्षा करने वाले, त्यागी, तपस्वी, ईश्वरभक्त, वेदभक्त एवं वेदानुयायी, माता-पिता व आचार्यो के प्रति सेवा व भक्ति-भावना रखने वाले थे। इनमें से कुछ ज्ञात महापुरूष मनु, राम, कृष्ण, चाणक्य, दयानन्द, सरदार पटेल, नेताजी सुभाष चन्द्र बोस, राम प्रसाद बिस्मिल, चन्द्र शेखर आजाद, बन्दा बैरागी, भगत सिंह आदि हुए हैं। हमें महापुरूषों के जीवन से प्रेरणा लेकर उनके गुणों को धारण करना है, यही उन महापुरूषों की पूजा है एवं स्तुति-प्रार्थना-उपासना-ध्यान आदि केवल ईश्वर का ही करना है और यही ईश्वर की पूजा है।

वेदादि साहित्य का अध्ययन करने पर हमने पाया कि हमारा जन्म भोग व अपवर्ग के लिए हुआ है। भोग का अर्थ है कि हमने अपने पूर्व जन्मों में जो अच्छे-बुरे कर्म किये थे उन कर्मों में जिन कर्मों का भोग अभी तक हमें प्राप्त नहीं हुआ है, वह हमारा प्रारब्ध है। उसे हमें इस

जन्म व अगले जन्मों में भोगना है। इन कर्मो के फलों को भोगने के साथ ईश्वर ने हमें एक सुविधा यह भी दी है कि यदि हम स्वाध्याय से अपने ज्ञान को बढ़ा कर एवं यथार्थ वेदोक्त स्तुति-प्रार्थना-उपासना से ध्यान व समाधि को सिद्ध कर ईश्वर का साक्षात्कार कर लेते हैं तो हमारी मुक्ति व हमें मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। मुक्ति की अवधि एक परान्तकाल अर्थात् 31,10,40,00,00,00,000 वर्ष वा इकतीस नील दस खरब चालीस अरब वर्ष होती है। उसके बाद हमारा पुनः जन्म होगा। इस मुक्ति की अवधि में हमें किंचित भी दुःख की अवस्था से नहीं गुजरना पड़ेगा। यह उपलब्धि हमारे शास्त्राध्ययन एवं उसके अनुसार जीवन-यापन व योग साधना से प्राप्त होती है। यहां यह भी लिखना उचित होगा कि सृष्टि के आरम्भ से महाभारत काल तक और यहां से मध्य काल में बौद्ध मत के आरम्भ तक सारे विश्व में केवल वैदिक धर्म व संस्कृति का ही प्रचार-प्रसार-पालन व धारण सर्वत्र रहा है। महाभारत काल के पश्चात अज्ञानतावश बौ़द्ध, जैन, पौराणिक व अन्य दूरस्थ देशों में ऐसे ही भिन्न भिन्न मतों का प्रादुर्भाव हुआ। यदि सभी मतों के व्यक्ति मिल कर परस्पर मित्रता व निष्पक्षता से विचार-विमर्श कर मनुष्य धर्म का निर्धारण करें तो निश्चित रूप से वैदिक धर्म व मत को ही सर्वसम्मति से स्वीकार करना होगा और तब वेदेतर मत के लोगों को जीवन में ईश्वरीय आनन्द की उपलब्धि एवं उसके पश्चात मुक्ति प्राप्त हो सकेगी।

मेरा जन्म आज से लगभग 63 वर्ष पूर्व भारत में हुआ। तब से मैं यहां रह रहा हूं। शैषव अवस्था ने माता पिता ने धर्म व रीति रिवाज सम्बन्धी जो बातें बताई व समझाईं, उन्हें उसी रूप में बिना सोचे विचारे मैंने स्वीकार कर लिया और मानता रहा। विद्यालय की शिक्षा के समय एक पड़ोसी आर्य समाजी मित्र मिल गये, 18 वर्ष की आयु में उनके साथ सायंकाल भ्रमण की आदत पड़ गई। यदा-कदा वह यत्र-तत्र हो रहे प्रवचनों में ले जाया करते थे और आर्य समाजी दृष्टिकोण से उनकी समालोचना करते थे। आरम्भ में पौराणिक संस्कारों के कारण मुझे वह प्रायः उचित नहीं लगती थी। यदा-कदा आर्य समाज भी जाना होता था और वहां यज्ञ, भजन व विद्वानों के विचारों को सुना और पुस्तकें क्रय करके स्वाध्याय किया। धीरे-धीरे पता नहीं कब आर्य समाज के वेद संबंधी विचारों ने मेरे मन व मस्तिष्क पर अधिकार कर लिया और पौराणिक अज्ञान-अन्धविश्वास व कुरीतियों से युक्त बातें मन से दूर चली गईं। मेरा अब दृण विश्वास है कि ईश्वर की सगुण व निर्गुण भक्ति के स्थान पर पौराणिक रीति से मैं जो मूर्ति पूजा व कर्मकाण्ड आदि करता था, वह अधिकांश असत्य, अनावश्यक और अनुचित था। आज मैं आत्मिक सन्तोष का अनुभव करता हूं। यह सब मुझे सत्यार्थ प्रकाश आदि अनेक ग्रन्थों के स्वाध्याय व विद्वानों के प्रवचनों तथा चिन्तन व मनन से प्राप्त हुआ है। आत्मा व मन इस बात से सन्तुष्ट हैं कि हमें इस संसार व ईश्वर के बारे में यथार्थ ज्ञान है।

जो ज्ञान व संस्कार अब हमारे हैं वह भारत के सभी लोगों व विश्व के लोगों के नहीं है। वहां इस प्रकार के सत्य व परम उपयोगी विचारों को जानने व उसके प्रचार प्रसार की किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं है। यदि समुचित व्यवस्था होती तो मुझे लगता है कि विद्यार्थी काल में जिस प्रकार से मेरा बौद्धिक मतान्तरण हुआ, उसी प्रकार शायद संसार के सभी लोगों का हो सकता था। मुझे इन विचारों को मानने या अपनाने के लिए किसी ने जोर-जबरस्ती नहीं की

अपितु यह स्वतः हुआ और तब हुआ जब मेरी आत्मा ने उसे स्वीकार किया। मुझे लगता है और यह वास्तविकता है कि संसार में वैदिक विचारों, सिद्धान्तों व मान्यताओं का प्रचार नगण्य है एवं दूसरे मतानुयायी योजनाबद्ध रूप से वेद एवं पौराणिक लोगों को मतान्तरित कर उन्हें स्वमत में दीक्षित कर इस देश की राजनैतिक सत्ता को हथिया कर अपना छद्म उद्देश्य पूरा करना चाहते हैं। इसके लिए वह अन्दर ही अन्दर सब प्रकार के कुत्सित कार्य भी करते हैं परन्तु बाहर से स्वयं को बहुत ही अच्छा व मानवता का सेवक दिखाते हैं।

मुझे लगता है कि मेरा कर्तव्य है कि ईश्वर से प्राप्त वेद एवं वैदिक ज्ञान की रक्षा होनी चाहिये, कहीं यह विलुप्त न हो जाये। इसके लिए हमें हर सम्भव प्रयास करना है। अपनों को मनाना है व उन्हें इस विश्व-वरेण्य संस्कृति के महत्व को हृदयगंम कराना है। हमें विश्व के अन्य मतावलम्बी बन्धुओं को भी आमन्त्रित करना है कि वह भी ईश्वर, जीवात्मा के स्वरूप पर हमसे प्रेमपूर्वक संवाद व चर्चा करें। यदि उन्हें हमारे विचारों में कहीं कोई कमी दृष्टिगोचर होती है तो वह हमें बतायें, हम सदिच्छा से उसे समझ कर उसका समाधान व निराकरण करेंगे। यह तभी सम्भव होगा जब हम स्वामी दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, पं. लेखराम, पं. गुरूदत्त विद्यार्थी, स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी अमर स्वामी, पं. शान्तिप्रकाश, पं. गणपति शर्मा जैसा स्वयं को बनायें। इसके लिए हमें अपने गृहस्थ जीवन में भी और उसके पश्चात 50 या 60 वर्ष की आयु में गृहस्थ व व्यवसाय से सेवानिवृत्त होकर घर में रहते हुए या वानप्रस्थी की भांति इस कार्य में जुटना पड़ेगा। गृहस्थ व सेवाकाल व व्यवसाय के काल में भी इस कार्य को यथाशक्ति करना होगा तभी सेवा निवृत्ति के पश्चात यह काम कर सकेंगे। यदि इसकी उपेक्षा करेंगे तो वह दिन दोबारा आ सकता है जब बौद्धों के प्रचार की भांति हमारे सभी बन्धु भिन्न-2 मतों के अनुयायी बन जायेंगे और उन मतों के लोग हमारी वैदिक धर्म व संस्कृति को नेस्तनाबूद कर देंगे। ऐसा पहले भी करने के प्रयास हुए हैं, वह आंशिक सफल भी रहे हैं, जिससे हमें अपूर्व हानि हुई है अन्यथा आज का इतिहास कुछ और ही होता। इस बात की कोई गारण्टी नहीं है और न हो सकती है, कि ऐसा कभी नहीं होगा, अतः सावधान होकर अपने कर्तव्य का पालन जैसा कि हमारे पूर्व पुरूषों ने किया है, हमें भी करना है।

हमने इस लेख के शीर्षक में 'मैं और मेरा देश' शब्दों का प्रयोग किया है। इन शब्दों से हमारा तात्पर्य वैदिक संस्कारों से युक्त मैं व मेरे देशवासी व विश्व-वासियों से है जो सत्य, यथार्थ, सृष्टि क्रम के अनुरूप सिद्धान्तों व मान्यताओं को जाने और अपने कल्याणार्थ उसे माने। जब हमारे देश के सभी या अधिकांश लोग वैदिक मतानुयायी हो जायेगें तब यह देश विश्व शान्ति का धाम बन जायेगा। इसके लिए हमें सत्य, प्रेम, सहयोग, परोपकार, सेवा, शिक्षा, वेद प्रचार का प्रयोग करना है। ईश्वर की शक्ति व प्रेरणा हमारे साथ है, अतः हमें चिन्ता नहीं करनी है। हमारी आत्मा अमर है, यह हमारा दृण विष्वास है, अतः भय का काई स्थान नहीं। सत्य व धर्म की रक्षा व प्रचार के मार्ग में चलकर यदि कुछ अप्रिय भी होता है तो ईश्वर से हमें उसकी क्षतिपूर्ति ही नहीं होगी अपितु असीम सुख व आनन्द की उपलब्धि होगी। अतः आर्य समाज के सभी लोगों को अपने मतभेद भुलाकर विचार मन्थन कर वह योजना बनानी होगी जिससे हम देश के सभी मतों के विद्वानों को अपना सत्य-सन्देश देकर उन्हें आलोचना व समीक्षा का अवसर दें और निवेदन करें कि यदि वह आलोचना नहीं कर रहे हैं और उन्हें

हमारी मान्यतायें सत्य लगती हैं तो वह उन्हें स्वीकार कर हमारे साथ मिलकर कार्य करें। ऐसा होने पर ही देश से भ्रष्टाचार, लूट, स्वार्थ का कारोबार, सामाजिक बुराईयां, आतंकवाद, अनाचार व दुराचार आदि समाप्त होगा। सामाजिक अन्याय दूर होगा, जातिवाद, ऊंच-नीच की भावना समाप्त होगी, शोषण व अन्याय समाप्त होगा और हमारा देश ऐसा होगा जिससे न केवल हम ही प्रसन्न

व सन्तुष्ट होगें अपितु समस्त देशवासी सुःख से अपना जीवन व्यतीत कर सकेंगे। आईये, इस विषय पर चिन्तन करते हैं और जिससे जो बन सकता है उसके लिए अपने जीवन से समय निकाल कर व अपनी सामथ्र्य के अनुसार धन का दान कर अपना कर्तव्य निभायें। हम सत्य पर हैं अतः ईश्वर हमारे साथ है, साथ रहेगा, साथ देगा, इसकी आशंका नहीं होनी चाहिये।

– मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून**-248001**

दूरभाषः **0941298512**

गो-वध व मांसाहार का वेदों में कही भी नामोनिशान तक नहीं है: शिवदेव आर्य

NOVEMBER 9, 2015 LEAVE A COMMENT

प्रायः लोग बिना कुछ सोचे समझे बात करते हैं कि वेदों में गो-वध तथा गो-मांस खाने का विधान है। ऐसे लोगों को ध्यान में रखकर कुछ लिखने का यत्न कर रहा हूॅं, आज तक जो भी ऐसी मानसिकता से घिरे हुऐ लोग हो वे जरुर इसको पढ़ कर समझने का प्रयास करें। क्षणिक स्वार्थ व लाभ के लिए वेद व गोमाता का नाम अपवित्र करने की कोशिश न करें। यदि लेशमात्र भी संदेह है तो इन मन्त्रों को समझों-

प्रजावतीः सुयवसे रुशन्तीः शुध्द अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।

मा वस्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु।। **(**अथर्व.**-7.75.1)**

इस मन्त्र का देवता 'अघ्न्या' है। जो कि वैदिक कोश के अनुसार गाय का मुख्य नाम है। इसका निर्वचन करते हुए लिखा है –न हन्तव्या भवति अर्थात् गाय इतना अधिक उपकारी पशु है कि इस का वध करना पाप ही नहीं अपितु महापाप है।

इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा कि– हे मनुष्यो! तुम्हारे घरों में प्रजावतीः उत्तम सन्तान वाली, सुयवसे (जौ) के क्षेत्रों मे चरने वाली और शुध्द जलों को पीने वाली गौ हो और इसकी

सुरक्षा ऐसी हो कि कोई चोर उन्हें चुरा न सके और पापी डाकू आदि गाय को अपने वश में न कर सके । रुद्र परमात्मा की हेति=वज्रशक्ति तुम्हारे चारों तरफ सदा विद्यमान रहे।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।

तं त्वा सीसेन विध्यामः।। **(अथर्व.-1.16.4)**

अर्थात् राजन्! यदि कोई मनुष्य हमारी गाय, अश्व आदि पशुओं को मारता है, उसे हत्यारे को (सीसेन) कारागार या कठोर दण्ड देकर हमारी रक्षा करो।

पयः पशूनां रसमोषधीनाम्।

बृहस्पतिः सविता मे यच्छतात्।। **(अथर्व.-19.31.5)**

अर्थात् हे सवोत्पदाक परमेश्वर! हम सब को जीवन निर्वाह के लिए गाय का दूध और औषधियों का रस भोजन के लिए प्रदान करो।

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्र्वेषु या रुचः।

इन्द्राग्नी ताभि सर्वाभी रुचं नो धत्तबृहस्पते।। **(यजु.-13.23)**

इस मन्त्र के माध्यम से कहने का यत्न किया गया है कि गो, अश्व आदि प्राणियों से सदैव प्रीति किया करें।

घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभिरक्षताद् इमान् स्वाहा।। **(यजु.-35.17)**

अर्थात् हे (अम्बे) राजन्! जैसे पिता अपने पुत्रों की रक्षा करता है वैसे आप गाय के मधुर और रोगनाशक दूध घृत आदि की व्यवस्था कर हमारी रक्षा करें।

दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽन**…………**जायताम्।**(यजु.-22.22)**

इस मन्त्र में राष्ट्रिय प्रार्थना है – हमारे देश में प्रचुर दूध देने वाली गोएॅं भार ढोने में समर्थ तथा कृषि के योग्य बैल और यानों में सक्षम और शीघ्रगामी घोड़े पैदा हों।

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाॅं**2**ऽअस्तु सूर्य्यः।

माध्वीर्गावो भवन्तु नः।। (यजु.**-13.29)**

गाय से जैसी कल्याणकारी किरणें हम सब मनुष्य के लिए निकलती हैं, ठीक ऐसी ही कल्याणकारी किरणों को प्राप्त करने के लिए प्रशंसित कोमलता गुणयुक्त वनस्पतियों से होम करो।

इस मन्त्र से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गाय के दुग्ध, मूत्र, मल आदि से उस गाय के अन्दर से कल्याणकारी किरणें निकलती हैं, जो हम सब के लिए अत्यन्त लाभप्रद हैं।

इमं मा हिंसीद्द्विपादं पशुं सहस्त्राक्षो मेधाय चीयमानः। मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु।। **(यजु.-13.47)**

इस मन्त्र के द्वारा परमपिता परमेश्वर मनुष्य को आदेश देता है कि सबके उपकार करने हारे गवादि पशुओं को कभी न मारें, किन्तु इनकी अच्छी प्रकार से रक्षा कर और इनसे उपकार लेके सब मनुष्यों को आनन्द देवे।

इमं साहस्त्रं शतधारमुत्सं व्यच्मानं सरिरस्य मध्ये।

घृतं दुहानामदिति जनायाग्ने मा हिंसी परमे व्योमन्।

गवयामारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद।

मवयं ते शुगृच्छतु। यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु।। **(यजु.-13.49)**

इस मन्त्र में भी इसी प्रकार की चर्चा प्राप्त होती है। देव दयानन्द जी इस मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं कि- हे राजपुरुषों! तुम लोगों को चाहिए कि जिन बैल आदि पशुओं के प्रभाव से खेती आदि काम, जिन गौ आदि से दूध घी आदि उत्तम पदार्थ होते हैं कि जिन के दूध आदि से प्रजा की रक्षा होती है, उनको कभी मत मारो और जो जन इन उपकारक पशुओं को मारें, उनको राजादि न्यायाधीश अत्यन्त दण्ड देवें।

अक्षराजाय कितवं कृतायादिनदर्शं त्रेतायै द्वापरायाधिकल्पिनमास्कदाय सभास्थाणुं मृत्यवे गोव्यच्छमन्तकाय गोधातं क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाणऽउप तिष्ठति दुष्कृताय चरकाचार्य्यं पाप्मने सैलगम्।। **(यजु.-30.18)**

इस मन्त्र में कहा गया है कि जो समाज को चलाने वाले राजादि लोग हैं वे तभी सामर्थ्यशील हैं, जो गाय आदि पशुओं को मारने, काटने वाले मनुष्यों को कठोर से कठोर सजा देता हो किन्तु बड़ा दुर्भाग्य है कि हमारे समाज के राजादिगण लोग तो गो हत्या करने वालों को प्रोत्साहित करते, ये बडी दुःखद स्थिति है।

जो समाज को दिशा व दशा प्रदान करने वाले हैं, वे स्वयं ही गो-वध को कराने वाले हैं तथा गो-मांस का भक्षण करते हैं, और इसप्रकार लोगों को भी करने के लिए सदैव प्रेरित करते हैं। इससे राजनीति भी करते हैं। अभी कुछ समय पूर्व की घटनाओं से आप सभी सम्यक्तया परिचित ही है।

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः।

त्रायन्तामस्मिन्ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम्।। **(अथर्व.-8.7.11)**

इस मन्त्र में कहा गया है कि रोगों का शमन करने वाली औषधियों से गौ, घोड़े, मनुष्य व पशुओं की रोग से रक्षा करें।

मधुममूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव। मधुमत्पर्णं मधुमत्पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षो घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम।। **(अथर्व.-8.7.12)**

इस मन्त्र में ओषधियों का चित्रण करते हुए 'गो पुरो गवम्'गाय को सर्व प्रथम स्थान पर रखा गया है। इस गाय के दूध व घी के साथ ओषधियों के सेवन से हमारा उत्तम स्वास्थ्य होवे।

गोरक्षा के लिए महार्षि दयानन्द का आन्दोलनः-

वेदों में कहा है – गोस्तु मात्रा न विद्यते।।(यजु.-23.48) अर्थात् गाय इतना अधिक महत्त्वपूर्ण पशु है जिसकी तुलना करना सम्भव ही नहीं है। गाय का दूध अमृत होता है और इसका मूत्र व गोबर भी रोग निवारक और सर्वोत्तम खाद है। कृषि प्रधान भारत के लिए तो इसका महत्त्व अत्यधिक हो जाता है। इसलिए दयार्द्र दयानन्द की दया 'गोकरुणा-निधि'में ही उजागर होती है। गायों की नृशंस हत्या को देखकर ऋषि दयानन्द के जीवन में कतिपय प्रसंग ही ऐसे आते हैं जिन अवसरों पर ऋषि दयानन्द के अश्रु बहते हुए देखे गये-

देश में बढ़ती हुई गोहत्या देखकर रोये थे स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

गोमाता के वध पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए दो करोड़ भारतवासियों के हस्ताक्षर कराकर ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया को प्रतिवेदन करते हुए महर्षि ने कहा था- बड़े उपकारक गाय आदि पशुओं की हत्या करना महापाप है, इसको बन्द करने से भारत देश फिर समृध्दशाली हो सकता है। गाय हमारे सुखों का स्रोत है, निर्धन का जीवन और धनवान् का सौभाग्य है। भारत देश की खुशहाली के लिए यह रीढ़ की हड्डी है।

महारानी विक्टोरिया को भेजा प्रतिवेदन

'' ऐसा कौन मनुष्य जगत् में है जो सुख के लाभ में प्रसन्न और दुःख की प्राप्ति में अप्रसन्न न होता हो। जैसे दूसरे के किये अपने उपकार में स्वयम् आनन्दित होता है वैसे ही परोपकार करने में सुखी अवश्य होना चाहिये। क्या ऐसा कोई भी विद्वान् भूगोल में था, है या होगा, जो परोपकार रूप धर्म और-परहानि स्वरूप अधर्म के सिवाय धर्म और अधर्म की सिध्दि कर सके। धन्य वे महाशयजन हैं जो अपने तन,मन और धन से संसार का उपकार सिध्द करते हैं। द्वितीय मनुष्य वे हैं जो अपनी अज्ञानता से स्वार्थवश होकर अपने तन,मन और धन से जगत् में परहानि करके बड़े लाभ का नाश करते हैं।

सृष्टिक्रम में ठीक ठीक यही निश्चय होता है कि परमेश्वर ने जो जो वस्तु बनाया है वह पूर्ण उपकार के लिये है, अल्पलाभ से महाहानि करने के अर्थ नहीं। विश्व में दो ही जीवन के मूल हैं- एक अन्न और दूसरा पान। इसी अभिप्राय से आर्यवर शिरोमणि राजे महाराजे और प्रजाजन महोपकारक गाय आदि पशुओं को न आप मारते और न किसी को मारने देते थे। अब भी इस गाय,बैल,भैंस आदि को मारने और मरवाने देना नहीं चाहते हैं, क्योंकि अन्न और पान की बहुताई इन्हीं से होती है। इससे सब का जीवन सुखी हो सकता है। जितना राजा

और प्रजा का बड़ा नुकसान इनके मारने और मरवाने से होता है, उतना अन्य किसी कर्म से नहीं। इस का निर्णय 'गोकरुणानिधि' पुस्तक में अच्छे प्रकार से प्रकट कर दिया है, अर्थात् एक गााय के मारने और मरवाने से चार लाख बीस हजार मनुष्यों के सुख की हानि होती है। इसलिए हम सब लोग प्रजा की हितैषिणी श्रीमती-राजराजेश्वरी क्वीन महारानी विक्टोरिया की न्यायप्रणाली में जो यह अन्याय रूप बड़े-बड़े उपकारक गााय आदि पशुओं की हत्या होती है, इसको इनके राज्य में से छुड़वाके अति प्रसन्न होना चाहते है।

यह हम को पूरा विश्वास है कि विद्या, धर्म, प्रजाहित प्रिय श्रीमती राजराजेश्वरी क्वीन महारानी विक्टोरिया पार्लियामेण्ट सभा तथा सर्वोपरि प्रधान आर्यावत्र्तस्थ श्रीमान् गवर्नर जनरल साहब बहादुर सम्प्रति इस बड़ी हानिकारक गाय, बैल तथा भैंस की हत्या को उत्साह तथा प्रसन्नतापूर्वक शीघ्र बन्द करके हम सब को परम आनन्दित करें। देखिए कि उक्त गााय आदि पशुओं के मारने और मरवाने से दूध, घी और किसानों की कितनी हानि होकर राजा और प्रजा की बड़ी हानि हो गई और नित्यप्रति अधिक-अधिक होती जाती है। पक्षपात छोड़के जो कोई देखता है तो वह परोपकार ही को धर्म और पर हानि को अधर्म निश्चित जानता है। क्या विद्या का यह फल और सिध्दान्त नहीं है कि जिस जिस से अधिक उपकार हो, उस उस का पालन वर्धन करना और नाश कभी न करना। परम दयालु, न्यायकारी, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् परमात्मा इस समस्त जगदुपकारक काम करने में हमें ऐकमत्य करें।

हस्ताक्षर. दयानन्द सरस्वती

संसार के राजा, महाराजाओं से विनति करके महर्षि दयानन्द ने संसार के अधिपति परमेश्वर से भी प्रार्थना की-' हे महाराजाधिराज जगदीश्वर! जो इनको कोई न बचावे तो आप उनकी रक्षा करने और हम से करानो में शीघ्र उद्यत हूजिए।'

महर्षि दयानन्द और गोरक्षा के लाभ

- गाय आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का ही नाश हो जाता है।
- वेदों में परमात्मा की आज्ञा है- कि अघ्न्या यजमानस्य पशून् पाहि।। यजु. हे पुरुष तू इन पशुओं को कभी मत मार और यजमान अर्थात् सब के सुख देने वाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर, जिनसे तेरी भी पूरी रक्षा होवे।
- ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त आर्य लोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे।
- हे मांसाहारियो! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे तब मनुष्यों का मांस भी छोड़ोगे वा नहीं।
- हे परमेश्वर! तू क्यों न इन पशुओं पर जो कि बिना अपराध मारे जोते हैं, दया नहीं करता । क्या उन पर तेरी प्रीति नहीं है। क्या उनके लिये तेरी न्याय सभा बन्द हो गई? क्यों उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान नहीं देता और उनकी पुकार नहीं सुनता। क्यों इन मांसाहारियों की आत्माओं में दया प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषें को दूर नहीं करता?
- और इन की रक्षा में अन्न भी महंगा नहीं होता, क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खान पान में मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है। और अन्न के कम खाने से मल भी कम होता है। मल के न्यून होने दुर्गन्ध भी न्यून होता है, दुर्गन्ध के

स्वल्प होने से वायु और वृष्टिजल की शुध्दि भी विशेष होती है। उससे रोगों की न्यूनता से हाने से सब को सुख बढ़ता है।

- देखो! तुच्छ लाभ के लिये लाखों प्राणियों को मार असंख्य मनुष्यों की हानि करना महापाप क्यों नहीं।
- जितना (लाभ) गाय के दूध और बैलों के उपयोग से मनुष्यों को सुखों का लाभ होता है उतना भैंषियों के दूध और भैसों से नहीं। क्योंकि जितने आरोग्य कारक और वृध्दिवर्धक आदि गण्ुा गाय के दूध और बैलों में होते हैं उतने भैंस के दूध और भैंसे के दूध और भैंसे आदि में नहीं हो सकते। (गोकरुणानिधि से)

गाय ही सर्वोत्तम क्यों!

गौ और कृषि अन्योन्याश्रित हैं। इसीलिए महर्षि ने गोकृष्यादिरक्षिणी सभा नाम रखा था। गाय का दूध सर्वोत्तम क्यों है? इसमें निम्नलिखित मुख्य विशेषताएॅं हैं-

- गाय का दूध पीला और भैंस का सफेद होता है। इसीलिए इसके दूध के विशेषज्ञ कहते हैं कि गाय के दूध में सोने का अंश हेता है जो कि स्वास्थ्य के लिए उत्तम है और रोगनाशक है।
- गाय का दूध बुध्दिवर्धक तथा आरोग्यप्रद है।
- गाय का अपने बच्चे के साथ स्नेह होता है जबकि भैंस का बच्चे के साथ ऐसा नहीं होता है।
- गाय के दूध में स्फर्ति होती है। इसीलिए गाय के बछड़े व बछियाॅं खूब उछलते कूदते फिरते हैं। भैंस के दूध पीने से आलस्य व प्रमाद होता है।
- गााय के बछड़े को 50 गायों या अधिक में छोड़ दिया जाय तो वह अपनी माता को जल्दी ही ढूॅंए लेता है। जबकि भैंस के बच्चों में यह उत्कृष्टता नहीं होती।
- गाय का दूध तो सर्वाेत्तम होता ही है, साथ ही गाय का गोबर व मूत्र भी तुलना में श्रेष्ठ है। गाय का गोबर स्वच्छ व कीटनाशक होता है। गाय की खाद तीन वर्ष तक उपजाउळ शक्ति बढ़ाती रहती है किन्तु भैंस की खाद एक दो वर्ष के बाद ही बेकार हो जाती है। और गोमूत्र का स्प्रे करके कीड़ों के नाश में भी उपयोग लिया जाता है।
- गोमूत्र उत्तम औषधि है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में पचास से भी अधिक रोगों में इसका उपयोग होता है।
- कृषि के कार्यों के लिए गाय के बछड़े सर्वोत्तम हैं। भारतवर्ष में आज के मशीनीयुग में भी 5 प्रतिशत खेती बैलों से होती है।
- गाय एक सहनशील पशु है। वह कड़ी धूप व सर्दी को भी सहन कर लेता है। इसीलिए गाय जंगल में घूमकर प्रसन्न रहती है।
- गाय के दूध में सूरज की किरणों से भी नीरोगता बढ़ती है। इसीलिए वह अधिक स्वास्थ्यप्रद है।
- गाय की अपेक्षा भैंस के बच्चे/भैंसा धूप में कार्य करने में सक्षम नहीं होते।
- गाय की अपेक्षा भैंस के घी में कण अधिक होते हैं। जो कि सुपाच्य नहीं होते।
- गाय का घी सुक्ष्मतम नाड़ियों में प्रवेश करके शक्ति देता है। मस्तिष्क व हृदय की सूक्ष्मतम नाडियों में पहुॅंच कर गोघृत शक्ति प्रदान करता है। आयुर्वेद में गोघृत का ही शारीरिक शोधन में प्रयोग होता है।

- विज्ञानवेत्ताओं के अनुसार भैंस के दूध में लांग चेन फैट की मात्रा अधिक होती है, जो कि नाड़ियों में जम जाती है। और हृदय के रोग पैदा हो जाते हैं। परन्तु हृदय के रोगियों के लिये भी गाय का दूध विशेष उपयोगी होता है।
- गाय का दूध वात नाशक, पित्तशामक और कफनाशक भी है।
- गाय का दही मधुर, रुचिकारक, अग्निप्रदीपक, हृद्य, प्रिय और पोषक होता है।
- गाय का मक्खन हितकारक, रंग साफ करने वाला, बलवर्धक, अग्नि प्रदीपक और विभिन्न रोगों में रसायन व आयुवर्धक माना है।
- गाय का मट्ठा ;छाछद्ध तो लाखों रोगों की एक अचूक दवा है।
- गाय के दूध, मूत्र, गोबर, दही और घी से तैयार किया पंचगव्य तो असाध्य रोगों में अचूक दवा है। जिन रोगों में अन्य औषध्यिां काम नहीं कर पातीं उनमें पंचगव्य की मात्रा देने से आशतीत लाभ मिलता है। मानसिक उन्माद आदि रोगों में पंचगव्य रामबाण औषधि है।
- नाड़ियों में अवरोध होने पर उत्पन्न विभिन्न रोगों में गाय का घी, गो-मूत्र और प´चगव्य रोगनाश में परम सहायक होते हैं।

महर्षि मनु महाराज भी गाय के महत्व से पूर्णरूपेण परिचित थे, जिसके कारण वे लिखते हैं कि-

नाकृत्वा प्राणिनां हिसा मांसमुत्पद्यते क्वचित्।

न प्राणिवधः स्वग्र्यस्तस्मान्मांसं विविर्जयेत्।। **(मनु॰ 5/48)**

अर्थात् प्राणियों की हिंसा किये बिना मांस की प्राप्ति नहीं होती और प्रणियों का वध करना सुखदायक नहीं, इस करण मा ॅंस नहीं खाना चाहिये।

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।

प्रसमीक्ष्य निवत्र्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्।। **(मनु॰ 5/49)**

अर्थात् हमें मांस की उत्पत्ति में और प्राणियों की हत्या और बन्धन को देखकर सब प्रकार के मांस भक्षण का त्याग कर देना चाहिये।

अनुमन्ता विश्सिता निहन्ता क्रयविक्रयी।

संस्कर्ता चापहत्र्ता च खादकश्चेति घातकाः।। **(मनु॰ 5/59)**

अर्थात् प्राणियों की हत्या में आठ व्यक्ति हत्या से होन वाले पापों के भागीदार होते हैं।1.पशुओं को मारने की आज्ञा देने वाला 2. मांस को काटने वाला। 3. पशुओं को मारने वाला। 4. पशु को खरीदने वाला। 5.पशु को बेचने वाला। 6. मांस पकाने वाला। 7. परोसने वाला और मांस को खाने वाला।

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवलानि च। **(मनु॰ 6/94)**

अर्थात् नशा करने वाले मद्य और मांस का परित्याग कर देना चाहिये।

हिंसारतश्च ये नित्यं नेहासौ सुखमेधते।। **(मनु॰ 4/170)**

अर्थात् जो मनुष्य मांस प्राप्ति के लिए प्रतिदिन हिंसारत रहता है वह कभी सुख प्राप्त नहीं करता है।

गो-मांस व मांसाहार की बात करते हैं, उनके तर्कों का खण्डन

- परमेश्वर ने मनुष्यों के दांत मासाहारी पशुओं की तरह बनाये हैं, अतः मनुष्यों को मांस खाना चाहिये। ऐसी बातों का उत्तर महर्षि ने यह दिया है-यह बात अपने पक्ष में कहते हैं किन्तु इससे उनका पक्ष सिध्द नहीं होता। क्योंकि मनुष्य पशुओं के तुल्य नहीं है। मनुष्य और पशुजाति भिन्न भिन्न हैं। मनुष्यों के दो पग और पशुओं के चार, मनुष्य विद्या पढ़कर सत्यासत्य का विवेक कर सकते हैं पशु नहीं। और बन्दर के दांत सिंह और बिल्ली आदि के समान हैं, किन्तु बन्दर मांस कभी नहीं खाते। बन्दर फलादि खाकर अपना निर्वाह करते हैं, वैसे मनुष्यों को भी करना चाहिये।
- मांसाहारी पशु और मनुष्य बलवान् होते हैं, अतः मांस खाना चाहिये। यह बात भी सत्य नहीं। सिंह मांस खाता है और अरणा भैंसा नहीं खाता, परन्तु सिंह अरणा भैंसे से डरता है और सिंह मनुष्यो पर आक्रमण करे तो एक दो गोली या तलवार के प्रहार से मर भी जाता है। जबकि जंगली सुअर या अरणा भैंसा अनेक गोलियों अथवा तलवार आदि के प्रहार से भी शीघ्र नहीं मरता। और प्रत्यक्ष दृष्टांत देखना हो तो पूर्णरूप से शाकाहारी राममूर्ति, चन्दगी राम, गामा पहलवान, दारा सिंह, सतपाल पहलवान आदि ऐसे उदाहरण हैं, जो मांसाहार करने वाले हैं उनको नाम मात्र काल में ही परास्त कर देते थे। मांसाहार करना बलवर्धक न होकर हानिकारक, अधर्म एवं दुष्टकर्म हैं।
- मांसाहारी व्यक्ति एक यह भी तर्क देते हैं- जो मांसाहार न किया जाये तो संसार में पशु इतने बढ़ जायें कि पृथिवी पर भी न समायें। इसीलिए पशुओं को खाना उचित है। परन्तु महर्षि ने इसका उपहास उड़ाते हुआ लिखा है- यह बुध्दि का विपर्यास मांसाहार ही से हुआ होगा? इसके विपरीत मनुष्य का मांस कोई नहीं खाता पुनः वे क्यों नहीं बढ़ गये। वास्तव में एक मनुष्य के पालन के लिए अनेक पशुओं की अपेक्षा होती है, अतः ईश्वर ने मनुष्य की अपेक्षा पशुओं को अधिक उत्पन्न किया है।
- कुछ व्यक्ति कहते हैं कि पशुओं को मारकर अधर्म तो नहीं होता। जो अधर्म मानता है वह न खाये, हमारे मत में अधर्म नहीं होता। अतः मांसाहार करना अनुचित नहीं हैं। यह बात भी सत्य नहीं, क्योंकि धर्म-अधर्म किसी के मानने अथवा न मानने से नहीं होता। पर हानि अथवा हिसंा करना अधर्म और परोपकार करना धर्म होता है। चोरी जारी इसलिए अधर्म होता है कि इससे दूसरे की हानि होती है। अतः लाखों पशुओं के मारने में अधर्म और उन्हें सुख देने में धर्म क्यों स्वीकार नहीं करना चाहिए।
- कुछ व्यक्ति ऐसा भी कहते हैं कि जो पशु काम में आते हैं उन्हें मारना अधर्म है परन्तु जब बूढे हो जायें अथवा स्वयं पर जायें तो उनका मांस खाने में तो दोष नहीं। क्या ऐसा करने से कृतघ्नता रूपी महापाप नहीं होगा। इसी प्रकार जिन गाय, बैल आदि पशुओं से जीवन भी लाभ लिया, उनसे अमृत जैसा दूध व अन्न प्राप्त किया, और इधर-उधर आने जाने में भार ढोने का काम लिया, क्या उनकी हत्या करने में पाप नहीं होगा और कृतघ्नता तो महापाप है, उससे बचा नहीं होता उनको मारकर खाने में तो कोई हानि नहीं होती। प्रथम तो ईश्वर ने किसी भी पशु को निरर्थक नहीं बनाया है, उससे लाभ होता है या

नहीं, यह हम नहीं जानते हैं। किन्तु हम प्रयास कर उस वृद्ध गाय आदि पशुओं का उपयोग कर सकते हैं, गो-मूत्र, गो-गोबर आदि से। भारतवर्ष में आज भी ऐसी गोशालाएॅं हैं, जिनमें इसप्रकार के कार्य होते हैं, ऐसी गोशालाओं में जा कर हम सबको इससे सबक लेना चाहिए। दूसरी बात यह है कि मरने के बाद माॅंस खाने से माॅंसाहारी हिंसक स्वभाव अवश्य हो जायेगा, अतः माॅंसाहार करना सर्वथा अनुचित ही नहीं अपितु निषेधनीय है।

- ## 'मनुष्य और उसका धर्म'-मनमोहन कुमार आर्य

- NOVEMBER 9, 2015 1 COMMENT
-
- संसार के सभी मनुष्य अपने-अपने माता-पिताओं से जन्में हैं। जन्म के समय वह शिशु होते हैं। इससे पूर्व 10 माह तक उनका अपनी माता के गर्भ में निर्माण होता है। मैं कौन हूं? यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। मैं वह हूं जो अपनी माता से जन्मा है और उससे पूर्व लगभग 10 माह तक गर्भ में रहा है। माता के गर्भ में यह कैसे आया यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न के उत्तर को ढ़ूढने से पूर्व हम यह देखते हैं कि जब वृद्धावस्था आदि में मनुष्य की मृत्यु होती है तो वस्तुतः होता क्या है? पृथिवी, अग्नि, जल, वायु और आकाश नामी पंच-भूतों से निर्मित उसका जड़ शरीर हमारे सामने होता है जिसका शास्त्रीय व लोक नियमों के अनुसार दाह संस्कार कर दिया जाता है। अनेक देशों में मृतक शव को दफनाने की प्रथा भी विद्यमान है। मृत्यु से पूर्व तक जड़ शरीर में एक चेतन तत्व भी होता है जो शरीर से निकल जाता है जिससे उस मनुष्य व उसके शरीर की मृत्यु कही जाती है। वह चेतन तत्व क्या है, आईये, विचार करते हैं। मृत्यु से पूर्व मनुष्य के शरीर में हम ज्ञान व क्रियाओं वा कर्मों की निरन्तरता को बना हुआ देखते हैं जो मृत्यु होने पर बन्द हो जाती है। शरीर की संवेदनायें समाप्त हो जाती है और वह पूर्णतः निष्क्रिय हो जाता है। अतः यह सिद्ध होता है कि जीवित अवस्था में शरीर में ज्ञान व क्रियायें किसी एक चेतन सत्ता की विद्यमानता के कारण हो रही थी जिसके न रहने, निकल जाने या शरीर छोड़ कर चले जाने पर वह पूर्णतः बन्द हो गई। अतः शरीर में दिखने वाला ज्ञान व क्रियायें एक चेतन तत्व अर्थात् जीवात्मा की उपस्थिति का प्रमाण होने के साथ यह दोनों ज्ञान व क्रियायें=कर्म, जीवात्मा का स्वभाव वा स्वाभाविक गुण हैं। जीवात्मा के स्वाभाविक ज्ञान व क्रियाओं को जानने के बाद आईये, जानते हैं कि जीवात्मा के अन्य गुण वा उसका स्वरूप कैसा है? हम सभी अनुभव करते हैं कि जीवात्मा शरीर तक ही सीमित है। अतः जीवात्मा अल्प परिमाण वाली एवं एकदेशी सत्ता है। अल्प परिमाण एवं एकदेशी सत्त अल्प शक्ति वाली ही हो सकती है। हम यह भी देखते हैं कि हम और अन्य सभी प्राणी दुःख, रोग व मृत्यु से भयभीत होते हैं। अतः यह हमारी अल्प शक्ति के साथ परतन्त्रता को भी सिद्ध करता है। प्रश्न उपस्थित होता है कि हमें दुःख, रोग व मृत्यु किससे मिलता है? उत्तर प्राप्त होता है कि इसका कारण हमारा अज्ञान व हमारे अज्ञान-जनित कर्म होते हैं। अज्ञान का कारण हमारी अल्पज्ञता है जिसे सर्वज्ञ ईश्वर एवं ज्ञानी गुरूओं का सान्निध्य प्राप्त कर दूर किया जा सकता है। मनुष्य जब सर्वज्ञ ईश्वर के सान्निध्य को प्राप्त करता है और स्तुति, प्रार्थना व उपासना करता है तो इसके प्रभाव से धीरे-धीरे उसकी आत्मा, मन, बुद्धि व अन्तःकरण के मल छटने वा दूर होने आरम्भ हो जाते हैं। निरन्तर अभ्यास से आत्मा आदि के मल दूर हो जाने से वह निर्मल होकर ईश्वर व आत्मा में स्थिति को प्राप्त करता है। इस अवस्था में पहुंचने

पर उसे दुःख, रोग व मृत्यु आदि का भय समाप्त हो जाता है। संसार में जहां भी मनुष्य निवास करता है, वह किसी भी मत, सम्प्रदाय, मजहब का अनुयायी हो, परन्तु उसके समस्त दुःख व भय आदि केवल व केवल ईश्वर की उपासना से ही दूर हो सकते हैं। 'नान्यः पन्था विद्यते अयनायः' अर्थात् इन मलों को दूर करने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

-
- उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवात्मा, सत्य, चित्त, एकदेशी, अल्पज्ञ, कर्म करने में स्वतन्त्र व फल भोगने में परतन्त्र है। योग विधि से स्तुति, प्रार्थना व उपासना व वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन वा स्वाध्याय करके वह अपनी अज्ञानता व अविद्या को दूर करके विवेक को प्राप्त होकर दुःखों से मुक्त होता है। दुःखों के साथ-साथ वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष अर्थात् मुक्ति को भी प्राप्त हो जाता है और नियत अवधि तक मुक्ति का सुख भोगता है।
-
- जीवात्मा का स्वरूप जान लेने के पश्चात प्रश्न आता है कि जीवात्मा अपनी उन्नति, प्रगति व उत्थान के लिए क्या करे? जीवात्मा को जब अपने स्वरूप का ज्ञान होता जाता है तो इसके साथ ही साथ परमात्मा का भी ज्ञान हो जाता है। कारण यह है कि ज्ञान प्राप्त होने पर जीवात्मा यह जान जाता है कि यह कार्य जगत अथवा विशाल सृष्टि उसे बनी बनाई मिली है जिसे संसार में विद्यमान दूसरी सर्वव्यापक चेतन सत्ता, ईश्वर ने बनाया है। ईश्वर व स्वयं को जानकर जीवात्मा को यह ज्ञान भी हो जाता है कि उसे भोगों का त्याग पूर्वक उपभोग करना है। इसके अतिरिक्त जो ज्ञान उसने गुरूओं, वृद्धों, सृष्टि के दर्शन व चिन्तन-मनन-ऊहा करके प्राप्त किया है उसे अज्ञानियों व अल्पज्ञानियों में फैलाना है। उसे इसकी प्रेरणा सूर्य, वायु, जल व नदी-समुद्र-वर्षा, वृक्ष आदि सभी से मिलती है। सूर्य के पास प्रकाश है, वह उसे अपने पास न रखके पूरे सौर्य मण्डल में फैला रहा है। नदिया व समुद्र अपना जल अपने पास नहीं रखते अपितु उसे वाष्प बना कर वायु में उड़ा देते हैं जो वर्षा के द्वारा असंख्य लोगों को लाभ पहुंचाता है। नदियों का जल किसानों द्वारा खेती में उपयोग किया जाता है व नदी के आस-पास बसे ग्राम व नगर के लोग, जल की अपनी भिन्न- भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति में करते हैं। इसी प्रकार वृक्ष, ओषधियां, दुधारू पशु, भूमि आदि सभी परोपकार-यज्ञ कर रहे हैं जिससे संसार चल रहा है। यह सब जीवात्मा को परोपकारमय जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देते हैं। इनका मनन कर मनुष्य अपने जीवन का उद्देश्य ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना, ध्यान, परोपकार एवं यज्ञ आदि करना निश्चित करता है। यही जीवात्मा वा मनुष्यों का कर्तव्य व धर्म भी है। इन कार्यो को करते हुए वह अपने पुर्व किये हुए कर्मो को भोगेगा व आगे के लिए नये कर्मों को करके प्रारब्ध तैयार करेगा। जड़ पदार्थ परोपकार कार्यो में संलग्न हैं तो बुद्धिमान जीवात्मा इस कार्य में पीछे कैसे रह सकता है?
-
- इस संक्षिप्त लेख में जीवात्मा के स्वरूप व उसके कर्तव्य-धर्म का संक्षेप में विचार किया है। मनुष्य को अपने जीवन के सभी प्रश्नों के उत्तर व जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के साधनों एवं उपायों को जानने के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ का आश्रय लेना चाहिये। इस ग्रन्थ में मनुष्य जीवन से सम्बन्धित सभी प्रश्नों का सत्य व यथार्थ समाधान विद्यमान है। विगत 140 वर्षों में संसार के करोड़ों लोगों

द्वारा इस ग्रन्थ में प्रस्तुत विचारों से लाभ उठा कर अपने जीवनों को संवारा जा चुका है।

-
- – मनमोहन कुमार आर्य
- पताः **196** चुक्खूवाला**-2,**
- देहरादून**-248001**
- फोनः **09412985121**

‘संसार के सभी मनुष्यों का धर्म क्या एक नहीं है?’ -मनमोहन कुमार आर्य

- OCTOBER 24, 2015 LEAVE A COMMENT
- ओ३म्
- संसार में सम्प्रति अनेक मत-मतान्तर फैले हुए हैं जिनकी अनेक मान्यतायें समान, कुछ भिन्न व कुछ एक दूसरे के विपरीत भी हैं। यह सभी मत किसी एक ऐतिहासिक पुरुष द्वारा चलाये गये हैं। यही भी सत्य है कि मनुष्य अल्पज्ञ होता है। यह भी तथ्य है कि सभी मतों के प्रवर्तक वेद ज्ञान से शून्य थे। सब मतों का अपना-अपना एक व एक से अधिक ग्रन्थ हैं जिसे वह धर्म ग्रन्थ कहते हैं और उसकी शिक्षाओं को मानना ही अपना धर्म समझते हैं। यदि सभी मतों की सभी बातें सत्य होती, परस्पर विरोधी न होती, पूर्ण निष्पक्ष होती, तो किसी को कुछ कहने के लिए नहीं था। सभी मतों में प्रायः एक समान्य बात देखने को मिलती है और वह यह है कि वह अपने मतों की समीक्षा, परीक्षा व मूल्याकंन कि वह सभी सत्य हैं तथा उनमें कहीं कोई बात असत्य तो नहीं है, इसका विचार नहीं करते। इनका यह विचार व स्वभाव ज्ञान की उन्नति व विज्ञान के सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत होने से विचारणीय प्रतीत होता है। दूसरी ओर सृष्टि के आरम्भ से चला आ रहा वैदिक धर्म, जिसका आधार ग्रन्थ चार वेद हैं, अपने अनुयायियों को सभी ग्रन्थों के स्वाध्याय, मनन, विचार, चिन्तन, सत्यान्वेषण, सत्य व भद्र के ग्रहण व असत्य-अभद्र के त्याग की पूरी अनुमति व स्वतन्त्रता देता है। इस वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करने वाले महर्षि दयानन्द (1825-1883) सभी सत्य मान्यताओं व उनके आचरण को ही धर्म मानते हैं। उनका कहना है कि सभी मतों में जो सत्य है, वह सबमें एक समान होने से धर्म है और उनमें जो सत्य नहीं है, वह उनका अपना है, वह धर्म नहीं हैं। महर्षि दयानन्द वेदों को ईश्वर प्रदत्त होने से स्वतः प्रमाण मानते हैं और अन्य सभी ऋषियों के रचित शास्त्रों के वेदानुकूल होने पर सत्य व विरुद्ध होने पर संशोधनीय, उसमें सुधार करने वा उन्हें त्याज्य मानते हैं। उनके अनुसार जिस मत में सत्य व असत्य दोनों प्रकार की न्यूनाधिक मान्यतायें व सिद्धान्तों हों, उसे वह मत, सम्प्रदाय, मजहब ही स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में धर्म वह है, जो शत-प्रतिशत सत्यासत्य की दृष्टि से विवेचित, तर्क व युक्तियों से पोषित, समीक्षा किया गया, सृष्टिक्रम के पूर्णरूपेण अनुकूल, मनुष्यों में किसी प्रकार के भेदभाव से रहित, सबकी समानता का पोषक, हिंसा, छल, कपट, प्रलोभन से रहित तथा साथ हि जो विचार व चिन्तन कर असत्य पाये जाने पर उसमें संशोधन की अनुमति देता हो।
-
- धर्म को समझने के लिए हमें यह जानना है कि संसार में तीन सत्य, नित्य व अनादि पदार्थ है जिनमें एक चेतन ईश्वर है, दूसरा चेतन जीवात्मा व तीसरा जड़ प्रकृति है।

इन तीनों में एक हम व संसार के सभी प्राणी चेतन जीवात्मा होते हैं जिनकी संख्या अनन्त हैं। चेतन तत्व में ज्ञान व गति होती है। गति को कर्म के नाम व रूप में भी जान सकते हैं। जीवात्मा का एक गुण व स्वभाव, जन्म व मृत्यु, फिर जन्म और फिर मृत्यु को प्राप्त होना है। यह जन्म व मृत्यु तथा अनेक प्राणी योनि में से एक समय में किसी एक योनि विशेष में इसका जन्म इसके द्वारा पूर्व व वर्तमान मनुष्य योनि में किये गये व किए जाने वाले शुभ व अशुभ कर्मों का परिणाम होता है। परमात्मा का कर्तव्य है कि वह जीव को करणीय व अकरणीय कर्तव्यों का ज्ञान कराये। यह ज्ञान वह सृष्टि के आरम्भ में अमैथुनी सृष्टि में चार ऋषियों व अनेक स्त्री-पुरूषों की रचना कर करता है। परमात्मा द्वारा कर्तव्य व अकर्तव्यों का ज्ञान ही ''चार वेद'' अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं। यही कारण है कि विगत लगभग 2 अरब वर्षों से यह ज्ञान हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों की कृपा से आज तक मूल रूप में सुरक्षित है। चारों वेदों की भाषा दिव्य संस्कृत है जो ईश्वर व ऋषियों की भाषा है। समय के साथ अनेक उतार चढ़ाव देश व समाज में आये। अतः ऋषियों ने वेदों को समझाने के लिए उसके अंग व उपांग रूप ग्रन्थों की रचना की। इसके बाद भी जब लोगों ने वेद समझने में कठिनाईयों का अनुभव किया तो ईश्वर प्रदत्त क्षमता से ऋषि और वैदिक विद्वानों ने संस्कृत व हिन्दी आदि अनेक भाषाओं में वेदों का तात्पर्य समझाने के लिए भाष्य व टीकायें लिखी जिसे पढ़कर भी वेदों में निहित मनुष्यों के कर्तव्य व अकर्तव्यों को जाना जा सकता है। वेदों में निर्दिष्ट कर्तव्य ही धर्म कहलाते हैं और निषिद्ध व कर्तव्यों के विपरीत कार्य व क्रियाओं को ही अधर्म कहा जाता है। संसार के मत व सम्प्रदायों की पुस्तकें जिस सीमा तक वेदों के अनुकूल मान्यताओं व सिद्धान्तों से युक्त हैं, वहां तक वह धर्मयुक्त हैं और जो बातें, कहीं की व किसी की भी, वैदिक शिक्षाओं, मान्यताओं व सिद्धान्तों के विपरीत हैं, वह धर्म नहीं हैं और कहीं-कहीं अधर्म भी हैं। धर्म का पालन करने से सभी मनुष्यों की उन्नति होती है, हानि किसी भी मुनष्य या प्राणी की नहीं होती और अधर्म वह है जो अज्ञान के कारण अपने लाभ के लिए किया जाता है जिससे दूसरों को हानि पहुंचने से वह धर्म न होकर अधर्म ही होता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि सभी संसार के लोग वेदों की शिक्षाओं को पूर्णतः मानें जो कि सबके लाभ व हित के लिए हैं अथवा वह अपने-अपने मत की पुस्तकों का वेदों से मिलान कर उसे संशोधित व परिष्कृत करें। यह संसार व संसार के सभी मनुष्यों के हित में है। यदि ऐसा करते हैं तो विश्व में प्रेम व भ्रातृभाव में वृद्धि होगी अन्यथा हानि ही होगी व हो रही है।

-
- धर्म के विषय में यदि हम सामान्य रूप से विचार करें तो धर्म किसी पदार्थ के गुणों को कहते हैं जो सदैव एक समान रहते हैं। अग्नि का गुण जलाना, ताप देना व प्रकाश करना है। साथ ही हम आंखों से जिन आकारवान पदार्थों को देखते हैं वह उनमें अग्नि की उपस्थिति व उसके व्याप्त होने के कारण ही दिखाई देती हैं। यह ताप, जलना, प्रकाश व दर्शन अग्नि का धर्म है। जल का गुण शीतलता देना, मनुष्यों की पिपासा को शान्त करना, अन्न उत्पत्ति में सहायक होना, वर्षा द्वारा स्थान-स्थान पर ओषधियों, अन्न व फलों को उत्पन्न करना व अनेक प्रकार से सभी प्राणियों के लिए उपयोगी होता है। जल का मुख्य गुण शीतलता है। इसी प्रकार से वायु का गुण स्पर्श, पृथिवी का अपना मुख्य गुण गन्ध तथा आकाश का शब्द है। इसी प्रकार से जब जीवात्मा वा मनुष्य की बात करते हैं तो मनुष्य के धर्म में ईश्वर, जीवात्मा व प्रकृति

को जानना, ईश्वरोपासना करना, यज्ञ करना, माता-पिता-आचार्य- अतिथियों का आदर व सत्कार करना आदि कर्तव्य होते हैं। प्राणी मात्र को प्रेम व मित्र की दृष्टि से देखना और उनके प्रति किसी प्रकार की हिंसा का भाव अपने अन्दर न लाना, वेदों का अध्ययन, गृहस्थ आश्रम के वेद प्रतिपादित कर्तव्यों का पालन, सबसे प्रीतिपूर्वक, यथायोग्य, धर्मानुसार व्यवहार करना ही मनुष्य का धर्म निश्चित होता है। मनुष्य का यह भी कर्तव्य व धर्म है कि स्वयं धर्म को जानकर धर्म को न जानने वाले व विपरीत आचरण करने वालों को यथायोग्य व्यवहार और साम, दाम, दण्ड व भेद की सहायता से उन्हें धर्म का ज्ञान व पालन करना सिखाये। धर्म में हिंसा, अत्याचार, बल प्रयोग, छल, कपट, प्रलोभन आदि का व्यवहार करना अनुचित होता है। जो भी व्यक्ति इनको करता है वह धार्मिक कदापि नहीं हो सकता। इससे यह भी ज्ञात होता है कि संसार के सभी मनुष्यों का धर्म केवल और केवल एक ही है। जिस मत में सब सत्य गुणों का समावेश हो वह धर्म और जिसमें असत्य व दूसरों के प्रति अनुचित व्यवहार व ज्ञान पूर्वक कर्मों का अभाव व न्यूनता हो वह धर्म न होकर मत, पन्थ व सम्प्रदाय की श्रेणी में ही होते हैं। इस दृष्टि से संसार में धर्म तो एक ही सत्याचरण है। यह धर्म वैदिक धर्म है। यदि कोई अपने आप को वैदिक धर्मी कहे और आचरण वेदों के विरुद्ध करे तो वह वैदिक धर्मी होकर भी आचरण की दृष्टि से धार्मिक न होकर उस सीमा तक अधार्मिक ही होता है जिस सीमा तक उसका व्यवहार वैदिक मान्यताओं व सिद्धान्तों के विपरीत होता है।

-
- धर्म का एक आवश्यक अंग ईश्वरोपासना है। ईश्वरोपासना क्या है? यह मनुष्यों द्वारा ईश्वर व जीवात्मा के स्वरूप व गुण-कर्म-स्वभाव को जानकर ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना, ईश्वर का ध्यान, दुष्ट व बुरे कर्मों का त्याग व सत्याचरण का ग्रहण, प्राणिमात्र पर दया व परोपकार आदि को कहते हैं। इस प्रकार के कर्म व पुरुषार्थ करके अपने सभी शुभकर्मों को ईश्वर को समर्पित करना और ईश्वर का ध्यान व चिन्तन कर स्वयं को अहंकार शून्य करना ही ईश्वरोपासना है और सभी मनुष्यों का धर्म है। ईश्वर को जान लेने और उपासना करने से ईश्वर से हमें प्रारब्ध और पुरुषार्थ के अनुसार सुख व दुःख आदि मिलते ही हैं, उपसना का अतिरिक्त फल भी प्राप्त होता है। महर्षि दयानन्द ने बताया है कि ईश्वर की उपासना का अतिरिक्त फल यह मिलता है कि जिस प्रकार अग्नि के पास जाने से शीत निवृत हो जाता है उसी प्रकार ईश्वर का ध्यान व उपासना करने से जीवात्मा के सभी अभद्र गुण-कर्म-स्वभाव दूर होकर, ईश्वर के अनुरुप भद्र होते जाते हैं। इतना ही नहीं, आत्मा का बल इतना बढ़ता है कि मृत्यु के समान बड़े से बड़ा दुःख प्राप्त होने पर भी मनुष्य घबराता नहीं है और उसे सहन कर लेता है। यह छोटी बात नहीं है। अन्य किसी प्रकार से यह आत्मिक बल प्राप्त नहीं होता, अतः सभी को अष्टांग योग की विधि से ईश्वर की सत्य व शुभ परिणामदायक उपासना अवश्य करनी चाहिये।
-
- सृष्टि उत्पत्ति के कुछ समय बाद मनुष्यों को नियम में रखने के लिए एक राजा, राज परिषद व राज नियमों की आवश्यकता हुई थी। यह कार्य वेदों के ऋषि महर्षि मनु ने किया था और संसार को एक अद्वितीय ग्रन्थ "मनुस्मृति" दिया। अपने आरम्भ काल से लेकर महाभारत व उसके बाद की कई शताब्दियों तक मनुस्मृति अपने शुद्ध स्वरुप में विद्यमान रही। उसके बाद उत्पन्न अनेक सम्प्रदायों के लोगों ने इसमें अपनी-अपनी

अशुद्ध व वेद विरुद्ध मान्यताओं के श्लोक बनाकर मिला दिये। इस प्रकार मनुस्मृति अनेक प्रक्षेपों से युक्त हो गई। इस मनुस्मृति में धर्म के लक्षण विषयक एक मूल श्लोक है जिसमें उन्होंने कहा है कि धर्म के दश प्रमुख लक्षण धृति अर्थात् धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, सदबुद्धि, विद्या, सत्य व अक्रोध हैं। जिस मनुष्य में यह लक्षण हों वही धार्मिक होता है। धर्म के यह दश लक्षण सभी मनुष्यों में कुछ-कुछ पाये जाते हैं, किसी में कुछ कम व किसी में कुछ अधिक, परन्तु धर्म के दसों लक्षणों से पूर्णतया युक्त व उसके विपरीत गुणों व लक्षणों से सर्वथा रहित मनुष्यों का मिलता दूभर है। हमें मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम, योगेश्वर श्री कृष्ण और महर्षि दयानन्द आदि में यह लक्षण पूर्ण रुप से विद्यमान दिखाई देते हैं। यह तीनों महात्मा वस्तुतः पूर्ण धार्मिक थे। इनके बाद इतिहास में इनके समान इन दस लक्षणों से युक्त व इनका सर्वात्मा प्रचार करने वाला मनुष्य वा महापुरुष हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। यह धर्म के लक्षण भी सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन है। इनसे भी मनुष्यों का एक धर्म होना सिद्ध होता है। इन लक्षणों को मानने वाले सभी मनुष्य वैदिक धर्मी वा मनु-मत के अनुयायी ही सिद्ध होते हैं जिसमें संसार के सभी मनुष्य आ जाते हैं। इन लक्षणों के अनुरुप जीवन के निर्माण के लिए वैदिक शिक्षा पूर्ण सहायक है। वर्तमान की स्कूली शिक्षा में इन धार्मिक लक्षणों के अनुरुप शिक्षा न होने के कारण वास्तविक धर्म हमारे जीवन में न्यूनतम हो गया है।

-
- संसार में जितनी भी मनुष्यों की भौगोलिकि दृष्टि से जातियां, मत व सम्प्रदाय हैं उसके सभी मनुष्यों को सुख समान रूप से प्रिय लगते हैं व दुःख सबको समान रुप से सताते हैं। ऐसा कोई नहीं कि भारत में किसी को सुई चुभायें तो उसे दुःख होता हो और यूरोप व अन्य किसी देश-प्रदेश में ऐसा ही किया जाये तो वहां सुख होता हो। इससे तो यही सिद्ध हो रहा है कि संसार के सभी मनुष्यों के गुण-कर्म-स्वभाव, कर्तव्य व धर्म एक ही वा एक प्रकार के हैं। सत्य बोलना, सत्य का आचरण करना, ईश्वर के प्रति कृतज्ञता का भाव रखना और बड़ों का आदर सभी मतों में एक समान हैं। यदि सभी धर्मों व मतों की मौलिक शिक्षायें एक ही प्रकार की हैं, तो यह सभी मनुष्यों का एक धर्म होने का संकेत कर रही हैं। संसार के सभी मनुष्यों को उनके एक समान धर्म के अधिकार से वंचित किया जाना उनके प्रति व मानवता के प्रति न्याय नहीं है। हम सभी मत व सम्प्रदायों के आचार्यों से यह कहना चाहते हैं कि वह स्वयं से ही प्रश्न करें कि क्या संसार के लोगों के धर्म व मत अलग-अलग मानना उचित है? हमें लगता है कि उत्तर नहीं में मिलेगा। यह बात इससे भी सिद्ध है कि कुछ मतों के लोग दूसरे मतों व धर्मों के लोगों का लोभ, बल प्रयोग, छल-कपट व हिंसा आदि से धर्म-परिवर्तन करते हैं। इतिहास इस प्रकार की घटनाओं से भरा पड़ा है। यदि एक व्यक्ति का एक व अधिक बार अन्य अन्य मतों में धर्म परिवर्तन हो सकता है तो यह सम्प्रदाय परिवर्तन ही कहा जा सकता है, धर्म परिवर्तन नहीं। इस धर्म परिवर्तन से उस व्यक्ति में गुणों व लक्षणों की दृष्टि कुछ मौलिक परिवर्तन होता हुआ देखा नहीं जाता। जैसा वह पहले होता है, वैसा ही बाद में भी रहता है। हां, उसके कपड़े, रहन-सहन के तरीके व पूजा पद्धति में किंचित बदलाव होता है परन्तु उसके सुख-दुःखों में कोई अन्तर आता हो, इसका पता नहीं चलता। सुख में वृद्धि तो सत्याचरण व ईश्वर के निकट जाने से ही मिलती है और उस ईश्वर से दूरी होने पर दुःख, अवनति व विनाश ही होता है। हमारा विनम्र निवेदन है कि सभी मतों व धर्मों के लोग सच्चे मन से

विचार करें कि क्या सभी मनुष्यों का धर्म एक ही है या नहीं? अगर किसी से कोई नई बात पता चलती है, तो हम अनुग्रहीत होंगे।

- –मनमोहन कुमार आर्य
- पताः **196** चुक्खूवाला**-2**
- देहरादून**-248001**
- फोनः**09412985121**

- # ‘न्यायकारी व दयालु ईश्वर कभी किसी का कोई पाप क्षमा नहीं करता।’ -मनमोहन कुमार आर्य

- OCTOBER 20, 2015 LEAVE A COMMENT
- ओ३म्
- संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं, चेतन व जड़ पदार्थ। चेतन पदार्थ भी दो हैं एक ईश्वर व दूसरा जीवात्मा। ईश्वर संख्या में केवल एक हैं जबकि जीवात्मायें संख्या में अनन्त हैं। ईश्वर के ज्ञान में जीवात्माओं की संख्या सीमित है परन्तु अल्पज्ञ जीवात्माओं की अल्प शक्ति होने के कारण वह बड़ी संख्या अनन्त ही होती है। चेतन पदार्थों में ज्ञान व कर्म, दो गुण पाये जाते हैं। सर्वथा ज्ञानहीन सत्ता चेतन नहीं हो सकती, वह सदैव जड़ ही होगी। इसी प्रकार से ज्ञान से युक्त सत्ता जड़ नहीं हो सकती वह सदा चेतन ही होगी। दो प्रकार की चेतन सत्ताओं में से एक सत्ता सर्वव्यापक है तो दूसरी एकदेशी है। सर्वव्यापक सत्ता सर्वज्ञ है और एकदेशी सत्ता अल्पज्ञ अर्थात् अल्पज्ञान वाली है। यह दोनों चेतन सत्तायें तथा एक तीसरी जड़ सत्ता प्रकृति, यह तीनों अनादि, अनुत्पन्न व नित्य हैं। अनादि होने के कारण इनका कभी अन्त वा नाश नहीं होगा। यह सदा से हैं और सदा रहेंगी। इसी कारण आत्मा को अनादि व अमर कहा जाता है। ईश्वर सर्वव्यापक होने के साथ निराकार, सर्वशक्तिमान व सर्वज्ञ भी है। सर्वज्ञ का अर्थ है कि ईश्वर में ज्ञान की पूर्णता व पराकाष्ठा है, न्यूनता किंचित नहीं है। यह सर्वज्ञता उसमें स्वाभाविक है और अनादि काल से है तथा अनन्त काल तक अर्थात् सदैव बनी रहेगी। ईश्वर सत्व, रज व तम गुणों वाली, त्रिगुणात्मक सूक्ष्म प्रकृति से इस सृष्टि की रचना करता है, उसका पालन करता है और अवधि पूरी होने पर प्रलय भी करता है। ईश्वर ही समस्त प्राणी जगत का उत्पत्तिकर्ता और पालनकर्ता है जिसमें मनुष्य व सभी पशु, पक्षी आदि प्राणी सम्मिलित है। यह भी जानने योग्य है कि ईश्वर से अधिक व उसके समान कोई सत्ता ब्रह्माण्ड में नहीं है। ईश्वर एक है और वह अपने समस्त कार्य स्वयं, अकेला व स्वतन्त्र रूप से करता है। उसे अपने कार्यों के सम्पादन में किसी अन्य जड़ व चेतन सत्ता अर्थात् प्रकृति व जीवात्माओं की अपेक्षा नहीं है। प्रकृति व सृष्टि उसके पूर्ण रूप से वश में है तथा जीव कर्म करने में स्वतन्त्र तथा फल भोगने में ईश्वरीय व्यवस्था में परतन्त्र है।
-
- ईश्वर में अनन्त गुण हैं जिनमें उसका न्यायकारी होना व दयालु होना भी सम्मिलित है। दयालु होने के कारण कुछ भावुक व स्वार्थी प्रकृति के लोग अविवेकपूर्ण बात कह देते हैं कि ईश्वर दयालुता के कारण जीवात्माओं के पापों को क्षमा कर देता है। पापों को क्षमा करने की बात ईश्वर के स्वभाव के सर्वथा विपरीत है। ईश्वर किसी मनुष्य के किसी कर्म को दयालु होने पर कदापि किंचित क्षमा नहीं करता और न हि कर सकता है। यदि वह किसी के पापों को क्षमा करेगा तो फिर वह न्यायकारी न होकर

अन्यायकारी कहा जायेगा। यह अन्याय उस मनुष्यादि प्राणी के प्रति होगा जिसके प्रति अपराध व पाप हुआ है। दया का अर्थ यह कदापि नहीं होता कि दयालु व्यक्ति किसी बुरा काम करने वाले व्यक्ति के काम को क्षमा कर दे। यदि कोई ऐसा करता है तो वह उस व्यक्ति का अपराधी होता है जिसके प्रति अपराध हुआ है। हम यह सभी जानते हैं कि अपराध को क्षमा करने से अपराध की प्रवृत्ति कम होने के स्थान पर बढ़ती है। दूसरी बात यह भी है कि जिस व्यक्ति के प्रति अपराध किया गया है, वह निर्दोष व्यक्ति भी अपराध क्षमा करने वाले के प्रति अविश्वास की भावना रखने लगता है जो कि उचित ही है। यदि ईश्वर ऐसा करेगा तो उसके प्रति भी यही विचार बनेंगे। मनुष्य तो अपने राग, द्वेष, हठ, दुराग्रह, स्वार्थ व अविद्यादि दोषों से ऐसा कर सकता है परन्तु सर्वशक्तिमान व सबके सब कर्मों का साक्षी परमात्मा ऐसा नहीं कर सकता। हम देखते हैं कि संसार में अपने धार्मिक मतों की मान्यताओं के अनुसार उन उन मतों का ईश्वर अपने भक्तों के पापों को क्षमा कर देता है, ऐसा कहा जाता व प्रचार किया जाता है। इसका एक प्रयोजन यह भी लगता कि उस मत के लोग दूसरे मत के लोगों को फंसा कर अपने मत में लाना चाहते हैं और अपने मत के लोग दूसरे सच्चे मतों में न चले जायें, यह उनका उद्देश्य होता है। अब उनसे प्रश्न है कि यदि उन मतों के अनुयायियों के पापों को उनके ईश्वर ने क्षमा कर दिया है तो फिर वह रोगी क्यों होते है, दुःख क्यों भोगते हैं, किस कारण उनकी इच्छायें पूरी नहीं होती, वह धन व सुख की कामना करते हैं, अधिकांश को वह नहीं मिलता, इसका क्या कारण है? जब कोई पाप बचा ही नहीं तब भी मनुष्य का दुःखी होना उस मत के ईश्वर का पापरहित जीवात्माओं के प्रति अन्याय ही कहा जायेगा। अब उसी दयालुता कहां गईं। किसी बात का दुःख उन मनुष्यों को मिल रहा है, जिनके पाप क्षमा कर दिये गये हैं? इसका एक ही कारण है कि ईश्वर एक है और वह सभी मतों के अनुयायियों को एक समान रूप से कर्मों के फल प्रदान करता है। दुःख हमारे जाने व अनजाने, इस जन्म व पूर्व जन्म में किये गये कर्मों का परिणाम होते है, और ईश्वर उन्हें किसी भी स्थिति में क्षमा नहीं करता। यदि हमारे पूर्व कृत बुरे कर्मों व पापों को ईश्वर क्षमा कर देता तो हम ज्ञान, स्वास्थ्य, साधनों व धन आदि में पूर्णतया सन्तुष्ट व सुखी होते। किसी को भी कोई क्लेष, कष्ट व दुःख नहीं होता। हमें अपनी किसी इच्छित वस्तु का किंचित अभाव व कमी न होती। ऐसा न होने का कारण यही है कि हमारा प्रारब्ध व इस जन्म के कर्म ही हमारे इच्छित भोगों की प्राप्ति में बाधक हैं। यह भी स्पष्ट कर दें कि एक बार पाप हो जाने पर वह किसी पौराणिक पूजा व क्रिया से भी समाप्त नहीं हो सकता। उसका तो केवली एक ही उपाय है प्रायश्चित। प्रायश्चित करने में किसी धर्म गुरू आदि की आवश्यकता नहीं है। प्रायश्चित स्वयं किया जाना है। उसमें तो अपने उस कर्म की भर्तस्ना व निन्दा करनी है जिससे की भविष्य में वह पाप न हो। किये पाप का फल तो प्रायश्चित करने पर भी भोगना ही होता है क्योंकि यदि उसका फल ईश्वर नहीं देगा तो वह न्यायकारी नहीं रहेगा। हां पाप का फल देते हुए, और क्षमा प्रार्थना को अस्वीकार कर भी ईश्वर दयालु ही रहता है जिस प्रकार माता-पिता व आचार्य बच्चों के दोषों को दूर करने के लिए दण्ड देते समय उनके हित के लिए व अपनी दया प्रदर्शित करने के कारण ही उसे दण्ड देते हैं। दण्ड का उद्देश्य सुधार है, हां अकारण दण्ड देना अनुचित है जो कि ईश्वर कभी किसी के प्रति नहीं करता।

•

- आईये, वेदों के महान विद्वान, विश्व गुरू व धर्मवेत्ता महर्षि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश में लिखे एतद् विषयक प्रकरण पर एक दृष्टि डाल लेते हैं। महर्षि ने प्रश्न प्रस्तुत किया है कि ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है वा नहीं? इसका उत्तर देते हुए वह कहते हैं कि (ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा) नहीं करता। जो पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाय, और सब मनुष्य महापापी हो जायें, क्योंकि क्षमा की बात सुन कर ही उन को पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाये। जैसे राजा अपराध को क्षमा कर दे तो वे उत्साहपूर्वक अधिक-अधिक बड़े-बड़े पाप करें। क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा और उन को भी भरोसा हो जाय कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे ओर जो अपराध नहीं करते, वे भी अपराध करने से न डर कर, पाप करने में प्रवृत हो जायेंगे। इसलिये सब कर्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं। (प्रश्न) जीव स्वतन्त्र है वा परतन्त्र? (उत्तर) अपने कर्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र हैं। 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है। जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है, वही कर्त्ता है। (प्रश्न) स्वतन्त्र किस को कहते हैं? (उत्तर) जिस के आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हों। जो स्वतन्त्र न हो तो उस को पाप-पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता। क्योंकि, जैसे भृत्य, स्वामी और सेना, सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मार के अपराधी नहीं होते, वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और आधीनता से काम सिद्ध हों तो जीव को पाप वा पुण्य न लगे। उस फल का भागी प्रेरक परमेश्वर होवे। स्वर्ग-नरक, अर्थात् सुख-दुःख की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे। जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्र विशेष से किसी को मार डाला तो वही मारने वाला पकड़ा जाता है, और वही दण्ड पाता है, शस्त्र नहीं। वैसे ही पराधीन जीवन पाप-पुण्य का भागी नहीं हो सकता। इसलिये अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र, परन्तु जब वह पाप कर चुकता है, तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है। इसलिये कर्म करने में जीव स्वतन्त्र और पाप के दुःख रूप फल भोगने में परतन्त्र होता है। (प्रश्न) जो परमेश्वर जीव को न बनाता और सामर्थ्य न देता तो जीव कुछ भी न कर सकता। इसलिए परमेश्वर की प्रेरणा ही से जीव कर्म करता है। (उत्तर) जीव उत्पन्न कभी नहीं हुआ, अनादि है। ईश्वर और जगत् का उपादान कारण, नित्य है। जीवात्मा का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाये हुए हैं, परन्तु वे सब जीव के आधीन हैं। जो कोई मन, कर्म, वचन से पाप-पुण्य करता है, वही भोक्ता है, ईश्वर नहीं। जैसे किसी ने पहाड़ से लोहा निकाला, उस लोहे को किसी व्यापारी ने लिया, उस की दुकान से लोहार ने ले तलवार बनाई, उससे किसी सिपाही ने तलवार ले ली, फिर उस से किसी को मार डाला? अब यहां जैसे वह लोहे को उत्पन्न करने, उस से लेने, तलवार बनाने वाले और तलवार को पकड़ कर राजा दण्ड नहीं देता किन्तु, जिसने तलवार से मारा, वही दण्ड पाता है। इसी प्रकार शरीरादि की उत्पत्ति करने वाला परमेश्वर उस के कर्मों का भोक्ता नहीं होता, किन्तु जीव को भुगाने वाला होता है। जो परमेश्वर कर्म कराता होता तो कोई जीव पाप नहीं करता, क्योंकि परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता। इसलिए जीव अपने काम करने में स्वतन्त्र है। जैसे जीव अपने कामों के करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही परमेश्वर भी अपने कामों के करने में स्वतन्त्र है। अर्थात् जीवों

के पाप-पुण्य रूपी कर्मों के फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र है, वह जीवों के पापों को क्षमा नहीं करता और इससे उसकी दया में किंचित हानि नहीं उत्पन्न होती।

-
- हम समझते हैं कि ईश्वर के न्याय व दया का स्वरूप पाठकों को स्पष्ट विदित हो गया होगा। दोनों पृथक पृथक है। संसार में कोई मनुष्य किसी मत व सम्प्रदाय को माने, परन्तु जो अशुभ व पाप कर्म वह करेगा उसका दण्ड उसको ईश्वर अवश्य देगा और जीवों को वह भोगना ही पड़ेगा। कोई जीव अपने अशुभ व पाप कर्म के फल से बच नहीं सकता और न संसार में कोई मनुष्य, धर्मगुरू बचा सकता है, ईश्वर भी किसी को बिना पाप का फल भोगे, छोड़ नहीं सकता। जब ऐसा है तो फिर बुरे कर्म करें ही क्यों? इसी कारण हमारे पूर्वज वेदों का ज्ञान प्राप्त कर ऋषि व विद्वान बनते थे और पाप नहीं करते थे। जब से संसार में अनेकानेक मतों की वृद्धि हुई है, उसी अनुपात में अशुभ-पाप कर्म भी बढ़े हैं। कर्म-फल सिद्धान्त को जानकर मनुष्य पाप करने से बच सकता है और पवित्रात्मा बनकर लोक-परलोक में उन्नति कर सकता है। अन्त में यह भी कहना चाहते हैं कि कई बार लोग अपने दुःखों से दुःखी होकर इसके लिए ईश्वर को दोष देते हैं। वह कहते हैं कि हमने इस जन्म में तो कोई बुरा कर्म किया नहीं फिर हमें यह भीषण दुःख कयों? उनकी यह भी दलील होती है कि उनकी जानकारी में बुरे कर्म करने वाले सुखी हैं। इसका कारण हमारे पिछले जन्म के कारण ही सम्भावित होते हैं। हम भूल चुके हैं परन्तु ईश्वर कुछ भी भूलता नहीं है। कर्म-फल सिद्धान्त भी यही है कि कर्मों के फल जन्म-जन्मान्तर में भोगे जाते हैं। अतः दुःखी व्यक्ति को ईश्वर में विश्वास रखते हुए यह सोचकर सन्तोष करना चाहिये कि जो कर्म भोग लिए वह तो कम हो ही गये और शेष कर्म भी ईश्वर को याद करते हुए भोग कर समाप्त हो जायेंगे। अन्य कोई उपाय भी हमारे पास नहीं है।
-

- मनमोहन कुमार आर्य
- पताः **196** चुक्खूवाला-**2**
- देहरादून-**248001**
- फोनः**09412985121**

- # ‘वेदादि ग्रन्थों के अध्ययन, तर्क, विवेचना और सम्यक् ज्ञान-ध्यान के बिना ईश्वर प्राप्त नहीं होता’ -मनमोहन कुमार आर्य

- OCTOBER 13, 2015 LEAVE A COMMENT
- संसार में किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना हो तो उसे देखकर व विचार कर कुछ-कुछ जाना जा सकता है। अधिक ज्ञान के लिये हमें उससे सम्बन्धित प्रामाणिक विद्वानों व उससे सम्बन्धित साहित्य की शरण लेनी पड़ती है। इसी प्रकार से ईश्वर की जब बात की जाती है तो ईश्वर आंखों से दृष्टिगोचर नहीं होता परन्तु इसके नियम व व्यवस्था को संसार में देखकर एक अदृश्य सत्ता का विचार उत्पन्न होता है। अब यदि ईश्वर की सत्ता के बारे में प्रामाणिक साहित्य मिल जाये तो उसे पढ़कर और उसे तर्क व विवेचना की तराजू में तोलकर सत्य को पर्याप्त मात्रा में जाना जा सकता है। ईश्वर का ज्ञान कराने वाली क्या कोई प्रमाणित पुस्तक इस संसार में है, यदि है तो वह

कौन सी पुस्तक है? इस प्रश्न का उत्तर कोई विवेकशील मनुष्य ही दे सकता है। हमने भी इस विषय से सम्बन्धित अनेक विद्वानों के ग्रन्थों को पढ़ा है। उन पर विचार व चिन्तन भी किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि संसार की धर्म व ईश्वर की चर्चा करने वाली पुस्तकों में सबसे अधिक प्रमाणित पुस्तक ''चार वेद'' ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं। इसके साथ ही वेदों की अन्य टीकाओं सहित वेदों पर आधारित दर्शन एवं उपनिषद आदि ग्रन्थ भी हैं। इन ग्रन्थों वा ईश्वर के स्वरूप विषयक ग्रन्थों का वेदानुकूल भाग ही प्रमाणित सिद्ध होता है। वेद के बाद सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों में सत्यार्थ प्रकाश व ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका प्रमुख हैं। इनकी विशेषता यह है कि इन्हें एक साधारण हिन्दी भाषा का जानने वाला व्यक्ति पढ़कर ईश्वर के सत्यस्वरूप से अधिकांशतः परिचित हो जाता है और इसके बाद केवल योग साधना द्वारा उसका साक्षात्कार करने का कार्य ही शेष रहता है।

-
- किसी भी मनुष्यकृत पुस्तक की सभी बातें सत्य होना सम्भव नहीं होता अतः यह कैसे स्वीकार किया जाये कि वेद में सब कुछ सत्य ही है? इसका उत्तर है कि हम संसार की रचना व व्यवस्था में पूर्णता देखते हैं। इसमें कहीं कोई कमी व त्रुटि किसी को दृष्टिगोचर नहीं होती। दूसरी ओर मनुष्यों की रचनाओं को देखने पर उनमें अपूर्णता, दोष व कमियां दृष्टिगोचर होती हैं। अतः मनुष्यों द्वारा रचित सभी पुस्तकें व ग्रन्थ अपूर्णता, अशुद्धियों, त्रुटियों व कमियों से युक्त होते हैं। इसका मुख्य कारण मुनष्यों का अल्पज्ञ, ससीम व एकदेशी होना है। यह संसार किसी एक व अधिक मनुष्यों की रचना नहीं है। सूर्य मनुष्यों ने नहीं बनाया, पृथिवी, चन्द्र व अन्य ग्रह एवं यह ब्रह्माण्ड मनुष्यों की कृति नहीं है, इसलिए कि उनमें से किसी में इसकी सामथ्र्य नहीं है। यह एक ऐसी अदृश्य सत्ता की कृति है जो सत्य, चित्त, दुःखों से सर्वथा रहित, अखण्ड आनन्द से परिपूर्ण, सर्वातिसूक्ष्म, निराकार, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सृष्टि निर्माण के अनुभव से परिपूर्ण, जीवों के प्रति दया व कल्याण की भावना से युक्त, अनादि, अज, अमर, अजर व अभय हो। ऐसी ही सत्ता को ईश्वर नाम दिया गया है। उसी व ऐसी ही अदृश्य सत्ता से मनुष्यों को सृष्टि के आदि में ज्ञान भी प्राप्त होता है। यह ऐसा ही कि जैसे सन्तान के जन्म के बाद से माता-पिता अपनी सन्तानों को ज्ञानवान बनाने के लिए सभी उपाय करना आरम्भ कर देते हैं। यदि संसार में व्यापक उस सत्ता से आदि मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त न हो तो फिर उस पर यह आरोप आता है कि वह पूर्ण व ज्ञान देने में समर्थ नहीं है अर्थात् उसमें अपूर्णता या कमियां हैं।
-
- हम संसार में वेदों को देखते है और जब उसका अध्ययन कर उसकी बातों पर विचार करते हैं तो यह तथ्य सामने आता है कि वेदों की कोई बात असत्य नहीं है। वेदों की एक शिक्षा है 'मा गृधः' अर्थात् मनुष्यों को लालच नहीं करना चाहिये। लालच के परिणाम हम संसार में देखते हैं जो अन्ततः बुरे ही होते हैं। एक व्यक्ति धन की लालच में चोरी करता है। एक बार व कई बार वह बच सकता है, परन्तु कुछ समय बाद पकड़ा ही जाता है और उसकी समाज में दुर्दशा होती है। वह अपने परिवारजनों सहित स्वयं की दृष्टि में भी गिर जाता है। इस एक शिक्षा की ही तरह वेदों की सभी शिक्षायें सत्य एवं मनुष्यों के लिए कल्याणकारी हैं। महर्षि दयानन्द चारों वेदों व वैदिक साहित्य के अधिकारी व प्रमाणिक विद्वान थे। उन्होंने चारों वेदों की एक-एक बात पर विचार किया था और सभी को सत्य पाया था। उसके बाद ही उन्होंने घोषणा

की कि वेद सृष्टि की आदि में परमात्मा के द्वारा आदि चार ऋषि अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा को दिया गया ज्ञान है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद, इन नामों से उपलब्ध मन्त्र संहितायें सभी सत्य विद्याओं की पुस्तकें हैं। इसमें परा विद्या अर्थात् आध्यात्मिक विद्यायें भी हैं और अपरा अर्थात् सांसारिक विद्यायें भी हैं। महर्षि दयानन्द की इस मान्यता को चुनौती देने की योग्यता संसार के किसी मत व मताचार्य में न तो उनके समय में थी और न ही वर्तमान में हैं। इसकी किसी एक बात को भी कोई खण्डित नहीं कर सका, अतः वेद मनुष्यकृत ज्ञान न होकर अपौरूषेय अर्थात् मनुष्येतर सत्ता से प्राप्त, ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध हंै। इसका प्रमाण महर्षि दयानन्द व आर्य विद्वानों का किया गया वेद भाष्य एवं अन्य वैदिक साहित्य है। यह ज्ञान सृष्टि के सभी पदार्थों जिनमें पूर्णता है, उसी प्रकार से पूर्ण एवं निर्दोष है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि संसार का कोई मत अपने मत की पुस्तक को सत्यासत्य की कसौटी पर न स्वयं ही परीक्षा करता है और न किसी को अधिकार देता है। अपनी पुस्तकों के दोषों को छिपाने के सभी ने अजीब से तर्क गढ़ लिये हैं जिससे उसके पीछे उनकी संशय वृत्ति का साक्षात् ज्ञान होता है। इसी कारण वह सत्य ज्ञान से दूर भी है और यही संसार की अधिकांश समस्याओं का कारण है।

-
- किसी भी वस्तु के अस्तित्व को पांच ज्ञान इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अन्तःकरण वा आत्मा के द्वारा होने वाले ज्ञान व अनुभवों से ही जाना जाता है। यह संसार कब, किसने, कैसे व क्यों बनाया, इसका निभ्रान्त व युक्तियुक्त उत्तर किसी मत के विद्वान या वैज्ञानिकों के पास आज भी नहीं है। इसके अतिरिक्त चारों वेद बार-बार निश्चयात्मक उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह सारा संसार इसको बनाने वाले ईश्वर से व्याप्त है। यह चारों वेद संसार का सबसे प्राचीन ज्ञान व पुस्तकें हैं। यह महाभारतकाल में भी थे, रामायणकाल व उससे भी पूर्व, सृष्टि के आरम्भ काल से, विद्यमान हैं। अतः वेदों की अन्तःसाक्षी और संसार को देख कर तर्क, विवेचना व ईश्वर का ध्यान करने पर ईश्वर ही वेदों के ज्ञान का दाता सिद्ध होता है। इस कसौटी को स्वीकार कर लेने पर संसार के सभी जटिल प्रश्नों के उत्तर मिल जाते हैं जिनका उल्लेख महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने अपूर्व व अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में किया है।
-
- ईश्वर विषयक तर्क व विवेचना हम स्वयं भी कर सकते हैं और इसमें 6 वैदिक दर्शनों योग-सांख्य-वैशेषिक-वेदान्त-मीमांसा और न्याय का भी आश्रय ले सकते हैं जो वैदिक मान्यताओं को सत्य व तर्क की कसौटी पर कस कर वेदों के ज्ञान को अपौरूषेय सिद्ध करते हैं। अतः ईश्वर का अस्तित्व सत्य सिद्ध होता है। ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर संसार की उत्पत्ति की गुत्थी भी सुलझ जाती है। यदि ईश्वर है तो यह सृष्टि उसी की कृति है क्योंकि अन्य ऐसी कोई सत्ता संसार में नही है जो ईश्वर के समान हो। सृष्टि रचना का निमित्त कारण होने से प्राणीजगत, वनस्पति जगत व इसके संचालन का कार्य भी उसी से हो रहा है, यह भी ज्ञान होता है। वेदाध्ययन, दर्शन व उपनिषदों आदि वैदिक साहित्य का अध्ययन कर लेने पर जब मनुष्य ईश्वर, वेद, जीव व प्रकृति आदि विषयों का ज्ञान करता है तो ईश्वर की कृपा से इन सबका सत्य स्वरूप ध्याता व चिन्तक की आत्मा में प्रकट हो जाता है। इस ध्यान की अवस्था को योग दर्शन में समाधि कहा गया है। समाधि और कुछ नहीं अपितु वैदिक मान्यताओं को जानकर ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना में लम्बी लम्बी अवधि तक विचार मग्न

रहना व इसके साथ मन का ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य विषय को स्मृति में न लाना ही समाधि कहलाती है। इस स्थिति को प्राप्त करने का सभी मनुष्यों को प्रयत्न करना चाहिये। अन्य मतों में बिना तर्क व विवेचना के उस मत की पुस्तक की मान्यताओं को न, नुच के मानना ही कर्तव्य बताया जाता है जबकि वैदिक धर्म व केवल वैदिक धर्म में इस प्रकार का किंचित बन्धन नहीं लगाया गया है। साधक व उपासक को स्वतन्त्रता है कि हर प्रकार से ईश्वर के अस्तित्व को जांचे व परखे और असत्य का त्याग कर सत्य को ही ग्रहण करे।

-
- अतः निष्कर्ष में यह कहना है कि ईश्वर के यथार्थ ज्ञान के लिए विचार व चिन्तन के साथ वेद, वैदिक साहित्य सहित सत्यार्थप्रकाश एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का अध्ययन और योगाभ्यास करते हुए विचार, ध्यान, चिन्तन व उपासना कर ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। महर्षि दयानन्द ने अनेक ग्रन्थ लिखकर यह कार्य सरल कर दिया है। स्वाध्याय के आधार पर हमारा यह भी मानना है कि वैदिक धर्मी स्वाध्यायशील आर्यसमाजी ईश्वर को जितना पूर्णता से जानता व अनुभव करता है, सम्भवतः संसार के किसी मत का व्यक्ति अनुभव नहीं कर सकता क्योंकि वहंा आधेय के लिए आधार वैदिक धर्म की तुलना में कहीं अधिक दुर्बल है। आईये, वेदाध्ययन, वैदिक साहित्य के अध्ययन, सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ग्रन्थों का बार-बार अध्ययन करने सहित योगाभ्यास का व्रत लें और जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष को सिद्ध कर जीवन को सफल करें, बाद में पछताना न पड़े।
-
- –मनमोहन कुमार आर्य
- पताः **196** चुक्खूवाला-**2**
- देहरादून-**248001**
- फोनः**09412985121**

स्तुता मया वरदा वेदमाता-19

- OCTOBER 12, 2015 LEAVE A COMMENT
- समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः
- घर में भोजन सब को आवश्यकता और स्वास्थ्य के अनुकूल मिलना चाहिए। घर में सौमनस्य का उपाय है भोजन में समानता। वास्तव में सुविधा व असुविधाओं को सयक् विभाजन तथा सयक् वितरण सुख-शान्ति का आधार है। साथ-साथ भोजन करने का बड़ा महत्त्व है, साथ-साथ भोजन करने से प्रसन्नता बढ़ती है, स्वास्थ्य का लाभ होता है। साथ भोजन करने से सबको समान भोजन मिलता है। जहाँ पर अकेले-अकेले भोजन किया जाता है, वहाँ शंका रहती है, स्वार्थ रहता है। परिवार में ही नहीं, समाज में भी सहभोज का आयोजन किया जाता है, इन आयोजनों को प्रीतिभोज भी कहते हैं। ये समाज में सहयोग और प्रेम बढ़ाने के साधन होते हैं।
- घर में जो भी बनाया जाये, उसका कम है तो समान वितरण हो और पर्याप्त है तो यथेच्छ वितरण करना उचित होता है। भोजन में मनु महाराज ने खाने के क्रम में अतिथि, रोगी, बच्चे, गर्भिणी को प्रथम खिलाने का विधान किया गया है। भोजन का विधान करते हुए मनु ने गृहस्थ के लिये दो प्रकार से भोजन करने के लिये कहा है। गृहस्थ भुक्त शेष खा सकता है या हुत शेष खा सकता है। भुक्त शेष का अर्थ है- अतिथि को भोजन कराके भोजन करना तथा हुत शेष का अर्थ है यज्ञ में आहुती देने

के पश्चात् गृहस्थ भोजन का अधिकारी होता है। भोजन की यह व्यवस्था बड़ी मनोवैज्ञानिक है। मनुष्य अकेला होता है तो भोजन व्यवस्थित नहीं कर पाता है। विशेष रूप से हम घरों में देखते हैं गृहणियाँ जब पति-बच्चे घर में होते हैं तो भोजन यथावत् बनाती हैं और यदि वे अकेली रह जाती हैं, तो वे भोजन बनाने में आलस्य करके जैसे-तैसे बनाकर खा लेती हैं। इसी कारण शास्त्र ने मनुष्य को उचित भोजन करने के लिये एक व्यवस्था बना दी, गृहस्थ हुत शेष खाये या भुक्त शेष खाये।

- हुत शेष या भुक्त शेष खाने में जो रहस्य है, यदि वह समझ में आ जावे तो मनुष्य की कभी अतिथि को खिलाने में संकोच नहीं करेगा। किसी गृहस्थ के घर पर जब अतिथि आता है तो मनुष्य चाहे कितना भी निर्धन या गरीब क्यों न हो, वह यथाशक्ति यथा साव अतिथि को अच्छा भोजन कराना चाहता है, अतः अतिथि घर में आता है तो विशेष भोजन बनाया ही जाता है। इसी प्रकार मनुष्य मन्दिर के लिये कुछ बनाकर ले जाता है तब अच्छा बना कर ले जाना चाहता है। यज्ञ के लिए बनाना चाहता है तो अच्छा ही बनाया जाता है। इसी कारण हमारे ऋषियों ने हमारे लिये अपने लिये पकाने और अकेले अपने आप खाने का निषेध किया है। गीता में श्री कृष्ण ने कहा है जो केवल अपने लिये पकाता है और आप अकेले ही खाता है, वह पाप ही पकाता है और पाप ही खाता है। इसके विपरीत यज्ञ के लिये पकाता है और यज्ञ शेष खाता है, वह पुण्य ही पकाता है और पुण्य ही खाता है। हम हवन के लिये बनाते हैं, बनाते तो बहुत हैं, थोड़ा-सा देर यज्ञ में डालते हैं, शेष सबको वितरित करते हैं, प्रसाद के रूप में बांटते हैं। बनाया यज्ञ के निमित्त है, इसलिये इसे यज्ञ शेष कहते हैं। भगवान के निमित्त बनाते हैं, अतः बांटते समय उसे प्रसाद कहते हैं। मूल रूप से प्रसाद संस्कृत का शब्द है, इसका अर्थ प्रसन्नता है। प्रसन्नता से किया गया कार्य प्रसाद है।
- हम समझते हैं अतिथि को भोजन कराने से हमारी हानि होती है। यज्ञ करने से व्यय होता है परन्तु व्यवहार यह बताता है कि इस नियम का पालन करने वाले सदा सुखी और प्रसन्न रहते हैं। जो इसको अन्यथा समझते हैं, उनको तो दुःख भोगना ही पड़ता है। मनुष्य विवशता में बाँटता नहीं है, उस समय उसकी वृत्ति समेटने की रहती है। जब मनुष्य प्रसन्न होता है तभी उदार भी होता है। इसीलिये आम भाषा में कहते हैं- खुले हाथों से बाँटना, अर्थात् खुले हाथों से वही बाँट सकता है जिसका दिल खुला हो, हृदय उदार हो। खिलाने के सुख का अनुभव करना दुनिया से भूख के दुःख को दूर करने का एक मात्र उपाय है और परिवार में साथ बैठकर खाना प्रसन्नता और सुख का आधार है।
- # वैदिक देवता पृथ्वी : मूर्तिपूजा की परिणति – देवर्षि कलानाथ शास्त्री
- OCTOBER 11, 2015 1 COMMENT
- श्री कलानाथ शास्त्री एक भाषा शास्त्री, संस्कृत, हिन्दी भाषा के अधिकारी विद्वान्, इतिहास एवं संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान् आप परोपकारी के पुराने पाठक हैं। शास्त्री जी कहते हैं- आर्यसमाजी मुझे पौराणिक समझते हैं तथा संगी-साथी पौराणिक समझते हैं कि परोपकारी पढ़ते शास्त्री जी आर्यसमाजी बन गये हैं। – सपादकीय
-
- यह एक सुविदित तथ्य है कि भक्ति आन्दोलन के प्रभाव से पूर्व जिन वेदकालीन देवताओं की आराधना देश में की जाती थी, वे यथापि आज भी प्रत्येक धार्मिक कृत्य

के अवसर पर पूजे जाते हैं जैसे- इन्द्र, वरुण, प्रजापति, अग्नि, सूर्य आदि, किन्तु भक्ति आन्दोलन ने जिन कृष्ण, राधा, राम, सीता आदि को जन-जन के हृदय में आसीन कर दिया, वे वेदकाल के देवता नहीं थे। अन्य कुछ ऐसे देवताओं की आराधना भी अत्यन्त लोकप्रिय हो गई जो वेदकाल में ज्ञात नहीं थे, जैसे हनुमान, भैरव आदि। कुछ ऐसे देवता भी हैं, जिनकी पूजा आज घर-घर में बड़ी अभिलाषाओं के साथ प्रत्येक व्यक्ति द्वारा की जाती है, विशेषकर दीवाली के अवसर पर, जो हैं तो वेदकालीन देवता, किन्तु उनकी वेदकालीन पहचान ने इतना रूप परिवर्तन कर लिया कि आज वह स्वरूप पूरी तरह अनजाना और अनचाहा हो गया। ये देवी हैं धन की अधिष्ठात्री लक्ष्मी, जिनकी पूजा का प्रमुख उत्सव दीपावली को माना जाता है। लक्ष्मी हैं तो वेदकालीन देवी, वे विष्णु की अर्धांगिनी हैं, नारायण की पत्नी हैं। लक्ष्मीनारायण की पूजा और लक्ष्मीनारायण के मन्दिर देशभर में सुविदित हैं, किन्तु वेदकालीन ऋषि जिसका अभिगम वैज्ञानिक था, उन्हें धन की देवी मात्र नहीं मानता था।

- विष्णु विश्व के प्रतिपालक हैं। वे त्रिविक्रम हैं, विश्वरूप हैं। वेद उन्हें सूर्यमण्डल में देखकर प्रणत होता है। वे आकाश का रंग धारण किए हुए हैं, गगन-सदृश हैं, मेघवर्ण हैं। उनके तीन चरण हमारी समस्त काल यात्रा को, काल गणना को नाप लेते हैं। एक चरण से वे चौबीस घण्टे के रात-दिन बनाते हैं, दूसरे विक्रम से बारह महीनों का सवत्सर बनाते हैं, तीसरे विक्रम से युग मन्वन्तर और कल्प बनाते हैं। इस त्रैलोक्य पालक देवता (सूर्य, जो वेद के प्रमुख देव हैं) की सेविका है हमारी पृथ्वी, जो वेद काल की सबसे उपकारिणी देवी है। यही हमें जीवन दान देती है, लाखों वर्षों से हम इससे निकला जल पीकर जी रहे हैं, जो वर्ष में अनेक बार धान्यों की फसल देकर करोड़ों वर्षों से हमें जीवन दान दे रही है। यह ब्रह्माण्ड का सुन्दरतम ग्रह है। इससे बड़ी कौन-सी देवी हो सकती है? सबसे पहले और सबसे बढ़कर तो इसकी पूजा की जानी चाहिए। क्या हम इसे भूल गए हैं?
- नहीं, वेद का ऋषि इसके लिए दीवाना था। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त के वे 63 मन्त्र, जो पृथ्वी की गरिमा का गान करते हैं, आज भी रोमांच पैदा कर देते हैं। इसकी पूजा तो हम आज भी करते हैं, पर किसी दूसरे रूप में। किस रूप में, इस प्रश्न का उत्तर सगुण भक्ति और मूर्तिपूजा की परपरा ही दे सकती है। हम देवनदी गंगा के ऋण से कभी मुक्त नहीं हो सकते, उसे देवी मानते हैं, पर मूर्तिपूजा की परपरा में हमारे हृदय तब तक सन्तुष्ट नहीं होते, जब हम उस जीती-जागती, बहती-खिलखिलाती नदी की मूर्ति मगर पर बैठी कलश लिए मानवाकृति के रूप में बनाकर उसकी आरती नहीं उतारते। यही हुआ है पृथ्वी के साथ। हम उसकी पूजा तो आज भी करते हैं, पर मूर्ति बनाकर। लक्ष्मी यही पृथ्वी है, मूर्ति के रूप में। इसके हाथ में कमल है, अभय है, चारों दिशाओं के गहरे बादल हाथी बनकर जलधारा के कलशों से इसे नहला रहे हैं। विष्णु सूर्य हैं, नारायण आकाश का रंग धारण किए लक्ष्मी के पति हैं, लक्ष्मी उनके चरण दबाती है। आज भी प्रातःकाल उठते समय हम विष्णु की पत्नी पृथ्वी से हाथ जोड़कर कहते हैं- 'विष्णुपत्नि नमस्तुयं पादस्पर्शं क्षमस्व मे।' यह पृथ्वी सूर्य के सुनहले प्रकाश में चमकती हुई हिरण्यवर्णा है, उसका रंग चमकदार पीला है, इसीलिए लक्ष्मी 'कान्त्या कांचन संनिभा' है। उसकी खानों में से सोना निकलता है- 'यस्यां हिरण्यं विन्देयम्।' वेद का ऋषि इसी सूर्य और भूदेवी के जोड़े का आराधक था। मूर्तिपूजा की परिकल्पना में वह हो गया लक्ष्मी और नारायण का जोड़ा। विज्ञान और तार्किक चिन्तन आराधना

का लिबास पहनकर किस प्रकार ब्रह्माण्डीय तत्त्वों को देवता बना देता है, यह तथ्य क्या रोमांचकारी नहीं है?

- बहुतों को शायद इस तथ्य को मानने में असुविधा हो कि लक्ष्मी अथवा श्री पूरी तरह हमारी माता पृथ्वी का मानवीकृत रूप है। उनके लिए केवल यह निवेदन ही पर्याप्त है कि वे वेद के उस सूक्त को देख लें, जिसका नाम श्रीसूक्त है, जिसे लक्ष्मी की आराधना का सर्वाधिक प्रभावी साधन माना जाता है और जिसके मन्त्र बोल-बोल कर पुरोहित लोग धन की कामना वाले यजमानों से खीर की सोलह आहुतियाँ दिलवाते हैं। इसके अर्थ की ओर सभवतः हम अधिक ध्यान नहीं दे पाते, किन्तु यदि इसका अर्थ समझना चाहें तो पृथ्वी की स्तुति माने बिना इसका अर्थ ही नहीं लगेगा। सारे मन्त्र पृथ्वी को स्पष्टतः अभिहित करते हैं। श्री और लक्ष्मी उसी के दो स्वरूप या दो अवस्थाएँ हैं, एक सूर्योन्मुख प्रकाशमान, दूसरी प्रकाशरहित। श्री सूक्त का सर्वाधिक प्रचलित मन्त्र बतलाता है कि वह शुद्ध गोबर से लिपी हुई है, गन्ध उसका गुण है, वह हर बार नई-नई फसलें पैदा कर सकती है, नित्य पुष्ट होकर समस्त प्राणियों का पोषण करती है-
- 'गन्धशरां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्। ईश्वरीं सर्वभूतानां तानिहोपह्वये श्रियम्।' श्रीसूक्त 'श्री' को चन्द्रां, सूर्यां आदि तो कहता ही है, ''आर्द्रां ज्वलन्तीं'' आदि भी कहता है। वह गीली भी हो जाती है, गर्मी। उसके दो पुत्र बताए गए हैं- कर्दम, चिक्लीत। आनन्द, कर्दम चिक्लीत श्री सूक्त के ऋषि भी कहे जाते हैं। कर्दम है दलदल और चिक्लीत 'नमी' (मॉइस्चर)। ये ही पृथ्वी के उपजाऊ तत्त्व हैं। आनन्द है प्राणवायु। सूक्त में स्पष्ट कहा गया है कि आपकी वनस्पतियाँ और वृक्ष हमारे हितकारी हैं (तव वृक्षोऽध बिल्वः छठा मन्त्र)। ये सब पृथ्वी से सबन्धित हैं। लक्ष्मी की जो मूर्ति हमने परिकल्पित की है, उस पर इनकी संगति कैसे बैठेगी? प्रतीक अर्थ लेकर ही तो हम विष्णु (विश्व के स्वामी) और लक्ष्मी (हमारी मालकिन) की आराधना करते रहे हैं।
- शास्त्रों ने विष्णु के आयुधों, वाहनों, अङ्गों आदि के जो विवरण दिये हैं, उनमें विज्ञान और आस्था दोनों का अद्भुत समन्वय स्पष्ट दिखलाई देता है। हम सदा बोलते हैं- 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ', ये ही हैं 'अहोरात्रे पार्श्वे' जो विष्णु के आदित्य रूप के दो आयाम हैं, दोनों ओर हैं। हमारी साधना पद्धति इसी दृष्टि से बुद्धि, तर्क, विज्ञान और ज्ञान तथा आस्था, विश्वास, अध्यात्म और भावना को भी आदर देती है। तभी तो यह सनातन परपरा सहस्राब्दियों से चली आ रही है, उसमें आचार का परिवर्तन होता रहता है, आधार का नहीं। युगानुरूप परिवर्तन को हमने कभी नकारा नहीं, वह परिवर्तन ही तो हमारी सनातनता का रहस्य है। तभी तो अनेक वेदकालीन परपराएँ आज भी किसी-न-किसी रूप में हमारे जनजीवन में घुली मिली लगती हैं। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त की पृथ्वी या भूदेवी श्री सूक्त की श्री देवी बन गई, फिर यक्ष संस्कृति की कुबेर लक्ष्मी बनी, आज धनलक्ष्मी बनी हुई है, किन्तु आज भी गाँव-गाँव में दीपोत्सव के दिन लक्ष्मी पूजन में पृथ्वी से जुड़े हुए मिट्टी के बर्तनों (हटडी, कुल्हड़ आदि) में फसलों से उपजे धान्य (खील, लाई आदि) ही रखे जाते हैं। लक्ष्मी के ये सारे रूप हमारे पूज्य हैं। वह धनलक्ष्मी, धान्यलक्ष्मी, गजलक्ष्मी, सौभाग्यलक्ष्मी, सौन्दर्यलक्ष्मी आदि न जाने कितने रूपों में देश में पूजी जाती है। आजभी तिरुपति के वेंकटेश्वर मन्दिर में श्रीपति के साथ भूदेवी देखी जा सकती है। यह क्रम न जाने कितनी सदियों से चल रहा है कि नये प्रयोग उभरते हैं, कुछ रूढ़ियाँ जन्म लेती हैं, कुछ युग के तकाजे में दबकर

समाप्त हो जाती हैं, किन्तु परपरा सनातन रहती है, वह रूपान्तरित भले हो जाए, समाप्त नहीं होती। यही भारत की भारतीयता है।

- – सी/8, पृथ्वीराज रोड, सी स्कीम, जयपुर-302001 (राज)

- # ‘विश्व में वेद-ज्ञान-भाषा की उत्पत्ति और आर्यो का आदि देश’ -मनमोहन कुमार आर्य

- OCTOBER 2, 2015 1 COMMENT
- “आर्य” शब्द की उत्पत्ति का इतिहास वेदों पर जाकर रूकता है। वेदों में अनेको स्थानों पर अनेकों बार आर्य शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ है कि आर्यों की उत्पत्ति में वेद की मान्यतायें व सिद्धान्त सर्वमान्य हैं। वेद कोई 500, 1500 या 2000 वर्ष पुराना ज्ञान या ग्रन्थ नहीं है अपितु विश्व का सबसे पुरातन ग्रन्थ है। इसे सृष्टि के प्रथम ज्ञान व ग्रन्थ की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि इससे पूर्व व पुरातन ज्ञान व ग्रन्थ अन्य कोई नहीं है। वेदों के बारे में महर्षि दयानन्द की तर्क व युक्तिसंगत मान्यता है कि वेद वह ज्ञान है जो अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न चार ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा को सृष्टिकर्ता, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, निराकार व सर्वान्तर्यामी ईश्वर से मिला था। वेदों के आविर्भाव के रहस्य से अपरिचित व्यक्ति यह अवश्य जानना चाहेगा कि निराकार व शरीर रहित ईश्वर, जिसके पास न मुख है, न वाक्-इन्द्रिय, वह सृष्टि के आदि मे ज्ञान कैसे दे सकता है व देता है? इसका उत्तर है कि ईश्वर आत्मा के भीतर सर्वव्यापक व सर्वान्तरयामी स्वरूप से विद्यमान होने के कारण ऋषियों की आत्माओं में प्रेरणा देकर ज्ञान प्रदान करता है। ईश्वर के चेतन तत्व, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं सर्वान्तरयामी होने के कारण इस प्रकार ज्ञान देना सम्भव कोटि में आता है। भौतिक जगत के उदाहरण से हम जान सकते है कि यदि किसी दूर खड़े व्यक्ति को कोई बात कहनी हो तो जोर देकर बोलते हैं और पास खड़े व्यक्ति को सामान्य व धीरे बोलने से भी वह सुन व समझ जाता है। अब यदि कहने व सुनने वाले आमने-सामने हैं और कोई गुप्त बात कान में कहें तो बहुत धीरे बोलने पर भी सुनने वाला व्यक्ति समझ जाता है। यह स्थिति उन दों व्यक्तियों की है जिनकी आत्मायें अलग-अलग शरीरों में हैं। अब यदि दोनों आत्मायें एक दूसरे से सटे हों या एक आत्मा दूसरी आत्मा में अन्तर्निहित, अन्तर्यामी व भीतर हो तो बोलने की आवश्यकता ही नहीं है। वहां तो अन्तर्यामी आत्मा की प्रेरणा व भावना को व्याप्य आत्मा जान व समझ सकता है। इससे सम्बन्धित एक योग का उदाहरण लेते हैं। योग की सफलता होने पर जीवात्मा के काम, क्रोध, लोभ, मोह रूपी मल, विक्षेप व आवरण हट व कट जाते हैं जैसे कि एक दर्पण पर मल की परत चढ़ी हो, वह साफ हो जाये तो उसके सामने का प्रतिबिम्ब दर्पण में स्पष्ट भाषता वा दिखाई देता है। योग में यही ईश्वर साक्षात्कार है और इस अवस्था में योगी – द्रष्टा के सभी संशय दूर हो जाते हैं और हृदय की ग्रन्थियां खुल जाती हैं। इसका अर्थ है कि उसे परमात्मा का साक्षात्कार, उसका दर्शन अर्थात् निर्भरान्त स्वरूप ज्ञात होकर वह संशय रहित हो जाता है। इस प्रकार जो सिद्ध योगी होता है उसे ईश्वर के बिना बोले वह सभी ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिसकी उसे ईश्वर से अपे़क्षा होती है।
-
- यद्यपि ईश्वर की प्रेरणा को समझना, जानना, दूसरों को जनाना व प्रवचन करना आदि एक विज्ञान है जिसे आदि व पश्चातवर्ती ऋषियों, योगदर्शनकार महर्षि पतंजलि, अन्य

दर्शनकार, योगेश्वर कृष्ण, महर्षि दयानन्द सरस्वती आदि ने जाना, समझा, प्रत्यक्ष व साक्षात् सिद्ध किया था। सृष्टि की आदि में यदि ऐसा न हुआ होता तो फिर संसार की पहली पीढ़ी से लेकर अद्यावधि कोई भी मनुष्य ज्ञानी नहीं हो सकता था। इसका कारण यह है कि ज्ञान चेतन तत्व का गुण है। चेतन तत्व दो हैं, एक ईश्वर और दूसरी जीवात्मा। ईश्वर सर्वज्ञ एवं त्रिकालदर्शी है, वह जीवों के कर्मों की अपेक्षा से सब कुछ जानता है। ईश्वर के सर्वज्ञ, नित्य तथा जन्म-मृत्यु से रहित होने से इसका अस्तित्व सदा रहेगा। जड़ प्रकृति ज्ञानहीन व संवेदनाशून्य है। जीवात्मा ज्ञान की दृष्टि से अल्पज्ञ कहा जाता है व वस्तुतः है भी। यह साधारण मनुष्य हो या ऋषि, इसका ज्ञान अल्पज्ञ कोटि का होता है और ईश्वर साक्षात्कार हो जाने व समस्त संशयों के पराभूत हो जाने पर भी यह अल्पज्ञ ही रहता है। अल्पज्ञ जीवात्मा में, अन्यों की अपेक्षा से कम या अधिक, जितना भी ज्ञान है वह उसका ईश्वर प्रदत्त स्वाभाविक व नैमित्तिक है। स्वाभाविक व नैमित्तिक ज्ञान का दाता व मूल कारण भी एकमात्र ईश्वर ही है। ईश्वर अपनी सर्वज्ञता से अपने ज्ञान के अनुरूप सृष्टि व मनुष्यों आदि प्राणियों की रचना करता है। ईश्वर की रचना को देखकर मनुष्य अपने स्वाभाविक ज्ञान व ऋषियों-माता-पिता-आचार्यों से प्राप्त ज्ञान से सृष्टि आदि को देख व समझ कर नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त करता है व उसमें वृद्धि करता है। यदि ईश्वर अपने ज्ञान से सृष्टि व प्राणियों की रचना न करे व मनुष्य आदि प्राणियों को स्वाभाविक ज्ञान न दे, तो फिर मनुष्य सदा-सदा के लिए अज्ञानी ही रहेगा। अतः सृष्टि की आदि में परमात्मा आदि चार ऋषियों को वेदों का ज्ञान देता है। उसी ज्ञान से ऋषि भाषा का उच्चारण व संवाद आदि करते हैं व ईश्वर का ध्यान करते हुए भाषा व लिपि का चिन्तन कर उसी की सहायता से लिपि व व्यापकरण आदि की रचना करते हैं। इस क्रम में उपदेश, प्रवचन, अध्ययन, अध्यापन व लेखन आदि के द्वारा मनुष्यादि अन्य भाषा व विविध ज्ञान का संवर्धन करते हैं।

-
- इस प्रकार परम्परा से चला आ रहा ज्ञान माता-पिता को मिलता है, वह अपने पुत्र को देते हैं और फिर वह पुत्र गुरूकुल व विद्यालय में आचार्यों से अध्ययन व पुरूषार्थ करके अपने ज्ञान में वृद्धि करते हैं। यह ज्ञान की वृद्धि भी उसकी बुद्धि की ऊहापोह एवं ईश्वर की कृपा व सहयोग का परिणाम होती है। यदि सर्वज्ञ ईश्वर आरम्भ में ज्ञान न दे तो मनुष्य या मनुष्य समूह कदापि स्वयं भाषा व ज्ञान को उत्पन्न करके उसे प्रकाशित नहीं कर सकते। ज्ञान भाषा में निहित होता है। यदि भाषा नहीं है तो मनुष्य विचार ही नहीं कर सकता। बिना विचार व ज्ञान के दो मनुष्य एक दूसरे को संकेत भी नहीं कर सकते। अतः माता-पिता द्वारा सन्तानों को भाषा का ज्ञान कराने की भांति सृष्टि के आरम्भ में आदि मनुष्यों को भाषा की प्राप्ति ईश्वर से ही होती है। वह आदि भाषा वैदिक भाषा थी। ईश्वर ने आदि सृष्टि में चार ऋषियों को चार वेदो का ज्ञान भाषा व मन्त्रों के पदो के अर्थ सहित दिया था। वेदों से सम्बन्धित सभी जानकारियों, वेदों के मर्म व तात्पर्य आदि को जानने के लिए महर्षि दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश ग्रन्थ को देखना उपयोगी व अनिवार्य है।
-
- विचार, चिन्तन, यौगिक अनुभव व आप्त प्रमाणों से सिद्ध है कि सृष्टि के आदि में अमैथुनी व उसके बाद अनेक पीढियों तक मनुष्यों की स्मरण शक्ति वर्तमान के मनुष्यों की तुलना में अधिक तीव्र थी। उस समय उन्हें स्मरण करने के लिए कागज,

पेन, पेंसिल व पुस्तकों की आवश्यकता नहीं थी। वह जो सुनते थे वह उन्हें स्मरण हो जाता था। कालान्तर में स्मृति ह्रास होना आरम्भ हो गया तो ऋषियों ने इसके लिए व्याकरण सहित अनेक विषय के ग्रन्थों की रचना की। वर्तमान में इस कार्य के लिए व्याकरण के ग्रन्थ पाणिनी अष्टाध्यायी, पतंजलि महाभाष्य, यास्क के निरूक्त व निघण्टु आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्राचीन काल में भी समय-समय पर अनेक ऋषियों ने आवश्यकता के अनुरूप व्याकरण व अन्य ग्रन्थों की रचना की जिससे वेदार्थ ज्ञान में कोई बाधा नही आई। इस विषय पर विस्तार से जानने के लिए पं. युधिष्ठिर मीमांसक कृत संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास पठनीय है। मीमांसक जी ने इस ग्रन्थ की रचना कर एक ऐसा कार्य किया है जो सम्भवतः भविष्य में अन्य किसी के द्वारा किया जाना सम्भव नहीं था। इसके लिए सारा संस्कृत जगत उनका चिरऋणी रहेगा।

-
- महर्षि दयानन्द ने अपने पुरूषार्थ व लगन से वेद व उसके व्याकरण के ग्रन्थों का अध्ययन करने में अपूर्व पुरूषार्थ किया। उनका यह पुरूषार्थ प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द के रूप में एक योग्य गुरू के प्राप्त होने से सफलता को प्राप्त हुआ। सत्य की खोज के प्रति दृण इच्छा शक्ति, मृत्यु व ईश्वर के सत्य स्वरूप की खोज, अपने विशद अध्ययन, पुरूषार्थ, योगाभ्यास आदि से वह वेदों में निष्णात अद्वितीय ब्रह्मचारी बने। महर्षि दयानन्द के समय में सारा देश वेदों से दूर जा चुका था। लोग मानते थे कि वेद लुप्त हो गये हैं। वेदों के साथ ब्राह्मण ग्रन्थों को भी वेद माना जाता था जिनमें वेदों से विरूद्ध अनेक मान्यतायें व विधान थे। गीता व रामायण की प्रतिष्ठा वेदों से अधिक थी। सायण व महीधर आदि विद्वानों के पूर्ण व आंशिक जो वेद भाष्य यत्र-तत्र थे, वह भी वेदों के यथार्थ भाष्य न होकर विद्रूप अर्थो ये युक्त थे। विदेशी व हमारा शासक वर्ग वेदों को गड़रियों के गीत, बहुदेवतावाद का पोषक व अस्पष्ट अर्थो का संग्रह बता रहे थे। ऐसे समय में स्वामी दयानन्द ने वेदों को ईश्वरीय ज्ञान, सब सत्य विद्याओं का पुस्तक, धर्म जिज्ञासा में वेद परम प्रमाण एवं इतर संसार के सभी वेदानुकूल हाने पर परतः प्रमाण जैसी सत्य मान्यतायें एवं सिद्धान्त बताकर वेदों को स्वतः प्रमाण की संज्ञा दी। उन्होंने कहा कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद ही सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर से प्राप्त प्रथम, आदि व नित्य ज्ञान की पुस्तकें हैं। वेद में ज्ञान, विज्ञान, सृष्टिक्रम, युक्ति व प्रमाणों के विरूद्ध कुछ भी नहीं है। महर्षि दयानन्द ने ही उद्घोष किया कि संसार में मनुष्यों की दो ही श्रेणियां है। एक आर्य व दूसरा अनार्य। आर्य भारत के मूल निवासी हैं। आर्यो के आर्यावर्त वा भारत को आदि काल में बसने व बसाने से पहले यहां कोई मनुष्य समुदाय, जाति के लोग निवास नहीं करते थे। सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक रचित असंख्य ग्रन्थों में कहीं नहीं लिखा कि आर्य किसी अन्य देश व प्रदेश से आकर यहां बसे, यहां के लोगों से युद्ध कर उन्हें पराजित किया। जब सम्पूर्ण आर्यावर्त के लोगों में आर्य व अनार्य का कोई विवाद ही नहीं है तो फिर स्वार्थी व चालाक व आर्य धर्म व संस्कृति विरोधी अन्य पक्षपाती विदेशी मताग्रहियों का आरोप क्यों व कैसे स्वीकार किया जा सकता है? विदेशियों के पास धन व अन्य प्रचुर साधन थे। उन्होंने इस देश के कुछ पठित लोगों को अपने प्रलोभन देकर व उनसे आकर्षित कर छद्म व स्वार्थी मानसिकता से प्रभावित किया। कुछ प्रलोभन में फँस गये और उनकी हां में हां मिलाने लगे। ऐसा होना स्वाभाविक होता है। कुछ धर्म को अफीम मानने की विचारधारा से पोषित तथाकथित इतिहासकार आर्य संस्कृति से घृणा रखते रहे हैं। उन्होंने सत्य प्रमाणों पर ध्यान दिये

बिना अर्थात् वेद, मनुस्मृति, रामायण, महाभारत व 18 पुराणों का अवगाहन किए बिना, एक षडयन्त्र के अन्तर्गत विदेषियों की मान्यताओं व विचारों को स्वीकार कर लिया। आज भी विदेशियों की आर्यो के अन्य देशों से भारत आने की स्वार्थ व पक्षपातपूर्ण मान्यता को हम विमूढ बनकर ढ़ो रहे हैं। हमें लगता है कि इन मान्यताओं के अनुगामी व प्रवर्तक हमारे स्वदेशी तथाकथित बुद्धिजीवी सत्य के आग्रही कम ही हैं जिसका कारण उनका पाश्चात्य विद्वानों का अनुमागी होना, संस्कृत ज्ञान से अनभिज्ञता, संस्कृत भाषा के अध्ययन से विरत होना व आलस्य प्रवृति तथा धन का मोह आदि ऐसे कारण हैं जिससे वह सत्य तक पहुंचने में असमर्थ है। महर्षि दयानन्द ने अनेक दुर्लभ सहस्रों संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन किया था जिससे वह निर्णय कर सके थे कि आर्य भारत के मूल निवासी हैं व इनसे पूर्व आर्यावर्त्त में आर्यो से भिन्न कोई जाति निवास नहीं करती थी।

-
- आर्यो का आदि व मूल देश इस पृथिवीतल पर कौन हो सकता है? इस पर विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है कि जहां आर्यो का धर्म ग्रन्थ, साहित्य, संस्कृति व सभ्यता अधिकतम् रूप में व्यवहृत, प्रयोग की जाती हो, जहां उसका चलन हो व वह फल-फूल रही हो। इतिहास में भारत के अतिरिक्त ऐसा अन्य कोई स्थान विदित नहीं है जहां आर्यो के इतिहास से सम्बन्धित इतने अधिक स्थान, साहित्य व अन्य सहयोगी प्रमाण हों। लाखों वा करोड़ों वर्ष पूर्व हुए राम-रावण, द्वापर की समाप्ति पर हुए महाभारत युद्ध व उस समय व उसके पूर्ववर्ती राजवंशों का इतिहास, महाभारत नामक विशाल ग्रन्थ में उपलब्ध व सुरक्षित हैं। पुराणों में भी इतिहास विषयक अनेक उल्लेख व स्मृतियां उल्लिखित हैं। यह महाभारत का युद्ध आज से लगभग 5,200 वर्ष पूर्व हुआ था। हम अनुभव करते हैं कि जिस प्रकार से सूर्य का उदय पूर्व दिशा से होता है उसी प्रकार से ज्ञान के आदि ग्रन्थ 'वेद' रूपी सूर्य का उदय भी भारत से ही हुआ है जिसका प्राचीन नाम आर्यावर्त्त था। यही भूमि वेदों व अमैथुनी सृष्टि के उद्गम की भूमि है। भारत का ही प्राचीन नाम आर्यावर्त्त है और आर्यावर्त्त नाम से पूर्व इस देश का कुछ भी नाम नहीं रहा है और न ही आर्यो से पूर्व कोई मनुष्य या उनका समुदाय निवास करता था। यह भी ध्यान देने योग्य है कि आर्यावर्त के अस्तित्व में आने तक संसार का अन्य कोई देश अस्तित्व में नहीं आया था क्योंकि उन निर्जन देशों को बसाने के लिए आर्यावर्त्त से आर्यो को ही जाना था।
-
- आज संसार की सारी पृथिवी पर लोग बसे हुए हैं। समस्त पृथिवी पर लगभग 194 देश हैं। इन देशों के निवासी पूर्व समयों में पड़ोस के देशों से आकर वहां बसे हैं। जो आरम्भ में, सबसे पूर्व, आये होगें, उससे पूर्व वह स्थान खाली रहा होगा। हो सकता है उसके बाद निकटवर्ती वा पड़ोस की अन्य तीन दिशाओं से भी कुछ लोग वहां आकर बसे हों। उन देशों में वहां क्योंकि प्रायः एक ही मत या धर्म है, अतः कहीं कोई विवाद नहीं है। सृष्टि के आरम्भ से पारसी व बौद्ध-जैन-ईसाई मत के आविर्भाव तक संसार के सभी लोग एक वैदिक मत को मानते रहे। इस मान्यता के पक्ष में भी प्रमाण उपलब्ध हैं कि लगभग 5,200 वर्ष पूर्व भारत की भूमि पर हुए महाभारत युद्ध के बाद आर्यावर्त्त अवनति को प्राप्त हुआ। इससे पूर्व हमारे देश के राजपुरूष देश-देशान्तर के सभी देशों में जाते-आते थे। परस्पर व्यापार भी होता था और वहां की राज व्यवस्था भारत के ऋषियों, विद्वानों व राजपुरूषों के दिशा-निर्देश में चलती थी। वह माण्डलिक राज्य

कहलाते थे और भारत के चक्रवर्ती राज्य को कर देते थे। महर्षि दयानन्द (1825-1883) ने अपने काल में हस्तलिखित दुलर्भ हजारों ग्रन्थों का अध्ययन किया था। उन्होंने निष्कर्ष रूप में लिखा है कि सृष्टि के आरम्भ से महाभारत पर्यन्त आर्यो का सारे विश्व में एकमात्र, सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य रहा है। अन्य देशों में माण्डलिक राजा होते थे जो भारत को कर देते थे और हमारे देश के राजपुरूष व ऋषि आदि भी इन देशों में सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था को आर्यनीति के अनुसार चलाने, शिक्षा-धर्म प्रचार व व्यापार आदि कार्यो हेतु आया-जाया करते थे। यह प्रमाण अपने आप में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह वाक्य देश-विदेश में रहने वाले करोड़ों वेदभक्तों के लिए तो मान्य है परन्तु अंग्रेजी परम्परा के लेखक व विद्वानों के लिए यह इसलिए स्वीकार्य नहीं है कि विदेशी विद्वान ऐसा नहीं मानते थे। वह क्यों नहीं मानते थे इसके कारणों में जाने की इन विद्वानों के पास न योग्यता है और न आवश्यकता। उनका अपना मनोरथ सिद्ध हो जाता है, अतः वह गहन व अति श्रम साध्य गम्भीर अनुसंधान नहीं करते। ऐसे कार्य तो स्वामी दयानन्द व उनके अनुयायी पद-वाक्य प्रमाणज्ञ पण्डित बह्मदत्त जिज्ञासु, पं. युधिष्ठिर मीमांसक, पं. भगवद्दत्त व स्वामी विद्यानन्द सरस्वती जैसे खोजी व जुझारू लोग ही कर सकते थे व किया है। हम यहां यह भी निवेदन करना चाहते हैं कि आर्यो को भारत से भिन्न स्थानों का निवासी मानने और आर्यो का अन्य स्थान से भारत में आने के मिथ को सत्य मानने वालों के पास एक भी पुष्ट प्रमाण नहीं है जबकि महर्षि दयानन्द व उनके अनुयायियों मुख्यतः स्वामी विद्यानन्द सरस्वती आदि ने आर्यो का भारत का मूल निवासी होना अनेक तर्को, प्राचीन ग्रन्थों, युक्ति-प्रमाणों, इतिहास व पुरातत्व के प्रमाणों आदि की सामग्री से सिद्ध किया है।

- यहां हम इस सम्भावना पर भी विचार करते है कि यदि महाभारत युद्ध न हुआ होता तो क्या होता? महाभारत युद्ध दुर्योधन की हठधर्मिता का परिणाम था। यदि उसका जन्म ही न होता या वह साधु प्रकृति का होता तो भी महाभारत न हुआ होता। ऐसी स्थिति में श्री कृष्ण, भीष्म, विदुर, अर्जुन व युधिष्ठिर आदि आर्यावर्त-भारत व सारे विश्व को वेदमार्ग पर चलाते। अर्जुन ने तो अमेरिका के राजा की पुत्री उलोपी से विवाह तक किया था। भारतवासियों का अमेरिका आने-जाने का यह एक प्रमाण है। ऐसे अनेक उल्लेख व प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। महर्षि वेद व्यास के पुत्र पाराशर के अमेरिका में जाने वहां निवास करने और अध्ययन-अध्यापन कराने के प्रमाण भी मिलते हैं। महाभारत यदि न होता तो इस सम्भावना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि फिर सारे संसार मे केवल एक वैदिक धर्म ही होता। अज्ञानता के कारण व भारत से दूर होने के कारण मध्यकाल में भारत से बाहर वैदिक मत से इतर पारसी, ईसाई व इस्लाम आदि जिन मतो का आविर्भाव हुआ, वह न हुआ होता। ऐसी स्थिति में हम व दुनियां के अन्य देश जो गुलाम हुए, वह भी न हुए होते। और इन सब स्थितियों में किसी देशी या विदेशी द्वारा इस विवाद को जन्म ही न दिया जाता कि "आर्य" भारत के ही मूल निवासी हैं या नहीं? अंग्रेजो का विदेशी होना और भारत को पराधीन बना कर यहां के मूल निवासी आर्यों पर शासन करना ही इस विवाद का मुख्य कारण है। अंग्रेजों को यह डर सताता था कि इस देश के नागरिक उन्हें विदेशी कहकर 'विदेशियों भारत छोड़ों' या 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' या फिर 'अपने देश में अपना राज्य' या 'स्वदेशीय राज्य सर्वोपरि उत्तम होता है और स्वदेशी राज्य की तुलना में माता–पिता के

समान कृपा, न्याय व दया होने पर भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं हो सकता' आदि सिद्धान्तों व नारों के आधार पर भारत से बाहर न निकाल दें। अंग्रेजों में असुरक्षा की भावना इस कारण थी कि उन्होंने भारतीयों को गुलाम बनाया हुआ है। वह विदेशी थे और भविष्य मे वह दिन आ सकता था कि जब उनके विदेशी होने के आधार पर उन्हें भारत छोड़ने के लिए मजबूर किया जा सकता था। ऐसा ही हुआ। उनकी लूट, अत्याचारों व विदेशी होने के कारण ही उनके विरूद्ध क्रान्तिकारी व अहिंसक आन्दोलन चले। अतः अपनी जड़े जमाने व चिरकाल तक भारत पर शासन करने के लिए उन्होंने भारत के प्रबुद्ध वर्ग ''आर्यो'' को विदेशी कहा। महर्षि दयानन्द तो सन् 1875 में सत्यार्थ प्रकाश में खुलकर कह चुके थे कि अपने देश में अपना स्वदेशी राज्य ही सर्वोत्तम होता है एवं माता-पिता के समान न्याय, दया व कृपा होने पर भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक कभी नहीं हो सकता। महाभारत का युद्ध आर्यो अर्थात् कौरव-पाण्डव राज-परिवारों की परस्पर स्वार्थ वा फूट, उनके आलस्य व प्रमाद आदि कारणों से हुआ जिसके भावी परिणामों से वर्तमान में भारत में अज्ञान, पाखण्ड, कुरीतियां, मूर्तिपूजा, अवतारवाद, फलित ज्योतिष, वर्ण या जातीय व्यवस्था आदि के नाम पर स्त्री व अपठित व असंगठित शूद्रों पर अत्याचार आदि की वृद्धि होना, विदेशों में नाना अवैदिक व अज्ञानपूर्ण मतों का अस्तित्व में आना, सारी दुनियां में धर्मान्तरण का चक्र चलना व इस प्रकार के कारणों से एक दूसरे का घात करना आदि, जिससे समय-समय पर भयंकर युद्ध हुए व सज्जनों को मृत्यु के घाट उतारा गया।

-
- यह संसार ईश्वर ने बनाया है। यह हमारी पृथिवी विश्व ब्रह्माण्ड में एकमात्र नहीं अपितु ऐसी असंख्य पृथिवियां एवं सूर्य व चन्द्र आदि ग्रहों से सारा ब्रह्माण्ड भरा है। यह ईश्वर की विषालता, उसकी सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता, निराकारता व सत्य, चित्त व आनन्दस्वरूप होने का प्रमाण है। यहां यह विचार करते हैं कि ईश्वर ने इस विशाल पृथिवी को बनाकर मनुष्यों को किसी एक स्थान पर जन्म दिया या संसार के अनेकानेक भागों में उत्पन्न किया? इसके लिए यह विचार करना उपयोगी होगा कि जब भी हम किसी नई चीज का आविष्कार करते हैं तो पहले कुछ सांचे या प्रोटोटाइप बनायें जाते हैं जिनकी संख्या सीमित होती है। प्रथम उत्पादन एक ही स्थान पर होता है, सर्वत्र नहीं। आवश्यकता पड़ने पर परिस्थिति के अनुसार अनेक स्थानों पर विस्तार किया जाता है। जब एक स्थान पर कुछ सहस्र स्त्री-पुरूषों के जन्म लेकर समय के साथ उनकी संख्या में वृद्धि होने व परस्पर के विवादों आदि के होने पर वह सारे संसार में फैल सकते हैं तो सर्वत्र मनुष्यों की सृष्टि करना ईश्वर के लिए करणीय नहीं था। हम देखते हैं कि परिवार का मुख्य व्यक्ति परिवार की आवश्यकता के अनुरूप निवास बनाता है। आगे चल कर परिवार में नई सन्तानें आती हैं, वह बड़ी होती है, उनमें क्षमता होती है, वह अपने साधनों, क्षमता, अपनी भावना व इच्छानुसार उचित स्थान का चयन कर अपने निवास के लिए अपना पृथक भवन बनवाते हैं। इसी प्रकार से संसार में निवास बनते हैं। सृष्टि के आरम्भ में यही सम्भावना अधिक बलवती लगती है, और इसका आप्त प्रमाण भी है, कि सृष्टि के आरम्भ में केवल एक स्थान 'त्रिविष्टिप' या 'तिब्बत' में ईश्वर ने मानव सृष्टि की। सहस्रों स्त्री-पुरूषों व अग्नि, वायु,

आदित्य, अंगिरा, ब्रह्मा आदि ऋषियों को उत्पन्न किया। ऋषियों को प्रेरणा देकर उन्हें वेदों का ज्ञान दिया। उन्होंने अन्यों को पढ़ाया। उन युवा स्त्री-पुरूषों के विवाह आदि सम्पन्न किये। उन सभी को उनके कर्तव्यों का बोध कराया। उनसे सन्तानोत्पत्ति हुई। समय व्यतीत होने के जनसंख्या बढ़ी। परस्पर विवाद भी हुए। भिन्न मत के लोग समूह में अन्यत्र जाकर रहने लगे। वहां भी जनसंख्या बढ़ी और फिर उनमें से लोग अपनी आवश्यकता, इच्छा, अन्वेषण की रूचि आदि के कारण खाली पड़ी पृथिवी में चारों दिशाओं में स्थान-स्थान पर जाकर बसने लगे। इस प्रकार से 1,96,08,53,115 वर्षों में यह आज का संसार अस्तित्व में आया है। यहां अब पश्चिमी विद्वान मैक्समूलर का वचन उद्धृत करते हैं – 'यह निश्चित हो चुका कि हम सब पूर्व से ही आये हैं। इतना ही नहीं, हमारे जीवन की जितनी भी प्रमुख और महत्वपूर्ण बातें हैं, सबकी सब हमें पूर्व से ही मिली हैं। ऐसी स्थिति में जब हम पूर्व की ओर जाएँ तब हमें यह सोचना चाहिए कि पुरानी स्मृतियों को संजोये हम अपने पुराने घर की ओर जा रहे हैं।' अंग्रेजी में अपनी पुस्तक **"India : What can it Teach us?" (Page 29)** पर उन्होंने लिखा कि 'We all come from the East—all that we value most has come to us from the East, and by going to the East, every-body ought to feel that he is going to his 'old home' full of memories, if only we can read them.' मैक्समूलर के यह शब्द महर्षि दयानन्द द्वारा सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम् समुल्लास मे लिखे शब्दों की स्वीकारोक्ति हैं जहां उन्होंने लिखा है कि ''मनुष्यों की आदि सृष्टि त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत में हुई और आर्य लोग सृष्टि के आदि में कुछ काल पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देष भारत में आकर बसे। इसके पूर्व इस देश का कोई भी नाम नहीं था और न कोई आर्यो के पूर्व इस देश में बसते थे।'' हम यहां यह भी जोड़ना उपयुक्त समझते है जब आर्य तिब्बत से यहां आकर बसे उस समय इस भूमि भारत व संसार के समस्त भूभाग पर कहीं कोई मनुष्य निवास नहीं करता था। इन्हीं प्रो. मैक्समूलर ने सन् 1866 में प्रकाशित 'चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप' के पृष्ठ 27 पर लिखा है कि ''वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या बिल्कुल बचकानी, निकृष्ट, जटिल और अत्यन्त साधारण है।" बाद में यही लेखक इसके विपरीत अपने ऋग्वेद संहिता के भाष्य के चैथे खण्ड में लिखता है कि ''एक वैदिक विद्वान अथवा विद्वानों की एक पीढ़ी द्वारा भी ऋग्वेद की ऋचाओं के रहस्यों को खोज निकालना असम्भव है।" वेद, वैदिक धर्म एवं संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने मैक्समूलर के इन शब्दों पर अपनी टिप्पणी करते हुए लिखा है कि ऋग्वेद के सम्बन्ध में इस प्रकार की भावना व्यक्त करने के लिए मैक्समूलर तभी विवश हुए होंगे जब उन्हें वहां इतने ऊंचे विचार दीख पड़े होंगे जिनके मुकाबिले में विकासवाद की दीवारें हिलती जान पड़ी होंगी। हम समझते हैं कि मैक्समूलर का यह लिखना कि ऋग्वेद की ऋचाओं के रहस्यों को खोज निकालना असम्भव है, इससे उनका तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद के मन्त्रों के जो यथार्थ अर्थ हैं वह इतने गम्भीर, अर्थ पूर्ण, महत्वपूर्ण व उपादेय हैं कि उनके व उनके समकक्ष विद्वान के लिए वेदों के यथार्थ अर्थ जानना, प्रकट करना व बताना असम्भव है। महर्षि दयानन्द ने अपने वेदाध्ययन में इस तथ्य को साक्षात् किया कि वेद मनुष्य कृत ज्ञान न होकर ईश्वर से प्राप्त ज्ञान है और घोषणा की कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। मैक्समूलर भी प्रकारान्तर से इसका समर्थन करते दीखते हैं।

•

- लेख को विराम देने से पूर्व हम 5,200 वर्ष पूर्व रचित महाभारत में उपलब्ध आर्यों का आदि देष विषयक एक पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। महाभारत में कहा है – ''हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः। अर्धयोजनविस्तारः पंचयोजनमायतः।। परिमण्डलयोर्मध्ये मेरूरूत्तमपर्वतः। ततः सर्वाः समुत्पन्ना वृतयो द्विजसत्तम।। ऐरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहू। प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ।।" इसका अर्थ व इस पर टिप्पणी करते हुए इस विषय के अधिकारी मर्मज्ञ विद्वान स्वामी विद्यानन्द सरस्वती अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता' में लिखते हैं कि – 'संसार में पवित्र हिमालय है। इसमें आधा योजन चौड़ा और पांच योजन घेरे वाला 'मेरू' है जहां मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। यहीं से ऐरावती, वितस्ता, विशाला, देविका और कुहू आदि नदियां निकलती हैं। इन प्रमाणों में हिमालय के मेरू प्रदेश में प्रथम व आदि सृष्टि होने का वर्णन है।' वह आगे लिखते हैं कि इससे भी अधिक पुष्ट प्रमाण हमें इस विषय में मिले हैं जिनसे अमैथुनी सृष्टि के हिमालय में होने का निश्चय होता है। जिस मेरू स्थान का महाभारत के उक्त श्लोकों में निर्देष किया गया है, उसी के पास 'देविका पंचमे पाशर्वे मानसं सिद्धसेवितम्' अर्थात् देविका के निवास के पश्चिमी किनारे पर 'मानस' है। यह मानस अब एक झील है जो तिब्बत के अन्तर्गत है। एक बार पुनः महर्षि दयानन्द द्वारा सत्यार्थ प्रकाश में लिखे उनके शब्दों को देख लेते हैं जिनसे महाभारत के उपर्युक्त वचनों की संगति लगती है – 'मनुष्यों की आदि सृष्टि त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत में हुई और आर्य लोग सृष्टि के आदि में कुछ काल पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश भारत में आकर बसे। इससे पूर्व इस देश का कोई भी नाम नहीं था और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे।' हम समझते है कि इससे भारत ही आर्यों का मूल देश सिद्ध हो जाता है। इसके विपरीत विचार या मान्यतायें कल्पित, पूर्वाग्रहों से युक्त होने व प्रमाणों के अभाव में निरस्त हो जाती है।
-

- –मन मोहन कुमार आर्य
- पताः **196 चुक्खूवाला-2**
- देहरादून**-248001**
- दूरभाषः **09412985121**

- # जीव फल भोगने में परतन्त्र क्यों? – इन्द्रजित् देव
- SEPTEMBER 30, 2015 1 COMMENT
- प्रत्येक जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह चाहे जैसा कर्म करे, यह उसकी स्वतन्त्रता है। अपने विवेक, ज्ञान, बल, साधन, इच्छा व स्थिति के अनुसार ही कर्म करता है परन्तु अपनी इच्छानुसार वह फल भी प्राप्त कर ले, यह निश्चित नहीं। इसे ही दर्शनान्दु सार फल भोगने में परतन्त्रता कहते हैं।

- कर्म का कर्त्ता व इसका फल भोक्ता जीव है परन्तु वह फलदाता नहीं। यही न्याय की माँग है। फलदाता स्वयं बन जाता तो पक्षपात व अन्यय सर्वत्र व्याप्त हो जाएगा। हम लोग-समाज में देखते हैं कि हम कर्म किए बिना फल चाहते हैं। फल भी ऐसा चाहते हैं जो सुखदायक हो। यदि हम चाहते-न-चाहते हुए पाप कर्म कर लेते हैं तो भी फल तो पुण्यकर्म का चाहते हैं-
- फलं पापस्य नेछन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।
- फलं धर्मस्य चेछन्ति धर्मं न कुवन्ति मानवाः।।
- हमारी इच्छानुसार व्यवस्था हो जाए तो अनाचार, अन्याय व अव्यवस्था का साम्राज्य स्थापित हो जाएगा। अतः ईश्वर ने जीव को कर्म करने की स्वतन्त्रता प्रदान कर रखी है तथा कर्मों का फलदाता वह स्वयं ही है। इससे व्यवस्था ठीक रखन में सहायता मिलती है। यदि हमारी इच्छानुसार ही व्यवस्था हो जाए व हम न्याय व सत्य को तिलाञ्जलि देकर कर्म करेंगे तो समाज में अनाचार, अव्यवस्था व अत्याचार का साम्राज्य स्थापित हो जाएगा। अतः ईश्वर ने जीवों को केवल कर्म करने की स्वतन्त्रता प्रदान की तथा कर्मफल का अधिकार अपने पास ही रखा है। फल भोगने में परतन्त्रता का दूसरा कारण यह है कि जीव सर्वज्ञ नहीं है। दूसरों के कर्मों को जानना तो दूर की बात है, वह अपने सभी कर्मों को भी पूर्णतः नहीं जानता। कर्मों की संया न उनका शुभ-अशुभ होना, पापयुक्त या पुण्ययुक्त होना, किस कर्म का क्या फल है- इन बातों की जानकारी जीव को नहीं होती। मनुष्य योनि में रह रहे जीव को यदि तनिक-सा ऐसा ज्ञान हो भी जाए पर मनुष्येतर योनियों में तो ज्ञान होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। मनुष्येतर योनियों में जीव केवल आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन- इन चार कर्मों से अधिक कर्म करने की क्षमता, ज्ञान व इच्छा नहीं होती। मनुष्य योनि में आया जीव उपरोक्त चार कर्मों के अतिरिक्त धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदि से युक्त कर्म करने का सामर्थ्य रखता है परन्तु वह भी एक सीमा तक। अपनी सीमा में रहकर भी अपने सब कर्मों को स्मरण रखना व उनका निर्णय करने की पूर्ण क्षमता जीव में है ही नहीं।
- तीसरा कारण यह है कि जीव को फल प्राप्त करने हेतु शरीर, आयु व भोग पदार्थों की आवश्यकता है। शरीर रहित जीव को यह भी बोध नहीं होता कि वह है भी अथवा नहीं। प्राण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन व बुद्धि आदि के बिना वह ऐसे रहता है, जैसे अस्पताल में मूर्च्छित अवस्था में एक व्यक्ति पड़ा रहता है। तब उसे अनुभव नहीं होता कि वह है भी अथवा नहीं। वह कौन है, कहाँ है, क्यों है, यह भी ज्ञात नहीं होता। अंग-प्रत्यंग, श्वास-प्रश्वास आदि को प्राप्त करके ही जीव फल भोगने में समर्थ होता है। ये वस्तुएँ उसे पूर्व जन्मों के कृत कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होती हैं।
- इस सबन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी का निनलिखित लेख विषय को अधिक स्पष्ट करता है-
- प्रश्न– जीव स्वतन्त्र है वा परतन्त्र?
- उत्तर– अपने कर्तव्य- कर्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है। 'स्वतन्त्र कर्त्ता' यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र (=अष्टा. 1/4/54) है जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है, वही कर्त्ता है।
- प्रश्न– स्वतन्त्र किसको कहते हैं?
- उत्तर– जिसके अधीन शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण आदि हों। जो स्वतन्त्र न हो तो उसको पाप-पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता क्योंकि जैसे भृत्य, स्वामी और

सेना, सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों की मार के भी अपराधी नहीं होते, वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और अधीनता से काम सिद्ध हों तो जीव की पाप वा पुण्य न लगे। उस फल का भागी भी प्रेरक परमेश्वर होवे। नरक-स्वर्ग अर्थात् दुःख-सुख की प्राप्ति भी परमेश्वर की होवे। जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्र-विशेष से किसी को मार डाला तो वही मारने वाला पकड़ा जाता है और दण्ड पाता है, शस्त्र नहीं, वैसे पराधीन जीव पाप-पुण्य का भागी नहीं हो सकता। इसीलिए सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र परन्तु जब वह पाप कर चुकता है, तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है। इसीलिए कर्म करने में जीव स्वतन्त्र और पाप के दुःख रूप फल और पुण्य के सुख रूप फल भोगने में परतन्त्र होता है।

- प्रश्न– जो परमेश्वर जीव को न बनाता और सामर्थ्य न देता तो जीव कुछ भी न कर सकता। इसलिए परमेश्वर की प्रेरणा ही से जीव कर्म करता है।
- उत्तर– जीव उत्पन्न कभी न हुआ, अनादि है। जैसा ईश्वर और जगत् का उपादान कारण नित्य है और जीव का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाए हुए हैं परन्तु वे सब जीव के अधीन है। जो कोई मन, कर्म, वचन से पाप-पुण्य करता है, वही भोक्ता है, ईश्वर नहीं।''
- – सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास
- – चूना भट्ठियाँ, सिटी सेन्टर के निकट, यमुनानगर-**135001** (हरियाणा)

- # ईश्वर को प्राप्त करने की सरल विधि क्या है' - मनमोहन कुमार आर्य

- SEPTEMBER 24, 2015 LEAVE A COMMENT
- प्रत्येक व्यक्ति सरलतम रूप में ईश्वर को जानना व उसे प्राप्त करना चाहता है। हिन्दू समाज में अनेकों को मूर्ति पूजा सरलतम लगती है क्योंकि यहां स्वाध्याय, ज्ञान व जटिल अनुष्ठानों आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती। अन्य मतों की भी कुछ कुछ यही स्थिति है। अनेक मत वालों ने तो यहां तक कह दिया कि बस आप हमारे मत पर विश्वास ले आओ, तो आपको ईश्वर व अन्य सब कुछ प्राप्त हो जायेगा। बहुत से भोले-भाले लोग ऐसे मायाजाल में फंस जाते हैं परन्तु विवेकी पुरूष जानते हैं कि यह सब मृगमरीचिका के समान है। जब रेगिस्तान की भूमि में जल है ही नहीं तो वह वहां प्राप्त नहीं हो सकता। अतः धार्मिक लोगों द्वारा अपने भोले-भाले अनुयायियों को बहकाना एक धार्मिक अपराध ही कहा जा सकता है। दोष केवल बहकाने वाले का ही नहीं, अपितु बहकने वाले का भी है क्योंकि वह संसार की सर्वोत्तम वस्तु 'ईश्वर' की प्राप्ति के लिए कुछ भी प्रयास करना नहीं चाहते और सोचते हैं कि कोई उसके स्थान पर तप व परिश्रम करे और उसे उसका पूरा व अधिकतम लाभ मिल जाये। ऐसा पहले कभी न हुआ है और न भविष्य में कभी होगा। यदि किसी को ईश्वर को प्राप्त करना है तो पहले उसे उसको उसके यथार्थ रूप में जानना होगा। उस ईश्वर व जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप को जानकर या फिर किसी सच्चे विद्वान अनुभवी वेदज्ञ गुरू का शिष्य बनकर उससे ईश्वर को प्राप्त करने की सरलतम विधि जानी जा सकती है। इस कार्य में हम आपकी कुछ सहायता कर सकते हैं।
-
- ईश्वर व जीवात्मा को जानने व ईश्वर को प्राप्त करने की सरलतम विधि कौन सी है और उसकी उपलब्धि किस प्रकार होगी? इसका प्रथम उत्तर है कि इसके लिए आपको

महर्षि दयानन्द व आर्यसमाज की शरण में आना होगा। महर्षि दयानन्द ने वेदों के आधार पर अपने ग्रन्थों में ईश्वर, जीवात्मा व प्रकृति के सत्य व यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया है जिसे स्वयं पढ़कर जानना व समझना है। यदि यह करने पर जिज्ञासु को कहीं किंचित भ्रान्ति होती है तब उसे किसी विद्वान से उसे जानना व समझना है। उपासक को महर्षि दयानन्द की उपासना विषयक मान्यताओं व निर्देशों को अच्छी तरह से समझ कर पढ़ना व अध्ययन करना चाहिये। इस कार्य में महर्षि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, आर्याभिविनय, पंच महायज्ञ विधि, आर्योद्देश्यरत्नमाला, व्यवहारभानु आदि पुस्तकें सहायक हो सकती हैं। आईये, इसी क्रम में ईश्वर, जीवात्मा व प्रकृति के यथार्थ स्वरूप को जानने का प्रयास करते हैं।

-
- जीवात्मा को ईश्वर के उपकारों से उऋण होने तथा जन्म मरण से मुक्ति के लिए ईश्वर की उपासना करनी है अतः इन दोनों सत्ताओं के सत्य स्वरूप उपासक को विदित होने चाहिये नहीं तो भ्रान्तियों में पड़कर उपासक सत्य मार्ग का चयन नहीं कर सकता। पहले ईश्वर का वेद वर्णित स्वरूप जान लेते हैं। सत्यार्थ प्रकाश के 'स्वमन्तव्य–अमन्तव्य प्रकाश' में महर्षि दयानन्द ने ईश्वर के स्वरूप वा गुण, कर्म व स्वभाव को संक्षेप में बताते हुए लिखा है कि 'जिसके ब्रह्म परमात्मा आदि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है, जिस के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं। जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है, उसी को परमेश्वर मानता हूं।' ईश्वर के इस स्वरूप का उपासक को बार बार विचार करना चाहिये और एक एक गुण, कर्म, स्वभाव व लक्षण को तर्क वितर्क कर अपने मन व मस्तिष्क में अच्छी तरह से स्थिर कर देना चाहिये। जब इन गुणों का बार बार विचार, चिन्तन व ध्यान करते हैं तो इसी को उपासना कहा जाता है। उपासना की योग निर्दिष्ट विधि के लिए महर्षि पंतजलि का योग दर्शन भी पूर्ण सावधानी, तल्लीनता व ध्यान से पढ़ना चाहिये जिससे उसमें वर्णित सभी विषय व बातें बुद्धि में स्थित हो जायें। ऐसा होने पर उपासना व उपासना की विधि दोनों का ज्ञान हो जाता है। ईश्वर के स्वरूप व उपासना विधि के ज्ञान सहित जीवात्मा को अपने स्वरूप के बारे में भी भली प्रकार से ज्ञान होना चाहिये। जीव का स्वरूप कैसा है? आईये इसे ईश्वर के गुण, कर्म व स्वभाव के आधार पर निश्चित कर लेते हैं। ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है तो जीव भी सत्य व चेतन स्वरूप वाला है। ईश्वर में सदैव आनन्द का होना उसका नित्य, शाश्वत् व अनादि गुण है परन्तु जीव में आनन्द नहीं है। यह आनन्द जीव को ईश्वर की उपासना, ध्यान व चिन्तन से ही उपलब्ध होता है। उपासना का प्रयोजन भी यही सिद्ध होता है कि ईश्वरीय आनन्द की प्राप्ति व उसकी उपलब्धि करना। ईश्वर के गुण, कर्म व स्वभाव पवित्र हैं परन्तु जीव को ज्ञान के लिए माता-पिता व आचार्य के साथ वैदिक साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता होती है, तब यह कुछ कुछ पवित्र बनता है। वह मनुष्य भाग्यवान है कि जिसके माता-पिता व आचार्य धार्मिक हों व वैदिक विद्या से अलंकृत हों। धार्मिक माता-पिता व आचार्य के सान्निध्य व उनसे शिक्षा ग्रहण कर ही कोई मनुष्य पवित्र जीवन वाला बन सकता है, अन्यथा नहीं। हमारा आजकल का समाज इसका उदाहरण है जिसमें माता-पिता व आचार्य धार्मिक व वैदिक विद्वान नहीं है, और इसी कारण समाज में भ्रष्टाचार, अनाचार व दुराचार आदि देखें जाते हैं। आजकल के माता-पिता व आचार्य स्वयं सत्य व आध्यात्मिक ज्ञान से हीन है, अतः उनकी

सन्तानों व शिष्यों में भी सत्य वैदिक आध्यात्मिक ज्ञान नहीं आ पा रहा है। इसका हमें एक ही उपाय व साधन अनुभव होता है और वह महर्षि दयानन्द व वेद सहित प्राचीन ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों एवं वेदांगों, उपांगों अर्थात् 6 दर्शन तथा 11 उपनिषदों सहित प्रक्षेप रहित मनुस्मृति आदि का अध्ययन है। इन्हें पढ़कर मनुष्य ईश्वर, जीवात्मा व संसार से संबंधित सत्य ज्ञान को प्राप्त हो जाता है। महर्षि दयानन्द ने ईश्वर को वेद के आधार पर सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त बताया है। इस पर विचार करने से जीवात्मा अल्पज्ञ, सूक्ष्म एकदेशी बिन्दूवत आकार वाला, सर्वव्यापक ईश्वर से व्याप्य, अनुत्पन्न, अल्पशक्तिमान, दया-न्याय गुणों से युक्त व मुक्त दोनों प्रकार के स्वभाव वाला, ईश्वरकृत सृष्टि का भोक्ता और ज्ञान व विज्ञान से युक्त होकर अपनी सामर्थ्य से सृष्टि के पदार्थों से नाना प्रकार के उपयोगी पदार्थों की रचना करने वाला, कर्म करने में स्वतन्त्र परन्तु उनके फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था के अधीन आदि लक्षणों वाला जीवात्मा है। इस प्रकार से विचार करते हुए हम जीवात्मा के अन्य गुणों को भी जान सकते हैं क्योंकि हमारे सामने कसौटी वेद, आप्त वचन व ईश्वर का स्वरूप आदि हैं तथा विचार व चिन्तन करने की वैदिक चिन्तन पद्धति है। सृष्टि में तीसरा महत्वपूर्ण पदार्थ प्रकृति है जो कारणावस्था में अत्यन्त सूक्ष्म तथा सत्व, रज व तम गुणों की साम्यावस्था है। ईश्वर इसी प्रकृति को अपनी सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता से पूर्व कल्पों की भांति रचकर स्थूलाकार सृष्टि करता है जिसमें सभी सूर्य, ग्रह व पृथिवी तथा पृथिवीस्थ सभी भौतिक पदार्थ सम्मिलित हैं।

-
- अब ईश्वर को प्राप्त करने की विधि पर विचार करते हैं। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए जीवात्मा को स्तुति, प्रार्थना सहित सन्ध्या-उपासना कर्मों व साधनों को करना है। महर्षि दयानन्द ने दो सन्ध्या कालों, रात्रि व दिन तथा दिन व रात्रि की सन्धि के कालों में सन्ध्या-उपासना को करने के लिए सन्ध्यायेपासना की विधि भी लिखी है जिसको जानकर सन्ध्या करने से लाभ होता है। इस पुस्तक की उन्होंने संक्षिप्त भूमिका दी है। सन्ध्या के मन्त्र व उनके अर्थ देकर उन्होंने जो सन्ध्या करने का विधान लिखा है, उसे सभी मनुष्यों को नियतकाल में यथावत करना चाहिये। सन्ध्या व अन्य नित्य कर्मों, दैनिक अग्निहोत्र, पितृ यज्ञ, अतिथि यज्ञ एवं बलिवैश्वदेव यज्ञ को करने का फल यह है कि ज्ञान प्राप्ति से आत्मा की उन्नति और आरोग्यता होने से शरीर के सुख से व्यवहार और परमार्थ कार्यों की सिद्धि का होना। इससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सिद्ध होते हैं। इनको प्राप्त होकर मनुष्यों का सुखी होना उचित है। सन्ध्या के समापन से पूर्व समर्पण का विधान करते हुए उपासक को ईश्वर को सम्बोधित कर सच्चे हृदय से कहना होता है कि 'हे ईश्वर दयानिधे ! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः।' इसका अर्थ कर वह कहते हैं कि सन्ध्या के मन्त्रों व उनके अर्थों से परमेश्वर की सम्यक् उपासना करके आगे समर्पण करें कि हे ईश्वर दयानिधे ! आपकी कृपा से जो जो उत्तम काम हम लोग करते हैं, वह सब आपके समर्पण हैं। हम लोग आपको प्राप्त होके धर्म अर्थात् सत्य व न्याय का आचरण, अर्थ अर्थात् धर्म से पदार्थों की प्राप्ति, काम अर्थात् धर्म और अर्थ से इष्ट भोगों का सेवन तथा मोक्ष अर्थात् सब दुःखों से छूटकर सदा आनन्द में रहना, इन चार पदार्थों की सिद्धि हमको शीघ्र प्राप्त हो। मोक्ष जन्म व मरण के चक्र से छूटने को कहते हैं। मोक्ष की पहली शर्त है कि

उपासना व सत्कर्मों को करके ईश्वर का साक्षात्कार करना व जीवनमुक्त जीवन व्यतीत करना। बिना ईश्वर का साक्षात्कार किये मोक्ष वा जन्म मरण से मुक्ति प्राप्त नहीं होती। अतः गौण रूप से समर्पण में यह भी कहा गया है कि ईश्वर हमें अपना दर्शन वा साक्षात्कार कराये और हम जन्म-मरण से मुक्त भी हों। ईश्वर का साक्षात्कार होने पर मनुष्य जीवनमुक्त का जीवन व्यतीत करता है और मृत्यु आने पर जन्म-मरण से छूट जाता है।

-
- वेद ईश्वरीय ज्ञान है जो ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा को दिया था। ईश्वरीय ज्ञान वेद के हम 3 मन्त्र पाठकों के अवलोकनार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं। यह तीनों मन्त्र ऋग्वेद के दसवें मण्डल के हैं। मन्त्र हैं- 'अहम्भुवं वसु नः पूव्र्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शश्वतः। मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम्।**1**।', दूसरा मन्त्र 'अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन। सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन।**2**।' तीसरा मन्त्र 'अहं दां गृणते पूव्र्य वरवहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम्। अहं भुवं यामानस्य चोदितायज्वनः साक्षि विश्वरिमन्भरे।**3**।' इन तीनों मन्त्रों के अर्थ हैं प्रथम मन्त्र- ईश्वर सब को उपदेश करता है कि हे मनुष्यों ! मैं ईश्वर सब के पूर्व विद्यमान सब जगत् का पति हूं। मैं सनातन जगत्कारण और सब धनों का विजय करनेवाला और दाता हूं। मुझ ही को सब जीव, जैसे पिता को सन्तान पुकारते हैं, वैसे पुकारें। मैं सब को सुख देनेहारे जगत् के लिये नानाप्रकार के भोजनों का विभाग पालन क लिये करता हूं।1। मैं परमैश्वर्यवान् सूर्य के सदृश सब जगत् का प्रकाशक हूं। कभी पराजय को प्राप्त नहीं होता और न कभी मृत्यु को प्राप्त होता हूं। मैं ही जगत् रूप धन का निर्माता हूं। सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले मुझ ही को जानो। हे जीवो ! ऐश्वर्य प्राप्ति के यत्न करते हुए तुम लोग विज्ञानादि धन को मुझ से मांगो और तुम लोग मेरी मित्रता से पृथक मत होओ।2। हे मनुष्यों ! मैं सत्यभाषणरूप स्तुति करनेवाले मनुष्य को सनातन ज्ञानादि धन को देता हूं। मैं ब्रह्म अर्थात् वेद का प्रकाश करनेहारा और मुझको वह वेद यथावत् कहता, उससे सब के ज्ञान को मैं बढ़ाता, मैं सत्पुरुष का प्रेरक, यज्ञ करने हारे को फल प्रदाता और इस विश्व में जो कुछ है, उस सब कार्य का बनाने और धारण करनेवाला हूं। इसलिये तुम लोग मुझ को छोड़ कर किसी दूसरे को मेरे स्थान में मत पूजो, मत मानो और मत जानो।**3**। इन मन्त्रों को प्रस्तुत करने का हमारा अभिप्रायः पाठको को कुछ वेद मन्त्रों व उनके अर्थों से परिचित कराना है। सृष्टि की सबसे महत्वपूर्ण वस्तु ईश्वरीय ज्ञान वेद का सभी को प्रतिज्ञापूर्वक नित्य प्रति स्वाध्याय करना चाहिये।
-
- मनुष्य जब ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना व ध्यान-उपासना करते हुए ईश्वर में मग्न हो जाता है तो समाधि के निकट होता है। कालान्तर में ईश्वर की कृपा होती है और जीवात्मा को ईश्वर का प्रत्यक्ष वा साक्षात्कार होता है। इसका वर्णन करते हुए उपनिषद में कहा गया है कि जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं, जिसने आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित्त को लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता। क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है। उपासना शब्द का अर्थ समीस्थ होना है। अष्टांग योग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उस को सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामीरूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो जो काम करना होता है, वह वह करना चाहिये। यहां हम पुनः दोहराना

चाहते हैं कि उपासना में सफलता के लिए महर्षि दयानन्द के सभी ग्रन्थों में स्तुति-प्रार्थना-ध्यान-उपासना के सभी प्रसंगों को ध्यान से देखकर उसे अपनी स्मृति में स्थापित करना चाहिये और तदवत् आचरण करना चाहिये।

-
- उपासक वा योगियों को ईश्वर को प्राप्त करने के लिए उपासना करते समय कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर से ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और इसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, यह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है। यह शब्द महर्षि दयानन्द ने स्वानुभूति के आधार पर लिखे हैं। तर्क से भी यह सत्य सिद्ध हैं। अतः उपासक को इस प्रकार से उपासना करनी चाहिये जिसका परिणाम शुभ होगा और सफलता भी अवश्य मिलेगी।
-
- यह भी विचारणीय है कि सभी मत मतान्तरों के अनुयायी भिन्न भिन्न प्रकार से उपासना व पूजा आदि करते हैं। क्या उन्हें उन्हें ईश्वर की प्राप्ति होती है वा नहीं? विचार करने पर हमें लगता है कि उससे लाभ नहीं होता, जो लाभ होता है वह उनके पुरूषार्थ तथा प्रारब्घ से होता है। ईश्वर के यथार्थ ज्ञान तथा योग दर्शन की विधि से उपासना किये बिना किसी को ईश्वर की प्राप्ति व धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की सिद्धि प्राप्त नहीं होती, यह स्वाध्याय व चिन्तन से स्पष्ट होता है। अतः ईश्वर की प्राप्ति के लिए सभी को वैदिक धर्म व वैदिक उपासना पद्धति का ही आश्रय लेना उचित है। यही ईश्वर प्राप्ती की एकमात्र सरल विधि है। अन्य प्रकार से उपासना से ईश्वर प्राप्ति सम्भव नहीं है।

- –मनमोहन कुमार आर्य
- पताः **196** चुक्खूवाला**-2**
- देहरादून**-248001**
- फोनः**09412985121**

अमैथुनी सृष्टि के मनुष्यों की आयुः- – राजेन्द्र जिज्ञासु

SEPTEMBER 23, 2015 1 COMMENT

आदि सृष्टि का वैदिक सिद्धान्त सर्वविदित है। परोपकारी के गत अंकों में बताया जा चुका है कि एक समय था कि हमारी इस मान्यता का (अमैथुनी सृष्टि) का कभी उपहास उड़ाया जाता था परन्तु अब चुपचाप करके अवैदिक मत पंथों को ऋषि दयानन्द की यह देन स्वीकार्य है। परोपकारी में बाइबिल के प्रमाण देकर इस वैदिक सिद्धान्त की दिग्विजय की चर्चा की जा चुकी है। हमारे इस सिद्धान्त के तीन पहलू हैंः-

1. आदि सृष्टि के मनुष्य बिना माता-पिता के भूमि के गर्भ से उत्पन्न हुए।
2. वे सब युवा अवस्था में उत्पन्न हुए।

3. उनका भोजन फल, शाक, वनस्पतियाँ और अन्न दूध आदि थे।

इस सिद्धान्त की खिल्ली उड़ाने वाले आज यह कहने का साहस नहीं करते कि आदि सृष्टि के मनुष्य शिशु के रूप में जन्मे थे। इसके विपरीत बाइबिल में स्पष्ट लिखा है कि परमात्मा भ्रमण करते हुए उद्यान में आदम उसकी पत्नी हव्वा की खोज कर रहा था। उनको आवाजें दी जा रही थी कि अरे तुम कहाँ हो? स्पष्ट है कि पैदा हुये शिशु आवाज सुनकर, समझ ही नहीं सकते। वे उत्तर क्या देंगे? उन्होंने लज्जावश अपनी नग्नता को पत्तों से, छाल से ढ़का। लज्जा शिशुओं को नहीं, जवानों को आती है।

निर्णायक उत्तरः– बाइबिल से यह भी प्रमाणित हो गया है कि अब ईसाई भाई एक जोड़े की नहीं, अनेक स्त्री-पुरुषों की उत्पत्ति मान रहे हैं। अब वैदिक मान्यता पर उठाई जाने वाली आपत्तियों का निर्णायक उत्तर हम पूज्य पं. गंगाप्रसाद जी उपाध्याय के शदों में आगे देते हैं सृष्टि के आदि के मनुष्यों का, ''आमाशय बच्चों के समान होता तो उनके जीवन-निर्वाह के लिए केवल माता का दूध ही आवश्यक था क्योंकि बच्चों के आमाशय अधिक गरिष्ठ (पौष्टिक) भोजन को पचा नहीं सकते परन्तु यह बात असभव है कारण? उनकी कोई माता नहीं थी जो उन्हें दूध पिलाती परन्तु यदि उनके आमाशय अन्न को पचा सकते थे तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनके आमाशय युवकों के समान स्वस्थ व सशक्त थे। युवा आमाशय केवल युवा शरीर में ही रह सकते हैं। यह असभव है कि आमाशय तो युवा हो और अन्य अंग शैशव अवस्था में हों।''

आर्य दार्शनिक पं. गंगाप्रसाद जी उपाध्याय ने अपने अनूठे, सरल, सबोध तर्क से विरोधियों के आक्षेप का उत्तर देकर आर्ष सिद्धान्त सबको हृदयङ्गम करवा दिया।

स्तुता मया वरदा वेदमाता-18

SEPTEMBER 23, 2015 LEAVE A COMMENT

मन्त्र के प्रथम पद में घर में रहने वाले सदस्यों के मध्य भोजन अन्नपान आदि की व्यवस्था सन्तोषजनक होने की बात की है। घर के सभी सदस्यों को उनकी आवश्यकता, वय, परिस्थिति के अनुसार पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिये। घर में भोजन के शिष्टाचार में बच्चे, बूढ़े, रोगी और महिलाओं के बाद पुरुषों का अधिकार आता है। असुविधा दो कारणों से उत्पन्न हो सकती है- प्रथम आलस्य, प्रमाद, पक्षपात से तथा दूसरी ओर अभाव से। इसके लिये उत्पादन से वितरण तक अन्न की प्रचुरता का शास्त्र उपदेश करता है।

वेद में अन्न को सब धनों से बड़ा धन बताया है। विवाह संस्कार के समय अयातान होम की आहुतियाँ देते हुए मन्त्र पढ़ा जाता है- अन्नं साम्राज्यानां अधिपति- संसार में, जीवन में किसी वस्तु का सबसे अधिक महत्त्व है तो वह अन्न है। वेद ने अन्न को साम्राज्यानां अधिपति कहा है। अन्न संसार में राजा से भी बड़ा है। यदि राज्य में अकालादि के कारण अन्न का अभाव हो जाये तो राज्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। अन्न नहीं तो मनुष्य नहीं, मनुष्य नहीं तो समाज नहीं फिर देश और राष्ट्र की बात ही कहाँ से आती? इसलिये प्राण को बचाने का आधार होने से अन्न को ही प्राण कहा गया है- अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः।

अन्न की मात्रा की चर्चा करते हुए हर प्रकार से सभी प्रकार के अन्नों को प्रचुर मात्रा में उत्पन्न करने का विधान किया गया है। शास्त्र कहता है- अन्नं बहु कुर्वीत– अन्न को बहुत उत्पन्न करना चाहिए। प्राकृतिक रूप से स्वयं उत्पन्न अन्न जंगली प्राणी, तपस्वी साधकों के लिये होते हैं। नगर, ग्रामवासियों को तो अन्न अपने पुरुषार्थ से उत्पन्न करना पड़ता है। अन्न उत्पन्न करने की पद्धति वेद से प्रतिपादित है। अन्न को उत्पन्न करने की प्रक्रिया को कृषि कहा गया है। अन्न एवं उससे सबन्धित सामग्री का उत्पादक कृषिवलः या कृषक होता है। वेद समस्त मनुष्यों को उपदेश देता है- कृषिमित् कृषस्व, हे मनुष्य तू खेती कर, इसी में पशुओं की प्राप्ति है। इसी से धन की प्राप्ति है। जब वर्षा न होने से अन्नादि की उत्पति न्यून होती है, तब संसार के सारे व्यवसाय स्वयं नीचे आ जाते हैं। समस्त साधनों, सुख-सुविधाओं का मूल खेती है, अतः जो देश समाज सुखी होना चाहते हैं, उन्हें अपनी खेती को गुणकारी और समुन्नत बनाना चाहिए। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कृषि के महत्त्व को देखकर लिखा है कि किसान राजाओं का राजा है। संसार के जीवन का आधार अन्न है और अन्न का आधार किसान है।

संसार में मनुष्य को जीवनयापन के साधनों का संग्रह करना पड़ता है, साधनों के लिए धन प्राप्ति हेतु नाना व्यवसाय करने होते हैं। संसार में हजारों व्यवसाय हैं, परन्तु सभी व्यवसाय गौण हैं। समाज में दो ही व्यवसाय मुय हैं– एक खेती और दूसरा है शिक्षा। एक से शरीर जीवित रहता है, बलवान बनता है, दूसरे से आत्मा सुसंस्कृत होती है। अन्य सभी व्यवसाय तो इन दो से जुड़े हुए हैं।

अन्न को उत्पन्न करने के साथ उसे नष्ट न करने या उसका दुरुपयोग रोकने के लिये भी कहा गया है। कभी अन्न की निन्दा न करने के लिये कहा है, इसीलिये भारतीय संस्कृति में अन्न को देवता कहा गया है। अन्न को जूठा छोड़ने या बर्बाद करने को पाप कहा गया है। हम भोजन कराने वाले को अन्नदाता कहते हैं। अन्न को बुरी दृष्टि से न देखें। अन्न के उत्पादन, सुरक्षा एवं सदुपयोग को मनुष्य के जीवन का अङ्ग बताया गया है। इस प्रवृत्ति के रहते ही मनुष्य अन्न का इच्छानुसार पर्याप्त मात्रा में उपभोग कर सकता है। किसी के प्रेम को प्राप्त करने के उपाय के रूप में प्रेम से भोजन कराने का निर्देश है। स्वामी दयानन्द ने कहा है- भोजन प्राणिमात्र का अधिकार है। हर भूखा प्राणी भोजन का अधिकार रखता है।

ईश्वर न्यायकारी व दयालु अवश्य है परन्तु वह कभी किसी का कोई पाप क्षमा नहीं करता' -मनमोहन कुमार आर्य

SEPTEMBER 22, 2015 LEAVE A COMMENT

ईश्वर कैसा है? इसका सरलतम् व तथ्यपूर्ण उत्तर वेदों व वैदिक शास्त्रों सहित धर्म के यथार्थ रूप के द्रष्टा व प्रचारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थानों में प्रस्तुत किया है जहां उनके द्वारा प्रस्तुत ईश्वर विषयक गुण, विशेषण व सभी नाम तथ्यपूर्ण एवं परस्पर पूरक हैं, विरोधी नहीं। सत्यार्थ प्रकाश के अन्त में अपने 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में ईश्वर के विषय में वह लिखते हैं कि ईश्वर वह है 'जिसके ब्रह्म परमात्मादि नाम हैं, जो

सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है, जिस के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं। जो सर्वज्ञ निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है, उसी को परमेश्वर मानता हूं।' यहां ईश्वर के लिए 'न्यायकारी' गुण वा नाम का प्रयोग हुआ है तथा उसे सब जीवों को सत्य न्याय से कर्मों का फलदाता आदि लक्षणयुक्त बताया गया है। महर्षि दयानन्द ने ईश्वर के जिस स्वरूप का वर्णन किया है वह वेदों के आधार पर है तथा उसे वेदों से सत्य सिद्ध किया जा सकता है। यदि सृष्टि पर दृष्टि डाले तो यह ईश्वर का स्वरूप सृष्टि में विद्यमान नियमों के अनुसार भी सत्य सिद्ध होता है। यदि हम सच्चिदानन्द शब्द पर ही विचार करें तो यह शब्द सत्य, चित्त तथा आनन्द से मिलकर बना है। यह तीनों गुण ईश्वर में विद्यमान है, यह सच्चिदानन्द शब्द से व्यक्त होता है। सत्य का अर्थ है कि ईश्वर की सत्ता है। ईश्वर का अस्तित्व व सत्ता है, यह कथन बन्ध्या स्त्री के पुत्र के समान कल्पित व असम्भव बात नहीं है। सत्तावान पदार्थ दो प्रकार के होते हैं एक दृश्यमान व दूसरे अदृश्यमान। यह ससार तथा इसमें मनुष्य व प्राणियों के देहादि को हम देखते हैं, यह दृश्य सत्तावान पदार्थ है। आकाश, ईश्वर, जीवात्मा, मूल प्रकृति, वायु में विद्यमान आक्सीजन आदि अनेकानेक गैसें, बहुत दूर और बहुत पास की अनेक वस्तुएं हमें दिखाई नहीं देतीं। यह अदृश्यमान पदार्थ हैं परन्तु इनका अस्तित्व शास्त्र के प्रमाणों तथा युक्ति व तर्क आदि से सिद्ध है।

अतः ईश्वर के अदृश्य होने पर भी उसकी सत्ता सत्य है एवं स्वयंसिद्ध है जिसे सृष्टि में होने वाले अपौरुषेय कार्यों के सम्पादन वा लक्षणों से भी जाना जा सकता है। सच्चिदानन्द में दूसरी बात यह है कि ईश्वर चेतन पदार्थ है। इसका अर्थ है कि वह जड़ व निर्जीव पदार्थ नहीं है। जड़ व निर्जीव पदार्थ चेतन जीवों व ईश्वर के प्रयोग व उपयोग के लिए होते हैं। जड़ व निर्जीव पदार्थ सृष्टि में प्रकृति व इसके विकार के रूप में यह दृष्टि जगत व इस पर उपलब्ध पृथिवी, अग्नि, जल, वायु आदि हैं। चेतन पदार्थों के दो मुख्य गुण, ज्ञान व कर्म होते हैं। ईश्वर के चेतन तत्व होने के सहित उसमें अन्य असंख्य गुणों में सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमान का गुण भी सम्मिलित है। इन दोनों गुणों के कारण ही उसने यह संसार रचा, इसका पालन करता है व जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मानुसार यथावत् सुख व दुःख रूपी कर्म फलों को देता है। इन कार्यों को करने से ईश्वर का स्वरूप चेतन सत्य सिद्ध होता है। ईश्वर का तीसरा गुण उसका आनन्द स्वरुप होना है। ईश्वर आनन्द स्वरूप है, इसका कारण यह है कि ईश्वर सृष्टि का रचयिता, पालक व संहारक है। जिस चेतन पदार्थ में आनन्द व सुख-शान्ति का गुण नहीं होगा वह परहित का कुछ अच्छा कार्य भली प्रकार से नहीं कर सकता। दुःखी व्यक्ति तो दया का अधिकारी होता है। उससे सर्वज्ञता व सर्वशक्तिमत्ता के कार्यों की अपेक्षा नहीं की जा सकती। हम संसार में प्रत्येक क्षण ईश्वर की सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता के दर्शन करते हैं। वह सूर्य को बना कर धारण किये हुए है। इसी प्रकार से ब्रह्माण्ड में अन्यान्य असंख्य ग्रह, उपग्रह व अन्य पिण्ड आदि की रचना कर उसका धारण व पोषण कर रहा है और यह सब भी उसकी व्यवस्था का पालन कर रहे हैं या वह पालन करा रहा है। इससे ईश्वर का सृष्टि में सर्वत्र, सर्वव्यापक व आनन्दमय होना सिद्ध होता है। यदि वह आनन्दमय न होता तो सृष्टि की रचना व संचालन न कर सकता। यजुर्वेद के 40/1 मन्त्र में कहा गया है कि 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्' अर्थात् परमैश्वर्यवान् परमात्मा चराचर जगत में व्यापक है। इससे ईश्वर के अस्तित्व व सत्ता सहित उसका चेतन व आनन्दयुक्त होना ज्ञात होता है। परमैश्वर्यववान चेतन सत्ता ही

होती है न कि जड़ सत्ता। और ऐश्वर्य उसी का होता है जो आनन्दमय या आनन्द से युक्त हो। दुःखी व्यक्ति तो दरिद्र ही होता है। इस विवेचन को प्रस्तुत करने का तात्पर्य यह था कि महर्षि दयानन्द वर्णित ईश्वर के गुण, कर्म व स्वभाव आदि सत्य हैं। अब ईश्वर के न्यायकारी स्वरूप पर विचार करते हैं।

यजुर्वेद के 40/8 मन्त्र में ईश्वर को 'पापविद्धम्' कहा गया है। इसका अर्थ है कि ईश्वर पापाचरण से रहित है। न्याय न करना वा सत्य व न्याय के विरुद्ध आचरण करना पापाचरण होता है और न्याय व इसका आचरण करना धर्माचरण कहा जाता है। ईश्वर सदा सर्वदा तीनों कालों में धर्माचरण करने से न्यायकारी सिद्ध होता है। न्याय क्या है? सत्य का पालन और असत्य का त्याग ही न्याय व धर्म है। सत्याचरण अर्थात् धर्म का आचरण व पालन करने वालों को प्रसन्नता व आनन्द प्रदान करना व पापाचरण वा अधर्माचरण करने वालों दण्डित, कष्ट व दुःख देना न्याय कहलाता है। न्यायालय में क्या होता है? जो व्यक्ति सत्य व सदाचार का पालन करता है, उसे विजयी किया जाता है और जो व्यक्ति असत्य पक्ष का होता है उसकी बात स्वीकार न कर उसे दण्डित किया जाता है। पूरा पूरा न्याय कौन कर सकता है? न्याय वह कर सकता है कि जो सब मनुष्य आदि प्राणियों के सब कार्यों को, भले ही वह रात्रि के अन्धकार में छिप पर कोई करे व दिन के प्रकाश में, उन सब कार्यों का प्रत्यक्षदर्शी वा साक्षी हो। दूसरा जिनका न्याय करता है, उनसे अधिक बलवान व बुद्धिमान हो अर्थात् सर्वज्ञानमय हो। तीसरा न्यायकर्त्ता किंचित पक्षपात करने वाला न हो। पक्षपात करना सत्य को दबाना और असत्य को अनदेखा करना है। जो चेतन सत्ता, मुनष्य वा ईश्वर, सत्य में स्थित होती है वह न तो पक्षपात करती है और किसी के प्रति अन्याय। वह तो सत्य पक्ष को भी न्याय प्रदान करती है और असत्य को दण्ड देकर भी न्याय ही करती है। सत्य को सम्मानित करना और असत्य को अपमानित व दण्डित करना ही न्याय की मांग है। यदि सत्य को अपमानित होना पड़े और असत्य को महिमा से युक्त किया जाए तो यह घोर अन्याय ही होता है और इसे करने वाला दुष्ट ही कहा जा सकता है। न्याय करने वाली सत्ता का निडर, भयरहित व साहसी होना भी आवश्यक है। यह सभी गुण कुछ कुछ मनुष्यों में मिलते हैं परन्तु ईश्वर में इन गुणों की पराकाष्ठा है। अतः ईश्वर पूर्णतया न्यायकारी हो सकता है व वस्तुतः पूर्ण न्यायकारी है भी, इसमें किंचित सन्देह नहीं है। यदि वह न्याय न करे तो यह संसार चल नहीं सकता। इसमें सर्वत्र अव्यवस्था फैल जायेगी और विश्व में सुख व शान्ति कहीं भी देखने को नहीं मिलेगी। विश्व में यत्र तत्र सर्वत्र सुख व शान्ति का होना इस बात का प्रमाण है कि विश्व में सत्य व न्याय विद्यमान है।

अब प्रश्न होता है कि क्या ईश्वर पापों को क्षमा करता है। वैदिक धर्म से इतर संसार के प्रायः सभी मतों में यह माना जाता है कि ईश्वर पापों को क्षमा करता है। हमारे सामने ऐसा कोई मत व सम्प्रदाय नहीं है जो यह न मानता तो कि ईश्वर पापों को क्षमा नहीं करता? तर्क यह दिया जाता है कि क्योंकि ईश्वर दयालु है, इसलिये वह मनुष्यों व प्राणियों को अपनी उदारता के कारण क्षमा कर देता है। ऐसा होना असम्भव है। दया निर्दोषों के प्रति की जाती है, दोषी प्राणियों के प्रति नहीं। दोषियों को तो दण्ड देना ही दया है। यदि दोषियों पर दया कर उन्हें क्षमा कर दिया जाये तो यह पीड़ितों के प्रति अन्याय हो जायेगा। अतः दोषियों व पापियों को

क्षमादान करने को न्याय नहीं कह सकते। यदि ईश्वर ऐसा करेगा तो वह न्यायकारी नहीं अपितु पापियों व अधर्म करने वालों का संरक्षक ही कहा जायेगा। इससे धार्मिक लोग भी पाप करना आरम्भ कर देंगे, इसलिए करेंगे कि उन्हें यह विश्वास होगा कि पाप करके सुख भोगेंगे और क्षमा मांग कर उस पाप के दण्ड से मुक्त हो जायेंगे। यदि ऐसा होता तो सम्भवतः संसार के सभी मनुष्य जमकर पाप करते। सर्वत्र हत्या, चोरी, लूट, असत्य, मारपीट, छीना-झपटी का ही आलम होता। ऐसा नहीं है, इसीलिए पाप करते समय मनुष्य के हृदय में ईश्वर की ओर से भय, शंका व लज्जा उत्पन्न होती है और धर्म व परोपकार के कार्य करने में मन व आत्मा में उत्साह, आनन्द और प्रसन्नता होती है जो कि अन्तर्यामी ईश्वर की ओर से होती है, स्वतः नहीं हो सकता और न ही अन्य कोई बाहरी सत्ता ऐसा कर सकती है। इससे सिद्ध है कि ईश्वर धर्म व सत्य का व्यवहार करने वालों को प्रसन्नता देता है और अधर्म व असत्य का व्यवहार करने वालों को डराता है। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के सातवें समुल्लास में प्रश्न किया है कि क्या ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है वा नहीं? इसका स्वयं उत्तर देते हुए महर्षि लिखते हैं कि नहीं, ईश्वर किसी के पाप क्षमा नहीं करता। क्योंकि जो ईश्वर पाप क्षमा करे तो उस का न्याय नष्ट हो जाये और सब मनुष्य महापापी हो जायें। इसलिए कि क्षमा की बात सुन कर ही पाप करने वालों को पाप करने में निभर्यता और उत्साह हो जाये। जैसे राजा यदि अपराधियों के अपराध को क्षमा कर दे तो वे उत्साहपूर्वक अधिक अधिक बड़े-बड़े पाप करें। क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा और उन को भी भरोसा हो जायेगा कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे और जो अपराध नहीं करते वे भी अपराध करने में न डर कर पाप करने में प्रवृत्त हो जायेंगे। इसलिए सब कर्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।

ईश्वर पाप क्षमा नहीं करता इसका उदाहरण प्रकृति में घट रही एक घटना से मिलता है। हर व्यक्ति चाहता है कि वह अधिकतम सुखी हो व उसे कोई दुःख न हो। विचार करने में पता चलता है कि अधिकतम सुख बलवान व स्वस्थ शरीर तथा धन ऐश्वर्य सम्पन्न मनुष्यों को ही मिलता है। अतः यदि ईश्वर पाप क्षमा करता तो सब जीवों को मनुष्यों की श्रेष्ठ योनियां ही मिलनी चाहियें थी। जो मत पाप क्षमा व स्वर्ग आदि को मानते हैं वह सब स्वर्ग में होते, उनको मृत्यु लोक में मनुष्य आदि जन्म लेने की आवश्यकता ही नहीं थी। पाप क्षमा होने पर पशु, पक्षी, कीट व पतंग आदि प्राणी के रूप में तो किसी का जन्म ही न होता क्योंकि यह तो पापों का दण्ड हैं। पाप क्षमा होने पर किसी को कोई रोग व शोक तो कदापि न होता क्योंकि यह सब हमारे बुरे कर्मों के कारण होते हैं। यदि वह बुरे कर्म क्षमा कर दिये जाते तो फिर दुःख व क्लेश का प्रश्न ही पैदा नही होता। क्योंकि मनुष्य व अन्य प्राणियों के रूप में जीवात्मायें विगत लगभग 2 अरबों से जन्म लेती आ रही हैं और दुःख व सुख दोनों भोग रही हैं, अतः सिद्ध है कि किसी व्यक्ति का कोई पाप क्षमा नहीं हुआ व होता है। अतः ईश्वर को न्यायकारी मानकर हमने जो विवेचन किया है, वह सृष्टि में स्पष्ट व मूर्त रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। लेख को और अधिक विस्तार न देकर हम इसे समाप्त करते हुए कहना चाहते है कि ईश्वर न्यायकारी है, वह किसी भी मनुष्य के किसी भी अशुभ व पाप कर्म को क्षमा नहीं करता। अशुभ व पाप कर्मों के सुख व दुःख रूपी फल तो सब जीवात्माओं को अवश्य ही भोगने हांेगेण् कहा है कि 'अवश्मेव हि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।' कर्मों का फल भोगे बिना

कोई बच नहीं सकेगा। अतः यदि दुःखों से बचना है तो कभी कोई अशुभ कर्म न करें अन्यथा जन्म जन्मान्तरों में भटकना व दुःख अवश्यमेव भोगने होंगे।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

स्तुता मया वरदा वेदमाता-17 समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समानेयोक्त्रे सह वो युनज्मि। सयञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।।

SEPTEMBER 19, 2015 LEAVE A COMMENT

वेद में, परिवार में सुख से रहने और अन्य सदस्यों को सुखी रखने का उपाय बताया है, इस मन्त्र में बहुत सारी छोटी-छोटी प्रतिदिन उपयोग में आने वाली बातों की चर्चा है। मन्त्र के प्रथम भाग में परिवार के अन्दर खानपान कैसा हो, इसकी चर्चा है। भोजनपान में सभी सदस्यों में समानता का भाव रहना चाहिए। पक्षपात का प्रारभ घरों में भोजन और काम के विभाजन से होता है। मनुष्य का स्वभाव है वह कम से कम करना चाहता है और अधिक से अधिक पाना चाहता है। मनुष्य समूह में होता है तो उसकी इच्छा अधिक और अच्छा पाने की रहती है। सभी ऐसा चाहेंगे तो समाधान नहीं होगा, मन में चोरी का भाव आयेगा, छुपकर पाने की और छुपकर खाने की इच्छा होगी। इस प्रकार जो अकेला खाना चाहता है वह पाप करता है, इसी कारण वेद ने कहा है-

केवलाघो भवति केवलादी।

जो मनुष्य अपने आप अकेला खाता है, वह पाप ही खाता है। गीता में भी उपदेश दिया गया है-

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचनयत्म कारणात्।

जो लोग अपना ही पकाकर स्वयं अकेले ही खाना चाहते हैं, उनके लिए गीता में कहा गया है- ऐसे व्यक्ति पाप ही पकाते हैं और पाप ही खाते हैं।

वैदिक संस्कृति में भोजन के सबन्ध में बहुत सारे निर्देश मिलते हैं। एक गृहस्थ को भी भोजन अपने लिए नहीं, यज्ञ के लिये बनाने का विधान है। मनु महाराज कहते हैं- गृहस्थ को भोजन पाने की दो स्थितियाँ हैं। एक तो वह भुक्त शेष खा सकता है, दूसरा वह हुत शेष खा सकता है। दोनों ही परिस्थितियों में गृहस्थ का भोजन अपने लिये नहीं है। वह शेष भोजी है। शेष तो मुय के उपयोग करने के पश्चात् जो बचता है उसे शेष कहते हैं। ये दोनों बन्धन

आजकल के व्यक्ति को बाधक लगते हैं, उसे अपने साथ बड़ा अन्याय लगता है। यथार्थ में विचार करने पर इसमें बड़ा रहस्य ज्ञात होता है। पहली बात मनुष्य अपने लिये पकाता है तो कुछ भी, कैसा भी बना कर खा लेता है, उसे बहुत चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं होती। विशेष रूप से परिवार में जब महिला अकेली रह जाती है, अन्य सदस्य घर पर नहीं होते तो उसे भोजन बनाना व्यर्थ लगता है, वैसे ही कुछ भी बनाकर कुछ भी खाकर काम चलाने की भावना रहती है। पति और बच्चों के रहने पर भोजन यथावत् अच्छा बनाने का प्रयास रहता है। इसी प्रकार घर में अतिथि आ जाये तो भोजन कुछ विशेष बनता है, विशेष अतिथि के आने पर भोजन की विशेषता बढ़ जाती है। इसी प्रकार जब भगवान के लिए, मन्दिर के लिये यज्ञ के लिए कुछ बनेगा तो अच्छा बनेगा, विशेष बनेगा आपके घर में सदा विशेष और अच्छा भोजन ही बने इस कारण गृहस्थ के भोजन पर नियम बना दिया गृहस्थ को हुत शेष खाना चाहिये या भुक्त शेष।

मनुष्य के मन में खिलाने की भावना आ जाती है तो फिर उसके अन्दर से पक्षपात या चोरी का भाव निकल जाता है। मनुष्य जब अकेला खाता है तब छिपकर खाता है परन्तु जब खिलाने की इच्छा रखता है तो उसे सबके साथ खाने में आनन्द आता है। तब एक जैसा खाना होता है। भोजन को बांटकर खाता है। भोजन सबके साथ खाना और बांटकर खाना परस्पर प्रीति का कारण होता है परन्तु मुसलमानों की भांति जूठा एक ही पात्र में खाना स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं होता। प्रेम का आधार पक्षपात रहित होना है, भोजन का एक स्थान पर होना नहीं है। भोजन सौहार्द और प्रीति का प्रतीक होता है, श्रीकृष्ण जी महाराज जब सन्धि का प्रस्ताव लेकर गये थे, तब दुर्योधन ने कृष्ण की बात तो नहीं मानी परन्तु अतिथि के नाते उन्हें भोजन का प्रस्ताव अवश्य दिया, तब श्री कृष्ण ने दुर्योधन से कहा था- दुर्योधन दूसरे के यहाँ भोजन दो परिस्थितियों में किया जाता है या तो उससे अत्यन्त प्रीति हो या स्वयं विपदाग्रस्त हो। हमारे मध्य इन दोनों में से कुछ भी नहीं, अतः मैं तुहारा भोजन अस्वीकार करता हूँ।

सप्रीति भोज्यान्नानि, आपद् भोज्यानि वा पुनः।

न त्वं सप्रियसे राजन न चैवापद गता वयम्।

आचार्य सोमदेव जिज्ञासाः- निम्न लिखित वेद मन्त्रों से शंका और उपशंका उत्पन्न होता है। यजुर्वेद अ. 29 के मन्त्रों 40,41 और 42 संया वाले.... ‘‘छागमश्धियोस्वाहा। मेषं सरस्वत्ये स्वाहा, ऋषभमिन्द्राय....। 40’’ ‘‘छागस्य वषाया मेदसो.....मेषस्य वषाया मेदसो, ऋषभस्य वषाया मेदसो......41’’ छागैर्न मेषै, र्मृषमैःसुता.....42 इनमें से

41 और 42 मन्त्रों का अर्थ "दयानन्द संस्थान से प्रकाशित भाष्य में भी बकरे, भेड़ों और बैल किया गया है। ये सब पौराणिक के जैसा भाष्य देखने को आया शंका होता है इस शंका के समाधान कर के उत्तर भेजें।"

SEPTEMBER 18, 2015 LEAVE A COMMENT

समाधान– महर्षि दयानन्द आर्यावर्त की उन्नति, सुख, समृद्धि का एक कारण यज्ञ को कहतेहैं। महर्षि सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखते हैं- ''आर्यवर शिरोमणि महाशय, ऋषि, महर्षि, राजे महाराजे लोग बहुत सा होम करते और कराते थे। जब तक इस होम करने का प्रचार रहा तब तक आर्यावर्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था, अब भी प्रचार हो तो वैसा ही हो जाये।'' महर्षि ने यहाँ यज्ञ की महत्ता को प्रकट किया है। यज्ञ से रोग कैसे दूर होंगे? जब हवन की अग्नि में रोगनाशक पदार्थ डालेंगे तब रोग दूर होगें। यज्ञ में माँस आदि पदार्थ डालने से रोग दूर होकर कैसे कभी सुख की वृद्धि हो सकती है? उलटे मांसादि द्रव्य अग्नि में होम करने से तो रोग उत्पन्न हो दुःख की वृद्धि होगी। महर्षि होम से रोग दूर होना और सुख का बढ़ना देख रहे हैं। यज्ञ में मांसादि का डालना कब और क्यों हुआ वह अन्य पाठकों को दृष्टि में रखकर आगे लिखेगें। पहले आपकी जिज्ञासा का समाधान करते हैं। आपने जो यजुर्वेद 21 वें अध्याय के 40-42 मन्त्र उद्धृत किये हैं वह जो उन मन्त्रों का महर्षि ने भाष्य किया है सो ठीक है। इस भाष्य को देखने पर पौराणिकों जैसा भाष्य न लगकर अपितु और दृढ़ता से आर्ष भाष्य दिखता है। यहाँ पाठकों को दृष्टि में रखकर मन्त्र व उसका ऋषि भाष्य लिखते हैं।

(1) होता यक्षदाग्नि ँ स्वाहाज्यस्य स्तोकानाथंस्वाहा मेदसां पृथक् स्वाहा

छागमश्वियाम् स्वाहा मेषं सरस्वत्यै स्वाहाऽऋषभमिन्द्राय

…..पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज।।

19.40

मन्त्रों को पूरा पदार्थ न लिखकर, जिन पर आपकी जिज्ञासा है उनका अर्थ व मन्त्रों का भावार्थ यहाँ लिखते हैं- (छागम्) दुःख छेदन करने को (अश्वियाम्) राज्य के स्वामी और पशु के पालन करने वालो से (स्वाहा) उत्तम रीति से (मेषम्)सेचन करने हारे को (सरस्वत्यै) विज्ञानयुक्त वाणी के लिए (ऋषभम्) श्रेष्ठ पुरुषार्थ को (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिए।

भावार्थ– इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोप्मालङ्कार है। जो मनुष्य विद्या, क्रियाकुशलता और प्रयत्न से अग्न्यादि विद्या को जान के गौ आदि पशुओं का अच्छे प्रकार पालन करके सबके उपकार को करते हैं वे वैद्य के समान प्रजा के दुःख के नाशक होते हैं।

(2) होता यक्षदश्विनौ छागस्य वपाया मेदसो जुषेताम्**...**

.........मेषस्य वपाया मेदसो जुषताम् हविर्होतर्यज**........**

....ऋषभस्य वपाया मेदसो जुषताम्**........** 19.41

(छागस्य) बकरा, गौ, भैंस आदि पशु सबन्धी (वपाया) बीज बोने वा सूत के कपड़े आदि बनाने और (मेदसः) चिकने पदार्थ के (हविः) लेने देने योग्य व्यवहार का (जुषेताम्) सेवन करें............(मेषस्य) मेढ़ा के (वपायाः) बीज को बढ़ाने वाली क्रिया और (मेदसः) चिकने पदार्थ सबन्धी (हविः) अग्नि में छोड़ने योग्य संस्कार किये हुए अन्न आदि पदार्थ (जुषताम्) सेवन करें............(ऋषभस्य) बैल की (वपायाः) बढ़ाने वाली रीति और (मेदसः) चिकने पदार्थ सबन्धी (हविः) देने योग्य पदार्थ का (जुषताम्) सेवन करें।

भावार्थ– जो मनुष्य पशुओं की संया और बल को बढ़ाते हैं वे आपाी बलवान् होते और जो पशुओं से उत्पन्न हुए दूध और उससे उत्पन्न हुए घी का सेवन करते वे कोमल स्वभाव वाले होते हैं और जो खेती करने आदि के लिए इन बैलों को युक्त करते हैं वे धनधान्य युक्त होते हैं।

(3)होता यक्षदश्विनौ सरस्वतीमिन्द्रम**...**छागैर्नमेषैर्ऋषभैः

सुता **...........**मधु पिवन्तु मदन्तु व्यन्तु होतर्यज।। 19.42

पदार्थ– (छागैः) विनाश करने योग्य पदार्थों वा बकरा आदि पशुओं (न) जैसे तथा (मेषैः) देखने योग्य पदार्थों वा मेढ़ों (ऋषभैः) श्रेष्ठ पदार्थों वा बैलों (सुताः) जो अभिषेक को पाये हुए हों वे।

भावार्थ– जो संसार के पदार्थों की विद्या, सत्यवाणी और भली भांति रक्षा करने हारे राजा को पाकर पशुओं के दूध आदि पदार्थों से पुष्ट होते हैं वे अच्छे रसयुक्त अच्छे संस्कार किये हुए अन्न आदि जो सुपरीक्षित हों, उनको युक्ति के साथ खा और रसों को पी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के निमित्त अच्छा यत्न करते हैं, वे सदैव सुखी होते हैं।

यहाँ इन मन्त्रों के भाष्य और भावार्थ में कहीं भी पौराणिकता नहीं लग रही है। मन्त्रों में छाग, ऋ षभ, मेष आदि शद आये हैं, उनका महर्षि ने जो युक्त अर्थ था वह किया है। छाग का अर्थ लौकिक भाषा में बकरा होता है किन्तु महर्षि ने छाग का अर्थ दुःख छेदन किया है। मेष का अर्थ सामान्य भेड़ होता है, और महर्षि का अर्थ सेचन करने हारा है। ऐसे ही ऋषभ का सामान्य अर्थ बैल और महर्षि का अर्थ श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। जब ऐसे पौराणिकता से परे होकर महर्षि ने वैदिक अर्थ किये हैं तब कै से कोई कह सकता है कि यह पौराणिकों जैसा भाष्य दिखता है। भेड़ बैल, बकरा आदि शद आने मात्र से पौराणिकों जैसा भाष्य नहीं हो जाता।

हाँ यदि महर्षि मन्त्र में आये हुए वपा और मेद का अर्थ चर्बी करके उसकी हवन में आहूति की बात कहते तो यह महर्षि का भाष्य अवश्य पौराणिकों वाला हो जाता किन्तु महर्षि ने ऐसा कहीं भी नहीं लिखा। अपितु वपा का अर्थ महर्षि बीज बढ़ाने वाली क्रिया करते हैं और

मेद का अर्थ चिकना पदार्थ जो कि महर्षि ने मन्त्रों के भावार्थ में घी-दूध आदि पदार्थ लिखे हैं।

महर्षि का किया वेद भाष्य तो पौराणिकता से दूर वैदिक रीति का भाष्य है। जो पौराणिकों ने इन्हीं वेद मन्त्रों के अर्थ भेड़, बकरा, बैल आदि पशुओं के मांस को यज्ञ में डालना कर रखे थे, उनको महर्षि ने दूर कर शुद्ध भाष्य किया है। पौराणिक लोगों ने लोक प्रचलित अर्थ वेद के साथ जोड़कर भाष्य किया, जिससे इतना बड़ा अनर्थ हुआ कि संसार के जो सभी मनुष्य एक वेद मत को मानकर चल रहे थे, उसको छोड़ नये-नये मत बनाकर चलने लग गये। यह वही वेदमन्त्रों के अनर्थ करने का परिणाम था।

वपा और मेद का अर्थ चर्बी, वसा लोक में है जो कि यही अर्थ पौराणिकों ने लिया। पौराणिकों को ज्ञात नहीं की वेद में रूढ शद और अर्थों का प्रयोग नहीं है अपितु यौगिक शद और अर्थों का प्रयोग है जो कि महर्षि दयानन्द ने योगिक मानकर ही वेदमन्त्रों का अर्थ किया है।

यज्ञ में मांस आदि का डालना महाभारत युद्ध के पश्चात् ब्रह्मणों के आलस्य प्रमाद के कारण हुआ। महर्षि दयानन्द इस विषय में कहते हैं- ''परन्तु ऐसे शिरोमणि देश को महाभारत के युद्ध ने ऐसा धक्का दिया कि अब तक भी यह अपनी पूर्व दशा में नहीं आया। क्योंकि जब भाई को भाई मारने लगे तो नाश होने में क्या संदेह?............।''

जब ब्राह्मण विद्याहीन हुये तब क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के अविद्वान् होने में तो कथा ही क्या कहानी? जो परपरा से वेदादिशास्त्रों का अर्थ सहित पढ़ने का प्रचार था, वहाी छूट गया। केवल जीविकार्थ पाठमात्र ब्राह्मण लोग पढ़ते रहे। सो पाठ मात्र भी क्षत्रियों आदि को न पढ़ाया। क्योंकि जब अविद्वान् हुए, गुरु बन गये, तब छल-कपट-अधर्म भी उनमें बढ़ता चला।.......'' स.प्र.स. 11।।

यज्ञ में मांसादि का कारण ब्राह्मणों का आलस्य प्रमाद व विषयासक्ति रहा है, यह मान्यता महर्षि दयानन्द की है जो युक्त है।

जब यज्ञों में अथवा यज्ञों के नाम पर पशु हिंसा का प्रचलन हुआ तो अश्वमेघ, गोमेध, नरमेध आदि यज्ञों का यथार्थ स्वरूप न रखकर उल्टा कर दिया अर्थात् अश्वमेघ यज्ञ जो चक्रवर्ती राजा करता था, इसमें इन पोप ब्राह्मणों ने घोड़े के मांस की आहुति का विधान यज्ञ कर दिया। ऐसे गोमेध जो कि गो का अर्थ इन्द्रियाँ अथवा पृथिवी था, जिसमें इन्द्रिय संयमन किया जाता था उस गोमेध यज्ञ में गाय के मांस का विधान इन तथाकथित ब्राह्मणों ने कर दिया। इसके विधान के लिए सूत्रग्रन्थों में ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रक्षेप कर दिया। यज्ञों के यथार्थ अर्थ, स्वरूप को समझकर जो पशु यज्ञ व यजमान् के उपकारक थे, उन पशुओं को मार-मारकर यज्ञकुण्डों में उनकी आहुति देने लगे। धीरे-धीरे अनाचार इतना बढ़ा कि वैदिक मन्त्रों का विनियोग यज्ञों में और उनके माध्यम से पशुहिंसा में होने लगा। जिस प्रकार के मन्त्र ऊपर दिये हैं ऐसे मन्त्रों का विनियोग ब्राह्मण वर्ग यज्ञ में पशुहिंसा के लिए करने लगे थे।

वेदों में यज्ञ के पर्याय अथवा विशेषण रूप में 'अध्वर' शद का प्रयोग सैकड़ों स्थानों पर आया है। निघण्टु में 'ध्वृ' धातु हिंसार्थक है। अध्वर शद में हिंसा का निषेध है अर्थात् नञ् पूर्वक ध्वृ

धातु से अध्वर शद बना है। इस अध्वर शद का निर्वचन करते हुए महर्षि यास्क ने लिखा है- अध्वर इति यज्ञनाम-ध्वरहिंसाकर्मा तत् प्रतिषेधः। (निरुक्त-1.8)

अध्वर यज्ञ का नाम है, जिसका अर्थ हिंसा रहित है। अर्थात् जहाँ हिंसा नहीं होती वह अध्वर=यज्ञ कहलाता है। ऐसे हिंसा रहित कर्म को भी इन पोपों ने महाहिंसा कारक बना दिया था।

मेध शद 'मेधृ' धातु से बना है। मेधृ– मेधाहिंसनयोः संगमे च यह धातुपाठ का सूत्र है। मेधृ धातु के बुद्धि को बढ़ाना, लोगों में एकता या प्रेम को बढ़ाना और हिंसा ये तीन अर्थ हैं। इन तीनों अर्थों में से पोप जी को हिंसा अर्थ पसन्द आया और इससे यज्ञ को भी हिंसक बना दिया। जिस धर्म और समाज में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था वहाँ यज्ञों हिंसा करना एक विडबना ही थी।

वेदों में अनेकत्र ऐसे वचन उपलध हैं जिसमें स्पष्ट ही पशु रक्षा का निर्देश है। यजुर्वेद के प्रारा में यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहते हुए कहा है – 'पशुन्पाहि' पशु मात्र की रक्षा करो। इसी यजुर्वेद के मन्त्र 1.1 में गौ को 'अघ्न्या' न मारने योग्य कहा है। यजु. 6.11 में गृहस्थ को आदेश दिया है- 'पशुंस्त्रायेथाम्' पशुओं की रक्षा करो। 14.3 में कहा- 'द्विपादवचतुष्पात् पाहि' दो पैर वाले मनुष्य और चार पैर वाले पशुओं की रक्षा करो। वेद में ऐसे-ऐसे निर्देश अनेक स्थलों पर हैं। जो वेद पशुओं की रक्षा करने का निर्देश देता हो उसमें पशुओं की हिंसा का अर्थ निकालना भी पशुता ही है।

महर्षि दयानन्द वेदों के अनुयायी थे। वेदों को सर्वोपरि प्रमाण मानते थे। महर्षि की वेदों के प्रति दृढ़ आस्था थी। और महर्षि ने वेदों को यथार्थ में समझा था। यथार्थरूप में वेद को समझने वाले ऋषि के वेद भाष्य में पौराणिकता कैसे हो सकती है, ऐसा होना सर्वथा असभव है। अस्तु

-ऋषि उद्यान, पुष्कर मार्ग, अजमेर

सभी चार आश्रमों में श्रेष्ठ व ज्येष्ठ गृहस्थाश्रम' - मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

SEPTEMBER 11, 2015 LEAVE A COMMENT

वैदिक जीवन चार आश्रम और चार वर्णों पर केन्द्रित व्यवस्था व प्रणाली है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास यह चार आश्रम हैं और शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण यह चार वर्ण कहलाते हैं। जन्म के समय सभी बच्चे शूद्र पैदा होते हैं। गुरूकुल व विद्यालय में अध्ययन कर उनके जैसे गुण-कर्म-स्वभाव व योग्यता होती है उसके अनुसार ही उन्हें वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण वर्ण आचार्यों व शासन व्यवस्था द्वारा दिये जाने का विधान वैदिक काल में था जो महाभारत काल के बाद जन्म के आधार पर अनेक जातियों में परिवर्तित हो गया। वेदानुसार चार वर्ण मनुष्यों के गुण, कर्म व स्वभाव पर आधारित हैं तो चार आश्रम मनुष्य की औसत वायु लगभग 100 वर्ष के पच्चीस पच्चीस वर्ष के क्रमशः चार सोपान व भाग हैं। प्रथम भाग जन्म से आरम्भ होकर लगभग 25 वर्षों तक का होता है जिसे आयु का ब्रह्मचर्यकाल कहते हैं।

जीवन के ब्रह्मचर्यकाल में सन्तान व व्यक्ति को माता-पिता-आचार्य के सहयोग से पूर्ण ब्रह्मचर्य अर्थात् सभी इन्द्रियों के संयम, तप व पुरुषार्थ को करते हुए अधिक से अधिक विद्याओं जिनमें वेदाध्ययन प्रमुख है, का अर्जन करना होता है। कन्याओं के लिए यह आयु 16 वर्ष या कुछ अधिक होती है क्योंकि वैदिक व्यवस्था में युवक द्वारा न्यूनतम पच्चीस वर्ष और कन्या की आयु 16 वर्ष की हो जाने पर उन्हें विवाह करने की अनुमति है। विवाह का होना गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना होता है। विवाह के बाद जो मुख्य कार्य करने होते हैं उसमें ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुए आजीविका का चयन और उसका निर्वाह करने के साथ धर्म पूर्वक अर्थात् शास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए श्रेष्ठ सन्तानों को उत्पन्न करना, उनका पालन करना व उनके अध्ययन आदि की व्यवस्था करना होता है। गृहस्थ आश्रमी व्यक्ति को इसके साथ नियत समय पर प्रातः सायं योग दर्शन पद्धति व महर्षि दयानन्द निर्दिष्ट वेद विधि से प्रातःसायं ईश्वरोपासना, दैनिक यज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथि यज्ञ एवं बलिवैश्वदेव यज्ञ भी यथासमय व यथाशक्ति करने होते हैं। गृहस्थ आश्रम में रहते हुए सभी स्त्री पुरुषों को सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य व्यवहार करने के साथ देश व समाज सेवा के श्रेष्ठ कार्यों यथा वेद विद्या के अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ व परोपकार आदि कार्यों में यथाशक्ति दान व सहयोग भी करना होता है। 50 वर्ष की आयु तक गृहस्थ जीवन में रहकर जब पुत्र पुत्रियों के विवाह हो जाये और सिर के बाल श्वेत होने लगे तब गृहस्थ जीवन का त्याग कर वन में जाकर स्वाध्याय व शास्त्रों का अध्ययन करते हुए ईश्वर प्राप्ति की साधना में समय व्यतीत करना होता है। 25 वर्षों तक इन कार्यों का अभ्यास कर संन्यास लेने का विधान है जिसमें सभी उत्तरदायित्वों से पृथक, निवृत वा उनका त्याग कर देश व समाज के कल्याण की भावना से सद्ज्ञान वेदों की शिक्षाओं का गृहस्थियों में प्रचार प्रसार करना होता है। इस संन्यास आश्रम की स्थिति में भी अधिक ध्यान ईश्वर प्राप्ति के लिए साधना में लगाना होता है क्योंकि ईश्वर साक्षात्कार कर अपना परलोक सुधार करना भी मनुष्य व जीवात्मा का प्रमुख कर्तव्य है। इस प्रकार से वेदों से पुष्ट चार आश्रमों का विधान वैदिक आश्रम व्यवस्था कहलाता है जो समूचे मानव समाज में सर्वत्र किंचित भिन्न भिन्न रूपों में आज भी विद्यमान दृष्टिगोचर होता है और यही सर्वाधिक श्रेष्ठतम सामाजिक व्यवस्था है।

महर्षि दयानन्द (1825-1883) के समय में देशवासी अन्धविश्वासों व विदेशियों की दासता से ग्रसित थे और आश्रम व्यवस्था का महत्व भूल चुके थे। जो व्यक्ति जिस अवस्था में होता था उसी को श्रेष्ठ व ज्येष्ठ मानता था। ब्रह्चारी स्वयं को चारों आश्रमों में ज्येष्ठ व श्रेष्ठ तथा वानप्रस्थी व संन्यासी अपने अपने को ज्येष्ठ व श्रेष्ठ मानते थे। गृहस्थी क्योंकि प्रायः युवा होते थे अतः वह अपने से अधिक आयु वाले वानप्रस्थियों व संन्यासियों को इस बारे में कुछ कह नहीं सकते थे और इस विषयक शास्त्रीय व प्रमाणित सोच व विचार भी उनमें नहीं था। हमारे शास्त्रों में गुरूकुल में अध्ययनरत ब्रह्मारियों को विशेष महत्व दिया गया है। शास्त्र कहते हैं कि यदि ब्रह्मचारी किसी रथ में कहीं जा रहा है और सामने राजा व अन्य लोग मार्ग में किसी चैराहे पर आ जाये तो उस अवस्था में पहले जाने का अधिकार ब्रह्मचारी का होता है। इसका कारण विद्या को महत्व दिया जाना है। यह एक प्रकार से हमारे देश में वेद विद्या को महत्व प्रदान करने के कारण व्यवस्था दी गई थी जो युक्ति व तर्क संगत है। इन सब परिस्थितियों को जानते समझते हुए जब महर्षि दयानन्द ने सन् 1874 व 1883 में आदिम सत्यार्थ प्रकाश व उसके संशोधित संस्करण तैयार किये तो उन्होंने भी चार आश्रमों में ज्येष्ठ

आश्रम कौन सा है? इस पर भी विचार किया। उनके विचार तर्क व युक्ति संगत एवं स्थिति का नीर क्षीर व सारगर्भित विश्लेषण करते हैं। पाठकों के लाभार्थ उनके विचार प्रस्तुत हैं।

सत्यार्थ प्रकाश ग्रन्थ का चौथा समुल्लास समावर्तन, विवाह और गृहस्थाश्रम पर महर्षि दयानन्द का वैदिक मान्यताओं पर उपदेश है। इस समुल्लास के अन्त में उन्होंने गृहस्थाश्रम पर प्रश्न करते हुए कहा कि गृहाश्रम सब से छोटा वा बड़ा है? इसका उत्तर देते हुए वह लिखते हैं कि अपने–अपने कर्तव्यकर्मों में सब बड़े हैं। परन्तु यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।।1।। यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः।।2।। यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धारयन्ते तस्माज्जयेष्ठाश्रमो गृही।।3।। स संधारय्य: प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता। सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः।।4।। (यह चारों मनुस्मृति के श्लोक हैं)।

मनुस्मृति के इन चार श्लोकों का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते, वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं।।1।। बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता है।।2।। जिस से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देके प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है, अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है।।3।। इसलिये जो (अक्षय) मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे। जो गृहाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने के योग्य नहीं है उसको (भीरु व निर्बल लोगों से इतर स्त्री पुरुष) अच्छे प्रकार धारण करे।।4।। महर्षि दयानन्द आगे लिखते हैं कि इसलिये जितना कुछ व्यवहार संसार में है उस का आधार गृहाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम कहां से हो सकते? जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है वही निन्दनीय है और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है। परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है जब स्त्री पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहार के ज्ञाता हों। इसलिये गृहाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य (सभी इन्द्रियों व इच्छाओं का संयम व उन पर नियंत्रण) और पूर्वोक्त स्वयंवर (आजकल प्रचलित नाम लव मैरिज) विवाह है।

गृहस्थाश्रम की ज्येष्ठता के विषय में महर्षि दयानन्द के समय में जो भ्रान्ति थी उसको उन्होंने सदा सदा के लिए दूर कर दिया। महर्षि दयानन्द के इन विचारों को भारतीय वा हिन्दू मत ने पूर्णतः स्वीकार किया है, यह अच्छी प्रशंसनीय बात है। यदि हमारा हिन्दू समाज मूर्तिपूजा, अवतारवाद, फलितज्योतिष, मृतक श्राद्ध को छोड़कर वैदिक मान्यताओं को अपना ले तथा विवाह में जन्मपत्री को महत्व न देकर युवक व युवती के गुणकर्मस्वभाव को महत्व दें और जन्मना जाति प्रथा को समाप्त कर दें, तो देश व समाज को बहुत लाभ हो सकता है क्योंकि पौराणिक मान्यताओं का आधार सत्य पर नहीं है जिसे महर्षि दयानन्द ने अपने समय में शास्त्रीय प्रमाणों के साथ युक्ति व तर्क से भी सिद्ध किया है। यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए मनुष्यों को लोभी व स्वार्थी न होकर दानी व परोपकारी

होना चाहिये, यही प्रत्येक व्यक्ति के निजी व समाज के हित में होता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात है कि गृहस्थ में रहते हुए सभी को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये जिससे सभी निरोगी होकर दीघार्य हों। आज रोगों व अल्पायुष्य का कारण हमारा दूषित खान-पान, अनियमित दिनचर्या, बड़ी बड़ी महत्वाकांक्षाओं संबंधी तनाव एवं वैदिक जीवन मूल्यों से दूर जाना है। वैदिक मूल्य वा वैदिक जीवन पद्धति ही आज की समस्त समस्याओं का एकमात्र निदान है। आईये, वेद की शरण लेकर जीवन को सुखी व जीवन के लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति की ओर आगे बढ़ें व उसे प्राप्त करें।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

स्तुता मया वरदा वेदमाता-16

SEPTEMBER 5, 2015 LEAVE A COMMENT

परिवार में शान्ति और सुखपूर्वक कैसे रहा जा सकता है, इसके लिये इस वेद मन्त्र में उपाय बताये गये हैं। पहला है- अपने चित्त को उदार करना, दूसरा- परस्पर द्वेष भाव न रखना, तीसरा- परस्पर मिलकर कार्य करना, चौथा– परिवार को एक केन्द्र के साथ बांधकर रखना, पाँचवाँ- परिवार के सदस्यों और अन्य सभी से प्रेमपूर्वक बोलना। छठा– सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि। इस मन्त्र का शद है सध्रीचीनान्, ऋषि दयानन्द इसका अर्थ करते हैं- समान लाभालाभ से एक दूसरे के सहायक हैं।

परिवार संस्था समाज में कार्य करने का सिद्धान्त है- कार्य के हानि-लाभ के लिए सभी को समान सहायक समझें। मनुष्य जब परिवार में कार्य करते हैं, वहाँ छोटों के प्रति सबका समान स्नेह आवश्यक है। सदस्यों में मेरे-तेरे के भाव नहीं होने चाहिए, सभी सदस्यों को समदृष्टि से देखना चाहिए। पक्षपात और स्वार्थ का भाव मनों में दूरी उत्पन्न करता है। यह भाव बहुत छोटी-छोटी बातों से परिलक्षित होता है। इस भाव को बुद्धि से विचारपूर्वक ही दूर किया जा सकता है। मनुष्य का स्वभाव मोह और लोभ का होता है। अपने स्नेहपात्र को देखकर मनुष्य के मन में पक्षपात का भाव आ जाता है। मन्दिर में प्रसाद बांटते हुए परिचित को देखकर मनुष्य प्रसाद की मात्रा बढ़ा देता है। भोजन की पंक्ति में अपने मित्र-सबन्धी को देखकर अच्छी वस्तु और अधिक मात्रा में देना स्वाभाविक है, जब भी ऐसा अवसर आये, उस समय बुद्धि से थोड़ा भी विचार करें तो बुराई से रुका जा सकता है। दूसरा विवाद का अवसर आता है जब हानि की परिस्थिति में हम दूसरे को दोषी ठहराने का प्रयत्न करते हैं तो परिवार में सामञ्जस्य नहीं रह सकता। लाभ को अपने पक्ष में और हानि को दूसरे के पक्ष में डालने का मनुष्य का स्वभाव है। यह बात घर या समाज सब स्थानों पर घटित होती है। इसलिये वेद कहता है- लाभ-अलाभ में समान सहयोगी बनें, यही सूत्र परिवार में सामञ्जस्य रखने का है।

इस मन्त्र में मनुष्य के मनोविज्ञान की ओर भी इंगित किया गया है, परिवार या समाज में विघटन या विभाजन का प्रमुख कारण है, अपनी भावनाओं पर बुद्धि का नियन्त्रण न होना। पशु भी वही व्यवहार करता है, मनुष्य भी वही व्यवहार करता है, जब वह भावनाओं में बहता है उस समय संवेगों से प्रेरित होकर कार्य करता है। इसी कारण इस आचरण को पाशविक वृत्ति कहा गया है। जब संवेग के वशीभूत होकर मनुष्य का मन स्वार्थ व पक्षपात की ओर झुक जाता है, उस समय उस पर बुद्धि का अंकुश रहना आवश्यक है। पशु तो दण्ड से ठीक मार्ग पर चलता है, मनुष्य पशु नहीं है, उसका सन्मार्ग पर चलना बुद्धि के अंकुश से ही सभव है। मनुष्य को साधु-संगति, सज्जनों का उपदेश, शास्त्र का चिन्तन, ईश्वर-भक्ति, स्वार्थ और पक्षपात छोड़ने में समर्थ बनाती है।

आदमी के मन में थोड़ी सी वस्तु या थोड़े से धन का लोभ विपरीत मार्ग पर चलने के लिए विवश करता है। हानि का भय उसे उल्टा चलने के लिये प्रेरित करता है। यदि मनुष्य इन परिस्थितियों पर भावनाओं में न बहकर बुद्धि से निर्णय करे तो वह अनुचित कार्य करने से बच जाता है। सभावित हानि से परिवार, समाज का हित जब उसे बड़ा लगेगा तब वह स्वार्थ के जाल में फंसने से बच जायेगा। हानि का भय तभी तक होता है, जब तक मनुष्य हानि को बड़ा समझता है। जैसे ही मनुष्य हानि को सहने के लिए अपने को तैयार कर लेता है, वह आत्मविश्वास से भर जाता है। उसे कोई भय नहीं लगता, उसकी उदारता से उसे संगठन या परिवार के सदस्यों का सबल मिल जाता है और बहुत बार मनुष्य पर ईश्वर की ऐसी कृपा होती है कि जिस विपत्ति से या सभावित हानि से वह भयभीत हो रहा था, वह विपत्ति उस पर आती ही नहीं है।

इस शद को समझने से व्यक्ति को दो लाभ होते हैं। यदि पक्षपात या स्वार्थ का अवसर आता है तो विचार से मनुष्य उससे अपने को रोक लेता है। जब हानि के भय से अनुचित करना चाहता है तब विचार उसके अन्दर आत्मविश्वास उत्पन्न कर देता है, वह ईश्वर की कृपा का पात्र बन जाता है। इसलिए मन्त्र में परिवार को सुखी और स्नेहसिक्त बनाने की भावना है- मनुष्य को हानि-लाभ में सबका भागीदार बनना चाहिए।

आर्य और ईस्वी महीनो की तुलना – आर्य महीनो का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

AUGUST 26, 2015 1 COMMENT

पाठकगण ! इस लेख द्वारा हम यूरोपीय (ईसाई) तथा पंचांगों की तुलना करना चाहते हैं और यह दिखाना चाहते हैं की आर्य पंचांग में विशेषता और गुण क्या हैं।

ये जानना आज इसलिए भी आवश्यक है की हमारे देश में एक ऐसी प्रजाति भी विकसित हो रही है जो ईसाइयो के अवैज्ञानिक और पाखंडरुपी चुंगल में फंसकर अपनी वैदिक संस्कृति जो पूर्ण वैज्ञानिक आधार पर है उसे नकार कर अन्धविश्वास में लिप्त होकर देश व धर्म का अहित करते जा रहे हैं।

देखिये जो हमारे आर्य महीनो के वैदिक आधार पर पंचांगानुसार नाम हैं वो वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कितना उन्नत और व्यवस्थित रूप है जबकि ईसाइयो के महीनो का कच्चा चिटठा हम इस पोस्ट के माध्यम से रखेंगे। आशा है आप सत्य को जान असत्य को त्याग देंगे।

ईसाई महीनो के नाम :

जनवरी (January) : यह वर्ष का प्रथम मास (Astronomy) ज्योतिष है जिसे रोमननिवासियो ने एक देवता जेनस को समर्पित किया और उसके नाम पर महीने का नाम रखा। उनका विश्वास था की इस देवता के दो शीश (सर) थे, इसलिए यह दोनों और (आगे, पीछे) देख सकता था। यह देव आरम्भ देव था जिसको प्रत्येक काम के आरम्भ में मनाया जाता था। चूँकि जनवरी वर्ष का प्रथम मास है इसलिए इसका नाम जेनसदेव के नाम पर रखा गया।

फ़रवरी – प्रायश्चित का महीना।

मार्च – लड़ाई के देवता "मार्स" के नाम पर रखा गया।

अप्रैल – यह महीना जब पृथ्वी से नए नए पत्ते, कलियाँ और फल फूल उत्पन्न होते हैं। यह नाम उस महीने की ऋतु का द्योतक है।

मई – यह महीना प्रारंभिक भाग। भावार्थ यह है की इस मास में ऋतु ऐसी शोभायमान होती है जैसे नवयुवक और नवयुववतिया।

जून – छठा महीना जो आरम्भ में केवल २६ दिन का होता था इसके नाम का शब्दार्थ छोटा महीना है। महाराज जूलियस सीज़र के समय से इस महीने की अवधि ३० दिन की मानने लगे हैं।

जुलाई : जूलियस सीज़र के नाम पर, जो इस महीने मैं पैदा हुआ था यह नाम रखा गया।

अगस्त : महाराज अगस्टस सीज़र के नाम पर यह नाम रखा गया। चूंकि जूलियस सीज़र के नाम पर रखा जाने वाला जुलाई का महीना ३१ दिन का होता था और है, इसलिए अगस्टस सीज़र ने अगस्त का महीना भी उतने ही अर्थात ३१ दिन का रखा। और यह महीना तब से ३१ दिन का चला आता है।

सितम्बर : शब्दार्थ सातवां महीना क्योंकि रोमनिवासी अपना वर्ष मार्च से प्रारम्भ करते थे।

अक्तूबर : शब्दार्थ आठवां महीना। रोमनिवासीयो के अनुसार आठवां महीना।

नवम्बर : शब्दार्थ नवां महीना। रोमनिवासीयो के अनुसार नवां महीना।

दिसम्बर : शब्दार्थ दसवां महीना। रोमनिवासियो के अनुसार दसवां महीना।

तो मेरे मित्रो ऊपर दिए शब्दार्थो से आपको विदित होगा की अंग्रेजी महीनो के कुछ के नाम देवताओ के नाम पर, कुछ के ऋतु के अनुसार, कुछ के महाराजाओ के नाम पर और शेष के

क्रम के अनुसार नाम रखे गए हैं। यानी कोई वैज्ञानिक आधार इस अंग्रेजी वर्ष और उसके दिए महीनो में नहीं निकलता।

अब हम आपको आर्य महीनो के नाम जो वैदिक पंचाग व्यवस्थानुसार सम्पूर्ण वैज्ञानिक रीति पर आधारित हैं उनसे परिचय करवाते हैं।

इन आर्य महीनो के नामो के शब्दार्थ समझने से पहले हमें कुछ ज्योतिष सिद्धांत समझ लेने चाहिए तभी इन महीनो का वैज्ञानिक आधार और नामो का शब्दार्थ पूर्ण रूप से समझ आएगा। पोस्ट बड़ी न हो इसलिए थोड़ा ही समझाया जा रहा है।

1. आर्य ज्योतिष के अनुसार पृथ्वी सूर्य के चारो और एक अंडाकार वृत्त में ३६५-२४ दिन में घूमती है। यह अंडाकार मार्ग बारह भागो में विभाजित है और उन १२ भागो के नाम मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन हैं। इन १२ भागो नाम भी १२ राशियों के नाम से विख्यात हैं। इसी ज्योतिष गणना को यदि विस्तार से बतलाओ तो लेख बहुत लम्बा हो जाएगा इसके बारे में किसी अन्य पोस्ट पर विस्तार से बताया जाएगा।

जिस प्रकार पृथ्वी सूर्य के चारो और एक अंडाकार वृत्त में घूमती है। इसी प्रकार चन्द्रमा भी पृथ्वी के चारो और एक अंडाकार वृत्त में २७ दिन ८ घंटे में घूम आता है। इसका मार्ग २७ भागो में विभाजित है और प्रत्येक भाग को नक्षत्र कहते हैं। २७ नक्षत्रो के नाम इस प्रकार हैं :

1. अश्विनी 2. भरणी 3. कृत्तिका 4. रोहिणी 5. मृगशिरा 6. आर्द्रा 7. पुनर्वसु 8. पुष्य ९. अश्लेषा 10. मघा 11. पूर्वाफाल्गुनी 12. उत्तराफाल्गुनी 13. हस्त 14. चित्रा 15. स्वाती 16. विशाखा 17. अनुराधा 18. ज्येष्ठा 19. मुल 20. पुर्वाषाढा 21. उत्तरषाढा 22. श्रवण 23. धनिष्ठा 24. शतभिषा 25. पूर्वभाद्रपद 26. उत्तरभाद्रपद 27. रेवती

आज पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र है इसका अभिप्राय है की आज चन्द्रमा पृथ्वी के चारो और के मार्ग के पूर्वाषाढ़ा नामक भाग में है।

हम पृथ्वी पर रहने वाले हैं पृथ्वी के साथ साथ घुमते हैं। इस कारण हमको पृथ्वी स्थिर प्रतीत होती है और सूर्य तथा चन्द्रमा दोनों घुमते दिखते हैं।

जब सूर्य और चन्द्रमा के बीच में पृथ्वी होती है तो चन्द्रमा का वह अर्थ भाग जिस पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है पृथ्वी की और होता है। इसी कारण ऐसी अवस्था में चन्द्रमा सम्पूर्ण प्रकाशवान दीखता है अतः पूर्णमासी को जब चन्द्रमा पूर्ण प्रकाशित होता है, चन्द्रमा और सूर्य पृथ्वी के दोनों और उलटी दिशा में होते हैं।

आर्य महीनो के नाम नक्षत्रो के नाम पर रखे गए हैं। पूर्णमासी को जैसा नक्षत्र होता है उस महीने का नाम उसी नक्षत्र पर रखा गया है, क्योंकि पूर्णिमा को सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी के दोनों और उलटी दिशा में होते हैं।*

महीनो के नाम नक्षत्रानुसार इस प्रकार हैं :

1. चैत्र – चित्रा

2. वैशाख – विशाखा

3. ज्येष्ठ – ज्येष्ठा

4. आषाढ़ – पूर्वाषाढ़

5. श्रावण – श्रवण

6. भाद्रपद – पूर्वाभाद्रपद

7. आश्विन – अश्विनी

8. कार्तिक – कृत्तिका

9. मार्गशिर – मृगशिरा

१० पौष – पुष्य

11. माघ – मघा

12. फाल्गुन – उत्तरा फाल्गुन

इसी आधार पर हमें अंतरिक्ष में सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि सभी ग्रहो की चाल, और अभी वो किस जगह स्थित हैं ये पूर्ण जानकारी इसी विज्ञानं के आधार पर मिलती जाती है।

सर डब्ल्यू जोंस की यह भी सम्मति है की आर्यो के महीनो के नाम इत्यादि से पूरा पता लगता है की आर्य ज्योतिष अत्यंत पुरानी है। आर्यो में प्राचीन काल में वर्ष पौष मास से आरम्भ होता था जब दिन अत्यंत छोटा और रात अत्यंत बड़ी होती है। इसी कारण मार्गशिर मास का द्वितीय नाम अग्रहन्य था, जिसका अर्थ यह है की वह महीना जो वर्ष आरम्भ होने से पहले हो।

मेरे सभी हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई भाइयो से निवेदन है की वो इस अंग्रेजी महीने जो देवता, महाराज ऋतु इत्यादि के नाम पर रखे गए हैं त्याग देवे और अपने पूर्ण विज्ञानी रीति से जो आर्य महीने हैं उनकी प्रतिष्ठा को जान लेवे।

प्राचीन आर्य पुरुष ज्योतिष में अवश्य विशेष ज्ञान प्राप्त कर चुके थे और उनके ज्ञान के टूटे फूटे चिन्ह ही आज तक आर्य समाज में पाये जाते हैं। क्या अच्छा हो यदि हम प्राचीन आर्य सभ्यता का मान करे और उसके बचे बचाये चिन्हो से नयी नयी खोज कर समाज के सामने रखे जिससे देश व धर्म का कल्याण हो।

ये केवल संक्षेप में बताया गया फिर भी इतनी बड़ी पोस्ट हो गयी, लेकिन इसे नजरअंदाज न करे और वेद धर्म का प्रचार करे ताकि हमारे अन्य हिन्दू भाई ईसाइयो के अन्धविश्वास में न पड़े।

आओ लौटो वेदो की और

नमस्ते।

* इसमें सूर्य सिद्धांत प्रमाण है :

भचक्रं भ्रमणं नित्यं नाक्षत्रं दिनमुच्यते।
नक्षत्र नाम्ना मासास्तु क्षेयाः पर्वान्त योगतः।

अर्थात दैनिक भचक्र का भ्रमण करना ही नाक्षत्रिक दिन है।

पूर्णिमानताधिष्ठित नक्षत्र के नाम से मास का नाम जानना चाहिए।

स्तुता मया वरदा वेदमाता-15

AUGUST 26, 2015 LEAVE A COMMENT

इस मन्त्र के प्रथम तीन शदों में परिवार को साथ रखने के उपायों को बताया गया है। प्रथम हृदय की विशालता, दूसरा एक-दूसरे की निकटता और तीसरा एक साथ पुरुषार्थ करना। इसके लिए अन्तश्चित्तिनो, सधुराश्चरन्त तथा संदाधयन्तः पदों का प्रयोग किया गया। ऐसा करने से परिवार के सदस्य कभी पृथक् नहीं होंगे। उनके मनों में द्वेषभाव नहीं आयेगा। इसलिए मन्त्र में कहा गया 'मावियौष्ट' परस्पर द्वेषभाव मत रखो। हमारा हृदय विशाल होगा, हमारे अन्दर उदारता होगी। एक-साथ रहने का भाव मन में रहेगा। पुरुषार्थ करने में सभी तत्पर होंगे तो निश्चय ही परिवार के सदस्यों में द्वेषभाव उत्पन्न नहीं होगा।

इससे आगे मन्त्र में कहा गया है- 'अन्योऽन्यस्मै वल्गुवदन्तः' अर्थात् एक-दूसरे के साथ प्रेमपूर्वक बोलते हुए परिवार में परस्पर प्रेम और आदर का प्रकाश वाणी द्वारा ही होता है। वाणी हमारे भावों को पूर्ण रूप से दूसरे को संप्रेषित करती है। प्रायः समझा जाता है, क्या अन्तर पड़ता है। हम कुछ भी बोलें। हम चाहते हैं कुछ भी बोलने से सुनने वाले को वही समझ में आना चाहिए परन्तु ऐसा है नहीं, प्रत्येक शद, प्रत्येक ध्वनि अपना अर्थ और प्रभाव रखती है। हमारे शद और ध्वनियाँ ही हमारे अन्दर विद्यमान न्याय, दया, उदारता, शूरता आदि को प्रकाशित करती हैं। समाज में इसी को शिष्टाचार कहते हैं। सारे शिष्टाचार को परिभाषित करना हो तो, वह परिभाषा है दूसरे को मान्यता देना, उसकी उपस्थिति का अनुभव कराना, उसके अस्तित्व को स्वीकृति देना। शिष्टाचार थोड़े से शद और थोड़ी सी क्रिया से अनुभव हो जाता है।

एक व्यक्ति श्री और जी से प्रसन्न हो जाता है, अरे और अबे से रुष्ट हो जाता है। घर का बालक अच्छा है, यह अच्छापन शिक्षा, स्वास्थ्य, सुन्दरता आदि से नहीं आता, वह अच्छापन थोड़े से शदों के उपयोग से आता है। आजकल आधुनिक विद्यालयों के बालक अच्छे कहलाते

हैं तो उनमें मुय बात शालीनता प्रकट करने वाले शदों का प्रयोग ही मुय है। जब कोई बच्चा आपको मिलता है। आप उसके घर के द्वार पर खड़े हैं और बालक पूछता है क्या है? आपको अच्छा नहीं लगता है परन्तु वही बालक अंकल आपको किससे मिलना है, सुनकर बड़ी प्रसन्नता होती है। ये शद हैं तो थोड़े से, परन्तु इनका प्रयोग प्रतिदिन अनेक बार करने का अवसर आता है। इसीलिए बच्चों को इन शदों का अयास कराने की आवश्यकता होती है। हमारे आचार्य जी ने एक घटना सुनाई थी, बहुत वर्ष पूर्व एक यात्रा के समय उन्होंने सन्तरे लिए, खाने लगे तो एक विदेशी महिला अपने बच्चे के साथ उसी डबे में यात्रा कर रही थी। बच्चा देखकर आचार्य जी ने माँ से पूछा- क्या वे बच्चे को सन्तरा दे सकते हैं? माँ ने कहा- दे दें। बालक सन्तरा लेकर जैसे ही खाने लगा, माँ ने बालक के गाल पर एक थप्पड़ मार दिया। आचार्य जी ने पूछा- मैंने आपसे पूछकर बालक को फल दिया है फिर आपने बालक को थप्पड़ क्यों मारा? उस माँ ने कहा- आपने मुझ से पूछकर दिया है, इसलिये नहीं मारा। थप्पड़ मारने का कारण बालक की अशिष्टता है। बालक को आपसे फल लेने के बाद आपका धन्यवाद करना चाहिए था, परन्तु बालक ने ऐसा नहीं किया, इसी कारण बालक को थप्पड़ मारा है।

छोटे शद हैं श्रीमान्, कृपया, क्षमा करें, धन्यवाद। इन शदों का उपयोग हिन्दी में, उर्दू में, अंग्रेजी में, किसी भी भाषा में करें, ये शद आपको अनुकूल प्रतिक्रिया देंगे। अंग्रेजी में प्लीज़, थैंक्यू, सॉरी, सर जैसे शद बच्चे, बालक, युवा को सय बनने का प्रमाण-पत्र दे देते हैं। जब शद बोलने वाले के हृदय से निकलते हैं तो वे शद सुनकर अगले के मन में भी वे ही भाव जागते हैं, अतः यह एक सहज प्राकृतिक सबन्ध है, जो शदों से प्रकाशित होता है। पशु-पक्षियों को अपने भाव प्रकट करने के लिये शद तो नहीं है परन्तु इसके लिए उन्हें अपनी आकृति के भाव और शारीरिक चेष्टाओं से अपने भाव व्यक्त करने पड़ते हैं। परन्तु मनुष्य को यह विशेषता प्राप्त है कि वह शरीर के हाव-भाव के साथ अपने शदों से भी अपने भावों-विचारों को सप्रेषित कर सकता है। मनुष्य में अनुकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न करना, मनुष्य की इच्छा रहती है तो वेद का सन्देश है- जहाँ अन्य व्यवहार हम अनुकूलता से करते हैं, वहीं पर हमारी वाणी भी हमारे व्यवहार को अनुकूल बनाने वाली हो। अतः कहा गया है- अन्योऽन्यस्मै वल्गुवदन्तः। हमारा घर सदा एक-दूसरे से प्रेम करने वाला ही नहीं, प्रेम से बोलने वाला भी हो।

सन्ध्याः- सच्चा स्थाई बीमा – श्री पं. चमूपति एम.ए.

AUGUST 24, 2015 LEAVE A COMMENT

ओ3म् वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।

ओ3म् क्रतो स्मर क्लिबेस्मर कृतँ्स्मर।।

-यजु. अ. 40।। मं. 15।।

प्राण जीवन की कला है। इसके चलने से शरीर चलता है, इसके रुकने से शरीर रुक जाता है। परमात्मा ने प्राणों की गति में कुछ ऐसा अनुपात रक्खा है, कि एक श्वास-प्रश्वास की मात्रा

बिगड़ी नहीं और यह अद्भूत यन्त्र विकृत हुआ नहीं। इसी गति के बिगाड़ का फल रोग और उसी का फल अन्त को मृत्यु है। जब यह बोलता चलता पार्थिव पुतला अचानक मौन साध बैठा, अर्थात् जीव ने शरीर से प्रस्थान किया, तो इसे ज्वाला की भेंट चढ़ायेंगे। उसका सारा सौन्दर्य तथा बल मुट्ठी भर भस्म होगा। फिर तो प्राण-वायु, वायु-तत्व में जा मिलेगा। मृत शरीर में भी वायु का प्रवाह तो होगा, परन्तु प्राण रूप में नहीं। तब उस शरीर से जीव का क्या सबन्ध?

उस समय जीव की अवस्था उस धनाढ्य की सी होगी, जिसने सारी आयु संसार में घूम-घूमकर वैभव इकट्ठा किया, एड़ी चोटी का बल लगाकर पूँजी कमाई, सारे घर को धन-धान्य से भर दिया, अकस्मात् एक दिन लकड़ी के ढेर में चिनगारी सुलगती रहने से भवन में आग लग गई। ईश्वर ने इतनी ही कृपा की कि कार्यवश गृह-स्वामी कुटुब सहित घर से बाहर था। लो। उन कपड़ों को आग लग रही है जो देश-विदेश के कारखानों से आये थे, कुसियाँ और मेजें ज्वाला के मुख में है। जिन दीवारों की सफेदी बिगड़ने के भय से माघ के शीत में आग न जलाते थे, आज ईंधन ने उन पर काला रोगन कर दिया। पुस्तकों का तो नाम ही न रहा। उनके पत्र तथा अक्षर सबने मसि का चोला स्वीकार किया है।

कड़। कड़।। कड़।।। शहतीर तथा कड़ियाँ गिर रही हैं जो सामग्री जलने की न थी, वह उनके दबाव में टूट गई। अब तो न बर्तन रहे, न भूषण, न कोई और नित्य निर्वाह की सामग्री। लाा का घर राख हो जाता है। पानी की गाड़ी आती है और गगनचुबी ज्वालाओं को बुझाती है। पर जो पदार्थ नष्ट हुए, उनको फिर कौन लौटा लाएगा?

नगर का एक प्रसिद्ध धनाढ्य पिस गया। आओ । हम भी आर्थिक सहायता न सही, मौखिक सहानुभूति तो प्रकट कर दें। हम मुख को कुछ शोकावृत-सा बना लेते हैं कि सहानुभूति हार्दिक प्रतीत हो। पर सेठजी की मुख कली वैसे ही प्रफुल्लित है, जैसी आग की आपत्ति से पूर्व थी। कहते हैं- ''यह कोई मेरा बड़ा गोदाम न था। मेरा धन किसी विशेष स्थान में अथवा सामग्री के रूप में स्थित नहीं, किन्तु सारा व्यवसायों में लगा है। कपनियों में हिस्से हैं, अपने कार्यालय हैं, जिनसे स्थाई आय आती है। जो भवन जल गया, इसका भी बीमा करा दिया था। सो चिट्ठी भेजी है, रुपया आ जाएगा, फिर नया भवन बनवा लेंगे।''

शरीर रूपी भवन को भस्म होते देखने वाले जीव। क्या मन की यही अवस्था है जो उक्त सेठ की थी? क्या तेरी शारीरिक सपत्ति भी व्यवसायगत है? क्या इससे तुझे स्थाई आय है? अर्थात् तेरी शारीरिक शक्तियों का प्रयोग ऐसा है, जिससे आत्मिक बल सदैव बढ़े? क्या इस शरीर के छूटने पर इससे अच्छा शरीर मिलेगा? या मरे पीछे तू मुक्तिधाम को प्राप्त हो जाएगा? यदि अब तक यह यत्न नहीं किया तो आ, अब करें।

आत्मिक बही की पड़ताल

किसी प्रकार की भी उन्नति करने से पूर्व आवश्यक है कि अपनी वर्तमान अवस्था का पूरा ज्ञान प्राप्त किया जाए।

व्यापारी दूसरे दिन की बिक्र ी उसी समय करता है, जब पहले दिन की बही मिला चुके अर्थात् आय व्यय की तुलना करके देख ले कि कितना बचा है? जिसको अपनी पूँजी का पता नहीं वह उसकी वृद्धि के उपाय क्यों कर करेगा?

प्रिय मुमुक्षु। तू पहले अपनी आत्मिक अवस्था पर दृष्टि डाल। वेद कहता है ''कृतं स्मर'' अर्थात् अपने किए की याद कर। क्या कहीं शिथिलता है? त्रुटियाँ हैं? आलस्य उनकी निवृत्ति में बाधक है। समाज का भय उठने नहीं देता? लज्जा के कारण निर्बल है? ले, इसका भी एक अचूक उपाय है। ''क्लिबे स्मर'' अर्थात् बल के लिए स्मरण कर। किसका? अर्थात् उस पवित्र पतितपावन,बल के पुञ्ज सर्वशक्ति के आधार, धर्मस्वरूप, तेज के स्रोत प्रा ु परमात्मा का। बस यही तीन कार्य हैं, जो तुझे प्रतिदिन करने हैं। (1) अपने आचरण पर ध्यान देना, (2) उसमें आई त्रुटियों को विचार गोचर रखना, और (3) सब बलों के भण्डार सर्वशक्तिमान् का स्मरण करना।

लोगों ने मृत्यु को भयानक समझा है। वास्तव में मृत्यु एक परिवर्तन है। मरते हुए पं. गुरुदत्त से लोगों ने पूछा- ''आप प्रसन्न क्यों है?'' कहा- ''इस देह में दयानन्द न हो सके थे, इससे उत्तम देह पायँगे तो दयानन्द बनेंगे।'' जो परिवर्तन उन्नति का द्वार हो उसका स्वागत खुले दिल से किया जाता है। जिससे पतन की सभावना हो उससे डरते हैं। मृत्यु शत्रु है तो उसे जीत। घबराने से और भीरु होगा।

शक्तिमान् के स्मरण से शक्ति

शंका हो सकती है कि परमात्मा के स्मरण-मात्र से ही शक्ति क्यों कर आएगी? यह बात जितनी गूढ है, उतनी आनन्दप्रद भी है। बच्चा नंगे सिर किसी गली में ेलता है। अपने विचारानुसार जिस बालक को अपने से अच्छा समझता है, उसका अनुकरण करने लगता है। वह लाल रंग का कुर्ता पहने है, तो इसे भी लाल रंग का कुरता चाहिए। बड़ा हुआ, पाठशाला गया। अपने सहपाठियों में से किसी को आदर्श विद्यार्थी जानकर उसका अनुकरण करता है। छोटी श्रेणियों के लिए बड़ी श्रेणियों के विद्यार्थी आचार व्यवहार में नेता हैं। बड़ों के लिए उनका अध्यापक। यह अवस्था मनुष्य के सपूर्ण जीवन में बनी रहती है। कहते हैं, मरते समय भी जैसे संकल्प होते हैं वैसी ही योनि आगे मिलती है। कथन का सार यह है कि मनुष्य बिना मानसिक आदर्श के नहीं रह सकता। कौन कह सकता है कि खयाली नेताओं के नित्यप्रति चिन्तन से बालक तथा मनुष्य की आत्मा को क्या लाभ अथवा हानि पहुँची? यह लोकोक्ति अक्षरशः सत्य है-

As a man thinketh, so he becometh अर्थात् जैसा मनुष्य सोचता है वैसा वह बन जाता है।

गर्भिणी माता के हृदय में जो संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं, वह गर्भ स्थित बच्चे के मानसिक जीवन का आधार बनते हैं। यदि मनन-शक्ति इतनी प्रभावशालिनी है, तो उस परमेश्वर के गुणों के स्मरण का लाभ जिसे नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सर्वशक्तिमान् इत्यादि विशेषणों से युक्त कहा है, क्या-क्या चमत्कार न दिखाएगा? एडीसन की माता एडीसन को पेट में रखती हुई निरन्तर वैज्ञानिक यन्त्रों का ध्यान करती रही तो एडीसन संसारभर का बड़ा विज्ञानवेत्ता हुआ, और मंगलादि नक्षत्रों से विद्युत द्वारा वार्त्तालाप का सबन्ध स्थिर करने लगा। उपासक भी अपने हृदय-गर्भ में सर्व-शक्तिमान् का ध्यान धारण करे तो अवश्य उसका आत्मा अपूर्व-शक्ति

को प्राप्त होगा। बलवान् का स्मरण करना वास्तव में बल के लिए अपनी आत्मा के किवाड़ खोलना है।

तो फिर आ। उन्नति के पिपासु। एक तो अपने नित्य-कृत्यों की पड़ताल किया कर। दूसरे, उस दुःखों के मोचनहार मुक्त स्वभाव को सदैव दृष्टिगोचर रख, जिसका स्मरण सर्वतः कल्याणप्रद है। उस मिट्टी के पौधे की भाँति जो नारंगी के साथ जोड़ा जाकर स्वयं नारंगी का वृक्ष बन जाता है, और ''सग्ङतरे'' के नाम से स्पष्टतया जताता है, कि मैं उत्तम सग्ङ तरे से तर गया हूँ, तू भी उस प्रियतम को अपनी दृष्टि का तारा बना और उसकी ज्योति में ज्योतिर्मय बन जा। फिर देख अन्धकार निकट भी फटकता है? हाँ,हाँ उस निस्संग के उत्तम संग से तर।

महर्षि दयानन्द का भारत के यथार्थ इतिहास पर महत्वपूर्ण उपदेश' -मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

AUGUST 22, 2015 1 COMMENT

महर्षि दयानन्द (1825-1883) का सारा जीवन ईश्वर की खोज, मृत्यु पर विजय, योग, अध्ययन-अध्यापन, उपदेश, वेद-धर्म प्रचार, शास्त्रार्थ, समाज सुधार व अनुमानतः सन् 1857 के देश की आजादी के लिए संग्राम में गुप्त रूप से कार्य करने में व्यतीत हुआ था। महर्षि दयानन्द बाल ब्रह्मचारी थे। वह जन्म से ही प्रतिभाशाली, सुदृण व स्वस्थ शरीर, गौर वर्ण, आकर्षक व्यक्तित्व वाले व सत्य के प्रति दृण आस्थावान थे। महर्षि दयानन्द जी की मातृभाषा गुजराती थी। उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया था और इस भाषा के वार्तालाप, प्रवचन-उपदेश करने व लेखन करने में उन्हें पूरा अधिकार व सिद्धहस्तता प्राप्त थी। महाभारत काल के बाद देश के वेदों के वह शीर्षस्थ विद्वान थे। उनकी तुलना का वेदों का विद्वान महाभारत काल व उनसे पूर्व व अद्यावधि भी इतिहास के पन्नों पर अंकित नहीं है। वेद ही उनके जीवन का आधार था। उनके सभी कार्य वेदों से प्रेरित व संचालित थे। उन्होंने मध्याकालीन व बाद के ब्राह्मणों ने वेदों के जो मिथ्यार्थ कर उसे कलंकित किया था, उस कलंक को पूरी तरह धोकर शुद्ध व निर्मल स्वरूप प्रदान किया। आज स्थिति यह है कि वेदों की अन्तःसाक्षी के आधार पर कहा जा सकता है कि वेदों के समान कोई भी धर्म-मत-सम्प्रदाय का ग्रन्थ इस पृथिवी पर नहीं है। वेद सर्वोपरि हैं एवं सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना व सुनना-सुनाना ही एकमात्र परम पुनीत मानव मात्र का यथार्थ धर्म है। वह जहां भी जाते थे, शुद्ध व सरल संस्कृत ही बोला करते थे। यद्यपि सभी विद्वान संस्कृत समझते थे परन्तु जब वह साधारण जनता में संस्कृत में उपदेश करते थे तो उन्हें संस्कृत से हिन्दी के अनुवादक की आवश्यकता होती थी। इस कार्य के लिए वह पौराणिक विद्वानों की सेवायें लेते थे जो स्वामी जी के कहे गये शब्दों को ही अनुवाद न कर उनके विचारों को अपनी मान्यताओं के अनुरूप तोड़ते मरोड़ते थे। अतः ब्रह्म समाज के नेता श्री केशवचन्द्र सेन के परामर्श पर उन्होंने आर्यभाषा हिन्दी का प्रयोग करना आरम्भ किया। इसके कुछ काल बाद उन्होंने अपना मुख्य दिव्य ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' प्रकाशित कराया। यह ग्रन्थ उनके द्वारा पण्डितों को बोलकर लिखाया गया था। लेखन के लिए उनके पास ब्राह्मण लेखक थे जिन्होंने यत्र तत्र उनके बोले गये अभिप्राय के विरूद्ध अपनी मान्यताओं के वाक्यों को प्रविष्ट कर दिया। स्वामी जी के पास अवकाश न होने के कारण न तो वह इस ग्रन्थ को लिखवाने के बाद उन लेखकों से सुन पाये

और न हि छपने से पूर्व प्रूफ देख पाये थे। इस कारण प्रकाशित होने के पश्चात पाठकों ने उन्हें कुछ अशुद्धियां अवगत कराई थी। इस मुख्य व अन्य कुछ कारणों से उन्होंने कुछ समय बाद इस ग्रन्थ का दूसरा शुद्ध संशोधित संस्करध्स भी तैयार कर प्रकाशित कराया जो आजकल सर्वत्र उपलब्ध होता है। प्रथम संस्करण को आदिम सत्यार्थ प्रकाश भी कहा जाता है। इसी प्रथम संस्करण से हम आज उनका एकादश समुल्लास में प्रस्तुत देश के प्राचीन यथार्थ इतिहास पर एक धर्मोदेश प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे पाठक इतिहास विषयक कुछ नये तथ्यों से न केवल परिचित हो सकें अपितु महर्षि के इतिहास विषयक ज्ञान व उनकी भाषा से भी कुछ कुछ परिचित हो सकें। इस लेख के शेष भाग आगे के लेखों में जारी रखेंगे।

उनका धर्मोपदेश प्रस्तुत है-'सरस्वतीदृषद्वत्योदेवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशमार्यावर्त्तं प्रचक्षते।' **(मनुस्मृति 2/17)**। सरस्वती जो कि गुजरात और पंजाब के पश्चिम भाग में नदी है, उससे लेके नैपाल के पूर्वभाग की नदी से लेके समुद्र तक इन दोनों के बीच में जो देश है, सो आर्यावर्त्त देश है और वे देवनदी कहाती है। अर्थात् दिव्य देश के प्रान्त भाग में होने से देव नदी इनका नाम है। सो देश देव निर्मित है अर्थात् दिव्य गुणों से रचित है, क्योंकि भूगोल के बीच में ऐसा श्रेष्ठ देश कोई नहीं है, जिस देश में सब श्रेष्ठ पदार्थ होते हैं और छः ऋतु यथावत् वर्तमान होते हैं और केवल सुवर्ण रत्न पैदा होते हैं। इस देश में जिसका राज्य होता है, वह दरिद्र होय तो भी धन से पूर्ण हो जाता है। इसी हेतु इसका नाम आर्यावर्त्त है, आर्य नाम श्रेष्ठ मनुष्य और श्रेष्ठ पदार्थ इनसे युक्त अर्थात् आर्यावर्त्त है। इस हेतु इस देश का नाम आर्यावर्त कहते हैं।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।। **(मनुस्मृति 2/20)**

इस देश में अग्रजन्मा नाम सब श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न जो पुरुष उत्पन्न होवें (उनका है), उससे सब भूगोल की पृथिवी के मनुष्य शिक्षा अर्थात् विद्या तथा संसार के सब व्यवहारों का यथावत् विज्ञान (प्राप्त) करें। इससे क्या जाना जाता है कि प्रथम इस (देश) में मनुष्यों की सृष्टि भई (हुई) थी। पीछे सब द्वीप-द्वीपान्तर में सब मनुष्य फैल गए, क्योंकि पृथिवी में जितने मनुष्य हैं, वे इस देश वालों से विद्यादिक शिक्षा ग्रहण करें और सब देश भाषाओं का मूल जो संस्कृत (है) सो आर्यावर्त्त ही में सदा से चला आता है। आजकाल भी कुछ-कुछ देखने में आता है, परन्तु फिर भी सब देशों में संस्कृत का प्रचार अधिक है। जर्मनी और विलायत आदिक देशों में संस्कृत के पुस्तक इतने नहीं मिलते जितने कि आर्यावत्र्त देश में मिलते हैं और जो किसी देश में संस्कृत के बहुत पुस्तक होंगे सो आर्यावर्त्त ही से लिए होंगे, इसमें कुछ सन्देह नहीं। सो इस देश से मिश्र देश वालों ने पहिले विद्या ग्रहण की थी। उससे यूनान देश, उससे रूम, फिर रूम से फिरंग (अंग्रेज) स्थान आदि में विद्या फैली है। परन्तु संस्कृत के बिगड़ने से गिरीश (ग्रीस), लाटीन, अंगरेज और अरब देश वालों की भाषा बन गई हैं। सो इनमें अधिक लिखना कुछ आवश्यक नहीं क्योंकि इतिहासों के पढ़ने वाले सब जानते हैं और

पता भी ऐसा ही मिलता है। एक गोल्ड्स्टकर साहेब ने पहिले ऐसा ही निश्चय किया है कि जितनी विद्या वा मत फैले हैं, भूगोल में, वे सब आर्यावर्त्त ही से लिए हैं। और काशी में वालेण्टेन् साहेब ने यही निश्चय किया है कि संस्कृत सब भाषाओं की माता है। तथा दाराशिकोह बादशाह ने भी यह निश्चय किया है कि जो विद्या है सो संस्कृत ही है क्योंकि मैंने सब देशों की भाषाओं का पुस्तक देखा तो भी मुझको बहुत सन्देह रह गए, परन्तु जब मैंने संस्कृत देखा तब मेरे सब सन्देह निवृत्त हो गए और अत्यन्त प्रसन्नता मुझको भई। और काशी में मान मन्दिर जो रचा है, उसमें महाराज सवाई मानसिंह जी ने खगोल के कला और यन्त्र ऐसे रचे थे कि जिस में खगोल का सब हाल देख पड़ता था। परन्तु आजकाल उसकी मरम्मत न होने से बहुत कला यन्त्र बिगड़ गए हैं तो भी कुछ-कुछ देख पड़ता है। फिर आजकाल महाराज सवाई रामसिंह जी ने कुछ मरम्मत स्थान की कराई है जो उस यन्त्र की भी करावेंगे तो कुछ रोज (काली तक) बना रहेगा, अन्यथा नहीं।

जबसे महाभारत युद्ध भया (हुआ) है उस दिन से आर्यावर्त्त को बुरी दशा आई है सो नित्य-नित्य बुरी ही दशा होती जाती है। क्योंकि उस युद्ध में अच्छे-अच्छे विद्वान् राजा और ब्राह्मण लोग प्रायः मारे गए। फिर कोई राजा पूर्ण विद्या वाला इस देश में नहीं भया। जब राजा, विद्वान् और धर्मात्मा नहीं भया, तब विद्या का प्रचार भी नष्ट होता चला (गया)। फिर कुछ दिन के पीछे आपस में लड़ने लगे, क्योंकि जब विद्या नहीं होती तब ऐसे ही बहुत प्रमाद होते हैं। जो कोई प्रबल भया, उसने निर्बल का राज छीन के उसको मारा। फिर प्रजा में भी गदर होने लगा कि जहां जिसने जितना पाया, उसका वह राजा वा जमींदार बन बैठा। फिर ब्राह्मण लोगों ने भी विद्या का परिश्रम छोड़ दिया। पढ़ना पढ़ाना भी नष्ट होता चला। जब ब्राह्मण लोग विद्याहीन होते चले, तब क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भी विद्याहीन होते चले, केवल दम्भ, कपट और छल ही से व्यवहार करने लगे। फिर जितने अच्छे काम होते थे वे सब बन्ध (बन्द) होते चले। वेदादिक विद्या का प्रचार भी बहुत थोड़ा होता चला गया।

फिर ब्राह्मण लोगों ने विचार किया कि आजीविका की रीति निकालनी चातिहए, सो सम्मति करके यही विचार किया कि ब्राह्मण वर्ण में जो उत्पन्न होता है सोई (वही) देव है, सबका पूज्य है, क्योंकि पूर्ण विद्या से ब्राह्मण वर्ण होता है। यह वर्णाश्रम की सनातनी रीति है, सोई ऋषि मुनियों के पुस्तकों में भी लिखी है। सो विद्यादिक गुणों से तो वर्ण व्यवस्था नहीं रक्खी, किन्तु कुल में जन्म होने से वर्ण व्यवस्था प्रसिद्ध कर दी है। फिर जन्म ही से ब्राह्मणादिक वर्णों का अभिमान करने लगे। फिर विद्यादिक गुणों में पुरुषार्थ सबका छूटा, उसके छूटने से प्रायः राजा और प्रजा में मूर्खता अधिक-अधिक होने लगी। फिर उन्हीं से ब्राह्मण लोग अपने चरण और शरीर की पूजा कराने लगे। जब पूजा होने लगी तब अत्यन्त अभिमान उनमें होने लगा। उन विद्याहीन राजाओं को और प्रजास्थ पुरुषों को (अपने) वशीभूत ब्राह्मणों ने कर लिए। यहां तक कि सोना, उठना और कोस दो कोस तक जाना, वह भी ब्राह्मणों की आज्ञा के विना नहीं करना और जो कोई करेगा सो पापी हो जायगा। फिर शनैश्चरादिक ग्रह और नाना प्रकार के भूत प्रेतादिकों का जाल उनके ऊपर फैलाने लगे और वे मूर्खता के होने से मानने भी लगे। फिर राजा लोगों को ऐसा निश्चय सब लोगों ने मिल के कराया कि ब्राह्मण लोग कुछ भी करें, परन्तु इनको दण्ड न देना चाहिए। जब दण्ड नहीं होने लगा, तब ब्राह्मण लोग अत्यन्त प्रमाद

करने लगे और क्षत्रियादिक भी। फिर बड़े-बड़े ऋषि मुनि और ब्रह्मादिक के नामों से श्लोक और ग्रन्थ रचने लगे, उनमें प्रायः यही बात लिखी कि ब्राह्मण सब का पूज्य और सदा अदण्ड्य है। फिर अत्यन्त प्रमाद और विषयासक्ति से विद्या, बल, बुद्धि पराक्रम और शूरवीरता नष्ट हो गई और परस्पर ईर्ष्या (में वृद्धि) अत्यन्त हो गई। किसी को कोई (सहानुभूतिपूर्वक) देख न सके और कोई कोई के (अन्य किसी के) सहायकारी न रहे, परस्पर लड़ने लगे। यह बात चीन आदिक देशों में रहने वाले जैनों ने सुनी और व्यापारादिक करने के हेतु (जो) इस देश में आते थे सो (उन्होंने) प्रत्यक्ष भी देखी। फिर जैनों ने विचार किया कि इस समय आर्यावर्त्त देश में राज्य सुगमता से हो सकता है फिर वे (चीन से?) आए और राज्य भी आर्यावत्र्त में करने लगे। फिर धीरे-धीरे बोधगया में राज्य जमाके और (उसे) देश-देशान्तर में फैलाने लगे। सो वेदादिक संस्कृत पुस्तकों की निन्दा करने लगे और अपने पुस्तकों के पठन पाठन का प्रचार तथा अपने मत का उपदेश भी करने लगे। सो इस देश में विद्या के नहीं होने से बहुत मनुष्यों ने उनके मत को स्वीकार कर लिया। परन्तु कन्नौज, काशी, पर्वत, दक्षिण और पश्चिम देश के पुरुषों ने स्वीकार नहीं किया था, परन्तु वे बहुत थोड़े ही थे। फिर इन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था और वेदोक्त, कर्मों को मिथ्या-मिथ्या दोष लगा के अश्रद्धा और अप्रवृति बहुत करा दी। फिर यज्ञोपवीतादिक कर्म भी प्रायः नष्ट हो गया और जो-जो वेदादिकों का पुस्तक पाया और पूर्व के इतिहासों का, उनका प्रायः नाश कर दिया। जिससे कि इनको पूर्व अवस्था का स्मरण भी न रहे।

फिर जैनों का राज्य इस देश में अत्यन्त जम गया। तब जैन भी बड़े अभिमान में हो गए और कुकर्म, अन्याय भी करने लगे, क्योंकि सब राजा और प्रजा उनके मत में ही हो गए, फिर उनको डर वा शंका किसी की न रही। अपने मतवालों को अच्छे-अच्छे अधिकार और प्रतिष्ठा करने लगे और वेदादिकों को पढ़े तथा उनमें कहे कर्मों को करें, उनकी अप्रतिष्ठा करने लगे। अन्याय से भी उनके ऊपर जाल (मिथ्या आरोप) स्थापन करने लगे। अपने मत के पण्डित वा साधु की बड़ी प्रतिष्ठा करने लगे, सो आज तक भी ऐसा करते हैं। और बहुत स्थान-स्थान में बड़े-बड़े मन्दिर रच लिए और उनमें अपने आचार्यों की मूर्ति स्थापन कर दी तथा उनकी पूजा भी अत्यन्त करने लगे। सो जैनों के राज्य ही से मूर्ति पूजन चला, इसके आगे (पूर्व) न था। क्योंकि जितने ऋषि मुनियों के किए प्राचीन ग्रन्थ हैं, महाभारत युद्ध के पहिले जो कि रचे गए हैं, उनमें मूर्तिपूजन का लेशमात्र भी कथन नहीं है। इससे दृढ़ निश्चय से जाना जाता है इस आर्यावर्त्त देश में (इनसे पूर्व) मर्तिपूजन नहीं था, किन्तु जैनों के राज्य से ही चला (मूर्तिपूजा की प्रवृत्ति हुई) है।

आज के इस लेख में महर्षि दयानन्द ने इतिहास के अनेक तथ्यों का प्रतिपादन किया है जो अन्यत्र असुलभ है। मातृ भाषा गुजराती व संस्कृत के विद्वान होने तथा सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण लिखने तक हिन्दी भाषा का अभ्यास न होने के कारण भाषा वर्तमान की अपेक्षा कुछ असहज है। पाठक इसे पढ़कर इतिहास के तथ्यों से परिचित होंगे। इसी प्रकार के अनेक तथ्यों से हम कल के लेख में परिचय करायेंगे। आशा है पाठकों का इससे ज्ञानवर्धन होगा और वह इसे सत्य व उपयोगी पायेंगे।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला-**2**

देहरादून-**248001**

फोनः**09412985121**

वैदिक दर्शन की विशेषताएँ – पं. गंगा प्रसाद जी उपाध्याय

AUGUST 21, 2015 LEAVE A COMMENT

[लगभग **8** दशक पूर्व का यह लेख आज भी प्रासंगिक है। इसलिए पाठकों के लााार्थ प्रस्तुत है – सपादक]

आजकल ‘वैदिक दर्शन’ एक अनिश्चित शद है। अति प्राचीन काल में निश्चित रहा होगा। जिस प्रकार आजकल गंगा की नहर और उस नहर से निकली हुई सहस्त्रों कूलों का पानी भी गंगाजल नाम से ही प्रसिद्ध है चाहे उसमें कितने ही बाहर के नालों का गंदा पानी मिला हो इसी प्रकार प्रत्येक सप्रदाय जो वेदों को तत्वतः अथवा दिखाने के लिये अपने धर्म का मूल स्रोत मानता है उस का दर्शन भी वैदिक दर्शन है। शंकर का अद्वैतवाद वैदिक दर्शन है। रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद वैदिक दर्शन है। निबार्क का द्वैताद्वैतवाद वैदिक दर्शन है। और ऐसे ही मत हैं जिसके अनुसार वेदों में अनीश्वरवाद का प्रतिपादन है। बौद्ध और जैन तो अपने दर्शनों को वैदिक दर्शन नहीं मानते । परन्तु भारतीय अन्य सब दर्शन वैदिक कहलाते हैं। और उन में दर्शन के वे सब गुण और दोष पाये जाते हैं जो किसी देश या किसी युग के दर्शनों में देखे जा सकते हैं। इसके तीन मुय कारण हैंः-

(1)वेदों की सर्वप्रियता जिन से वेद सर्वथा भुलाये न जा सके।

(2)वैदिक सयता की अति प्राचीनता और उसमें कालान्तर में प्रक्षेप और मिलावट।

(3)आर्य परपरा का त्रुटिकरण।

ऋग्वेद का नासदीय सूक्त वैदिक दर्शन का एक सर्वसमत उच्चकोटि का नमूना गिना जाता है। परन्तु उसके अर्थ भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मत के अनुसार भिन्न-भिन्न किये हैं। ज्यूसन, मैक्समूलर, तिलक तथा अन्य विद्वानों के भाष्य अवलोकन कीजिये मैंने भी सन् 1928 ई. में अपनी पुस्तक ‘अद्वैतवाद’ में इस सूक्त का उस प्रकार से अर्थ किया था जो मैं ठीक समझता हूँ। क्योंकि मेरे लिये तो ‘‘वैदिक दर्शन’’ वही है जो संकुचित परन्तु वास्तविक अर्थ में ‘दयानन्द दर्शन’ कहा जा सकता है। इसलिये इस लेख में ‘वैदिक दर्शन’ की विशेषतायें वही दृष्टिगोचर पड़ेंगी, जो दयानन्द दर्शन की हैं। 1951 ई. के दिसबर मास में रंगून विश्वविद्यालय के एक साँस्कृतिक उत्सव के समय मैंने A bird’s eyeview of Vedic Philosophy, पर एक लेख पढ़ा था जो वहाँ की पुस्तिका में प्रकाशित हुआ था। वहाँाी मैंने यही दृष्टिकोण उसका रक्खा

था। परन्तु पीछे से मुझे ऐसा भान हुआ कि जब तक हम ‘दयानन्द दर्शन’ को विशेष रूप से जनता के समक्ष न लावें ‘वैदिक दर्शन’ से लोगों में भ्रम ही उत्पन्न होता रहेगा। अतः सप्रति मैं अंग्रेजी में जो ग्रन्थ लिख रहा हूँ उसका नाम ‘वैदिक फिलासफी’ न रखकर ‘‘फिलासफी ऑफ दयानन्द’’ रक्खा है। मेरे लिये वैदिक फिलासफी और दयानन्द फिलासफी पर्याय वाचक शद हैं, परन्तु सब के लिए नहीं। आज कल वैदिक फिलासफी सनातन धर्म की फिलासफी है। जिस में हर मत के पबन्द लगे हुये हैं। और यूरोप के दर्शनकार भी यही मानते हैं।

इस छोटे से लेख में तो वैदिक फिलासफी की भूमिका भी नहीं दी जा सकती। उसकी विशेषतायें कैसे बताई जा सकती हैं और जब तक उन विशेषताओं की व्याया न की जाय लोगों को विशेषताओं का पता ही कैसे चले? स्वामी दयानन्द ने वैदिक दर्शन पर अलग पुस्तक नहीं लिखी वह तो समस्त मूल षट्दर्शनों और मौलिक उपनिषदों को ‘वैदिक दर्शन’ मानते रहे फिर भी उन्होंने अपने ग्रन्थों में अन्य व्यावहारिक समस्याओं का उल्लेख करते हुए वैदिक दर्शन की इतनी विशेषतायें लिखी हैं कि आश्चर्य होता है। मैं जब ‘फिलासफी ऑफ दयानन्द’ लिखने बैठा तो मेरी धारणा थी कि 100 पृष्ठ भी पर्याप्त होंगे परन्तु ज्यों-ज्यों सामग्री एकत्रित करता गया अनेक बातें उपलध होती रहीं। जिनकी ओर पाठकों का समान्यतया ध्यान नहीं गया और यदि गया भी हो तो उसकी विशेषता का अनुभव नहीं किया। अब मैं असमंजस में हूँ कि क्या छोड़ूं और क्या लिखूं। पुस्तक 500 पृष्ठ से अधिक की हो गई, बड़े आकार की। 400 के लगभग पृष्ठ छप चुके अभी सामग्री पर्याप्त शेष है । उसे शीघ्र ही समाप्त करना चाहता हूँ।

वैदिक दर्शन की अनेक विशेषतायें हैं। प्रथम तो नाम पर ही विचार कीजिये। अंगरेजी में दर्शन के लिये फिलासफी शद का प्रयोग होता है। यह ग्रीक (यूनानी) शद है और इसका अर्थ है लव ऑफ विज्डम (Love of Wisdom) या बुद्धि प्रेम। सन्स्कृत का ‘दर्शन’ शद अधिक सारगर्ित है। दर्शन का अर्थ है देखना। (दृश धातु से) दर्शन की सार्थकता निर्भर है द्रष्टा और दृश्य पर। यदि द्रष्टा मिथ्या है तो दर्शन कैसा और यदि दृश्य मिथ्या तो दर्शन का क्या अर्थ? अतः दर्शन शद ही प्रकट् करता है कि द्रष्टा और दृश्य जीव और जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं। यदि शंकर स्वामी ने जगत् को मिथ्या कहा, तो मिथ्या का दर्शन ही क्या। और यदि दृश्य कुछ न रहा तो न दर्शन रहा न द्रष्टा। ऋषि दयानन्द ने इसीलिये वेद के ‘द्वा सुपर्णा’ इस मन्त्र का उद्धरण देकर के जीव, ब्रह्म और जड़ जगत् तीनों की सत्ता स्वीकार की है, वैदिक दर्शन द्वैत दर्शन है इस अर्थ में कि वह चेतन और जड़ दोनों संज्ञाओं को वास्तविक मानता है, इस को आप इस अर्थ में त्रैतवाद भी कह सकते हैं कि यह ईश्वर, जीव तथा प्रकृ ति तीन अनादि पदार्थों को मानता है। इस को ‘बहुत्ववाद’ी कह सकते हैं कि क्योंकि यह जीवों और परमाणुओं के बहुत्व को मानता है।

प्रायः दर्शन की विशेषता यह मानी जाती है कि अनेकत्व में एकत्व को देखा जाय। वैसा वेद में लिखा हैः-

अस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।।

अर्थात् जो सब भूतों को आत्मा में और आत्मा को सब भूतों में ओत प्रोत देखता हैं वह कभी दुःख नहीं पाता (यजुर्वेद अ. 40, मन्त्र 6)परन्तु जो लोग इस का अर्थ यह लेते हैं कि अनेकत्व (Diversity)मिथ्या है और एकत्व (Unity) सत्य है, वह वेद के आशय को नहीं समझते। अनेकत्व में एकत्व (Unity in Diversity) कैसे देखा जाय यदि अनेकत्व मिथ्या हो। अधिकरण के मिथ्या होने से अधिकृत भी मिथ्या होगा। आर्य दर्शन यही है कि जगत् को मिथ्या न माना जाय। महर्षि व्यास ने वेदान्त का पहला सूत्र लिखा।

अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।

अब ब्रह्म के जानने की जिज्ञासा है

फिर ब्रह्म के लक्षण किएः-

जन्मा द्यस्य यतः।

अर्थात् ब्रह्म वह है जिससे जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय हो।

यदि जगत् मिथ्या है तो उसकी उत्पत्ति कैसी? और स्थिति कैसी? एकतत्ववादी यह नहीं समझते कि अनेक तत्व न हों तो एक तत्व का भी क्या मूल्य? दार्शनिक जगत् में 'एकत्व' के कई समुदाय पाए जाते हैं। जैसे

(1) कारणैक्यवाद अर्थात् केवल एक ही वस्तु है, अन्य सब उसी एक मूल से बना है इसके दो रूप हैं एक अद्वैकवाद अर्थात् के वल जड़ प्रकृति से ही जगत के समस्त व्यापारों की सिद्धि। दूसरा 'चेतनैकवाद' अर्थात् एक चेतन से जड चेतन दोनों की उत्पत्ति या व्याया।

इन दोनों भेदों में अनेक उलझनें हैं जिनके दोषों के दूर करने के लिए अनेक सप्रदाय बन गए हैं। परन्तु वे उलझनें सुलझने में नहीं आ सकी।

(2) वस्त्वैक्यवाद। इनका मत है कि वस्तु केवल एक है। अनेकत्व मिथ्या है। प्रतीत मात्र है। ऋषि दयानन्द ने ठीक कहा है कि यदि एक ही वस्तु सत्य है तो वह सत्य को कैसे देख सकता है। मिथ्या दर्शन या मिथ्या प्रतीत के लिए भी तो कोई कारण होना चाहिए जो केवल एक ब्रह्म से सिद्ध नहीं होता।

(3) ईश्वरैक्यवाद यह वैदिक वाद है। इसमें जगत् को सत् तथा नाना मानकर उसमें एक ईश्वर की व्यापकता और प्रमुखता बताई गई है। दयानन्द दर्शन का यह एक मौलिक सिद्धान्त है। मोटे शदों में इस दर्शन की यथार्थता के अतिरिक्त उपयोगिता भी हैः-

(1) इन्द्रिय जन्य ज्ञान को मिथ्या, अतथ्य, अथवा स्वप्नवत् मानने से जगत् का समस्त व्यापार विज्ञान, कला कौशल, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, यज्ञ, अध्ययन, दान आदि धर्माङ्ग सब व्यर्थ हो जाते हैं। वैदिक दर्शन, न इन्द्रिय को अतथ्य मानता है, न इन्द्रिय जन्य ज्ञान को। भ्रम ज्ञान का अभाव नहीं अपितु दुष्ट ज्ञान हैं जिनका अर्थ हुआ अल्प या सीमित ज्ञान। जगत् मिथ्यात्व में तो ज्ञान का मिथ्यात्व भी नहीं घटता। ऋषि दयानन्द की बड़ी जबरदस्त

पकड़ यह है कि तुम रस्सी में सांप की भ्रान्ति कर ही नहीं सकते जब तक अन्यत्र कहीं सर्प की सत्ता को न मानो।

(2) वैदिक दर्शन लोक की सत्ता स्वीकार करके लौकिक उन्नति को परलोक यात्रा का साधन बना देता है। बुद्धि की तुच्छता के कारण केवल लोकवादी लोकायतों और केवल परलोकवादी लोकायतों में जो अनेक रूपों वाला युद्ध छिड़ता रहा है उसको दूर करना केवल वैदिक दर्शन (दयानन्दीय दर्शन) से ही सभव है।

(3) अवैदिक दर्शनों में एकान्तता का दोष है। जड़ प्रकृति या मैटर मानने वालों ने आत्मा या परमात्मा की चेतन सत्ताओं का निषेध करके न केवल दार्शनिक अपितु व्यावहारिक समस्यायें उत्पन्न कर दी है। जिनका मनुष्य के आचारशास्त्र पर बुरा प्रभाव पड़ा है मनुष्य असत्य और हिंसा के चंगुल में फंस गया है। इसी प्रकार प्रकृति का निषेध करके अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सप्रदायों ने जीव को जीवत्व के उच्च पद पर से गिरा दिया है। इससे भी आचारशास्त्र को हानि हुई है।

(4) गत दो शतादियों के पश्चिमी दार्शनिक विद्वान इन्हीं दोषों को दूर करने का असफल प्रयास करते रहे हैं। परन्तु इस असफलता का मुय कारण है वे पुराने विचार जो परंपरा से उनको दाय भाग में मिले हैं और छोड़ने पर भी नहीं छूटते। भारतीय वर्तमान विद्वानों का भी यही हाल है। जो शंकर, रामानुज लिख गए वह वायु मन्डल में प्रसारित हो गया। हम उससे मुक्त नहीं हो सकते। जो पश्चिमी दर्शन पर प्लैटो या अरस्तु का प्रभाव है वह भारत पर शंकर और रामानुज का है।

आवश्यकता है कि दयानन्द दर्शन की विस्तृत व्याया करके इन जटिल समस्याओं को सुलझाने का यत्न किया जाय। जब तक वैदिक दर्शन यथार्थ रूप में विचार के समक्ष नहीं जाएगा, मानवी जीवन की व्यावहारिक समस्यायें उलझी रहेंगी और शान्ति तथा उन्नति दोनों में बाधा होगी।

'मैं और मेरा धर्म' -मनमोहन कुमार आर्य।

AUGUST 21, 2015 LEAVE A COMMENT

मैं कौन हूं और मेरा धर्म क्या है? इस विषय पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि मैं एक मुनष्य हूं और मनुष्यता ही मेरा धर्म है। मनुष्य और मनुष्यता पर विचार करें तो हम, मैं कौन हूं व मेरे धर्म मनुष्यता का परिचय जान सकते हैं। इसी पर आगे विचार करते हैं। मनुष्य मननशील होने व स्वात्मवत दूसरों के सुख–दुःख व हानि लाभ को समझने के कारण ही मनुष्य कहलाता है। यदि हम मनुष्य होकर मनन न करें तो हम मनुष्य नहीं अपितु पशु समान ही होंगे क्योंकि पशुओं के पास मनन करने वाली बुद्धि नहीं है। वह कुछ भी कर लें किन्तु मनन, विचार, चिन्तन, सत्य व असत्य का विश्लेषण आदि नहीं कर सकते। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि मनन किससे होता है और मनन की प्रेरणा कौन करता है? इसका उत्तर यह है कि हमारे शरीर में मस्तिष्कान्तर्गत बुद्धि तत्व, इन्द्रिय नहीं अपितु इनसे मिलता जुलता एक अलग उपकरण वा अवयव है, जो सत्य व असत्य, उचित व अनुचित का चिन्तन व विचार करता है, इसी को मनन करना कहते हैं। बुद्धि नामक यह उपकरण जड़ सूक्ष्म प्रकृति तत्व की विकृति है। यह

मैं व हम से भिन्न सत्ता है। मैं व हम एक चेतन, सूक्ष्म, अल्पज्ञ, एकदेशी, ससीम, अल्प-परिणाम, अनादि, अजन्मा, अमर, नित्य, अजर, शस्त्रों से अकाट्य, अग्नि से जलता नहीं, जल से भीगता नहीं, वायु से सूखता नहीं, कर्म-फल चक्र में बन्धा हुआ, सुख-दुःखों का भोगता, जन्म-मरणधर्मा व वैदिक कर्मों को कर मोक्ष को प्राप्त करने वाली सत्ता हैं। मुझे यह जन्म इस संसार में व्यापक, जिसे सर्वव्यापक कहते हैं तथा जो सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसके द्वारा मेरा जन्म अर्थात् मुझे इस मनुष्य शरीर की प्राप्ति हुई है। यह शरीर मुझसे भिन्न मेरा अपना है और मेरे नियन्त्रण में होता है। मुझे कर्म करने की स्वतन्त्रता है परन्तु उनके जो फल हैं, उन्हें भोगने में मैं परतन्त्र हूं। मेरे शरीर की सभी पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन, बुद्धि आदि अवयव व तत्व मेरे अपने हैं व मेरे अधीन अथवा नियन्त्रण में है। मेरी अर्थात् आत्मा की प्रेरणा पर हमारी बुद्धि विचार, चिन्तन व मनन करती है। यदि हम कोई भी निर्णय बिना सत्य व असत्य को विचार कर करते हैं और उसमें बुद्धि का प्रयोग नहीं करते तो यह कहा जाता है कि यह मनुष्य नहीं गधे के समान है। गधा भी विचार किये बिना अपनी प्रकृति व ईश्वर प्रदत्त बुद्धि जो चिन्तन मनन नहीं कर सकती, कार्य करता है। जब हम बुद्धि की सहायता से मनन करके कार्य करते हैं तो सफलता मिलने पर हमें प्रसन्नता होती है और यह हमारे लिए सुखद अनुभव होता है। इसी प्रकार से जब मनन करने पर भी हमारा अच्छा प्रयोजन सिद्ध न हो तो हमें अपने मनन में कहीं त्रुटि वा कमी अनुभव होती है। पश्चात और अधिक चिन्तन व मनन करके हम अपनी कमी का सुधार करते हैं और सफलता प्राप्त करते हैं। सफलता मिलने में हमारे प्रारब्ध की भी भूमिका होती है परन्तु इसका ज्ञान परमात्मा को ही होता है। हम तो केवल आचार्यों से अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त कर अपनी बुद्धि की क्षमता को बढ़ा सकते हैं और उसका प्रयोग कर सत्यासत्य का विचार व सही निर्णय कर सकते हैं।

जन्म के बाद जब हम 5 से 8 वर्ष की अवस्था में होते हैं तो माता-पिता हमें आचार्यों के पास विद्या प्राप्ति के लिये भेजते हैं। आचार्य का कार्य हमारे बुरे संस्कारों को हटा कर श्रेष्ठ व उत्तम संस्कारों व गुणों का हमारी आत्मा में स्थापित करना होता है। आचार्य के साथ हमें स्वयं भी वेदाध्ययन व अन्य सत्साहित्य का अध्ययन कर व अपने विचार मन्थन से श्रेष्ठ गुणों को जानकर उसे अपने जीवन का अंग बनाना होता है। श्रेष्ठ गुणों को जानना, उसे अपने जीवन में मन, वचन व कर्म सहित धारण करना और आचरण में केवल श्रेष्ठ गुणों का ही आचरण व व्यवहार करना धर्म कहलता है। धर्म को सरल शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि सत्य का आचरण ही धर्म है। सत्य का आचरण करने से पूर्व हमें सत्य की पहचान करने के साथ सत्य के महत्व को जानकर लोभ व काम-क्रोध को अपने वश में भी करना होता है। आजकल देखा जा रहा है कि उच्च शिक्षित लोग अपने हित, स्वार्थ व अविद्या के कारण लोभ व स्वार्थों के वशीभूत होकर भ्रष्टाचार, दुराचार, अनाचार, कदाचार, दुराचार, व्यभिचार, बलात्कार जैसे अनुचित व अधर्म के कार्य कर लेते हैं। यह श्रेष्ठ गुणों के विपरीत होने के कारण अधर्म की श्रेणी में आता है। कोई किसी भी मत को मानता है परन्तु प्रायः सभी मतों के लोग इस लोभ के प्रति वशीभूत होकर, अनेक धर्माचार्य भी, अमानवीय व उत्तम गुणों के विपरीत कार्यों को कर अधर्मी व पापी बन जाते हैं। यह कार्य हमारा व किसी का भी धर्म नहीं हो सकता। मत और धर्म में अन्तर यही है कि संसार के सभी मनुष्यों का धर्म तो एक ही है और वह सदगुणों को धारण करना व उनका आचरण करना ही है। इसमें ईश्वर के सच्चे स्वरूप को जानकर उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करना, प्राण वायु-स्वात्मा की शुद्धि व परोपकार के लिए अग्निहोत्र यज्ञ नियमित

करना, माता-पिता-आचार्यों व विद्वान अतिथियों का सेवा सत्कार तथा सभी पशु-पक्षियों व प्राणियों के प्रति अंहिसा व दया का भाव रखना ही श्रेष्ठ गुणों के अन्तर्गत आने से मननशील मनुष्य का धर्म सिद्ध होता है। यह सभी कार्य सभी मनुष्यों के लिए करणीय होने से धर्म हैं। आजकल जो मत-मतान्तर चल रहे हैं वह धर्म नहीं है। उनमें धर्म का आभास मात्र होता है परन्तु वह मनुष्यता के लिए न्यूनाधिक हानिकर हैं। यह लोग अपने-अपने मत के स्वार्थ के लिए नाना प्रकार की अमानवीय योजनायें बनाते व उन्हें गुप्त रूप से क्रियान्वित करते हैं जिससे समाज में वैमनस्य उत्पन्न होता है। मनुष्य मत-मतान्तरों में बंट कर एक दूसरे के विरोधी बनते हैं जैसा कि आजकल देखने को मिलता है। इसके साथ सभी मतों के अनुयायी भी ईश्वर की सच्ची उपासना, वेद प्रवर्तित ज्ञानयुक्त कार्यों को न करने और श्रेष्ठ गुणों को धारण कर उनका आचरण न करने से जीवन के उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष से वंचित हो जाते हैं। महर्षि दयानन्द **(1825-1883)** ने मत-मतान्तरों में निहित अमानवीय व अधर्म विषयक प्रवृत्तियों का संकेत किया था परन्तु अज्ञान, स्वार्थ व अहंकारवश लोगों ने उनकी विश्व का कल्याण करने वाली मान्यताओं की उपेक्षा की जिसका परिणाम यह हुआ कि हम लोग श्रेष्ठ गुणों को धारण कर जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लक्ष्य से दूर हैं और विश्व की लगभग 7 अरब की जनसंख्या में से शायद कोई एक भी उसे कोई पूरा करता होगा?

हम लेख का अधिक विस्तार न कर संक्षेप में यह कहना चाहते हैं कि हम सब मनुष्य व प्राणी एक जीवात्मा हैं और ईश्वर हमारे पूर्व कर्मानुसार हमारा अर्थात् हमारे शरीरों का जन्म दाता है। मनुष्य जन्म मिलने पर सभी को श्रेष्ठ व उत्तम सत्य गुणों को धारण करना चाहिये। इनका आचरण ही धर्म होता हैं। वेद ईश्वरीय ज्ञान है तथा सत्य मनुष्य धर्म व सभी विद्याओं का पुस्तक है। वेदाध्ययन करना और उसके अनुसार जीवन व्यतीत करना ही मनुष्य धर्म वा वैदिक धर्म है। वेद संस्कृत में हैं अतः संस्कृत न जानने वाले लोगों को सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि आदि ग्रन्थों सहित महर्षि दयानन्द व अन्य वैदिक विद्वानों के वेदभाष्यों व ऋषि मुनियों के अन्य ग्रन्थों शुद्ध मनुस्मृति, ज्योतिष, दर्शन व उपनिषदों का आत्मा की ज्ञानवृद्धि के लिए अध्ययन करना चाहिये। ऐसा करके हमें, मैं व स्व का परिचय प्राप्त होने के साथ अपने कर्तव्य व धर्म का निर्धारण करने में सहायता मिलेगी। मत-मतान्तरों के ग्रन्थों को पढ़कर मनुष्य भ्रान्तियों से ग्रसित होता है अथवा ऐसा मनुष्य बनता है जिसमें आत्मा व बुद्धि होने पर भी वह सर्वथा इनसे अपरिचित होता हुंआ मत-मतान्तरों की सत्यासत्य मान्यताओं में फंसा रहता है। ऐसा मनुष्य लगता है कि केवल खाने-पीने व सुख सुविधायें भोगने के लिए ही जन्मा है। खाना पीना व सुविधायें भोगना मनुष्य जीवन नहीं अपितु इससे ऊपर उठकर सद्ज्ञान प्राप्त कर उससे अपना व दूसरे लोगों का कल्याण करना ही मानव धर्म है। हम आशा करते हैं कि इससे मैं व यथार्थ धर्म का कुछ परिचय पाठकों को प्राप्त होगा।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून**-248001**

फोन:09412985121

स्तुता मया वरदा वेदमाता-14

AUGUST 8, 2015 LEAVE A COMMENT

मन्त्र में प्रथम गुण बताया था परिवार को साथ रखने के लिये मनुष्य को अपना दिल बड़ा रखना चाहिए। दूसरी बात मन्त्र में कही है परिवार के सभी सदस्य एक सूत्र में बंधे होने चाहिए अधूरी बात। एक सूत्र में बंधे होने का अभिप्राय एक केन्द्र से बन्धे होना है। सब सदस्यों का परिवार के मुखिया से जुड़ा होना अपेक्षित है। जहाँ भी दो या दो से अधिक मनुष्य एक साथ रहते हैं, उनका एक साथ रहना तभी सभव है जब वे किसी एक के निर्देशन में कार्य करते हों। एक व्यक्ति के आदेश का सभी पालन करते हों। जहाँ कोई नेता नहीं होता, वह परिवार या समाज नष्ट हो जाता है। जहाँ एक परिवार में अनेक नेता होते हैं, वह परिवार भी नष्ट हो जाता है। नेता एक हो, सभी उसका आदर करते हों, सभी उसका आदेश मानते हों, वही परिवार सुख से रह सकता है और उन्नति कर सकता है।

परिवार में एक मुखिया का होना आवश्यक है, वहीं पर मुखिया द्वारा सभी सदस्यों का ध्यान रखना, सब की चिन्ता करना, सबकी उन्नति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। हमारे परिवारों में असन्तोष के अनेक कारण होते हैं, उनमें एक कारण होता है किसी सदस्य के विचारों को न रखा जाना। जहाँ तक परिवार में जो छोटे सदस्य होते हैं, उनके विषय में सोच लिया जाता है, वे ठीक नहीं सोच सकते, उनके पास न ज्ञान होता है, न अनुभव। यह बात सामान्य रूप से ठीक है। परन्तु परिवार के सभी सदस्य सुख-दुःख का अनुभव करते हैं तथा उन्हें भी अच्छा-बुरा लगता है, अतः सभी सदस्यों के विचारों को अवश्य सुना जाना चाहिए।

छोटे सदस्यों को समझना कठिन होता है परन्तु उनके महत्त्व को समझने और उनके समान को बनाये रखने के लिए उन्हें भी समझाने का प्रयत्न करना चाहिए। परिवार की सामान्य चर्चा में सभी सदस्यों की भागीदारी होने से परिवार के सदस्य में उत्तरदायित्व की भावना विकसित होती है। बड़ों का कर्त्तव्य है कि वे परिवार के सदस्यों में आत्मविश्वास व योग्यता उत्पन्न करें। उनके अन्दर योग्यता उत्पन्न करेंगे और कार्य का उत्तरदायित्व सौपेंगे तो उनके अन्दर आत्मविश्वास उत्पन्न होगा। परिवार के किसी सदस्य से भूल या गलती होने पर उसे डराना-धमकाना नहीं चाहिए। दण्डित करने के स्थान पर उसे अवसर देना चाहिए कि उससे भूल हुई है। यदि मनुष्य को अनुभव हो कि उससे भूल हुई है तो उसके अन्दर प्रायश्चित्त और पश्चाताप की भावना उत्पन्न हो सकती है। यही भावना मनुष्य को सावधान करती है और उसे दुबारा गलती करने से रोकती है। जो बालक हठी बनते हैं, उनके लिए कठोर दण्ड उन्हें अधिक धृष्ट बना देता है। ऐसी परिस्थिति में बड़े लोग स्वयं को दण्डित करके उनके मन को कोमल बनाने का प्रयत्न करते हैं। परिवार में सदस्यों के अन्दर सद्भाव उत्पन्न करने के लिय सदस्यों में संवाद का होना आवश्यक है। संवाद को बनाये रखने के लिए परिवार में यज्ञ, भोजन, मनोरञ्जन, विचार-विमर्श के कार्य किये जाते हैं। पृथक् संवाद करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, यदि घर में धार्मिक आयोजन नियमित होते रहते हैं, नित्य सन्ध्या-हवन होता है। विद्वान्, अतिथि, संन्यासी, महात्माओं का घर में आगमन होता रहता है तो परिवार के सदस्यों के मन में धार्मिक व्यक्तियों व धर्म के प्रति आदर भाव उत्पन्न होता है। सदस्यों को पृथक् शिष्टाचार का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं रहती। बड़ों को वैसा करते देखते हैं, स्वयं भी

करने लगते हैं। जो विचार माता-पिता नहीं दे सकते, वे विचार परिवार के सदस्य विद्वानों से वार्तालाप करके प्राप्त कर लेते हैं। अतः परिवार में श्रेष्ठ पुरुषों का आवागमन परिवार को संयुक्त रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

आज जब संयुक्त परिवार की प्रथा टूट रही है और एकल परिवार अपनी आजीविका व्यापार, मजदूरी, नौकरी से समय नहीं निकाल पाते तो घरों में धार्मिक कर्त्तव्यों की न्यूनता स्वाभाविक है परन्तु धार्मिक कर्त्तव्यों के अभाव में परिवार को साथ रखने में कठिनाई अवश्य होगी। परिवार में संवाद बनाये रखने का सहज उपाय है। दैनिक सन्ध्या-यज्ञ परिवार में संवाद और एकत्व बनाये रखने का सबसे आसान उपाय है। सन्ध्या के बाद ईश्वराक्ति के, धार्मिक विचारों के भजन गाये जा सकते हैं। दिनभर के क्रिया कलापों पर चर्चा की जा सकती है, यदि दिन में इस कार्य का समय न मिले तो यह कार्य सांयकाल या सोने से पूर्व किया जा सकता है। आज समाज में बहुत सारे लोग शिकायत करते हैं, परिवार के बच्चों में संस्कार नहीं है, संस्कार तो अच्छे काम करने से बनते हैं। अच्छे कार्य करने से परिवार के बालकों में अच्छे संस्कार आते हैं और बुरे कार्य से बच्चों पर बुरे संस्कार पड़ते हैं। घर में अच्छे कार्य न करके बालकों में अच्छे संस्कारों की आशा करना व्यर्थ है। धार्मिक कार्यों से परिवार में सन्तोष का भाव उत्पन्न होता है, दान देते रहने से सहयोग की प्रवृत्ति बनी रहती है। संसार में कभी भी, किसी की भी इच्छायें पूर्ण नहीं हो पाती। अतः इच्छाओं को रोककर अपने साधनों में से मनुष्य अन्यों की सहायता करता है, तब उसके इस कार्य से मनुष्य के मन में लोभ और असन्तोष की भावनाओं पर नियन्त्रण करना आता है। इस प्रकार परिवार को एक केन्द्र से बान्ध कर चलने से नई पीढ़ी का निर्माण करने का अवसर मिलता है, मन्त्र में सब सदस्यों के मिलकर प्रयत्न करने के लिये निर्देश दिया है।

कृपया शुक्ल और कृष्ण के बारे में स्पष्टिकरण देने की कृपा करें।

AUGUST 8, 2015 LEAVE A COMMENT

– आचार्य सोमदेव

समानीय आचार्य सोमदेव जी को मेरा सादर प्रणाम।

जिज्ञासा– श्रद्धास्पद आचार्य जी! मैं उदालगुरी आर्यसमाज का पुरोहित हूँ। मैं 2012 जून महीने में अनुष्ठित योग-साधना-शिविर में उपस्थित रहकर एक सप्ताह तक योग-साधना आप ही से सीखकर आया हूँ। उसी समय से परोपकारिणी सभा की ओर से नियमित रूप से परोपकारी पत्रिका उदालगुरी आर्यसमाज को निःशुल्क मिल रही हूँ। सभा को उदालगुरी आर्यसमाज की ओर से धन्यवाद ज्ञापन करते हैं।

आचार्य जी! मैं तीन साल से अन्य द्वारा पूछे गये जिज्ञासा-समाधान पढ़-पढ़ कर उपकृत होता आया हूँ। लेकिन आज मेरे मन में भी एक जिज्ञासा है, समाधान चाहता हूँ।

प्रश्न- महोदय! यजुर्वेद के बारे में जानना था- प्रायः यजुर्वेद के बारे में शुक्ल और कृष्ण शद व्यवहार होता है। किन्तु मेरे पास जो वेद हैं, उसमें सिर्फ 'यजुर्वेद' लिखा हुआ है। कृष्ण-शुक्ल

कुछ भी नहीं लिखा है। कोई पौराणिक पण्डित संकल्प पढ़ते समय 'शुक्ल यजुर्वेदाध्यायी' ऐसाी पढ़ लेते हैं। कृपया शुक्ल और कृष्ण के बारे में स्पष्टिकरण देने की कृपा करें।

– रुद्र शास्त्री, गाँव- गोलमागाँव, पो.जि.- उदालगुरी, आसाम

समाधान – चारों वेदों में से यजुर्वेद दो प्रकार का मिलता है। शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। इसके इन दोनों नामों का कारण है कि शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्र भाग है, अर्थात् इसमें मूल मन्त्र होने से शुक्ल (शुद्ध) वेद कहलाता है। कृष्ण यजुर्वेद विनियोग, मन्त्र व्याया आदि से मिश्रित होने के कारण मूल न होकर मिश्रित वा कृष्ण यजुर्वेद कहलाता है। मुय रूप से यही कारण शुक्ल और कृष्ण कहने का है।

शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ वर्तमान में मिलती हैं, वाजसनेयि माध्यन्दिन संहिता और काण्व संहिता। दोनों में चालीस अध्याय हैं, काण्व संहिता का चालीसवां अध्याय ईशोपनिषद् के रूप में प्रयात है। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएँ मिलती हैं- तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कठ कपिष्ठल शाखा।

महर्षि दयानन्द के अनुसार मूल वेद शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा है। इसी का महर्षि ने भाष्य किया है।

आपके प्रश्न का उत्तर तो इतने से ही है। इस विषय में पौराणिकों ने इन दोनों शुक्ल, कृष्ण को सिद्ध करने के लिए अपनी कथाएँ कल्पित कर रखी हैं। इन कत्थित कथाओं को छोड़ शुक्ल-कृष्ण का यथार्थ कारण उपरोक्त ही है।

अब यजुर्वेद के विषय में कुछ और लिखते हैं। वेदों की कुल शाखा 1127 होने का प्रमाण पातञ्जल महाभाष्य में मिलता है। वहाँ लिखा है- एकविंशतिधा वाह्वृच्यम्, एकशतम् अध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, नवधाऽऽथर्वणो वेदः, अर्थात् इक्कीस शाखा ऋग्वेद की, एक सौ एक शाखा यजुर्वेद की, एक हजार शाखा सामवेद की और नौ शाखा अथर्ववेद की।

यजुर्वेद की एक सौ एक शाखाओं में से छः शाखाएँ उपलध होती हैं। जो कि ऊपर कह दिया है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण है, जिसके रचयिता महर्षि याज्ञवल्क्य हैं। कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय ब्राह्मण है, जिसकी रचना तित्तिरि आचार्य ने की है। शुक्ल यजुर्वेद का श्रौतसूत्र कात्यायन कृत है जो कि कात्यायन श्रोतसूत्र कहलाता है। कृष्ण यजुर्वेद से सबन्धित आठ श्रौतसूत्र हैं- 1. बौधायन, 2. आपस्तब, 3. सत्यषाढ़ या हिरण्यकेशी, 4. वैखासन, 5. भारद्वाज, 6. वाधूल, 7. वाराह, 8. मानव श्रौतसूत्र।

महर्षि दयानन्द यजुर्वेद के प्रतिपाद्य विषय के सबन्ध में अपने भाष्य के प्रारभिक प्रकरण में लिखते हैं कि ''ईश्वर ने जीवों को गुण-गुणी के विज्ञान के उपदेश के लिए ऋग्वेद में सब पदार्थों की व्याया करके यजुर्वेद में यह उपदेश किया कि उन पदार्थों से यथायोग्य उपकार ग्रहण करने के लिए कर्म किस प्रकार करने चाहिए। उसके लिए जो-जो अङ्ग और जो-जो साधन उपेक्षित हैं, उन सबका प्रकाश यजुर्वेद में किया गया है। जब तक ज्ञान क्रियानिष्ठ नहीं होता, तब तक उससे श्रेष्ठ सुख कभी नहीं हो सकता। विज्ञान क्रिया में निमित्त बनता है, प्रकाशकारक होता है, अविद्या की निवृत्ति करता है, धर्म में प्रवृत्ति करता है और धर्म तथा

पुरुषार्थ का मेल कराता है, जो-जो कर्म विज्ञाननिमित्तक होता है, वह-वह सुखजनक हो जाता है। अतः मनुष्यों को चाहिए कि विज्ञानपूर्वक ही नित्य कर्मानुष्ठान करें। जीव चेतन होने से बिना कर्म किये नहीं रह सकता। कोई भी मनुष्य आत्मा मन, प्राण और इन्द्रियों के संचालन के बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता। 'यजुर्भिः यजन्ति' इस प्रमाण से यजुर्वेद के मन्त्रों से यजन किया जाता है। जिससे मनुष्य ईश्वर का और धार्मिक विद्वानों का पूजा सत्कार करते हैं, पदार्थों के संगतिकरण द्वारा शिल्पविद्या की सिद्धि किया करते हैं, शुभ विद्या और शुभ गुणों का दान किया करते हैं, यथायोग्य सबके उपकार में शुभ व्यवहार में और विद्वानों में धनादि का व्यय करते हैं वह यजुः है।'' इस प्रकार यजुर्वेद में मुय करके कर्मकाण्ड का विषय है। महर्षि ने इसी बात को सत्यार्थप्रकाश व ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी कहा है।

– ऋषि उद्यान, पुष्कर मार्ग, अजमेर

सत्पात्र बन सकूँ – रामनिवास गुणग्राहक

AUGUST 5, 2015 LEAVE A COMMENT

ओ3म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।

यद् भद्रं तन्नासुव।।

– यजु. 30/3

भावार्थ- हे सकल जगत् के उत्पत्ति कर्त्ता समग्र ऐश्वर्य युक्त, शुद्ध स्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर। आप कृपा करके हमारे सपूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को दूर कर दीजिये और जो कल्याण कारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं, वह सब हमें प्राप्त कराइये। (ऋषि भाष्य)

यह मंत्र ऋषि दयानन्द को बहुत प्रिय था, यजुर्वेद का भाष्य करते समय ऋषिवर ने इसे प्रत्येक अध्याय के प्रारभ में आवश्यक रूप से लिखा है। स्तुति प्रार्थनोपासना के मन्त्रों का प्रारभ भी इसी मन्त्र के साथ किया है। स्तुति प्रार्थनोपासना के मन्त्रों का शदार्थ करते समय महर्षि दयानन्द ने बहुत ही सरल भाषा का प्रयोग किया है। भाषा सरल होने के साथ-साथ बड़ी रोचक, प्रवाहपूर्ण एवं मन्त्र के अर्थ को स्पष्ट कर देने वाली है। स्तुति प्रार्थनोपासना के इन आठ मन्त्रों पर कई आर्य विद्वानों ने कलम उठाई है, उनमें से कुछ एक के विचारों को मैंने पढ़ा है। मैं जब दैनिक यज्ञ समाज में या कभी घर में करता हूँ तो सदैव ऋषिवर के अर्थ सहित मन्त्र पाठ करता हूँ। पाठ करते समय औपचारिकता निभाना मुझे कभी ठीक नहीं लगा, मैं महर्षि पतंजलि के 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्' के पालन करने का प्रयास करता हूँ। ऐसा करते समय कई बार मेरे मन में आया कि महर्षि ने इन मन्त्रों का जो अर्थ किया है, उसे ऋषि के अर्थ ऋषि की भावना के अनुरूप थोड़ा भाव-विस्तारपूर्वक लिखा जाए ताकि भक्त हृदय आर्य जन उसका पूरा आनन्द ले सकें। मैं अपनी इस सदिच्छा को लबे समय से टालता आ रहा था, लेकिन आज (4-1-2015) मेरे हृदय ने कहा कि किसी अच्छे विचार को कार्यरूप देने के समय बहानेबाजी करना ऐसा दोष है जो अपराध की कोटि में रखा जाता है। यह हमारे स्वभाव का पतनशील अंग है, जनहित की भावना को निर्बल बनाता है। मनुष्य को पुण्यों की पूँजी से वंचित करता है। हृदय में उठने वाले हर प्रकार के सद्भावों का पल्लवन

उनके क्रियान्वयन पर टिका होता है। सद्भाव- सद्विचार व सद्गुण को व्यवहार के रास्ते विस्तृत धरातल पर विचरने की स्वतन्त्रता नहीं मिलती, तब वो व्यवहार में प्रकट होने के लिए हृदय में प्रतीक्षा करते-करते थक जाते हैं व्याकुल हो जाते हैं, उनका दम घुटता है और वे निर्बल और निर्जीव होकर निढ़ाल हो जाते हैं। व्यवहार में व्यक्त होने के लिए व्याकुल सद्भाव, सद्विचार व सद्गुण हमारी उपेक्षा व अनदेखी का शिकार होकर अन्दर ही दम तोड़ दें तो हमारा हृदय दुर्भावों, दुर्विचारों व दुर्गुणों के फूलने-फलने का उपजाऊ खेत बनकर रह जाता है और हम न चाहते हुए भी पतन के गर्त में गिरने लगते हैं। सुख शान्ति, समृद्धि चाहने वालों का पहला कर्त्तव्य है कि वे अपने हृदय में उठने वाले सद्भाव, सद्विचार, सत्सकंल्प एवं सद्गुण को व्यवहार का रूप देकर अपने स्वभाव का जीवन्त अंग बनाने में आलस्य न करें। ध्यान रहे जो व्यक्ति अपने स्वयं के हृदय में उठने वाले सद्विचारों, सद्भावों व सत्संकल्प का समान नहीं कर सकता, वह जगत् व्यवहार में किसी दूसरे के मानवीय सद्गुणों व सत्कर्मों के साथ कभी भी न्याय नहीं कर सकेगा। मुझे मेरी अच्छाई नहीं सुहाती तो किसी दूसरे की अच्छाई क्यों सुहाएगी?

चलो अब सीधे अपने विषय परआते हैं- महर्षि दयानन्द ने मन्त्रार्थ में जो कुछ कहा है हम स्तुति-प्रार्थना की शैली में ऋषि वाक्यों की अन्तर्यात्रा करने निकलें और अपने मन मस्तिष्क को इस पूरी यात्रा में साथ ही रखेंगे तो मन्त्रार्थ को आत्मसात करने में सुभीता रहेगा।

'हे सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता' 'समग्र ऐश्वर्य युक्त'– ऋषि दयानन्द जी ने सविता का अर्थ जगत् निर्माता व सब ऐश्वर्य से युक्त किया है। 'सविता वै प्रसविता भवति' के अनुसार सविता का अर्थ बनाने-उत्पन्न करने वाला होता है और जिसने जो बनाया है, वह उसका स्वामी तो हो ही गया। जगत् में जो कुछ ऐश्वर्य है, अनमोल दिखने वाला धन है वह सब परमात्मा ने ही बनाया है तो वही उस सबका स्वामी ठहरा। इसके साथ ही जान लें कि सविता शद 'षु प्रेरणे' धातु से बनता है। निर्माण और प्रेरणा दोनों अर्थ सविता शद से लिये जा सकते हैं। परामात्मा सबका निर्माण करने और सबको प्रेरित-संचालित करने वाला है। स्तुति प्रार्थनोपासना के छठे मन्त्र में कहा है कि जिस-जिस पदार्थ की कामना वाले होकर हम आपको पुकारें, आपका आश्रय लेवें, उस-उसकी कामना हमारी पूर्ण होवे। अर्थात् हमें जीवन में जो कुछ चाहिए उसे पाने के लिए हमें परमात्मा से ही पुरुषार्थपूर्वक प्रार्थना करनी चाहिए। इससे सिद्ध है कि परमात्मा इस संसार की हर वस्तु को बनाकर उसे अपनी अटल न्यायपूर्ण व्यवस्था के अनुरूप चलाता, प्रेरित करता है।

'शुद्ध स्वरूप सब सुखों के दाता परमेश्वर'। देव शद का यही अर्थ ऋषिवर ने यहाँ किया है। सामान्य भाषा में भी देने वाले को देव कहते हैं। क्या दुःख देने वालो को भी? नहीं सुख या सुखद वस्तु देने वाले को ही देव कहा जाता है। परमात्मा भी सबके लिए सब सुखों का देने वाला है। यहाँ एक व्यावहारिक बात समझ लेनी चाहिए कि परमात्मा अपनी ओर से कभी किसी को सुख या सुखद वस्तुएँ नहीं देता। संसार में ज्ञान से बड़ा कोई दान नहीं, ऐसा महर्षि मनु-'सर्वेषामेवदानानां ब्रह्म दानं विशिष्यते' कहते हैं। योगिराज श्री कृष्ण ज्ञान के बारे में लिखते हैं – नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। अर्थात् हमारे जीवन को ज्ञान ही सबसे अधिक पवित्र करने वाला है। जीवन की पवित्रता मानो सब सुखों व सुखद वस्तुओ को प्राप्त करने की पात्रता है। वह परमात्मा अपनी ओर से मनुष्य मात्र को ज्ञान-प्रेरणा निरन्तर देता रहता है। यह हमारे ऊपर निर्भर करता है कि हम प्रभु प्रदत्त प्रेरणा (ज्ञान) के अनुसार कर्म-व्यवहार करते हुए सब सुखों व सुखद वस्तुओं को प्राप्त करें। परमात्मा द्वारा सुख देना दूसरे

प्रकार से भी सिद्ध होता है। हमारी कमाई हुई धन-सपत्ति को कोई दुष्ट व्यक्ति छीन या चुराकर ले जाए तो उस चोर को जितना दोषी मानते हैं उससे कहीं अधिक दोषी शासक व शासन की व्यवस्था को भी मानते हैं। शासक की न्याय व्यवस्था अगर हमारी चुराई व खोई चीज को हमें दुबारा दिला दे तो हम उसका धन्यवाद अवश्य करते हैं। ठीक इसी प्रकार से अगर हमारे शुभ कार्यों का यथायोग्य फल ईश्वर की अटल, न्याय व्यवस्था से मिलता है तो उसका दाता ईश्वर को ही मानना चाहिए।

मन्त्र में सविता और देव के अर्थ स्पष्ट हो जाने के बाद दो बातें शेष रह जाती हैं और वे दोनों बातें अत्यन्त स्पष्ट हैं- 'विश्वानि दुरितानि परासुव' अर्थात् सपूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को दूर कर दीजिए और 'यद् भद्रं तन्नासुव' जो कल्याण कारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ है, वह सब हमको प्राप्त कराइये। मन्त्र को और सरलता से समझने के लिए 'विश्वानि दुरितानि सपूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को-'परासुव' दूर करने या परे धकेलने की प्रार्थना को भली भाँति समझना होगा। यहाँ दुर्गुण हैं, जितने भी दुर्व्यसन से पूर्व सपूर्ण शद बहुत ही ध्यान देने योग्य है। हमारे जीवन में जितने भी दुर्गण हैं, जितने भी दुर्व्यसन हैं उन सब को दूर करने की प्रार्थना या पुकार यह सिद्ध करती है कि हमारा जीवन पूर्णतः निर्मल और पवित्र होना चाहिए। एक भी दुर्गुण व दुर्व्यसन मेरे जीवन में शेष न रहे। अगर हम थोड़ा सा भी दुख नहीं चाहते तो अपने अन्दर के सब दुर्गुणों को ढूँढ-ढूँढ कर निकाल फैंके। हमारे आन्तरिक दुर्गुणों के कारण हमारे व्यावहारिक जीवन में दुर्व्यसन उत्पन्न होते हैं और दोषों दुर्व्यसनों के परिणाम स्वरूप हमें दुःख भोगने पड़ते हैं। दुःख दूर करने की इच्छा है जिनकी वे दुर्व्यसनों को दूर भगाायें। जो दुर्व्यसनों से मुक्त होना चाहते हैं वे अपने दुर्गुणों को समाप्त करने का संकल्प लें। हमारे आन्तरिक दुर्गुण ही हमारे दुर्व्यसनों अर्थात् दुराचरणों, दुष्प्रवृत्तियों और दुष्कर्मों के बीज हैं और इन्हीं दुर्व्यसनों का परिणाम दुःख है। यह मन्त्र हमारे दुःखों को दूर करने का वैदिक उपाय बताता है। आज हम अपने दुःखों को दूर करने के लिए अनेक प्रकार के मनमाने उपाय करते रहते हैं या किसी गुरु घण्टाल के मायाजाल में फँस कर विविध प्रकार के पाखण्ड पूर्ण कृत्य करते-कराते हैं। हमारे मनमाने उपायों या गुरु घण्टालों के तन्त्र-मन्त्र से दुःा दूर हो जाते तो संसार में एक भी दुःखी नहीं होता।

मन्त्र में दूसरी प्रार्थना है – 'यद् भद्रं तन्न आसुव' अर्थात् जो कल्याण कारक गुण, र्का और स्वभाव हैं वह सब हम को प्राप्त कराइये। जब हम अपने जीवन के सब दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को दूर करने का सशक्त संकल्प लेकर अपनी आन्तरिक बुराइयों के विरुद्ध सफल संघर्ष छेड़ देते हैं, दुर्गुणों, दोषों व दुष्कर्मों के पतनशील प्रवाह में निर्जीव तिनके की तरह बहते रहने से आत्मबल पूर्वक मना कर देते हैं और बुराइयों के चक्रव्यूह से बच निकलते हैं तो हमारे सामने अपने हृदय को अच्छाइयों से भरते रहने का प्रश्न खड़ा होता है। यह तो सब जानते हैं कि संसार में ऐसा कुछ नहीं जो किसी प्रकार के गुणों से शून्य हो। ऐसे में हमारा हृदय-मन, बुद्धि और चित्त आदि भी गुणहीन स्थिति में नहीं रह सकते। दुर्गुणों को दूर करने के आन्तरिक अभियान के साथ-साथ हमें कल्याण कारक गुणों का आह्वान करना होगा। दुर्गुणों को दूर करके उनके स्थान पर कल्याण कारक गुणों अर्थात् सद्गुणों को बसाना जीवन-निर्माण की आवश्यक प्रक्रिया है। किसी बर्तन में कोई अनावश्यक व अनुपयोगी चीज भरी हो तो जब तक उसमें किसी अच्छी व उपयोगी वस्तु को रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती तब तक हम उस अनुपयोगी चीज को निकाल फैंकने के बारे में प्रायः नहीं सोचते। जब हमें कोई मूल्यवान व उपयोगी वस्तु की आवश्यकता अनुभव होती है तो हम उसे पाने के प्रयास करते हैं। पाने

के प्रयास करने से पूर्व बुद्धिमान व्यक्ति उसे सुरक्षित रखने के बारे में सोचता है तो उसे लगता है कि यह जो अनावश्यक चीज इस बर्तन मे ंरखी है उसे निकाल फैंको और इस बर्तन को स्वच्छ करके उपयोगी वस्तु को इसमें रख दो।

यही स्थिति मानव के जीवन की है। सांसारिक विषय वासना व परस्पर के राग-द्वेष पूर्ण जीवन जाने वाले को जब किसी सद्ग्रन्थ के स्वाध्याय या सत्संग से यह पता चलता है कि मेरा हृदय जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य का कबाड़ बनकर रह गया है, मेरे जीवन में आलस्य, प्रमाद, दीर्घसूत्रता आदि दोष निरन्तर बिगाड़ पैदा कर रहे हैं, ये मुझे सुख-शान्ति, समृद्धि और सन्तुष्टि नहीं दे सकते। ये मेरे जीवन को सफल और सार्थक बनाने में उपयोगी नहीं हैं। यह ज्ञान स्वाध्याय व सत्संग के बिना नहीं होता। अधिकांश लोगों को लबे समय तक सत्संग स्वाध्याय करते रहने पर भी यह ज्ञान नहीं होता, लेकिन जिन विवेकशील सज्जनों को यह ज्ञान हो जाता है तो उन्हें कल्याण कारक गुण, कर्म और स्वभाव की आवश्यकता अनुभव होने लगती है। जब उन्हें सद्गुणों की आवश्यकता अनुभव होती है तो उन्हें लगता है कि मेरे हृदय में तो दुर्गुण जड़ें जमाये बैठे हैं। जीवन को अच्छा,सुाी और सन्तुष्ट बनाने की प्रबल इच्छा जब तक हृदय में उठ खड़ी नहीं होती, तब तक हर मनुष्य को अपने हृदय में भरा पड़ा काम-क्रोध आदि दुर्गुणों का कूड़ा-कबाड़ भी काम चलाऊ अच्छा लगता है। जैसे ही उसके मन-मस्तिष्क में कल्याण कारक गुण, कर्म स्वभाव और पदार्थों की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है, और वह उन्हें पाने के लिए लालायित होने लगता है, वेसे ही उसे अपने अन्दर के काम, क्रोध, मोह आदि अनुपयोगी और अनावश्यक ही नहीं लगते, बल्कि काँटे की तरह चुाने लगते हैं । इस अवस्था में आकर वह 'विश्वानि दुरितानि परासुव' और 'यद् भद्रं तन्न आ सुव' की पुकार करने लगता है। इस अवस्था में सच्चे हृदय से की गई ऐसी प्रार्थना, पुकार ही लक्ष्य के निकट पहुँचाती है।

''यद् भद्रं तन्न आ सुव'' का जो अर्थ ऋषि दयानन्द ने किया है, वह बहुत ही चमत्कार पूर्ण एवं जीवन-निर्माण की अन्तःक्रिया को सन्तुलित-सयक् ढंग से प्रकट करता है। ऋषि लिखते हैं- 'जो कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं,वह सब हमें प्राप्त कराइये।' कल्याण करने वाले गुण, कर्म और स्वभाव की क्रमबद्धता पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है। सुखी, शान्त व आनन्दपूर्ण जीवन के तीन घटक आन्तरिक हैं और पदार्थ बाहरी हैं। कल्याणकारक घटकों में गुण, कर्म और स्वभाव एक पात्रता है और पदार्थ उसमें रखी जाने वाली सामग्री। जिसने तप-साधना से अपने गुण, कर्म और स्वभाव को कल्याण कारक बना लिया परमात्मा उसके लिए कल्याणकारक पदार्थों की प्राप्ति सरल और सहज बना देते हैं। जो अपने गुण, कर्म और स्वभाव को कल्याणकारक बनाने के लिए तप नहीं करते, स्वयं को सद्गुण सपन्न सदाचारी एवं सुा का सत्पात्र बनाये बिना ही जो कल्याणकारक सुखद पदार्थों को छल-बल या कल से हथिया लेते हैं, ऐसे अभिशप्त लोगों के हाथ लगे कल्याण कारक पदार्थ कभी उनको सच्चा सुख नहीं दे पाते। सीधे शदों में कहें तो गुण, कर्म और स्वभाव को कल्याणकारी बनाये बिना हम कल्याणकारी पदार्थों का सच्चा सदुपयोग नहीं कर सकते। बुद्धिमान लोग काँटों का सदुपयोग बाड़ लगाकर फलों की सुरक्षा के रूप में करते हैं दूसरी ओर कुछ मूर्ख लोगों ने पाकिस्तान में पंजाब के गवर्नर के हत्यारे आतंकियों पर गुलाब के फूलों की वर्षा करके भी विश्व के मानवतावादी जन समुदाय के बीच स्वयं को कलंकित कर लिया।

‘‘यद् भद्रं तन्न आ सुव’’ की अन्तिम लेकिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय वस्तु को राना चाहते हैं। जो सच्चे अर्थों में सच्चे हृदय से अपना जीवन सुखी व श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं, उनके लिए ऋषि दयानन्द के शदों –‘कल्याण कारक गुण, कर्म और स्वभाव’ को समझ लेना बहुत ही आवश्यक है। जब हमारे कल्याणकारक गुण हमारे कमरें के माध्यम से सजीव होकर हमारे स्वभाव का अंग बन जाते हैं, तब जाकर हमारा जीवन कल्याणकारक पदार्थों को पाने का पात्र बन पाता है। आज के मानव की सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह अपने अन्दर की ढेर सारी अच्छाइयों को अपने कर्मों-व्यवहार में उतारने से डरता है। जब तक यह डर हमारे जीवन में डेरा डाले रहेगा, तब तक हर सच्चाई और अच्छाई मानव के संकीर्ण स्वार्थ के भार तले दबकर दम तोड़ती रहेगी। पाठक ध्यान रखें कि परमात्मा ने हमारे कल्याण को सरल और सहज बनाने के लिए हमारे हृदय में सत्य के प्रति श्रद्धा और असत्य के प्रति अश्रद्धा स्वाभाविक रूप से प्रदान की है। प्रत्येक मानव का हृदय सदैव सत्य के प्रति श्रद्धालु रहता है, आकर्षित रहता है। असत्य मानव के हृदय को कभी अच्छा नहीं लगता। असत्य मानव के हृदय में सदैव काँटे की तरह खटकता रहता है। मानव-स्वभाव की विचित्रतााी बड़ी अनौखी है। यह सच है कि सरल चित्त के व्यक्ति के हृदय में असत्य काँटे की तरह ही खटकता है, लेकिन जब वो स्वार्थ के खूंटे से बँधकर सत्य को स्वीकार करने का साहस नहीं दिखा पाता और इस असत्य रूपी काँटे से हृदय को लहूलुहान करता रहता है तो कुछ काल ऐसा ही होते रहने के बाद स्वार्थ पूर्ति से मिलने वाले क्षणिक सुख के नशे में असत्य रूपी काँटे की इस तीखी चुभन को भी वह भाग्यहीन व्यक्ति ऐसे ही सहन करता रहता है जैसे एक शराबी मदके लिए उसकी कड़वाहट व तीखेपन को सहन करता रहता है।

कल्याण की कामना वाले व्यक्ति को सांसारिक स्वार्थ पूर्ति से ऊपर उठकर एक अक्षय सुख पर अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा। सुधी जन जानते हैं कि झूठ की जितनी शक्ति है, जितनी आयु है, उससे मिलने वाले सुख की शक्ति और आयु भी उतनी ही होगी उससे अधिक नहीं। झूठ सदैव सत्य से भयभीत रहता है, सत्य की एक किरण झूठ को धराशायी कर देती है ठीक इसी प्रकार से असत्य के बल पर सुा शान्ति पाने वाले व्यक्ति सत्य से भयभीत होकर जीवन जीते हैं, उनका सुख सत्य की सभावना देखकर ही भाग खड़ा होता है। क्या लाभ उस टूटे-फूटे, डरे-सहमे सुख का? सत्य से डरकर उल्लू की तरह अँधेरे में कब तक ऐसे सुख को भोगकर सन्तुष्ट होते रहोगे?वह सुख ही क्या जो अपने इष्ट मित्रों व परिजनों के साथ मिलकर खुले में सार्वजनिक रूप से न भोगा जा सके? इसीलिए ऋषि दयानन्द कल्याणकारक गुणों को कर्मों में सजीव और साकार करके अपने स्वभाव का अंग बनाने की सांकेतिक प्रेरणा कर रहे हैं। गीता में श्री कृष्ण जी भी शदान्तर से यही सन्देश दे रहे हैं कि संसार में सब प्राण्ीा अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव के अनुसार ही अपनी समस्त चेष्टाएँ (कर्म) करते हैं इसलिए स्वभाव को ही अच्छा (श्रेष्ठ) बनाओ अपनी बुराइयों को छिपाकर अच्छा दिखने से क्या लाभ? स्वभाव को श्रेष्ठ बनाने -सुधारने का सच्चा और सरल रास्ता ऋषि दयानन्द बता रहे हैं कि अपने हृदय में सोये पड़े हुए अपने सद्गुणों को कर्मों में उतारिये। हम जब निरन्तर अपने सद्गुणों को कर्मों का सहारा देते रहेंगे तो एक दिन हमारे सद्गुण हमारे स्वभाव का अंग बन जाएँगे। जब तक अपने सद्गुणों को अपने कर्मों के द्वारा अपने स्वााव का अंग बना लेंगे तब इस संसार के समस्त कल्याण कारक पदाथरें को प्राप्त करने के अधिकारी-पात्र बन जाएँगे। दुर्गुणों, दुर्व्यसनों और दुःखों से निकल कर कल्याणकारक गुण, कर्म स्वभाव और पदार्थों को प्राप्त करने की अन्तर्यात्रा का मंत्रानुसार ऋषिवर ने जिस रूप में रखा और वह जैसी मेरी

समझ में आई वैसी मैंने सच्चे हृदय से, सुधीजनों के कल्याण की कामना से प्रकट कर दी। आशा है अध्यात्म पथ के पथिक इससे लाभ उठाएँगे।

– जोधपुर,राजस्थान

हम अपने शहंशाह – सुकामा आर्या

AUGUST 5, 2015 LEAVE A COMMENT

अपना जीवन जीते हुए हमारे मन में विभिन्न प्रकार की इच्छाएँ, तमन्नाएँ रहती हैं। हम अपने भावी जीवन के लिए उत्साहित रहते हैं, बड़े सपने सँजोए रखते हैं। कुछ सपने तो बहुत आसानी से साकार हो जाते हैं और कुछेक अथक प्रयास के बावजूद सत्य सिद्ध होने से कोसों दूर रहते हैं।

पहले तो हम बैठ कर यह विश्लेषण करें- कि हमने क्या खोया-क्या पाया? यह जीवन भर का, कुछ वर्षों का, कुछ महीनों का भी कर सकते हैं। अगर हानि अधिक हुई है, असफलताएँ अधिक आई हैं तो थोड़ी ज्यादा गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

अब हमें यह पकड़ना है कि हम चूकते कहाँ पर हैं? हमारे कमजोर स्थल कौन-से हैं? उन्हें जानकर-समझकर, उन पर कार्य करने की जरूरत होती है। मार्ग तो पता है हमें, पर उस पर तरह-तरह के काँटे, ईंट, पत्थर गंदगी आदि पड़े हैं। तीव्र गति से गमन करना है तो बस, बाधाओं को हटाएँ और मार्ग प्रशस्त हो जाएगा।

बाहरी वातावरण, परिस्थितियाँ, लोग हमारे नियंत्रण में नहीं होते- और होने की अपेक्षा भी रखना गलत है, परन्तु हम अपने आंतरिक संसार के ताज सहित बादशाह हैं, शहंशाह हैं। हम जैसा चाहें, जिस प्रकार जहाँ चाहें, कार्य कर सकते हैं- वहाँ हमारा हरेक कानून लागू होता है, हर एक बात बाइज्जत सुनी जाती है, ज्यों-की-त्यों समझी जाती है, इसलिए बाहर की अपेक्षा पहले अपनी जरूरतों, सपनों, इच्छाओं को अंदर लागू करना होता है। अपने अंदर जितने हम स्पष्ट व साफ हो जाएँगे, उतनी ही बाहर की परिस्थितियाँ अनुकूल बनती जाएँगी। बाहर की बाधाओं के बादल स्वयं छटने लगेंगे।

सूक्ष्मता से देखें तो यह हमारे नियंत्रण में होता है कि हम किस विचार को अपने अंदर उठने दें, उसे अनुमति दें, किसको चाहें तो न दें। जिस विचार को जब चाहें हम रोक सक ते हैं। हमें हर नकारात्मक, विध्वन्सात्मक विचार के लिए अपने मन पर प्रयासपूर्वक 'नो एंट्री' का बोर्ड लगाना होता है। फिर भी कुछ लोग, परिस्थितियाँ यदि जबरदस्ती अंदर घुसने का प्रयास करें तो हमें ईश्वर ने श्वास रूपी चौकीदार, सुरक्षाकर्मी दे रखा है। इसकी सहायता से उस विचार को बाहर छिटक दें। जैसे अगर घर में कोई अतिथि आने वाला हो और उसके स्वागत के लिए हमने तैयारी कर रखी हो, सुन्दर व्यवस्था कर रखी हो, उसी समय कोई शरारती बच्चा आ कर ऊधम मचाए, इधर-उधर वस्तुओं को बिखेर दे- तो हम क्या करेंगे? उसे पकड़ेंगे व यथासंभव प्रयास करेंगे कि वह हमारी बनी बनाई व्यवस्था को खराब न करे। ठीक यही अवस्था मन के आँगन की भी है। हमें वहाँ भी अपनी स्थिति को बनाए रखने का प्रयास

करना होता है- कोई भी अनचाहा विचार, व्यक्ति, परिस्थिति उसमें हमारी आज्ञा के बिना अंदर न घुस पाये। हम ईश्वर से भी यही प्रार्थना करते हैं कि हमारा हमारे मन पर राज्य हो-

मेरी इन्द्रियाँ हों सदा मेरे वश में,

मेरे मन पे मेरा ही अधिकार कर दो।

मेरा सर झुके तो झुके तेरे दर पर,

मुझे ऐसा दुनियाँ में सरदार कर दो।

पाँचों इन्द्रियों के विषयों व मन पर अपना नियंत्रण करने के लिए अपने श्वास रूपी सुरक्षाकर्मी को हमेशा सचेत रखें। जहाँ भी इसमें थोड़ी-सी ढ़ील हुई, वहीं पर विघ्न, बाधाएँ उत्पन्न हो जाएँगी। हम तीी तो ईश्वर को, उसकी सत्ता को नमन करते हैं। उसकी सहायता से ही हम अपने विचारों को रोक सकते हैं- यह कहते भी है और करते भी हैं-

हमारा नियंत्रण चूँकि हमारे अपने हाथ में हैं, यूँ कहें कि हमारा रिमोट कंट्रोल जब हमारे हाथ में है तो दूरदर्शन पर चैनल भी तो हम ही बदलेंगे न। हम बाहर के दूरदर्शन को छोड़कर चित्त के दूरदर्शन पर कार्य प्रारभ करें। वहाँ जो चैनल हम चलाएंगे, वही हमारे बाहर भी प्रदर्शित होगा। वस्तुतः बाहरी संसार हमारे आन्तरिक संसार का ही प्रतिबिब है। जो भी परिस्थिति, इच्छा आप बाहर साकार हुई देखना चाहते हैं, उसे पहले अपने अंदर सफल होता हुआ चित्रित करें। अपने मन को शांत कर, श्वास से नियंत्रित कर तथा वह दृश्य अपने सामने लाकर उसे यथार्थ में परिवर्तित होता हुआ महसूस करें-अनुभूति के स्तर पर ले आएँ। यह ध्यानावस्था में करने योग्य कार्य है। इच्छा व स्वप्न के प्रति अपनी भावना, गहराई भी इसमें अहम रोल अदा करती है। जितनी अधिक एकाग्रता से यह कार्य होगा, उतनी ही शीघ्रता व कुशलता से कम समय में बाहर की परिस्थितियाँ बिना आपके ज्यादा हस्तक्षेप के अनुकूलता में बदलती जाएँगी।

इसके लिए आवश्यक है कि पहले अन्दर की सफाई की जाए। एक बार गलती से काँटों भरे खेत में चले गए- तो कितने ही काँटें कुछ मिनटों में कपड़ों पर चिपक जाएँगे। वापिस आकर निकालने लगेंगे तो घण्टों लगेंगे। गंदगी डालनी, बुराई करनी, द्वेष करना बहुत आसान है, क्षण भर में क्षोभ पैदा हो जाता है, पर जब सफाई करने बैठते हैं तो उफ, क्या परिश्रम करना पड़ता है! बस हथियार छूट जाते हैं- यही महसूस होता है कि ''लहों नोता की थी, सदियों ने सजा पाई।''

हमें प्रयास पूर्वक सजग रहना है कि अगर मैं बुरा विचार करूँगा तो इसका परिणाम भी मुझे ही भुगतना पड़ेगा। दूसरे पर यह प्रभाव जाए न जाए, मेरी हानि अवश्य ही होगी। अपने पैरों पर स्वयं कुल्हाड़ी चलाने वाली बात है। बीज तो छोटा-सा ही होता है, पर जब पेड़ बन के सामने खड़ा होता है तो काटना मुश्किल हो जाता है- हाथ थक जाते हैं, कुल्हाड़ी चलाते-चलाते। इसलिए जब भी बुरी भावनाएँ, विचार उठें, उन्हें तुरन्त ही हटा दें- एक तरफ कर दें। ईश्वर को उसी क्षण अपने समीप महसूस करते हुए कोई जप प्रारभ कर देवें, याद क रें कि प्रातःकाल जो प्रार्थना की थी-

सर्वे भवन्तु सुखिनः,सर्वे सन्तु निरामयाः,

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत्।

क्या जिससे मैं द्वेष कर रहा हूँ, वह 'सर्वे' में नहीं आता है? उस प्रार्थना के विपरीत अगर बाकी के 17 घंटे हम व्यवहार करेंगे तो उस प्रार्थना का कोई औचित्य नहीं हैं। प्रार्थना का विधान है तो यह मानना पड़ेगा कि द्वेष, घृणा, क्षोभ के लिए मनाही है। प्रयासपूर्वक ईश्वर प्रणिधान की सहायता से हमें उस विचार को क्षोभ को मन से निकाल देना है। धीरे-धीरे द्वेष होगा ही नहीं, होगा तो क्षीण-सा बहुत कम समय के लिए होगा, क्योंकि हम सजग हैं। हमें पता है कि जितनी गंदगी हम फैलाएँगे-सफाई भी तो हमें उतनी ही करनी पड़ेगी।

जब हम चाहते हैं कि हमारे शुभ संकल्प पूर्ण हों, सिद्ध हों तो हमें उसके लिए यथासंभव अपना पुरुषार्थ अपने आन्तरिक वातावरण को साफ, सुंदर व व्यवस्थित करने के लिए करना चाहिए, क्योंकि यहीं पर हमारा नियंत्रण है और यह परम आवश्यक है अपने जीवन में शांति व सफलता को प्राप्त करने के लिए। तभी हम कह सकते हैं कि-

तेरे पूजन को भगवान, बना मन-मन्दिर आलीशान।

– ऋषि उद्यान, पुष्कर मार्ग, अजमेर

सन्ध्या-रहस्य का यह संस्करण – राजेन्द्र जिज्ञासु

AUGUST 3, 2015 1 COMMENT

पं. चमूपति रचित सन्ध्या रहस्य पुस्तक के विषय में कुछ लिखना, लेखक के लिये एक गौरव की बात है। क्यों? इसका उत्तर मैं साधु ट.ल. वास्वानी के शदों में देना अधिक उपयुक्त मानता हूँ। अर्थात् मेरा जितना ज्ञान है आचार्य चमपति उससीी कहीं अधिक गहराई से लिखते हैं। इससे भी बढ़कर तो यह बात है कि वे जो कुछ भी लिखते हैं वह अत्यन्त सुन्दर, भक्तिभाव में डूबकर लिखते हैं और जब लिखना ही भक्ति पर, सन्ध्या उपासना पर हो तो उन्होंने कितना भक्ति विलीन होकर लिखा होगा, यह बताया नहीं जा सकता।

योगनिष्ठ लेखक द्वारा लिखितः– आज का युग विज्ञापन का युग है। लोकैषणा को तजने की घोषणा व प्रतिज्ञा करने वाले साधु महात्मा भी आज विज्ञापन के संसार में किसी से पीछे नहीं। अपनी योग साधना व समाधि तक का ढोल बजाने वाले साधुओं पर गृहस्थों को आश्चर्य होना स्वाभाविक है। अपने जीवन-परिचय में आज समाधि लगाने का उल्लेख होता है। पं. चमूपति एक योगनिष्ठ विद्वान् थे, यह उस काल के सब जन जानते थे परन्तु, पं. चमूपति जी ने अपनी योग साधना का कभी भी, कहीं भी कोई संकेत नहीं दिया। हाँ! उनके निधन पर महाशय खुशहाल चन्द जी (महात्मा आनन्द स्वामी) ने एक शोक सभा में श्रद्धाञ्जलि देते हुए उनके जीवन के इस पक्ष की चर्चा की थी। फिर मैंने उनको निकट से देखने वाले कई पुराने आर्यों यथा पं. शान्तिप्रकाश जी, स्वामी सर्वानन्द जी तथा पं. ज्ञानचन्द आर्य सेवक आदि से भी इसके बारे में सुना।

वेदशास्त्र मर्मज्ञ द्वारा लिखितः– आचार्य चमूपति वेदशास्त्र मर्मज्ञ थे। ये तो विधर्मी भी स्वीकार करते हैं। इस सन्ध्या रहस्य पुस्तक-रत्न की विशेषता यह भी तो है कि इसमें ईश्वर की सत्ता, उसके स्वरूप, उसकी रचना, उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना पर इस शैली से लिखा गया है कि उनकी यह कृति जन साधारण तथा विचारकों विद्वानों दोनों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। पुस्तक का एक-एक पैरा व एक-एक वाक्य हृदय स्पर्शी व मार्मिक है।

सन्ध्या गीतः– सन्ध्या रहस्य के कई प्रकाशकों ने कई संस्करण प्रकाशित किये हैं। परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित किये जा रहे इस संस्करण की एक विशेषता यह है कि इसके साथ पण्डित जी के सन्ध्या गीत का शुद्धतम पाठ पहली बार छप रहा है। हमें इस सन्ध्या गीत की जानकारी बीकानेर के वयोवृद्ध आर्य और पुस्तक संग्रही श्रीमान् ठाकुरदास जी से प्राप्त हुई। उन्होंने इसकी प्रतिलिपि (जो उनके पास थी) हमें प्रदान की परन्तु, वह दोषयुक्त थी फिर भी हमने कुछ सुधार कर छपवा दी। अधिक छेडछाड़ का हमें क्या अधिकार था?

अब की बार सन्ध्या गीत की पं. चमूपति जी की अनुा्रमिका भी खोज कर दे दी है। सन्ध्या का पद्यानुवाद तो मुंशी केवल कृष्ण जी, पं. वासुदेव जी, श्री धर्मवीर जी (पंजाबी में), स्वामी आत्मानन्द जी महाराज, स्वामी अमृतानन्द जी, महाकवि 'शान्त' लेखराम नगर कादियाँ आदि अनेक आर्य कवियों व विद्वानों ने किया परन्तु एक संगीत मर्मज्ञ ने इस लेखक को बताया कि साहित्यिक तथा संगीत शास्त्र की दृष्टि से पं. चमूपति जी का यह पद्यानुवाद बेजोड़ है। मेरा यह मत है कि स्वामी आत्मानन्द जी का पद्यानुवाद भी अत्यन्त साहित्यिक है। काव्य शास्त्र व संगीत शास्त्र की दृष्टि से वह भी अत्युत्तम है।

पिता पुत्र ने पद्यानुवाद कियाः– पं. चमूपति जी के सन्ध्या रहस्य व सन्ध्या गीत की तो सभी प्रशंसा करते ही हैं, हम पाठकों को यह भी बताना चाहते हैं कि पंडित जी के ज्येष्ठ पुत्र डॉ. लाजपतराय डी.लिट. ने भी सन्ध्या का पद्यानुवाद किया था जिसे स्वामी वेदानन्द जी महाराज जैसे शास्त्र मर्मज्ञ साहित्यकार ने छापा था। वह भी अदुत था।

गुत्थियों को सुलझाया हैः– पण्डित जी की इस व्याया पर पाठकों की सेवा में क्या-क्या विशेषतायें गिनाई बताई जायें। मनसा परिक्रमा को पण्डित जी ईश्वर की रचना का मन से परिभ्रमण कहा करते थे। एक बार कहा कि ईश्वर की सर्वव्यापकता, उसकी कला व महानता के बोध कराने वाले मन्त्र मनसा परिक्रमा क्या हैं, ¤्नहम्शह्ल्ठ्स्र ह्लद्धद्ग ख्शह्म्ध्स्र ख्द्बह्लद्ध ञ्जद्धद्ग रुशह्म्स्र.¤ अर्थात् यह तो प्रभु का ध्यान करके, प्रभु संग सृष्टि का परिभ्रमण है। उनके पुत्र डॉ. लाजपत का कहना था मनसा परिक्रमा से तो मन की दशा व दिशा का बोध होता है।

जीवन बीमाः– पं. चमूपति सन्ध्या को जीवन बीमा बताते हैं। यह भूमिका उनकी एक मौलिक देन है। जप तप सचमुच जीवन बीमा हैं। कोई भी व्यक्ति और जाति तप शून्य होकर संसार में नहीं जी सकती। सन्ध्या रहस्य के आरभ में बहुरूपी सन्ध्या आदि जिन आठ बिन्दुओं पर पण्डित जी ने लिखा है, वे सब पठनीय व मनन करने योग्य है। सच तो यह है कि वैदिक अध्यात्मवाद का यह एक अनूठा दस्तावेज है।

सब शंकाओं का समाधानः– वैदिक आस्तिकवाद, त्रैतवाद व अध्यात्मवाद पर की जाने वाली सब शंकाओं का समाधान बहुत उत्तमता से इसमें किया गया है। ऋत क्या? सत्य क्या है? इस

विषय में पं. चमूपति जी तथा पूज्य उपाध्याय जी का चिन्तन अत्यन्त मौलिक व तार्किक है।

अघमर्षण मन्त्र का रहस्यः– 'अघमर्षण' शद का अर्थ है पाप को दूर करना या पाप को मसलना। इन मन्त्रों में न तो पाप शद आया है और न ही मसलने व दूर करने की कोई बात कही गई है। इस प्रश्न को उपाध्याय जी ने भी उठाया है। हमारे प्रबुद्ध पाठक पं. चमूपति जी का समाधान पढ़कर वाह! वाह!! करने लगेंगे। पाप का मुय कारण तो अहंकार व हीन भावना ही हैं। अमरीका के एक प्रयात डाक्टर ने तो आज के युग के भयानक रोगों यथा रक्तचाप, हृदय रोग व तनाव का कारण अहंकार व हीन भावों की विकृति को बताया है। आत्महत्या का घृणित पाप हीन भावना से ही मनुष्य करता है। पं. चमूपति जी की अघमर्षण मन्त्रों की व्याया का प्रचार यदि आन्दोलन का रूप ले ले तो विश्व का बहुत कल्याण हो। उपाध्याय जी ने भी अपनी पुस्तक सरल सन्ध्या विधि में लिखा है, ''जो पुरुष ब्रह्माण्ड में ईश्वर के अस्तित्व को अनुभव करता है वह पाप से बचा रहता है।''

यहाँ दोनों मनीषियों का चिन्तन एक जैसा है। वैदिक सन्ध्या में महर्षि दयानन्द जी ने वैदिक धर्म व दर्शन की अनूठी झांकी दी है। आज देश की गली-गली में गुरुडम वाले यह रागिनी सुना रहे हैं, 'भक्तों के वश में भगवान्' सन्ध्या मन्त्रों में आया है, 'विश्वस्य मिषतो वशी' अर्थात् सारा विश्व उस प्रभु के वश में है। 'अदीनः स्याम शरदः शतम्' की व्याया जो आचार्य पं. चमूपति जी ने की है, वह संसार के किसी भी वृद्ध मतावलबी को सुनाकर पूछिये क्या ऐसी प्रार्थना संसार की किसी पूजा पद्धति में है? सबका हृदय बुढापे में यही साक्षी देगा कि इस वैदिक सन्ध्या का मर्म व महत्ता एवं उपयोगिता कोई शदों में नहीं बता सकता।

– वेद सदन, अबोहर, पंजाब

गृहस्थाश्रम को स्वर्ग का साधन समझें – कन्हैयालाल आर्य

AUGUST 3, 2015 LEAVE A COMMENT

गृहस्थ और सुख? यह तो कुछ अनोाी बात है। इसमें इतने दुःख हैं कि आरभ से ही इसे दुःखों का घर समझा जाता है। आधुनिक काल में जबकि हमने अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को बहुत बढ़ा रखा है तो कुछ बात यथार्थ प्रतीत होने लगती है, परन्तु यदि गभीरता पूर्वक इस पर विचार किया जाये तो महर्षि मनु की यह बात सही है कि गृहस्थ आश्रम व्यवस्था की दृष्टि से ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ सिद्ध है।

गृहस्थाश्रम तो लोक और परलोक दोनों को सुधारने का एक माध्यम है। इस माध्यम को मानव ने अपने स्वार्थ, आलस्य, प्रमाद, अतिवासना तथा लोभ और मर्ाता से बिगाड़ रखा है। हम स्वयं ही जंजीरे गढ़ते हैं और अपने हाथ-पाँव में बाँध लेते हैं और फिर चिल्लाने लगते हैं कि हम बाँधे गये। गृहस्थाश्रम का तो इसलिए निर्माण किया गया ताकि लबी जीवन यात्रा में नर या नारी अकेला थक न जाये। लबी यात्रा में साथी साथ हो तो यात्रा सरल बन

जाती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार इन पाँचों को ठीक मर्यादा में रखने का सुन्दर साधन गृहस्थ है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जैसे आजीवन ब्रह्मचारी विरले ही होते हैं, उन्होंने भी गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ कहा है। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में बताया है कि-

1. यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।

तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।।

-मनु. **6/90**

जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं हो जाते। वैसे ही गृहस्थ के आश्रम में सब आश्रम स्थिर रहते हैं, बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता।

2. यथा वायुं समाश्रित्य, वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।

तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः।।

-मनु. **3/77**

जैसे वायु के आश्रय पर सब प्राणी हैं वैसे गृहस्थाश्रम सब आश्रमों का आश्रय दाता है।

3. यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।

गृहस्थेनैव धार्य्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही।

– मनु. **3/78**

जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देकर गृहस्थ ही धारण करता है इसीलिए गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है।

4. स संधार्य्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।

सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः।

– मनु. **3/76**

जो अक्षय, मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो, वह प्रयत्न से गृहाश्रम धारण करे। जो गृहाश्रम दुर्बल इन्द्रिय, भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने योग्य नहीं है, उसको अच्छे प्रकार धारण करे।

इसलिए जितना कुछ व्यवहार संसार में है, उसका आधार गृहाश्रम है, जो यह गृहस्थाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम कहाँ से हो सकते? जो कोई गृहस्थ आश्रम की निन्दा करता है, वही निन्दनीय है, जो प्रशंसा करता है, वह प्रशंसनीय है। परन्तु तभी गृहस्थाश्रम में सुख होता है, जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हो।

प्राचीन इतिहास बतलाता है कि ऋषि-मुनि गृहस्थाश्रम में रहकर सबका पथ प्रदर्शन करते थे और हमारे पूर्वज नारी जाति का अत्यधिक मान करते थे, तभी तो कहा हैः-

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।

जहाँ नारियों का समान होता है वहाँ देवता निवास करते हैं। महर्षि मनु ने तो यहाँ तक कह दिया है कि नारी ही घर की शोभा है, जहाँ गृहिणी नहीं, वह घर ही नहीं। जहाँ पति और पत्नी का एक दूसरे से प्यार है, वही घर स्वर्ग समान है। जहाँ पुत्र-पुत्रियाँ आज्ञाकारी हों, वही घर स्वर्ग समान हैं। स्वर्ग किसी ऊपर या नीचे के लोकों का नाम नहीं है, यदि इसी गृहस्थ में आप सुखी हैं तो आप इस जीवन काल में भी 'स्वर्गीय' अर्थात् सुखी बन सकते हैं। स्वर्गीय का अर्थ है- स्वर्ग में रहना, जहाँ प्रत्येक प्रकार का सुख, समृद्धि, सन्तोष हो, उसी का नाम स्वर्ग है और ऐसे स्वर्ग की प्राप्ति गृहस्थाश्रम के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है। इसलिए यह धारणा कि गृहस्थी सुखी नहीं हो सकता और गृहस्थ तो दुःखों का घर है, यह गलत है। गृहस्थ ही एक ऐसा आश्रम है जिसके माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और अन्ततः मोक्ष की प्राप्ति संभव है।

विवाह के समय वर-वधू का सात कदम एक साथ चलना भी इसी भाव का प्रतीक है। जहाँ अन्न शारीरिक बल, धन, सुख, सन्तान प्राप्ति, चारों तरफ की प्राकृतिक परिस्थिति का अनुकूल होना कहा है, वहाँ सातवाँ कदम रखते हुए वर कहता है-

ओ3म् सखे सप्तपदी भव विष्णुस्त्वा नयतु

पुत्रान् विन्दावहै, बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः

अर्थात् हम सदा साथ रहें, हममें मैत्री भाव रहे, तेरा मन मेरे मन के अनुकूल हो, हम दोनों मिलकर पुत्र-पुत्रियों को प्राप्त करें और वे वृद्धावस्था तक जीने वाले हों।

शास्त्रों में गृहस्थ को एक आश्रम कहा गया है। यह एक मंजिल है। मंजिल तक पहुँचने के लिए खड़े रहने से काम नहीं चलता, मंजिल की तरफ चलना पड़ता है। सप्तपदी का अभिप्राय यही होता है कि वर-वधु को इस बात की प्रतीति कराई जाती है कि गृहस्थाश्रम आराम से बैठे रहने का नाम नहीं है। इस आश्रम के कुछ उद्देश्य हैं, प्रयोजन हैं। इन प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए अलग-अलग नहीं, एक साथ चलना होगा, कदम से कदम मिलाकर चलना होगा, तभी वे इस आश्रम के उद्देश्य को पा सकेंगे। तभी तो ऋग्वेद में कहा है-

ओ3म् समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।

सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ।।

हम दोनों पति-पत्नी निश्चयपूर्वक तथा प्रसन्नतापूर्वक यह घोषणा करते हैं कि हम दोनों के हृदय जल के समान सदा शान्त रहें, जैसे प्राणवायु हमको प्रिय है, वैसे हम दोनों एक-दूसरे के साथ प्रसन्न रहेगें, जैसे धारण करने वाला परमात्मा सबमें मिला हुआ, सब जगत् को धारण करता है, वैसे हम दोनों एक-दूसरे को धारण करते रहेंगे।

गृह्यसूत्र में लिखा हैंः-

ओ3म् यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम्।

यदिदम् हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव।।

जो तेरा हृदय है, वह मेरा हृदय हो जाये और जो मेरा हृदय है, वह तेरा हृदय हो जाये।

ओ3म् मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।

मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्।

हमारा एक-दूसरे के साथ श्रेष्ठ व्यवहार हो। हमारा चित्त एक-दूसरे के अनुकूल हो। प्रजापति ने हमें एक-दूसरे के साथ नियुक्त किया है। हमें इसका सफल निर्वाह करना है।

विवाह का उद्देश्य तो जीवन के आदर्श को पूर्ण करने के लिए एक साधन मात्र है। जीवन का आदर्श, सब प्राणियों में अपनापन अनुभव करना है। इसलिए विवाह में पति-पत्नी में मित्रता, सखा-भाव जरुरी है, नहीं तो विवाह का प्रधान उद्देश्य पूरा नहीं होता।

स्त्री-पुरुष में तो प्रेम स्वाभाविक है, इसे सीखने के लिए किसी विद्यालय में नहीं जाना पड़ता। स्त्री तथा पुरुष के इसी स्वाभाविक प्रेम को प्राणिमात्र तक ले जाने का एक कठिन काम को आसान बनाने का प्रयत्न गृहस्थाश्रम द्वारा किया जाता है। इसी प्रेम का, मैत्री भाव का आगे विस्तार करना है। विवाह में यही प्रेम, सखा भाव ही एक ऐसा तत्व है जिसे संकुचित क्षेत्र से निकालकर हम विस्तृत क्षेत्र में विकसित करना चाहते हैं।

गृहस्थाश्रम में अपनेपन का केन्द्र अपने से हटकर दूसरों में जाना प्रारभ हो जाता है, स्वार्थ का अंश पर्दे की ओट में चला जाता है और उसकी जगह परार्थ का भाव सामने आने लगता है। अतः यह बड़ी जिमेदारी का आश्रम है।

आत्मा के अपने आदर्श लक्ष्य तक पहुँचने का उसके पूर्ण रूप में विक सित होने का यही उपाय है। ब्रह्मचर्यावस्था 'स्व' की उन्नति से प्रारभ होती है। इस आश्रम में 'स्व' या 'अपने' आपका उत्थान प्रमुख होता है, ब्रह्मचारी अपने इर्द-गिर्द ही घूमता है परन्तु जब वह अपने 'स्व' को दृढ बना चुका होता है, तब उसे अपनी आत्मा को अधिक विकसित करने को कहा जाता है तो वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम अपने तक सीमित होता है परन्तु गृहस्थ आश्रम अपने से हटकर सन्तानों तक विस्तृत होता ही है। वह पूरे समाज में अपने आपको विस्तृत कर देता है। गृहस्थाश्रम आत्मिक विकास की एक सीढ़ी है यह सभी आश्रमों का पालक, पोषक एवं सहयोगी है। तभी तो इस आश्रम को स्वर्ग प्राप्ति का माध्यम माना गया है। महर्षि मनु की स्पष्ट घोषणा है-

अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन् वेदशास्त्रवित्।

व्यपेत कल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते।।

(4.260)

अर्थात् – जो वेद शास्त्रों को पढ़ने वाला गृहस्थ शास्त्रोक्त कर्त्तव्यों का पालन करता है वह पाप रहित जीवन स्वर्ग अथवा मोक्ष के आनन्द को प्राप्त करता है।

– **4/44,** शिवाजी नगर, गुड़गाँव, हरियाणा

चलभाष-**09911197073**

स्तुता मया वरदा वेदमाता-12

JULY 31, 2015 LEAVE A COMMENT

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः

अन्योऽन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि।।

– अथर्व. 3/30/5

परमेश्वर कहता है मनुष्यों इस घर में रहने के लिए रहने वालों के हृदय विशाल होने चाहिए। मनुष्य का दिल बड़ा होने पर ही सबका उसमें समायोजन हो सकता है। मनुष्य शरीर से लबा-चौड़ा होने पर हृदय भी उसका विशाल हो यह अनिवार्य नहीं है। आकार प्रकार में छोटे लगने वाले मनुष्य का दिल बड़ा हो सकता है, बड़े शरीर का मन छोटा हो सकता है। मनुष्य को उसके पास विद्यमान सामग्री थोड़ी लगती है, तब उसका हृदय संकुचित होता है। उसे भय लगता है मेरी वस्तु समाप्त हो जायेगी। मैं दरिद्र या अभावग्रस्त हो जाऊँगा। मनुष्य संकुचित विचारों वाला होता है, तब स्वार्थी बन जाता है। उसका स्व का घेरा छोटा होता है। व्यक्ति का स्व जितना छोटा होगा, मनुष्य उतना ही अधिक अन्याय और पक्षपात करता है। जब वह अपने को केवल अपने तक सीमित करता है, तब वह अपने से अधिक नहीं सोच पाता। घर परिवार में रहता हुआ भी व्यक्ति केवल अपनी चिन्ता करता है, अपने परिवार के अन्य सदस्यों के विषय में नहीं सोचता। मनुष्य स्वार्थी होता है, तो वह अपनी वस्तुओं का उपयोग केवल स्वयं करता है। ऐसे में एक मानसिकता ऐसे लोगों में देखी जाती है। वह अकेले ही भोजन करता है। वह दूसरे से भयभीत होकर औरों से छिपकर भोजन करना पसन्द करते हैं। साधनों का अपने लिये ही संग्रह करता है। मनुष्य अपने संस्कारों से व्यवहार करता है। यह संस्कार उसके पहले विचारों का परिणाम होता है। इन संस्कारों को श्रेष्ठ बनाकर सुधारा जा सकता है। यह विद्या व ज्ञान के प्राप्त करने से किया जाता है। इसके साथ उदार लोगों के संसर्ग से साधु-सन्तों के उपदेश से चित्त के संस्कारों में अन्तर लाया जा सकता है। मनुष्य के मन में विचारों की उदारता से ही मनुष्य सबको साथ लेकर चल सकता है। सब मनुष्य एक से नहीं होते हैं। सब अच्छे नहीं होते तो सब बुरे नहीं होते। मनुष्य के अन्दर अच्छा बुरा बनने की अपार सभावना होती है। अतः मनुष्य को बुराई से बचाकर अच्छाई की ओर ले

जाने का प्रयत्न करना चाहिए, इसका उपाय है जो अपने से कम है उसको साथ लेकर चलना इसके लिए मनुष्य को सहनशील होना पड़ता है। अपनी वस्तु उनको बांटनी पड़ती है, जिनके पास नहीं है। जो अभाव-ग्रस्त है, उसकी सेवा सहायता करना, हमारे द्वारा तभी सभव है जब हमारा हृदय विशाल हो।

मनुष्य के विस्तार की सीमा उसके विचारों के साथ घटती बढ़ती है। एक मनुष्य जो केवल अपने लिए सोचता था, उससे वह बड़ा है, जो अपने परिवार के लिए सोचता है। परिवार में कोई पति-पत्नी बच्चे को ही अपना परिवार समझता है, तो दूसरा माता-पिता को भी समिलित करता है। तीसरा अपने माता-पिता जी अपने भाई-बहन, उनके परिवार सगे सबन्धियों को भी अपने परिवार में मानता है। इसमें कितने बड़े रूप में अपने परिवार को स्वीकार करना चाहिए। उसका एक ही नियम है, विचारों की द्`िष्टि से सभी मनुष्य और प्राणिमात्र मनुष्य के परिवार में आते हैं। साधनों के विचार से जितने अधिक साधन जिसके पास है, वह अपने परिवार को उतना विस्तार दे सकता है, उतना बड़ा बना सकता है। कम साधन होने पर परिवार के कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व के साथ निश्चित होते हैं, परिवार में सदस्यों की आवश्यकता और साधनों की प्राप्ति और उनके वितरण में मनुष्य के हृदय की विशालता का पता चलता है। संकुचित हृदय बहुत साधन होने पर भी देने में भरोसा नहीं करता। विशाल हृदय कम साधन होने पर भी वितरण में कष्ट अनुभव नहीं करता। हृदय की विशालता का अभिप्राय अपना सब कुछ सब में बांट देना नहीं है। अपने परिवार के लिए साधन जुटाना अपने बच्चों को पढ़ाना-लिखाना व्यक्ति का कर्त्तव्य है। उनको छोड़कर अन्य को पढ़ाना ये हृदय की विशालता नहीं है। अपनों के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए भी दूसरे का सहयोग करना, न कर पाने की स्थिति में सहयोग की भावना रखना, हृदय की विशालता का परिचायक है। सहयोग, सहानुभूति, समर्थन मनुष्य के विशाल हृदय का परिचायक है।

मन्त्र में परिवार को साथ लेकर चलने के लिये सन्देश दिया है। उपाय बताया है ज्यायस्व अन्तश्चित्तिनो बनना है। ज्यायस्व बनने का अर्थ है- समर्थ बनना। समर्थ कैसे बन सकते हैं, उसके लिए वेद कहता है- अन्तश्चित्तिनः बनना होगा। बड़े बनने का उपाय है, चित्त को अन्दर से विकसित करना है। चित्त को अन्दर से विकसित करने का उपाय चित्त को विद्या से युक्त करना, चित्त को सज्ञान करना-कराना। सामान्य प्रकृति के प्राणी में संकोच, स्वार्थ संकीर्णता होती है, विद्या, शास्त्र अध्ययन, उपदेश से ही इस संकीर्णता को स्वार्थ को दूर किया जा सकता है, इसीलिए वेद ने कहा परिवार में समझ को विकसित करके मनुष्य को हृदय बड़ा करना होगा, कहा गया है-

ज्यायस्वान्ताश्चित्तिनो।।

सूर्य नमस्कारः सर्वोत्तम व्यायाम भी, धर्म भी : डॉ धर्मवीर

JULY 31, 2015 1 COMMENT

प्रधानमन्त्री मोदी के प्रयासों से इक्कीस जून का दिन योग दिवस के रूप में मनाने की घोषणा हुई। कुछ लोगों को क्योंकि मोदी के नाम से ही चिढ़ है, अतः मोदी का नाम आते ही

उनका मुंह कड़वा हो जाता है। फिर योग दिवस का सबन्ध मोदी के नाम से जुड़ गया तो योग भी उनके लिए कड़वा हो गया और वे थूकने के लिये मजबूर हैं। ऐसे लोगों का कहना है कि योग हिन्दुओं का है। योग साप्रदायिक है। सूर्य नमस्कार नहीं करेंगे क्योंकि मुसलमान खुदा के अतिरिक्त किसी के सामने सिर नहीं झुकाता। उनको .... और स्पष्टीकरण देने वालों की भी कमी नहीं। लोग कहते हैं योग धार्मिक नहीं। सूर्य नमस्कार व्यायाम है, धर्म नहीं। ये बेचारे जानते नहीं कि हमारे सब किये जाने वाले काम धर्म ही होते हैं। जिस-जिस बात को हम धर्म मानते हैं, क्या ईसाई और मुसलमान उनको करना छोड़ देंगे या उनको मानना छोड़ देंगे? हम सत्य बोलना धर्म समझते हैं, आप सत्य बोलना-छोड़ना पसन्द करेंगे या झूठ बोलना स्वीकार करना चाहेंगे? हमारे यहाँ कौन-सा भला काम है जिसकी धर्म में गणना नहीं की गई। हमारे यहाँ माता-पिता की, गुरुजनों की, पीड़ितों की, असमर्थों की सेवा और रक्षा करना धर्म है। इनसे पूछो, ये क्या अपने बड़ों को, महापुरुषों को, देवी-देवताओं को, भगवानों को जूते मारने का विधान करेंगे। हमारे यहाँ जीवन की हर क्रिया श्रेष्ठ रूप में की जा सके, अतः धर्म के साथ जोड़ा गया है, फिर तो आपको हमारा धर्म स्वीकार करना पड़ेगा या मृत्यु को अपनाना पड़ेगा। इच्छा आपकी है, आप कौन सा विकल्प स्वीकार करेंगे? अतः यह तर्क कि योग, सूर्य नमस्कार, व्यायाम करना हिन्दू धर्म है, अतः हम ऐसा नहीं करेंगे। हमारे यहाँ जीना धर्म है, तो क्या आप मरोगे। यह सब आपकी अज्ञानता और राजनीतिक धूर्तता है।

सूर्य नमस्कार एक सर्वांगीण व्यायाम है। इससे न केवल शरीर स्वस्थ होता है अपितु मानसिक, बौद्धिक विकास भी होता है। पशु-पक्षी और प्राणी, जो वनों में स्वतन्त्रता से विचरते हैं, उन्हें भोजन और सुरक्षा के लिए बहुत परिश्रम करना पड़ता है, अतः पृथक् से व्यायाम की आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य बहुत कम परिश्रम से या बिना परिश्रम के ही भोजन सामग्री और सुविधायें प्राप्त कर लेता है। अतः उसका परिश्रम भी कम हो गया। परिश्रम कम होने से शरीर की क्रियायें प्रभावित होती हैं। इससे मनुष्य का जीवन चक्र प्रभावित होता है। उसका शरीर रोग, दुर्बलतादि से प्रभावित होने लगता है। जैसे व्यय और संचय में सन्तुलन बिगड़ जाये या प्राप्ति अधिक हो जाये तो संग्रह बढ़ता जाता है, उसकी प्रकार मनुष्य बिना श्रम के भोजन करता रहता है तो मनुष्य के शरीर में भोजन का संग्रह होने लगता है। शरीर में चर्बी जमा होने लगती है। अधिक खाने से पाचन तन्त्र पर अधिक भार पड़ने से वह बिगड़ने लगता है, मनुष्य रोगी हो जाता है, उसके अन्दर आलस्य, प्रमाद के कारण शिथिलता आती है। जीवन रोगयुक्त भार बन कर दुःख का कारण बन जाता है। जीवन व्यर्थ लगने लगता है। अतः आज की परिस्थिति में शुद्ध अन्न, जल, हवा की आवश्यकता है, उसी प्रकार व्यायाम के द्वारा शरीर सक्रिय व स्वस्थ रखने की आवश्यकता है।

इस तथ्य को ध्यान में रखकर विद्यालयों-महाविद्यालयों में छात्रों के लिये व्यायाम और खेलों की व्यवस्था की जाती है। ये व्यायाम और खेल बहुत साधन, स्थान और समय माँगते हैं। ये सब उपाय समाज में सबको सुलभ नहीं होते, अतः शरीर को स्वस्थ रखने के लिए ऐसा विकल्प चाहिए जो सबको सदा सभी स्थानों पर सुलभ हो। सूर्य नमस्कार इस प्रकार का व्यायाम है, जो सबके लिए सब स्थानों पर सुलभ है। अन्य व्यायाम जैसे कोई खेल खेलने के लिए मैदान या खेल के स्थान की आवश्यकता होती है। कुश्ती के लिए साथी और अखाड़े की जरूरत होती है। तैरने के लिए तालाब, पानी की आवश्यकता होती है। दण्ड-बैठक करने के लिए एकान्त स्थान या व्यायामशाला की सुविधा अपेक्षित है। घूमने के लिए शुद्ध हवा का लबा-चौड़ा स्थान चाहिए। क्रिकेट, फुटबाल, हॉकी, कबड्डी आदि सभी खेलों की सुविधा सबको

प्राप्त नहीं होती। ये सभी व्यायाम शरीर की मांसपेशियों को पुष्ट करते हैं, शरीर को बलवान बनाते हैं परन्तु आन्तरिक भाग पर बहुत प्रभावशाली नहीं होते।

सूर्य नमस्कार इन सब प्रश्नों का एक मात्र समाधान है। व्यायाम करने से शरीर के विशेष अंगों पर प्रभाव पड़ता है, वहाँ सूर्य नमस्कार करने से पाँच संस्थान पर पूरा प्रभाव पड़ता है, आँतें-यकृत-प्लीहा (जिगर, तिल्ली) आदि। इनसे अग्निमान्ध, अजीर्ण, मलावरोध आदि उदर रोग के निवारण में सहायता मिलती है। सूर्य नमस्कार में श्वास-प्रश्वास की विशेष क्रिया होती है जिससे हृदय तथा फेफड़ों का व्यायाम होता है तथा खाँसी, दमा जैसे रोगों में लाभ होता है। इसके अतिरिक्त नाड़ी संस्थान, कमर, रीड की हड्डी का भी व्यायाम सूर्य नमस्कार करने से ठीक हो जाता है। इस प्रकार सभी देशी-विदेशी व्यायामों में सूर्य नमस्कार सबसे श्रेष्ठ व्यायाम है। यह व्यायाम बालक-वृद्ध-युवा-स्त्री सभी वर्ग के व्यक्तियों को करना सभव है। सभी को इससे लाभ प्राप्त होता है। आयु और सामर्थ्य के अनुसार इसे कम अधिक कर सकते हैं। इसे कहीं भी, किसी भी आयु का व्यक्ति प्रारभ कर सकता है और आजीवन इसे करता रह सकता है।

सूर्य नमस्कार में नमस्कार शद का ग्रहण इसलिये किया गया है क्योंकि इस आसन को करते हुए साष्टांग नमस्कार की मुद्रा बनती है। अष्टांग नमस्कार में मस्तक, छाती, दो हाथ, दो घुटने, दो पैर, इनके साथ दृष्टि, वाणी, मन भी इसी क्रिया में लगे होते हैं। इस नमस्कार मुद्रा को सूर्योदय के समय किया जाता है, इसलिये इसे सूर्य नमस्कार कहते हैं। इस आसन को सूर्योदय के समय करने से इस व्यायाम का समय निश्चित होता है तथा सूर्य की रश्मियों का लाभ व्यायामकर्त्ता को मिलता है। आजकल की जीवन पद्धति में नगरों में कार्य करने वाले और भीड़ भरे मकानों में रहने वाले और वातानुकूलित कक्षों में दिन का अधिक समय बिताने वाले लोग सूर्य के प्रकाश से वञ्चित हो जाते हैं। सूर्य के प्रकाश के सेवन के अभाव से चिकित्सकों का मानना है कि मनुष्य के शरीर में विटामिन डी की कमी हो जाती है, अतः प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन सूर्य की धूप का सेवन करना चाहिए। सूर्य नमस्कार करने से उदय होते हुए सूर्य की किरणें सूर्य नमस्कार करने वाले को सहज मिलती हैं। जिससे अतिरिक्त स्वास्थ्य लाभ होता है। भारतीय जीवन शैली में जिन वस्तुओं का मनुष्य उपयोग करता है, उनके प्रति समान प्रकाशन के लिए देवता का भाव दिया जाता है। इसलिये सूर्य को देव कहकर सूर्य के बारह नामों का उपयोग करके बारह बार उसका उच्चारण करते हैं। वेद के सूर्य विषयक मन्त्र के छोटे-छोटे खण्ड कर, उनके प्रारभ में ओम तथा अन्त में नमः जोड़कर मन्त्र बनाया गया है। ऐसा करने से एक कार्य उपासना में बदल जाता है। व्यायाम उपासना बन जाती है। किसी को मन्त्र से चिड़ है तो वह यह व्यायाम बिना मन्त्र के कर सकता है। इसमें आग्रह-दुराग्रह की कोई बात नहीं है।

सूर्य नमस्कार करने की पद्धति है, व्यक्ति को प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व व्यक्ति को हल्के, ढ़ीले कपड़े पहनने चाहिए, खाली पेट, सामान्य दिनचर्या के कार्य करके सूर्य नमस्कार की क्रिया करनी चाहिए। इस सूर्य नमस्कार में पहली स्थिति अवस्थान है, इस पहली मुद्रा में पहली स्थिति बनती है। दूसरी स्थिति जानु आसन, जिसमें सिर घुटनों पर लगता है। तीसरे आसन में दोनों हाथ आगे रखकर दृष्टि ऊपर होती है, इसे ऊर्ध्वेक्षण कहते हैं। चौथी स्थिति में पूरे शरीर का हाथ पैर पर सन्तुलन बनाया जाता है, इसे तुलितवपु आसन कहते हैं। पाँचवी स्थिति साष्टांग दण्डवत् की स्थिति होती है। छठे आसन में हाथों पर सिर ऊपरकर कमर को

मोड़कर पीछे की ओर देखने का प्रयत्न होता है। कशेरूका संकोच का आसन है। सातवां आसन हाथ पैर के आधार पर ऊपर उठने से और सामने झुकने से रीढ की हड्डी के जोड़ खुलते हैं।

आठवें आसन के रूप में दोनों हाथों के मध्य पैर को लाकर ऊपर की ओर देखना पुनः ऊर्ध्वेक्षण है। नौवें आसन के रूप में खड़े होकर फिर जानु आसन की स्थिति बनती है। इसमें हथेलियाँ भूमि पर और सिर घुटनों पर होता है। दसवीं स्थिति पुनः हाथ जोड़ कर अंगूठे, हृदय के साथ लगाते हुए नमस्कार की मुद्रा बनती है। इन आसनों का एक चक्र एक सूर्य नमस्कार होता है।

इस प्रकार इन आसनों के करने से गर्दन, छाती, कमर, पैर, पेट, जांघे, पिण्डलियाँ, स्नायु, पाचन तन्त्र, पीठ, गला, गर्दन, यकृत, तिल्ली, फेफड़े, पृष्ठवंश, आदि मजबूत होते हैं। सूर्य नमस्कार करने से इच्छा शक्ति दृढ़ होती है, मनोबल बढ़ता है। दृष्टि शक्ति बढ़ती है। मन्त्रपाठ से वाणी की शक्ति बढ़ती है। इस प्रकार सूर्य नमस्कार एक सर्वांगीण व्यायाम है। सूर्य नमस्कार श्वास-प्रश्वास के साथ किया जाता है, इस तरह व्यायाम के साथ इसमें प्राणायाम की क्रिया भी होती है। पहले आसन में श्वास के अन्दर लेने से पूरक, दूसरे में रोककर रखने से कुभक होता है। तीसरे आसन में पूरक, कुभक तथा चौथे आसन में कुभक, फिर पाँचवें आसन में कुभक और रेचक प्राणायाम होता है। छठे आसन में फिर पूरक कुभक, सातवें में कुभक, आठवें में कुभक, नवम में कुभक के साथ एक किया जाता है। इस प्रकार पूरे सूर्य नमस्कार आसनों के साथ प्राणायाम की क्रिया जुडी होने से इसका लाभ अनेक गुणा बढ़ जाता है। सूर्य नमस्कार से जितना लाभ होता है, उतना लाभ किसी अन्य व्यायाम से नहीं होता।

भारतीय परपरा में एक अद्भुत विशेषता है, सामान्य से लगने वाले कामों से महत्त्वपूर्ण बातों का स्मरण करना तथा बड़े-बड़े लाभ के कामों को सिद्ध करना। इसलिये सूर्य नमस्कार में आसनों को सूर्य से जोड़ा है, सूर्य संसार का सबसे प्रथम और विशाल ऊर्जा का समुद्र है। मानव एवं प्राणी जगत् वनस्पतियों से ऊर्जा प्राप्त करता है और आज का वैज्ञानिक जानता है, सभी वनस्पति जगत् सूर्य से ऊर्जा प्राप्त करता है। सभी प्राणी वनस्पतियों को खाकर ऊर्जावान् बनते हैं। अतः मनुष्यों को भी सूर्य से ऊर्जा लेनी चाहिए। इसी उद्देश्य से सूर्य की रचना की गई है। वैदिक साहित्य में सूर्य को औषधियों का राजा कहा गया है। विदेशी लोगों को सूर्य का पर्याप्त प्रकाश नहीं मिलता, वे सूर्य स्नान की योजना करते हैं। सूर्य का प्रकाश न मिलने से वनस्पतियाँ पीली पड़कर नष्ट हो जाती है। मनुष्य भी सूर्य के प्रकाश के अभाव में निस्तेज होता है। सूर्य के प्रकाश और गर्मी के न मिलने से मनुष्य के शरीर से पसीना नहीं निकलता, शरीर के छिद्र न खुलने से शरीर को पर्याप्त प्राण वायु नहीं मिल सकता। इसलिए मनुष्य को अपने दैनिक जीवन में सूर्य के प्रकाश का सेवन करना चाहिए तथा व्यायाम करके शरीर की त्वचा को प्राणवायु प्राप्त करने में सक्षम बनाना चाहिए। जो पशु, गाय आदि सूर्य के प्रकाश में विचरण करते हैं, घास खाते हैं, उनके शरीर में सूर्य-किरणों के प्रभाव से उनके दूध में स्वर्ण का प्रभाव उत्पन्न होता है। मनुष्यों को भी प्रातः-सायं खुले शरीर से सूर्य के प्रकाश में भ्रमण करना चाहिए। सूर्य से लाभ प्राप्त करने के लिये ये पद्धति बनाई गई है, उसमें मूर्ति पूजा या जड़ पूजा की भावना करना नितान्त अज्ञान है। इस व्यायाम से स्वास्थ्य की वृद्धि होती है, रोगों का निवारण होता है और सब व्यायामों में बहुत धन व्यय होता है परन्तु सूर्य नमस्कार एक ऐसा व्यायाम है जिसमें एक पैसा भी खर्च नहीं होता। इसे धनी-निर्धन सभी स्वेच्छा पूर्वक कर सकते हैं। सूर्य नमस्कार करने वाला कभी रोगी नहीं हो सकता, जिन लोगों ने सूर्य

नमस्कार का अयास किया है, उन लोगों का अनुभव है, इसके करने से पीठ और कमर के दर्द से छुटकारा मिलता है। पेट के कष्ट नहीं होते, महिलाओं को भी उनके रोगों में अत्यन्त लाभ मिलता है। बालक इस व्यायाम को करते हैं तो उनके बल, बुद्धि के साथ, उनके शरीर की लबाई भी आश्चर्यजनक रूप से बढ़ती देखी गई है। सूर्य नमस्कार का विरोध धार्मिक स्तर पर अज्ञानमूलक है और राजनीतिक स्तर पर एक धूर्तता पूर्ण कार्य है। इसके विरोध से राष्ट्र की स्वास्थ्य रूपी सपत्ति का नाश होगा, अतः इसे बिलकुल मान्यता नहीं देनी चाहिए। शरीर के स्वस्थ रखने का मूलमन्त्र है- भोजन, विश्राम और संयम अर्थात् उचित मात्रा में सात्विक भोजन समय पर करना, यथा समय सोना, जागना और व्यायाम, संयम करना। अतः आचार्य चरक ने ठीक ही कहा है-

आहारो निद्रा ब्रह्मचर्यम् त्रय उपस्तभा शरीरस्य।

– धर्मवीर

अज्ञान से ज्ञान की ओर – आचार्य शिवकुमार आर्य

JULY 30, 2015 LEAVE A COMMENT

जो एकत्व भाव से सभी को देखता है, उसको मोह तथा शोक नहीं होता है-

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः।।

यजु. 40-7

पदार्थ – (यस्मिन्) जिसमें-जिसके हृदय में। (सर्वाणि भूतानि) सभी प्राणी (आत्मा एव) आत्मा ही (अभूत) हैं (विजानतः) जानते हैं (तत्र) उसके हृदय में (कः मोहः) कैसा मोह (कः शोकः) कैसा शोक (एकत्वम्) एकता को (अनुपश्यतः) देखने वाले को।

अर्थ- जो सभी प्राणियों को आत्मा ही समझकर सब में एक जैसा अनुभव करता है, ऐसे व्यक्ति को कभी कोई मोह तथा शोक नहीं होता है। इन दोनों मन्त्रों में एक क्रम का वर्णन किया हैं। मनुष्य और अन्य प्राणियों में तीन प्रकार के रोग होते हैं। पहले का नाम है विचिकित्सा, दूसरे का नाम है मोह और तीसरे का नाम शोक है, परन्तु इन सभी दुःख निकायों का एक ही उपाय या समाधान है, जिसे कहते हैं समत्व। समत्व को व्यवहार के स्तर लाने के लिए प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार तथा यथायोग्य सभी के साथ व्यवहार करना चाहिए।

इन तीन प्रकार की व्यावहारिक भूलों के कारण मनुष्यों को अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसी प्रकरण को योग शास्त्र में बड़े अच्छे प्रकार से स्पष्ट किया है-

''मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां-

सुख-दुःख पुण्यापुण्यविषयाणाम् भावनातश्चित्तः प्रसादनम्''

– योग. द. समाधिपाद-33

इस योगदर्शन के सूत्र में चित्त को प्रसन्न करने के चार उपाय बताये हैं। सुखी जनों को देखकर या मिलकर प्रसन्न होना तथा दीन-दुखियों को देखकर करुणा के भाव रखना चाहिये और इनको सहयोग प्रदान करना चाहिए। इसी प्रकार से सज्जन मनुष्य या पुण्यात्माओं में मुदिता (हर्ष) के भाव रखने चाहिये। चौथा है अपुण्यात्मा, अर्थात् दुष्ट, अधर्मी। उसके प्रति सज्जन जनों को सदैव उपेक्षा के भाव रखने चाहिये, क्योंकि दुष्ट व्यक्ति से दोस्ती तथा दुश्मनी-दोनों ही दुःखदायी होती हैं। इसी प्रकार से जो प्रतिपाद्य विषय है, उसमें एकता के स्थान पर अनेकता आती है, क्योंकि भिन्न-भिन्न वस्तु व व्यक्ति के स्वभाव अथवा गुणों को देखकर उसी प्रकार की वृत्ति बदलती है, तभी मानव सुखी व प्रसन्न चित्त रह सकता है, जब वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप को देखे। सभी को सम दृष्टि से देखना तो सदैव अशान्ति का कारण होगा। वस्तुतः वेदमन्त्र प्रतिपादित ''एकत्व'' किसी अन्य बात को ही कह रहा है। जिस एकत्व के भाव से लोग मोह, शोकादि सभी अन्तर विकारों से शान्त या संयत हो जाते हैं, वह एकत्व क्या है? यह सर्वाधिक विचारणीय बिन्दु है। जो भौतिकवाद तथा आध्यात्मवाद के विषय को समता में लाने तथा अनेकता में ही एकता को स्थिर करने का नाम एकत्व या समत्व है। जैसे एक सन्तरे के फल में विभिन्न प्रकार के तत्त्व अथवा रसों के होने पर भी समत्व है, इसी प्रकार अन्य पदार्थों में अनेकता में एकता है। मानव शरीर में दस इन्द्रियाँ तथा चार अन्तःकरण हैं। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार ये सभी मिलकर आत्मिक शान्ति को एक रूप में प्रकट करते हैं। मन तथा इन्द्रियों की अनेक क्रियाएँ एक ही सुखानुाूति को जन्म देती हैं तथा भिन्न-भिन्न, क्षणिक सुख बड़े सुखों में परिणित हो जाते हैं। इसी तरह समस्त जीवन के कर्म एक फल में समाहित हो जाते हैं। आत्मवत्- जो देखने का दृष्टिकोण है, वह यह नहीं कहता कि अच्छी-बुरी वस्तु या व्यक्ति को यथार्थ में मत देखो। आत्मवत् दर्शन का अभिप्राय है कि सभी जड़-चेतन व आत्मा-परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जानो तथा जानकर विषमता को हटाकर समता स्थापित करो। भिन्न-ािन्न पदार्थों का अपना-अपना एकत्व या समत्व है। उसी प्रकार से स्वयं आत्म तत्त्व की भी समसन्तुलन व एक अवस्था है। जो पदार्थ अपनी सच्ची शन्ति को भंग न कर सके और उस वस्तु के क्षणिक संसर्ग सुख के वशीभूत न हों, वह यथार्थ में एकत्व का स्वरूप है। समत्व को लाने के लिए इस आत्मा को न जाने कितने जन्म धारण करने पड़ेंगे। क्योंकि भौतिक वस्तुओं में तो सदैव एकत्व व समानता होती ही नहीं है, क्योंकि इन पदार्थों में एक रूपता सदैव रहती ही नहीं। ये सर्वदा बदलते रहते हैं। जैसे-शीत काल में वायु शीतल अनुभव होती है, परन्तु वही वायु ग्रीष्म ऋतु में गर्म प्रतीत होती है। जैसे व्यवहार में अभी एक व्यक्ति हमारा मित्र है, किन्तु वही व्यक्ति कुछ काल बाद हमारा दुश्मन बन जाता है। जिस भोजन से हमें जीवन मिल रहा है, वही भोजन अब विषम हो गया है और नाना प्रकार के रोग उत्पन्न कर रहा है। इस पंचभौतिक शरीर को कितने प्रयत्नों से पाला-पोषा था, किन्तु अब तो इसने जीवन जीने से स्पष्ट मना कर दिया। जो सभी सांसारिक सुखों का अधिकरण था, वही अंग-प्रत्यंग से शिथिल हो चुका है। वह अब नवीनीकरण चाहता है। वह सभी सुखों के स्थान पर दुःख देना प्रारभ कर देता है, अतः ध्यान देने योग्य बात यह है कि सुख-दुःख तथा शान्ति-अशान्ति कोई वस्तुनिष्ठ नहीं है। इनमें तो एकान्तिक नियम स्थापित किया ही नहीं जा सकता है, जिसके लिए वेद में उपदेश दिया जा रहा है। वस्तुतः कोई संशय तथा रोग व्यर्थ नहीं है, किन्तु उनका जो उत्पन्न होना है, उसका समुचित उपाय करना आवश्यक है। इसके आगे एक और समस्या है, उसे मोह कहते हैं। मोह और प्रेम के अन्तर को जानना भी बहुत जरूरी है, क्योंकि

इनके मौलिक भेद को जाने बिना सन्देह दूर नहीं हो सकता है, प्रायः मोह के दीवाने लोग प्रेम को अन्यत्र स्थानों पर घसीटते हैं और मोह पिपासा को तृप्त करते हैं, किन्तु सच्चे प्रेम के अभाव में सच्ची शन्ति नहीं मिलती है। आधुनिक कवियों ने मोहमयी वासनाओं को प्रेम के रूप में प्रस्तुत किया है। यह सच्चे प्रेम के साथ घोर अन्याय है। मोह तथा प्रेम में मौलिक अन्तर है, प्रेम निःस्वार्थ विवेकपूर्वक होता है, किन्तु मोह किसी विशेष स्वार्थयुक्त तथा विवेकशून्य होता है। ''मुह-वैचित्ये'' इस धातु से मोह शद सिद्ध होता है। इसका अर्थ है चित्त का विचलित होना या विभ्रम होना। इसी प्रकार ''प्रीञ्-तर्पणे'' धातु से प्रेम शद सिद्ध होता है, जिसका अर्थ होगा- तृप्ति, तो इन दोनों शदों के पृथक्-पृथक् अर्थ हैं। जिसमें क्षणिक सुख है अपितु दुःख अधिक है, उसे मोह कहते हैं। दूसरा है प्रेम, जो स्थायी सुख तथा समत्व का कारण है। क्योंकि मोह का उत्पत्ति स्थान स्नेह है। शास्त्र कहता है कि ''नास्ति मोहसमासवः'' -महाभारत, अर्थात् मोह के समान कोईाी मादक द्रव्य नहीं है। जैसे अहंकार का मनुष्य के ऊपर प्रकोप होता है, तब वह विवेक शून्य हो जाता है, उसी प्रकार जब मनुष्य के ऊपर मोह का आक्रमण होता है, तब भी वह मोहान्धकार में अन्धा हो जाता है। एक माँ अपने अबोध बच्चे के दोषों को छिपाती है, क्यों? जिससे उसका पिता उसे दण्ड न दे सके। यह उस माँ का मोह संयुक्त अज्ञान है। उसी मोह के साथ अन्य दोष भी जुड़ जाते हैं। धृतराष्ट्र का अपने पुत्रों के प्रति अत्यन्त मोह था। जिससे वह सत्यासत्य का निर्णय न कर सका और एकीषण युद्ध का कारण बना। ''मोहः पापीयान्'' की उक्ति यहाँ सार्थक सिद्ध होती है। इस मोह की कई प्रकार की शाखाप्रशाखायें होती हैं। जैसे माता-पिता, पति-पत्नी भाई-बहन, पुत्र, पौत्र, धन, धान्य तथा भवन-भोजनादि। इसके अतिरिक्त शरीर तथा प्राणों का मोह अतीव प्रगाढ़ होता है। जिस शरीर में आत्मा ने लबे समय तक वास किया है, उसके प्रति अब अत्यधिक मोह जाग्रत हो जाता है, जबकि जिसका संयोग हुआ है, उसका वियोग भी अवश्यंभावी है, क्योंकि-

जरा मृत्यु हि भूतानां खादितारौ वृकाविव।

बलिनां दुर्बलानाञ्च ह्रस्वानां महतामपि।।

ये बुढ़ापा तथा मृत्युरूपी दो भेड़िये हैं, जो निरन्तर मानव शरीरों को खाये जा रहे हैं। बलवान, दुर्बल या छोटा-बड़ा कोई भी हो, सभी को ये खाने वाले हैं। मनुष्य की अति आसक्ति प्रायः पदलिप्सा होती है, जिसे शास्त्रों में लोकेषणा के रूप में उद्धृत किया है। मोह के लघु बन्धनों को छोड़ने के बाद यह लोक प्रतिष्ठा का मोह बाँध ही लेता है, जिससे बड़े-बड़े त्यागी तपस्वी लोग भी नहीं बच पाते हैं। विषय को विषाद करने के लिए एक कवि ने रूपक अलंकार के रूप में एक सुन्दर आयान दिया है। वह यहाँ प्रस्तुत है- आत्मा जब इस शरीर में आती है, तभी से पति-पत्नी सन्तान, चलाचल सपत्ति और पद के मोह में फँस जाता हैं उसकी स्थिति एक भँवरे के समान होती है, जो एक कमल की सुगन्ध के सुगन्घि पर मुग्ध हो जाता है और उसी फूल में अपना आवास बना लेता है। प्रतिदिन के गमनागमन की परेशानी को दूर करने के लिए उस फूल में बैठ जाता है, किन्तु रात्रि के समय पुष्प पराग के अन्दर बैठकर यहविचार करता है कि-

रात्रिगमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्।

भास्वानुदिष्यति हसिष्यति पंकज श्रीः।।

इत्थं विचिन्तयति शोकगते द्विरेफे।

हा हन्त, हन्त! नलिनीं गज उज्जहार।।

अर्थात् वह मनोरथ करता है कि रात्रि बीतेगी और सुन्दर प्रभात होगा, सूर्य उदित होगा, कमल खिलेंगे लेकिन उस भँवरे के मनोरथ पर जो तुषारापात हुआ, वह अत्यन्त दुःख भरा था। रात्रि के समय वहाँ एक जंगली हाथी आया और उसने जल पीकर जो उत्पात किया वह शदों में कहना कठिन है। उस मदान्ध गज ने सरोवर स्थित उस कमल वन को कुचल डाला और उन्हीं जिस कमल पुष्प में भौंरा बैठा हुआ था, वह भी कुचला गया। अतः इस मानव की दशा वैसी ही होती है, जैसे कि उस मूर्ख भौंरे की हुई। इसीलिए मोह के स्वार्थ रूपी अन्धकार से निकलकर 'प्रेम' प्रकाश में आना चाहिये, जिससे संसार के बन्धन छूट सकें। इति।

-महर्षि कपिल आर्ष गुरुकुल (वैदिक आश्रम), कोलायत, बीकानेर, राज. चलभाष- **9413144029, 9166323384**

वेदो का विज्ञानं मानवमात्र के लिए

JULY 28, 2015 1 COMMENT

।। ओ३म ।।

अयं त इध्म आत्मा जातवेदः।

"हे अग्ने ! तेरे लिए सबसे पहला ईंधन "अयं आत्मा" – अर्थात यह यजमान – स्वयं है।"

वेदो का विज्ञानं मानवमात्र के लिए :

क्षयरोग (TB – Tuberculosis) से बचाव और उपचार करता है यज्ञ।

सूर्य का प्रकाश मनुष्य के लिए वैसे भी लाभदायक है। इससे शरीर में विटामिन डी बनता है, जिससे हड्डियां पुष्ट होती हैं। उदय और अस्त होने वाले सूर्य की किरणे तो और भी अधिक गुणकारी होती हैं।

उद्यन्नादित्यः क्रिमिहन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः।
ये अन्तः क्रिमयो गवि।।

(अथर्ववेद २।३२।१)

"उदय होता हुआ और अस्त होने वाला सूर्य अपनी किरणों से भूमि और शरीर में रहने वाले रोगजनक कीटो का नाश करता है।"

सूर्य का प्रकाश कृमिनाशक है। रोबर्ट काउच ने सन १८९० में अनेको प्रयोगो द्वारा यह सिद्ध किया की क्षयरोग (फेफड़ो के क्षयरोग को छोड़कर) के कीटाणु इस प्रकाश में दस मिनट से

अधिक समय तक जीवित जीवित नहीं रह सकते। इसलिए क्षयरोग से ग्रस्त व्यक्ति को धुप सेकनी चाहिए।

संभवतः जनसाधारण में इसको यह कहकर मान्यता प्रदान की जाती है की अँधेरे में क्षयरोग फूलता फलता है तथा प्रकाश में यह दम दबाकर भाग जाता है।

अतः यज्ञ के लिए सूर्योदय के पश्चात तथा सूर्यास्त से पूर्व का समय ही ठीक है।

आधुनिक विज्ञानं के अनुसार सूर्य की धुप क्षयरोग के लिए बचाव और उपचार दोनों है

http://www.dailymail.co.uk/…/Sunshine-vitamin-helps-treat-p…

अब इस समय पर यज्ञ करना लाभदायक ही होगा क्योंकि यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली सामग्री में मुख्य रूप से गौघृत, खांड अथवा शक्कर, मुनक्का, किशमिश आदि सूखे फल जिनमे शक्कर अधिक होती है, चावल, केसर और कपूर आदि के संतुलित मिश्रण से बनी होती है।

अब इस विषय पर कुछ वैज्ञानिको के विचार :

१. फ्रांस के विज्ञानवेत्ता ट्रिलवर्ट कहते हैं : जलती हुई शक्कर में वायु – शुद्ध करने की बहुत बड़ी शक्ति होती है। इससे क्षय, चेचक, हैजा आदि रोग तुरंत नष्ट हो जाते हैं।

२. डॉक्टर एम टैल्ट्र ने मुनक्का, किशमिश आदि सूखे फलो को जलाकर देखा है। वे इस निर्णय पर पहुंचे हैं की इनके धुंए में टायफाइड ज्वर के रोगकीट केवल तीस मिनट तथा दूसरी व्याधियों के रोगाणु घंटे – दो घंटे में मर जाते हैं।

३. प्लेग के दिनों में अब भी गंधक जलाई जाती है, क्योंकि इसमें रोगकीट नष्ट होते हैं। अंग्रेजी शासनकाल में डाकटर करनल किंग, आई एम एस, मद्रास के सेनेटरी कमिश्नर थे। उनके समय में वहां प्लेग फ़ैल गया। तब १५ मार्च १८९८ को मद्रास विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के समक्ष भाषण देते हुए उन्होंने कहा था – "घी और चावल में केसर मिलकर अग्नि में जलाने से प्लेग से बचा जा सकता है।" इस भाषण का सार श्री हैफकिन ने "ब्यूबॉनिक प्लेग" नामक पुस्तक मे देते हुए लिखा है, "हवन करना लाभदायक और बुद्धिमत्ता की बात है।"

महर्षि दयानंद ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है :

"जब तक इस होम करने का प्रचार रहा ये तब तक ये आर्यवर्त देश रोगो से रहित और सुखो से पूरित था अब भी प्रचार हो तो वैसा ही हो जाए।"

(स. प्र. तृतीय समुल्लास)

यहाँ ऋषि इसी विज्ञानं को समझाने की कोशिश कर रहे हैं जो आज का आधुनिक विज्ञानं मानता है।

कृपया यज्ञ करे – राष्ट्र और पर्यावण को सुखी बनाये

आओ लौटो वेदो की और।

नमस्ते

नोट : इस पोस्ट की कुछ सामग्री "यज्ञ विमर्श" पुस्तक से उद्धृत है।

धर्म अनिवार्य क्यों है? डॉ – धर्मवीर

JULY 26, 2015 4 COMMENTS

हम समझते हैं- धर्म ऐच्छिक है, इसे हम मानें हमारी इच्छा, न मानें हमारी इच्छा। इसी प्रकार हम यह भी मानते हैं कि धर्म अनेक होते हैं, इसमें भी विकल्प हैं। कोई किसी बात को धर्म मानता है, कोई किसी बात को। ऋषि दयानन्द कहते हैं कि धर्म दो नहीं होते, धर्म एक ही होता है। धर्म की कसौटी भी उन्होंने बता दी- जिसे दुनिया का कोई भी समझदार व्यक्ति मानने से इन्कार नहीं कर सके, उसे धर्म कहते हैं। धर्म के सबन्ध में यह जानना आवश्यक है कि कोई वस्तु या विचार आवश्यक है या नहीं, इस बात का निर्णय उसकी आवश्यकता और उपयोगिता से होता है। हमें धन की आवश्यकता का पता है, हमारे जीवन में उसकी उपयोगिता का हमें अनुभव है, अतः उसे प्राप्त करना चाहते हैं। धन प्राप्त करने के उपाय भी खोजते हैं। इसके लिए हम व्यापार करते हैं, नौकरी करते हैं, मजदूरी करते हैं, खेती करते हैं। कुछ भी करके हम धन कमाते हैं, क्योंकि धन के बिना हमारा जीवन चलता नहीं है, इसलिए अर्थ की हमारे जीवन में उपयोगिता है। हमें लगता है कि अर्थ की भाँति हमारे जीवन में धर्म की कहीं उपयोगिता दृष्टिगत नहीं होती, अतः धर्म अनिवार्य नहीं, ऐच्छिक है। हमें व्यापार आदि के करने से अर्थ का लाभ होता है, परन्तु धर्म के करने से हमें कुछ प्राप्ति होती दिखाई नहीं देती, अतः हम स्वीकार कर लेते हैं कि धर्म गौण और ऐच्छिक है।

अर्थ की आवश्यकता स्पष्ट है, धर्म की आवश्यकता स्पष्ट नहीं है। मनुष्य के पास जब पर्याप्त साधन हो जाते हैं, तब वह समझता है- मुझे किसी की आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार सब अपने लिये अपने-अपने पुरुषार्थ से धन कमा लेंगे, फिर मेरे धन की भी किसी को आवश्यकता नहीं रहेगी। मैंने अपने प्रयत्न से अपनी सूझ-बूझ और बुद्धि से धन कमाया है, वह मेरा है, अतः मैं किसी को भी क्यों दूँ? यह विचार स्वाभाविक है, इस विचार को सुधारने के लिए हमें वह प्रसंग खोजना होगा, जहाँ हमारे साधन सपन्न होने पर भी ये साधन हमारी कुछ भी सहायता नहीं कर सकते। आज नेपाल में भूकप आया है, क्या वहाँ के साधन सपन्न लोगों को कोई कष्ट नहीं है? क्या उनकी सपत्ति, उनके काम आ रही है? हम देखते हैं कि सपन्न व्यक्ति का घर टूट गया है, उसके पास आज रहने के लिए स्थान नहीं है, पीने के लिए पानी नहीं है, पहनने के लिए कपड़ा नहीं है, चोट और रोग की पीड़ा दूर करने के लिए उनके पास औषध और चिकित्सक नहीं है। आज उसके पास कोई सान्त्वना देने वाला भी नहीं है। ऐसी परिस्थिति में क्या धन उसकी सहायता कर सकता है? प्रथम तो उसके साधन नष्ट हो गये होते हैं, यदि साधन कहीं रखे भी हैं तो व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने से वे साधन उसे एक घूँट पानी या एक ग्रास भोजन दिलाने में भी असमर्थ हैं। ऐसे समय में उसे कोई व्यक्ति पानी, भोजन, वस्त्र आदि साधन और सान्त्वना क्यों देगा? बस यहीं से दूसरी व्यवस्था का जन्म होता है, जिसे हम धर्म कहते हैं।

धर्म का फल मिलता है। लोग समझते हैं, धर्म का कोई फल नहीं मिलता, धर्म का फल मिलता है, क्योंकि ऐसा सभव नहीं है कि आपने कर्म किया हो, उसका फल न मिले। जब बुरे कर्म का बुरा फल मिलता है तो धर्म के रूप में अच्छे कर्म का अच्छा फल क्यों नहीं मिलेगा? फल तो निष्काम कर्म का भी मिलता है, क्योंकि वह कर्म फल की आकांक्षा से प्रेरित होकर चाहे नहीं किया गया, परन्तु कर्म तो है। कर्म है तो फल भी होगा। सकाम कर्म में फल की इच्छा से कर्म किया जाता है। निष्काम कर्म में कर्त्ता के मन में फल की इच्छा नहीं रहती, फल परमेश्वर की व्यवस्था पर छोड़ दिया जाता है। सांसारिक कर्म पाप और पुण्य नहीं होने पर भी आवश्यक होने से फल की इच्छा से किये जाते हैं। धर्म के कार्य में और व्यापार के कर्म में अन्तर इतना ही है कि व्यापार के फल के रूप में धन को ध्यान में रख कर व्यापार किया जाता है, धर्म पुण्य रूप फल को ध्यान में रखकर किया जाता है। रेल के डिबे में दो लोग पानी पिला रहे हैं या भोजन दे रहे हैं। एक जो पैसे लेकर देता है, उससे कोई भी व्यक्ति ले सकता है, परन्तु उसकी जेब में पैसे होने चाहिएँ। आपको कितनी भी भूख या प्यास लगी हो, यदि पैसे पास में नहीं हैं तो आप को भोजन या पानी नहीं मिल सकता। पैसे हैं तो आप बिना आवश्यकता के भी सामान लेकर अपने पास रख सकते हैं। इसके विपरीत धर्म आपके पैसे नहीं देखता, धर्म आपकी आवश्यकता देखता है, आपकी पीड़ा या कष्ट दूर करता है। यही उसका मूल्य है। धर्म आपके कष्ट को दूर करने के लिए किया जाता है, इसी कारण ऐसे कार्य को सेवा कहा गया है। पुराने लोगों ने सेवा को धर्म कहा है। जब कोई दुकानदार या सेवक सेवा करता है तो वह भी सेवा है, परन्तु धर्म की भाँति निष्काम कर्म नहीं है। जब धर्म समझ कर किसी की सेवा करते हैं, तब उसका धर्म, जाति, रूप, रंग, सबन्ध आदि में किसी का बोध नहीं होता। हम केवल उसकी पीड़ा से पीड़ित होते हैं और पीड़ा को दूर करना चाहते हैं। यदि सेवा में हम पक्षपात करते हैं, तब वह कार्य धर्म नहीं होगा, व्यापार होगा, सौदा होगा। बदले में आप कुछ भी क्यों न चाहते हों, जब आप बदला चाहते हैं, तब व्यापार करते हैं और तब वह पाप तो नहीं, परन्तु पुण्य भी नहीं, वह अपनों के साथ किया गया, कर्त्तव्य है। अतः जब कुछ देकर कुछ लिया जाता है, वह व्यापार है। जो देकर ही सुख मानता है, वह किसे दे रहा है, इससे उसका कुछ भी सबन्ध नहीं रहता, तब वह कार्य धर्म कहलाता है।

लोग समझते हैं कि धर्म बड़ी कठिन और गहरी वस्तु है, उसको समझना सबके लिए सरल नहीं है। यह हो सकता है कि विवेचना के स्तर पर तर्क-वितर्क में उसको समझना कठिन हो, परन्तु व्यावहारिक धरातल पर धर्म को समझना और करना दोनों ही सरल हैं। आप भोजन करते हैं, तब आप नहीं कहते कि आप धर्म कर रहे हैं, परन्तु रोटी का छोटा-सा टुकड़ा थाली में से निकाल कर किसी निमित्त से रखते हैं, तब आप धार्मिक भावना से भरे होते हैं। हमारे घरों में मातायें रोटी बनाते हुए पहली रोटी गाय के लिए और अन्तिम रोटी कुत्ते के लिए बनाती थीं। यह रोटी अपने लिए नहीं होने से स्वार्थ नहीं, परोपकार है और परोपकार और धर्म दोनों पर्यायवाची शद हैं। जब हम स्वयं पानी पीते हैं, तब स्वार्थ होता है और जब सब के लिए पानी पीने की व्यवस्था करते हैं, तब उसे धर्मार्थ प्याऊ कहते हैं। हम अपने लिये भवन बनाते हैं, तब वह घर होता है, होटल होता है, जब उपकार की भावना से घर बनाते हैं, तब उसे धर्मशाला कहते हैं। इस प्रकार अपने बच्चों को पढ़ाना स्वार्थ है, परन्तु निर्धन, असमर्थ बच्चों की सहायता करना धर्म है। मनुष्य की जो-जो आवश्यकताएँ है, उनकी पूर्त्ति स्वार्थ है। यदि हम उन्हीं आवश्यकताओं की पूर्त्ति निस्वार्थ भाव से अन्यों की करते हैं, तब वह धर्म बन जाता है। धर्म मनुष्य को संवेदनशील बनाता है, उसका मुय कारण है- स्वार्थ में मनुष्य के मन में रजोगुण प्रबल होता है। जब मनुष्य धर्म का कार्य करने की इच्छा करता है, तब उसके अन्दर

सतोगुण की प्रबलता होती है। स्वामी दयानन्द जी के जीवन में आता है कि जब एक किसान गाड़ी में जुते हुए बैलों को मार-मार कर कीचड़ से गाड़ी को निकाल रहा था, तब स्वामी जी ने स्वयं गाड़ी में जुतकर गाड़ी को कीचड़ से बाहर निकाल दिया। सभी महापुरुषों के जीवन में इस प्रकार की दया और करुणा से भरे कार्यों की चर्चा आती है।

धर्म और अर्थ के उपार्जन में मुय अन्तर परिणाम के प्राप्त होने का है। यथार्थ में धर्म भी व्यापार ही है, अन्तर इतना ही है कि व्यापार में मनुष्य फल की प्राप्ति तत्काल चाहता है और जिसके प्रति कार्य किया गया है, उसी से फल की आशा करता है। जिसके लिये कार्य किया है, जिसको सौदा दिया है, उसी से मनुष्य परिणाम के रूप में धन प्राप्त करता है, परन्तु धर्म में कार्य तो हुआ है, परन्तु फल कब मिलेगा, कहाँ मिलेगा, किस के द्वारा मिलेगा- इसका धर्म करने वाले को पता नहीं होता। मनुष्य को विपत्ति में जब सहायता मिलती है तो वह फल ही है, परन्तु हमारे कौन से कार्य का, किसके प्रति किये गये कार्य का फल है- यह हम नहीं जान सकते। जैसे वर्तमान जीवन के लिए धन की तत्काल प्राप्ति हमारे आजीविका के लिये आवश्यक है, उसी प्रकार हमें विषम परिस्थितियों में, असमर्थता की दशा में धर्म की आवश्यकता होती है। व्यापार से, पुरुषार्थ से स्वयं धन कमाकर व्यक्ति स्वयं जीवित रहता है, परन्तु धर्म से अपने साथ-साथ दूसरों को भी जीवन देता है। मनुष्य को यदि दूसरे की सहायता की आवश्यकता न होती तो सभव था- धर्म की भी आवश्यकता न होती, परन्तु मनुष्य के जीवन पर दृष्टिपात करने पर देखते हैं- पदे-पदे मनुष्य को दूसरों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य का बालक सहायता के बिना जीवित नहीं रह सकता। उसे जीवन में सदा सहायता की आवश्यकता होती है। सामान्य रूप से अपने कहे जाने वाले लोग जन्म से मृत्यु तक उसकी सहायता करते हैं। यह सहायता कर्त्तव्यवश या मोहवश की जाती है, परन्तु हमारे लोग सदा हमारे साथ नहीं होते या सदा समर्थ नहीं होते, ऐसी परिस्थिति में हमें अन्य की सहायता अपेक्षित है और यह सहायता हमें बिना धार्मिक बने नहीं मिल सकती। धर्म के फल की प्राप्ति जब परमेश्वर हमें आवश्यक समझता है, तब कराता है। जब हमें कहीं से भी आशा की किरण नहीं दिखाई देती, तब हम परमेश्वर को याद करते हैं, उससे सहायता की आशा करते हैं। वह सहायता क्या हमारे बिना किये कर्म का फल है? यदि ऐसा होता तो यह सहायता सबको सदा समान रूप से मिल रही होती, परन्तु विपत्ति सब पर आने पर भी दुःख सबको समान रूप से नहीं होता। दुःख में सहायता भी सबको समान रूप से नहीं मिल पाती। किसी को तत्काल सहायता मिलती है तो किसी को देर से, किसी को पर्याप्त, तो किसी को स्वल्प, ऐसा क्यों होता है? हमारे कर्मों की भिन्नता के कारण फल की प्राप्ति भी भिन्न होती है। जैसे व्यापार को सत्य व्यवहार से करने पर मन में सन्तुष्टि और धन की प्राप्ति भी होती है, उसी प्रकार धर्म का आचरण करने पर वर्तमान में सन्तोष का सुख और कालान्तर में परमेश्वर का सहयोग मिलता है।

इस बात को एक और प्रकार से समझा जा सकता है। राममनोहर लोहिया ने एक बार धर्म और राजनीति को परिभाषित करते हुए कहा था कि तात्कालिक धर्म को राजनीति कहते हैं और दीर्घकालिक राजनीति को धर्म कहा जाता है। उसी प्रकार तात्कालिक लाभ को व्यापार और दीर्घकालिक व्यापार को परोपकार या धर्म कहा जाता है। स्वार्थ और परार्थ दो कार्य हैं, दोनों की जीवन में आवश्यकता है, एक से किसी का भी कार्य नहीं चल सकता, परोपकार से स्वार्थ सिद्ध हो सकता है, परन्तु स्वार्थ में धर्म का अंश न हो तो परोपकार की सिद्धि नहीं हो सकती।

एक प्रश्न फिर भी अनुत्तरित रह जाता है- धर्म के प्रति रुचि कैसे जाग्रत हो? मनुष्य को धार्मिक होने के लिये संवेदनशील होना आवश्यक है। संवेदना शून्य व्यक्ति क्रूर बन जाता है, दूसरों को दुःख देने में प्रसन्नता अनुभव करता है। इसके विपरीत संवेदनशील व्यक्ति दूसरों के दुःखों से स्वयं दुःखी होता है और अपने दुःख को दूर करने के लिये वह दूसरों की सहायता करता है। इसी कारण धार्मिक परोपकार के कार्य करके मनुष्य को प्रसन्नता होती है और वह सन्तोष का अनुभव करता है। इसके लिए चाणक्य ने कहा है- हम जो कुछ करें, उसे बुद्धि के प्रकाश में करें, संसार के सारे कार्य हमें करने हैं, यदि धार्मिक बुद्धि से किये गये तो हमारी प्रवृत्ति उस ओर होती है। वह धार्मिक बुद्धि कैसे प्राप्त होती है? तब कहा गया है, वह धार्मिक बुद्धि शास्त्रों के अध्ययन से मिलती है। परमेश्वर की उपासना से मिलती है। हम ईश्वर उपासक या ईश्वर के भक्त को धार्मिक कहते हैं और मानते हैं कि जो धार्मिक होगा, वह ईश्वर का भक्त भी होगा। धार्मिक व्यक्ति को शास्त्र इसलिए पढ़ना चाहिए कि शास्त्रों की रचना धार्मिक और ईश्वर भक्त लोगों ने की है, उन्होंने इसमें धर्म पर चलने का मार्ग बतलाया है। धर्म पर चलने से क्या होता है? कोई व्यक्ति धार्मिक होता है तो कैसा होता है? धार्मिक होने से मनुष्य को क्या लाभ होता है? इसके लिए गीता में कहा गया है- धर्म से वर्तमान में सुख होता है और बाद में कल्याण की प्राप्ति होती है। चाणक्य ने अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है- जो मनुष्य धार्मिक होता है, उसकी बुद्धि निर्मल होती है, धार्मिक व्यक्ति की वाणी स्पष्ट होती है, उसके कार्य सरल होते हैं, उसके कार्य में किसी प्रकार की कुटिलता नहीं होती। धार्मिक व्यक्ति के जीवन में जो सर्वाधिक उत्कृष्ट पक्ष है, वह कष्ट या दुःख आने पर विचलित नहीं होता और वैभव की प्राप्ति होने पर अहंकार का ग्रास नहीं बनता। दोनों परिस्थितियाँ मनुष्य को असामान्य बनाती हैं। सांसारिक पदार्थों के लाभ और प्राप्ति में मनुष्य अपनी उपलब्धियों से गर्व का अनुभव करने लगता है, पदार्थों के अभाव में घोर निराशा और दुःख में डूब जाता है, आत्महत्या कर लेता है, इसलिये मनुष्य को वर्तमान लाभ के साथ परोक्ष के लाभ के लिए धार्मिक होने की आवश्यकता होती है। मनु महाराज नेाी संवेदनशील बनने के लिये कहा है-

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।।

– धर्मवीर

आओ, सोम-सरोवर के भक्ति रस-जल में स्नान कर आनन्दित हों’ -मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

JULY 17, 2015 LEAVE A COMMENT

ओ३म्

सामवेद उपासना तथा ईश्वर की स्तुति-गान का वेद है। उपासना ईश्वर के पास बैठकर आनन्द में सराबोर होना है। इसे सोम सरोवर का स्नान भी कह सकते हैं। पं. चमूपति महर्षि दयानन्द के आदर्श अनुयायी थे। वह उर्दू, अरबी, फारसी व अंग्रेजी के विद्वान होने के साथ

संस्कृत व हिन्दी के भी विद्वान थे। आपने अनेक भाषाओं में रचनायें की है। आपकी अनेक प्रसिद्ध रचनाओं में से एक है "सोम सरोवर"। इस पुस्तक में आपने सामवेद के पवमान सूक्त के मन्त्रों की भक्ति रस में डूब कर व्याख्या की है जो हृदय को झंकृत कर उसमें आस्तिक भाव को उत्पन्न करती है और जीवात्मा-पुरूष आनन्द रस में भरकर हरा-भरा हो जाता है। आर्यसमाज के एक दूरदर्शी नेता पत्रकार शिरोमणि महाशय कृष्ण की 'सोम सरोवर' के सम्बन्ध में यह सम्मति थी कि यह विश्व के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में से एक है। जिन साहित्यिक ग्रन्थों पर साहित्य का नोबेल पुरस्कार दिया जा चुका है, सोम सरोवर ऐसे कई ग्रन्थों से कहीं ऊंचा व श्रेष्ठ है। सोम-सरोवर पुस्तक का महत्व बताते हुए प्रसिद्ध लेखक एवं विद्वान राजेन्द्र जिज्ञासु ने लिखा है कि हिन्दी के साहित्यकार, प्राध्यापक व प्रेमी यह जान लें कि हिन्दी साहित्य में इस कोटि की दूसरी पुस्तक अब तक तो लिखी नहीं गई। यदि कोई है तो वह पं. चमूपति कृत जीवन–ज्योति है। आईये इस पुस्तक सोम-सरोवर से दो मन्त्रों का पाठ व उसकी व्याख्या पढ़कर सरोवर में स्नान का आनन्द लेते हैं।

मन्त्र हैः यस्ते मदो वरेण्यस्तेनापवस्वान्धसा। देवावीरघशंसहा।। लेखक ने इस मन्त्र का शीर्षक "पाप–नाशक नशा" दिया है। मन्त्र का ऋषि है 'अमहीयुः' अर्थात् एक ऐसा मनीषी जो पृथिवी की नहीं, आकाश से भी ऊपर द्युलोक की उड़ान लेने वाला। पहले इस मन्त्र के पदों वा शब्दों के अर्थ जान लेते हैं। (ते) तेरा (यः) जो (वरेण्यः) ग्रहण करने लायक (मदः) नशा है (तेन) उस (अन्धसा) प्राणप्रद संजीवन–रस से (आपवस्व) चारों ओर पवित्रता का प्रवाह चला। तू (देवावीः) दिव्य भावनाओं तथा दिव्य प्रजाओं का रक्षक तथा (अघशंसहा) पाप की प्रशंसा का घातक है।

अन्य सब नशे छोड़ देने चाहिए। वे मैले हैं, अपवित्र हैं। उन में पाप का पुट है। वे हिंसा से पैदा होते हैं। उन के खमीर में पाप है। वे पाप ही की उपज हैं और पाप ही की प्रेरणा करते हैं। परन्तु मोहन ! तेरे प्रेम का नशा प्राणप्रद है। इस से स्वास्थ्य बढ़ता है। इस के पान से शरीर नया जीवन-लाभ करता है। और मन की तो काया-पलट सी हो जाती है। यह नशा अत्यन्त पवित्र, अत्यन्त सुखदायक है।

देवताओं के लिए यह नशा अमृत है। दैवी प्रवृत्तियां सो रही हों तो इस नशे का ध्यान आते ही जाग जाती हैं, झूमने लगती हैं। भली भावना किसी संकट के कारण मृतप्राय हो तो केवल जी ही नहीं, लहलहा उठती हैं। साईं के स्नेह का नशा सत्य की, सरलता की, सन्तोष की, सदाचार की रक्षा करता है। लाख आपत्तियां आती हों, साईं का स्नेही धर्म के रास्ते से नहीं हटता। धर्म के लिए संकट सहने में उसे आनन्द आता है। पाप की मोहिनी साईं के स्नेह के सम्मुख एक क्षण के लिए भी नहीं ठहर सकती।

हमारा मन भटक जाता है। उस की रूचि पाप की ओर हो जाती है। कोई अन्दर-अन्दर से मानो दबी सी आवाज में पाप की प्रशंसा करने लगता है। दिल कहता है-पाप है तो क्या, इस से लाभ ही होगा, झूठ बोल दो, इस से एक अपना ही नहीं, सम्पूर्ण जाति का लाभ है।

परोपकारार्थ छल करने से क्या दोष है? इस प्रकार के कितने छल हैं जो मेरा छली मन रोज करता रहता है।

प्रभो ! आप की आंख बचा कर तो यह छल चल भी जाये, परन्तु आप के सामने आते ही यह मोह–अज्ञान का ताना-बाना छिन्न-भिन्न हो जाता है। आप की एक कृपा-कोर लाख पापों का बंटाढार कर देती है।

तो फिर वह आप की कृपा–कोर कहां है? मेरे लिए वही सोम है। मैं उसी का प्यासा हूं। एक प्याली! एक घूंट!! एक बूंद!!!

हम आशा करते हैं कि उक्त मन्त्र की व्याख्या से पाठक आनन्दित एवं भाव-विभोर हुए होंगे। एक अन्य मन्त्र की व्याख्या और प्रस्तुत कर रहे हैं। इस मन्त्र का शीर्षक है 'इन्द्र की अर्चना'। मन्त्र प्रस्तुत हैः 'इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः। अर्कस्य योनिमासदम्।।' मन्त्रार्थः (इन्दो) ऐ जगत् को सरसाने वाले स्नेह–रस के सुधाकर मुझ (मरुत्वते) प्राणों वाले (इन्द्राय) मुझ इन्द्रियों वाले देहधारी के लिए (मधुमत्तमः) अत्यन्त मधुर होकर (पवस्व) पवित्रता का प्रवाह चला। मैं (अर्कस्य) अर्चना के (योनिम्) मन्दिर में (आसदम्) प्रवेश कर रहा हूं।

मेरे प्राण प्रबल हैं। शरीर स्वस्थ हैं। अंग-अंग में स्फूर्ति है। निठल्ला बैठने को जी नहीं चाहता। दसों इन्द्रियां शक्तिशाली हैं। यह सब कुछ होते हुए भी जीवन नीरस है। स्वास्थ्य के साथ भी दिन बीत जाता है। रोग की अवस्था में भी ज्यों त्यों रात कट जाती है। किसी ने कराह-कराह कर समय गुजार दिया, किसी ने हंस खेल कर दिन बिता दिये। स्मृति दोनों की नीरस है।

मुझे शक्ति का अभिमान तो होता है, रस नहीं मिलता। गर्व से गर्दन उठा देता हूं और वह ऐंठ जाती है। पर ऐंठ में रस कहां? रस तो लचक में है। हां लचक ही में जीवन है।

प्रभो ! कोई लचकीला आनन्द ! कोई स्थायी स्थिर रस ! सुनता हूं, स्थिर रस तुम्हारी कृपा-कोरों में है। तुम्हारी कृपा-कोरों की चांदनी चांद के, तारों के प्रकाश के साथ-साथ जगत् को व्याप्त कर रही है। आकाश-गंगा प्रेम की गंगा बहाये जा रही है। मेरे हृदय-चकोर के चांद ! तुम्हारी स्निग्ध किरणों ने ही तो अपने स्नेह-रस में सम्पूर्ण प्रकृति को गूंध-गूंध कर रसमय बना दिया है। तुम्हारा हृदय यदि आर्द्र न होता तो अणु-अणु पृथक भले ही रह जाता, पर इस में तरी न आती। पिण्ड न बनते। ब्राह्माण्डों की सृष्टि-संसृष्टि-न हो पाती।

हे सृष्ट जगत् के संजीवन-रस। एक कृपा-कोर मेरी ओर भी।

मैं अपने ताप का कारण समझ गया हूं। वह है तुम्हारी करुणा से विमुखता। मेरे पास स्वास्थ्य है, स्फूर्ति है, पर इन दोनों का सार–तुम्हारा स्नेह मेरी आंखों से दूर है।

हे प्राणों के प्राण ! मेरे प्राणों को अपनी स्नेह–सुधा से अनुप्राणित कर दो। मेरे जीवन को अपनी संजीवनी से उज्जीवित कर दो। मेरी इन्द्रियां तुम्हारी अर्चना के फूल बन जायें। मेरे प्राण तुम्हारी पूजा के नैवेद्य हों। आज मेरा नया जन्म हो। अर्चना के जीवन का जन्म। पूजा के नवजीवन का उदय।

मैं झुक जाऊं, लचक जाऊं, तुम्हारे चरणों में तन, मन, धन–सब अर्पण कर दूं। सफलता अर्पण में है। अर्चन में है। अर्पण व अर्चन एक हैं।

हम आशा करते हैं कि पं. चमूपति जी की उपर्युक्त अर्चनाओं को पढ़कर पाठकों ने भक्ति के सोम-सरोवर में स्नान कर आनन्द का अनुभव अवश्य किया होगा। इस अर्पण व अर्चन को संजो कर रखिये, बहुत काम आएगा।

–मनमोहन कुमार आर्य

पताः **196** चुक्खूवाला**-2**

देहरादून**-248001/**फोनः**09412985121**

क्या धर्म से सुखी हो सकते हैं????? शिवदेव आर्य, गुरुकुल पौन्धा, देहरादून मो.-8810005096

JULY 17, 2015 1 COMMENT

इस भूमण्डल पर प्रत्येक प्राणी सुख की कामना करता है। हर कोई साधु-संन्यासी, बड़े-बड़े महन्त पूर्ण दावे के साथ सुख प्राप्त करा देने की बात करते हैं। ये बात कितनी ठीक है? ये तो नहीं जानता परन्तु निश्चित रूप से कह सकता हूॅं कि यदि कोई व्यक्ति चाहे और प्रयास करने लग जाये, तो सुख का सोपान अलभ्य तो बिल्कुल नहीं है। प्रयत्न काल से ही सुख की वृष्टि प्रारम्भ हो जाती है।

सुख कैसे प्राप्त हो ? इस प्रश्न का समाधान वैदिक वाङ्मय से सहजतया प्राप्त होता है कि सुखस्य मूलं धर्मः अर्थात् सुख का मूल धर्म है। जी हा॑ं, ये तो बहुत आश्चर्य का विषय है कि धर्म सुख का मूल कैसे हो सकता है? ये धर्म ही तो आज दुःख के कारण बने हुए हैं। जहा॑ं देखो वहीं धर्म के नाम पर लड़ाई-झगड़े हो रहे हैं। यहा॑ं कोई हिन्दु धर्म को मानने वाला है तो कोई मुस्लिम, कोई सिख तो कोई ईसाइ आदि। ये जो परस्पर द्रोह करते रहते हैं। दुःख पहू॑ंचाने का सदैव प्रयत्न करते रहते हैं। अगर मैं इन धर्मों को मानू॑ंगा तो मैं भी इन के ही समान हो जाऊँगा तो ये धर्म सुख का साधन कैसे हो सकता है?

यह सर्वमान्य सत्य है कि आज के समाज में धर्म के नाम पर पाखण्ड़ पनप रहा है। धर्माधिकारी धर्म का यथार्थ स्वरूप न बताकर मतान्ध बना रहे हैं। एक दूसरे से लड़ना सिखा रहे है।ं चाहे कोई हिन्दू हो या मुसलमान, सिक्ख हो या ईसाई, पारसी हो या बहाई, जैनी हो या बौध्द, कोई भी क्यों न हो, प्रत्येक एक-दूसरे को मारने-काटने को सदैव उद्यत रहते हैं।

हम अपनी सारी शक्ति लड़ने-झगड़ने में समाप्त कर देते हैं। हम अपने बारे में ही सोचते हैं। हम अपने से आगे किसी को देखना पसन्द नहीं करते। अगर कोई परिश्रम करके आगे निकल भी जाता है तो उसको पीछे करने के लिए परिश्रम नहीं करते। बल्कि दूसरे मनुष्य के पैर पकड़ कर नीचे खींच देते हैं।

धर्म मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है, तोड़ता नहीं। जो एक-दूसरे के बीच में दरारें पैदा करता है, एक-दूसरे को तोडता है, झगड़े कराता है, वह धर्म कदापि नहीं हो सकता। धर्म तो एकता का पाठ पढ़ाता है, वैर-विरोध का नहीं। धर्म तो आपस में भाई-चारे का पाठ सिखाता है, पे्रम का पाठ पढ़ाता है, सुख और शान्ति की सुगन्ध फैलाता है।

धर्म शब्द 'धृ धारणपोषणयोः ' इस धातु से औणादिक मन् प्रत्यय करने से सिध्द होता है। सुख प्राप्ति के लिए जिसको धारण किया जाये या जिसका सेवन किया जाये, उसे धर्म कहते हैं। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि किसको धारण किया जाये? वह क्या हैं? इसका उत्तर देते हुए मनुमहाराज कहते हैं कि धर्म के दश लक्षण हैं, जो इस प्रकार हैं-

धृतिक्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।

धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।।

धृतिः धृति अर्थात् धैर्य को धारण करना। बड़ी से बड़ी आपत्ति आने पर, अपने आप में धैर्य को बनाये रखना चाहिए।

क्षमाः क्षमा करने के सामथ्र्य को धारण करना। जैसे कोई जीव निर्बल है, उससे कोई गलती होने पर उसे माफ (क्षमा) कर देना ही क्षमा है।

दमः दमन करना अर्थात् रोकना। इन्द्रिया॑ं अपने विषयों में बार-बार चली जाती है। आ॑ंख अच्छा रूप देखना चाहती है परन्तु विषय वस्तुओं में लिप्त हो जाती हैं। इनको रोकना ही दम है।

अस्तेयः चोरी न करना ही अस्तेय है। कोई भी तुच्छ से तुच्छ वस्तु को बिना स्वामी की आज्ञा से हाथ न लगाना अस्तेय कहाता है।

शौचः शुचिता अर्थात् पवित्रता एवं स्वच्छतापूर्वक रहने को शौच कहते है। शुचि रहने से मनुष्य परम शान्ति का अनुभव करता है।

इन्द्रियनिग्रहः इन्द्रियनिग्रह का तात्पर्य यह है कि अपनी इन्द्रियों को अपने नियन्त्रण में रखना। हम कोई भी आकर्षक चीज देखते हैं तो उसे प्राप्त करने के लिए हम अपनी इन्द्रियों के अधीन हो जाते हैं। इसी आकर्षण से बचने का नाम ही इन्द्रियनिग्रह है।

धीः अच्छी मति (बुध्दि) को धी कहते हैं। हमारे शरीर का मुख्य भाग बुध्दि है। वह बुध्दि अच्छी हो, पापाचार से अयुक्त हो तो सम्पूर्ण कार्य अच्छे होते हैं। इसलिए गायत्री मन्त्र में परमपिता परमेश्वर से ''धियो योः न प्रचोदयात्'' की प्रार्थना करते है।

विद्याः विद्या अर्थात् सत्य ज्ञान को पाकर, मानव अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त होता है। विद्या के वास्तविक स्वरूप को दर्शाते हुए कहा गया है कि ''सा विद्या या विमुक्तये'' विद्या वही जो अमृतत्व को प्राप्त कराये।

सत्यः वास्तविकता को सत्य कहते हैं। अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही मानना, कहना, जानना और उसके अनुरूप कार्य करना ही सत्य है। किसी ने कह दिया और उसे हम सत्य मान ले, तो यह न्यायोचित नहीं है। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी लिखते है कि जो प्रत्यक्षादि आठ प्रमाणों से युक्त और पा ँ ँच प्रकार की परीक्षाओं की कसौटी पर तुला हुआ हो, वही सत्य है।

अक्रोधः ''क्रोधो अमर्षा'' अर्थात् सहन न करने को क्रोध कहते है। किसी ने कुछ अपशब्द कह दिये तो उसे सहन न करना ही क्रोध है। क्रोध मानव का सबसे बड़ा शत्रु है। जब हम क्रोध में वशी भूत होकर धर्माधर्म में अन्तर नहीं समझते तब अधर्मयुक्त कुकृत्यों को कर बैठतें है।

ऋषिवर देव दयानन्द जी महाराज धर्म के स्वरूप को दर्शाते हुए आर्योदेश्य रत्नमाला में लिखते हैं कि-जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत पालन पक्षपात रहित न्याय व सर्वहित करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिए एक और मानने योग्य है, उसे धर्म कहते हैं।

न लिंगधर्मकारणम्-संसार में विभिन्न मतवालों ने अपने-अपने धर्म के नाम पर विभिन्न चिह्न बना रखे हैं। जैसे कोई केश बढ़ा रहा है, कोई लम्बी दाढ़ी बढ़ाये हुए है, कोई केश व दाढ़ी दोनों बढ़ाये हुए है, कोई पांच शिखाएं रखे हुए है, कोई मूंछ कटाकर दाढ़ी बढ़ा रहा है और कोई चन्दन का तिलक लगा रहा है, कोई माथे को अनेक रेखाओं से अंकित किये हुए है और हाथों पर भी चिह्न बनाये हुए है, किन्तु ये सभी धर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते हैं। अत एव बाह्यचिह्नों को धर्म नहीं माना गया हैं।

धर्म को धारण करने से ही लौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती है। हमें जानना चाहिए कि सुख-दुःख क्या हैं? सुख और दुःख संस्कृत भाषा के शब्द हैं- 'सु=शोभनं

खेभ्यः=इन्द्रियेभ्यः' अर्थात् जो इन्द्रियों को अच्छा लगे उसे सुख कहते हैं। और दूर्=दुष्ठु=अशोभनं खेभ्यः=इन्द्रियेभ्यः अर्थात् जो इन्द्रियों को अच्छा न लगे उसे दुःख कहते हैं।

आत्मा भोक्ता है, उसके भोग का आधार शरीर है, भोग के साधन नेत्रादि इन्द्रियाँ है। इन्द्रियों के अर्थ ही भोक्तव्य हैं, बुध्दि ही भोग है, और फल तथा दुःख का स्वरूप समझाते हुए लिखा हैं-ससाधनं सुखदुःखोपभोगः फलम्। जन्म......सुखसाधनस्य दुःखानुषंगगात् विविधबधनायोगाद् दुःखम्।।

अर्थात् सुख-दुःख के साधनों का बुध्दिविषयत्वापन्न भोग ही फल है। सुख के साधनों का दुःख से सम्पर्क होना ही दुःख हैं। इसी बात को इस प्रकार कह सकते हैं कि-

अनुकूलवेदनीयं सुखं प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।।

अर्थात् आत्मा के अनुकूलता का ही नाम सुख है और प्रतिकूलता दुःख है। महर्षि मनु ने सुख दुःख की व्याख्या इस प्रकार की है-

सर्वं परवश्ंा दुःखम्, सर्वमात्मवशं सुखम्।।

एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः।।

सुख दुःख का संक्षेप में यही लक्षण जानना चाहिये अर्थात् दूसरों के अधीन होना ही दुःख है और अपने अधीन रहना ही सुख है।

सुख दुःख का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें कैसे होता है। इसकी प्रक्रिया समझाते हुए, न्यायदर्शन में वात्स्यायन भाष्य में लिखा है कि ''आत्मादिषु सुखादिषु च प्रत्यक्षलक्षणं वक्तव्यम्।'' आत्मादि तथा सुखादि का प्रत्यक्ष कैसे होता है उसका प्रकार समझाते है- जीवात्मा प्रथम मन से सम्पर्क करता है, मन इन्द्रियों से तथा इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से सम्बध्द होकर प्रत्यक्ष कराती है।

वैशेषिक दर्शनकार कणाद कहते हैं – ''यतोऽभ्युदयनिश्रेयस् बुध्दिः स धर्मः'' इसलिए धर्म करने से ही मनुष्य का जीवन सार्थक है परन्तु आज सम्पूर्ण विश्व में लोगों को यह नहीं पता कि धर्म क्या होता है? मुस्लिम, इसाई, बौध्द, जैन आदि मत-मतान्तरों को कुछ लोग धर्म मान लेते है और उस पर चलना प्रारम्भ कर देते है वे नहीं जानते कि धर्म क्या है अथवा किसे कहते है? मुस्लिम विचार करता है कि मुस्लिमत्व ही मेरा धर्म है, ईसाई विचार करता है कि कृश्चीयन मेरा धर्म है, हिन्दु विचार करता है कि हिन्दुत्व ही मेरा धर्म है परन्तु ये यह नहीं जानते कि जिसका ये धर्म मानकर अनुष्ठान कर रहे है, वे धर्म नहीं मत-सम्प्रदाय है। वास्तव में जब धर्म का स्वरूप ही भ्रान्त हो जाएगा तो, धर्म का अनुष्ठान सर्वथा व्यर्थ है।

व्यक्ति के अवनति व विनाश के साधनों को जुटाने में जो ऊर्जा शक्ति का अपव्यय होता है, उससे आत्मिक बल और जीवनीय शक्ति का भी क्षय होता हैं। भय और हिंसक प्रवृत्ति बढ़ने लगती हे और निश्चित रूप से विवेक में न्यूनता आती है। उस व्यक्ति में स्वार्थ, लिप्सा और मिथ्याहंकार ज्ञान-चक्षुओं के पट खुलने नहीं देते। इसके दुष्परिणाम तत्काल या कालान्तर में

उस व्यक्ति, समाज व राष्ट्र को भुगतने पड़ते हैं। इसलिए जीवन में उन्नति के इच्छुक व्यक्ति को विवेक का विकास निरन्तर करते रहना चाहिए। यही यथार्थ में जीवन का पथ हैंै।

आचार्य चाणक्य ने लिखा है–‘‘सुखस्य मूलं धर्मः धर्मस्य मूलमिन्द्रियजयः।’’ अर्थात् सुख का मूल धर्म है और धर्म का मूल है-इन्द्रियों को संयम में रखना। संसार में प्रत्येक मनुष्य की इच्छा होती है कि मैं सुखी रहूँ और सुख की प्राप्ति धर्म के बिना नहीं हो सकती। अतः धर्म का आचरण अवश्य ही करना चाहिये। बिना धर्म को अपनाये कोई भी मनुष्य सुखी नहीं हो सकता है। इसीलिए वर्तमान में तथाकथित जो धर्म है, उसे स्वीकार न कर सर्वहितार्थ जो धर्म का स्वरूप यहाॅं बताया है, उसे ही धारण करना चाहिए। इसी से दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति हो सकेगी। धर्म को धारण करने से सुख ही नहीं प्राप्त होगा अपितु भावी जन्म में भी सहायक होगा।

संसार की कोई भी वस्तु सुख का हेतु हो सकती है परन्तु मरणोत्तर किसी के साथ नहीं जा सकती। शास्त्रकार कहते हैं-

‘धर्म एकोऽनुगच्छति’ अर्थात् एक धर्म ही मरणोत्तर मनुष्य के साथ जाता है। नीतिकार भी कहते है-

धनानि भूमौ, पशवश्च गोष्ठे, नारी गृहे बान्धवाः श्मशाने।

देहश्चितायां परलोकमार्गे, धर्मानुगो गच्छति जीवः एकः।।

अर्थात् भौतिक समस्त धन भूमि में ही गड़ा रह जाता है अथवा आजकल बैंकों में या तिजोरियों में ही धरा रह जाता है और गाय आदि पशु गोशाला में ही बन्धे रह जाते हैं । पत्नी घर के द्वार तक ही साथ जाती है और परिवार के भाई-बन्धु व मित्रजन श्मशान तक ही साथ देते है एक मनुष्य का शुभाशुभ कर्म ;धर्मद्ध ही परलोक में मनुष्य का साथ देता है अर्थात् धर्म के अनुसार ही मनुष्य को परलोक में अच्छी-बुरी योनियों में जाना पड़ता है।

यतो धर्मस्ततो जयः गीता के इस श्लोक से इस बात की पुष्टि होती है कि धर्म सदैव विजयी होता है। चाहे अधर्मी कितना ही बलवान् हो उसकी हार अवश्य होती है लोक में भी यह देखा जाता है कि अधर्मी की हार का कारण अधर्म ही बन जाता है। मनुस्मृति में भी सत्य ही कहा गया है-

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।

ततो सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति।।

अर्थात् अधर्माचरण करने से व्यक्ति धन-सम्पदा बढ़ने से बढ़ता हुआ दिखाई देता है, तत्पश्चात् भद्र भी देखता है अर्थात् भौतिक साधनों की समृध्दि होने से बड़े-बड़े महल, कोठियाँ बना लेता हे, अपने विरोधियों पर येन-केन विजय प्राप्त कर लेता है। किन्तु अन्त में उसका सर्वनाश हो जाता है। इसलिए हमें इस शाश्वत सत्य पर अवश्य दृढ़ विश्वास करना चाहिये-

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

तस्माद् धर्मो न हन्तव्यः मा नो धर्मो हतोऽवधीत्।।

जो धर्म को नष्ट करता है, धर्म उसका नाश कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता हैं धर्म उसकी रक्षा करता है। इसलिए अधर्म से प्राप्त लक्ष्मी कभी भी घर में न आने देवंे। अन्यथा ऐसा धन तीसरी पीढ़ी में अवश्य दुष्परिणाम दिखा देता है। लोक में ऐसे उदाहरण अधिकांशतया प्राप्त हो जाते हैं।

निष्कर्ष रूप में धर्म का ज्ञान तथा उसका आचरण मनुष्य के लिए परमावश्यक है। यही हम सब का आधार है। हम सब के परमलक्ष्य का परम सहायक भी यही धर्म है। आओ! हम सब मिलकर धर्म के यथार्थ स्वरूप को जाने तथा धारण कर सुख-सम्पन्नता के मार्ग को प्राप्त हो, मोक्षपथानुगामी हों।

ईश्वर निराकार है – एक तर्कपूर्ण समाधान

JULY 2, 2015 LEAVE A COMMENT

शंका निवारण :

पूर्वपक्षी : क्या ईश्वर के हाथ पाँव आदि अवयव हैं ?

उत्तरपक्षी : ये शंका आपको क्यों हुई ?

पूर्वपक्षी : क्योंकि बिना हाथ पाँव आदि अवयव ईश्वर ने ये सृष्टि कैसे रची होगी ? कैसे पालन और प्रलय करेगा ?

उत्तरपक्षी : अच्छा चलिए में आपसे एक सवाल पूछता हु – क्या आप आत्मा रूह जीव को मानते हैं ?

पूर्वपक्षी : जी हाँ – में आत्मा को मानता हु – सभी मनुष्य पशु आदि के शरीर में है – पर ये मेरे सवाल का जवाब तो नहीं – मेरे पूछे सवाल से इस जवाब का क्या ताल्लुक ? कृपया सीधा जवाब दीजिये।

उत्तरपक्षी : भाई साहब कुछ जवाब खोजने पड़ते हैं – खैर चलिए ये बताये शरीर में हाथ पाँव आदि अवयव होते हैं क्योंकि जीव को इनसे ही सभी काम करने होते हैं – पर जो आत्मा होती है उसके अपने हाथ पाँव भी होते हैं क्या ?

पूर्वपक्षी : नहीं होते।

उत्तरपक्षी : क्यों नहीं होते ?

पूर्वपक्षी : #$*&)_*&(*#$*$()
(सर खुजाते हुए – कोई जवाब नहीं – चुप)

उत्तरपक्षी : जब एक आत्मा जो सर्वशक्तिमान ईश्वर के अधीन है – बिना हाथ पाँव अवयव आदि के – मेरे इस शरीर में विद्यमान रहकर – शरीर को चला सकती है – तो ईश्वर जो सर्वशक्तिमान है – वो ये सृष्टि का निर्धारण उत्पत्ति प्रलय सञ्चालन वो भी बिना हाथ पाँव आदि अवयव क्यों नहीं कर सकता ? इसमें आपको कैसे शंका ? कमाल के ज्ञानी हो आप ?

पूर्वपक्षी : #$*&)_*&(*#$*$()
(चुपचाप गुमसुम चले गए)

वेदो की कुछ पर अतिज्ञानवर्धक मौलिक शिक्षाये :

JULY 2, 2015 LEAVE A COMMENT

1. जीवन भर (शत समां पयंत) निष्काम कर्म करते रहना चाहिए। इस प्रकार का निष्काम कर्म पुरुष में लिप्त नहीं होता है। (यजु० ४०।२)

2. जो ग्राम, अरण्य, रात्रि-दिन में जानकार अथवा अजानकार बुरे कर्म करने की इच्छा है अथवा भविष्य में करने वाले हैं उनसे परमेश्वर हमें सदा दूर रखे।

3. हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर वा विद्वन आप हमें दुश्चरित से दूर हटावे और सुचरित में प्रवृत करे (यजु० ४।२८)

4. हे पुरुष ! तू लालच मत कर, धन है ही किसका। (यजु० ४०।१)

5. एक समय में एक पति की एक ही पत्नी और एक पत्नी का एक ही पति होवे। (अथर्व० ७।३७।१)

6. हमारे दायें हाथ में पुरुषार्थ हो और बायें में विजय हो। (अथर्व० ७। ५८।८)

7. पिता पुत्र, भाई-बहिन आदि परस्पर किस प्रकार व्यवहार करे – इसका वर्णन अथर्व० ३।३० सूक्त में हैं।

8. द्यूत नहीं खेलना चाहिए। इसको निंद कर्म समझे। (ऋग्वेद १०।३४ सूक्त)

9. सात मर्यादाएं हैं जिनका सेवन करने वाला पापी माना जाता है। इन सातो पापो को नहीं करना चाहिए। स्तेय, तलपारोहण, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, दुष्कृत कर्म पुनः पुनः करना, तथा पाप करके झूठ बोलना – ये साथ मर्यादाये हैं। (ऋग्वेद १०।५।६)

10. पशुओ के मित्र बनो और उनका पालन करो। (अथर्व० १७।४ और यजु० १।१)

11. चावल खाओ यव खावो उड़द खाओ तिल खाओ – इन अन्नो में ही तुम्हारा भाग निहित है। (अथर्व० ६।१४०।२)

12. आयु यज्ञ से पूर्ण हो, मन यज्ञ से पूर्ण हो, आत्मा यज्ञ से पूर्ण हो और यज्ञ भी यज्ञ से पूर्ण हो। (यजु० २२।३३)

13. संसार के मनुष्यो में न कोई छोटा है और न कोई बड़ा है। सब एक परमात्मा की संतान हैं और पृथ्वी उनकी माता है। सबको प्रत्येक के कल्याण में लगे रहना चाहिए (ऋग्वेद ५।६०।५)

14. जो samast प्राणियों को अपनी आत्मा में देखता है उसे किसी प्रकार का मोह और शोक नहीं होता है। (यजु ४०।६)

15. परमेश्वर यहाँ वहां सर्वत्र और सबके बाहर भीतर भी है। (यजु० ४०।५)

ईश्वर का वैदिक स्वरुप – ईश्वर, जीव और प्रकृति – तीनो कारण स्वयं सिद्ध और अनादि हैं

JULY 1, 2015 LEAVE A COMMENT

संस्कृत भाषा में परमात्मा = परम + आत्मा तथा जीवात्मा = जीव + आत्मा दो शब्द हैं।

परमात्मा शब्द का अर्थ है – सर्वश्रेष्ठ आत्मा

और जीवात्मा का अर्थ है प्राणधारी आत्मा

आत्मा शब्द दोनों के लिए आता है और बहुधा परम-आत्मा तथा जीव-आत्माओ का भेदभाव किये बिना समस्त जीवनतत्वो के लिए व्यवहृत किया जाता है।

परमात्मा और जीवात्माओं के कार्यो में इतनी समानता है [मगर दोनों के कार्य क्षेत्र निसंदेह अत्यंत विभिन्न हैं] की प्रायः इनके सम्बन्ध के विषय में भ्रम हो जाता है और इस भ्रम के कारन दर्शनशास्त्र तथा धर्म दोनों क्षेत्रो में बाल की खाल निकाली जाती है।

खासतौर पर ईश्वर को ना मानने वाले लोग मनुष्य को ही "सिद्ध" व "ईश्वर" का दर्ज देकर अपनी अल्पज्ञता के कारण ऐसा विचार लाते हैं –

वैदिक ईश्वर का स्वरुप कैसा है और जीव का स्वरुप कैसा है – जब इस प्रकार की चर्चा की जाती है तब आवश्यक हो जाता है इस प्रकृति के बारे में भी कुछ जाना जाए – तो आइये – इस विषय पर कुछ विचार करे –

इस कार्यरूप सृष्टि में तीन नियम बहुत ही स्पष्ट रूप से दीखते हैं :

पहिला – इस सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ नियमपूर्वक, परिवर्तनशील है।

दूसरा – प्रत्येक जाती के प्राणी अपनी जाती के ही अंदर उत्तम, माध्यम और निकृष्ट स्वाभाव से पैदा होते हैं।

तीसरा – इस विशाल सृष्टि में जो कुछ कार्य हो रहा है वह सब नियमित, बुद्धिपूर्वक और आवश्यक है।

पहिला नियम : सृष्टि नियमपूर्वक परिवर्तनशील है इसका अर्थ जो लोग सृष्टि को स्वाभाविक गुण से परिवर्तनशील मानते हैं वे गलती पर हैं क्योंकि स्वाभाव में परिवर्तन नहीं होता ऐसे लोग भूल जाते हैं की परिवर्तन नाम है अस्थिरता का और स्वाभाव में अस्थिरता नहीं होती क्योंकि उलटपलट, अस्थिर ये नैमित्तिक गुण हैं स्वाभाविक नहीं। इसलिए सृष्टि में परिवर्तन स्वाभाविक नहीं। इसकी एक बड़ी वजह ये भी है की यदि प्रकृति में परिवर्तन स्वाभाविक माने तो ये अनंत परिवर्तन यानी अनंत गति माननी पड़ेगी और फिर एकसमान अनंत गति मानने से संसार में किसी भी प्रकार से ह्रासविकास संभव नहीं रहेगा किन्तु सृष्टि में बनने और बिगड़ने की निरंतर प्रक्रिया से सिद्ध होता है की सृष्टि का परिवर्तन नैमित्तिक है सवभविक नहीं, इसीलिए इस परिवर्तनरुपी प्रधान नियम के द्वारा यह सिद्ध होता है की सृष्टि के मूल कारणों में से यह एक प्रधान कारण है जो खंड खंड, परिवर्तन शील और परमाणुरूप से विद्यमान है। परन्तु यह परमाणु चेतन और ज्ञानवान नहीं हैं इसकी बड़ी वजह है की जो भी चेतन और ज्ञानवान सत्ता होगी वो कभी दूसरे के बनाये नियमो में बंध नहीं सकती बल्कि ऐसी सत्ता अपनी ज्ञानस्वतंत्रता से निर्धारित नियमो में बाधा पहुचाती है – जहाँ तक हम देखते हैं परमाणु बड़ी ही सच्चाई से अपना काम कर रहे हैं – जिस भी जगह उनको दूसरे जड़ पदार्थो में जोड़ा गया – वहां आँख बंद करके भी कार्य कर रहे हैं जरा भी इधर उधर नहीं होते इससे ज्ञात होता है की इस सृष्टि का परिवर्तनशील कारण जो परमाणु रूप में विद्यमान है ज्ञानवान नहीं बल्कि जड़ है – इसी जड़, परिवर्तनशील और परमाणु रूप उपादान कारण को माया, प्रकृति, परमाणु मेटर आदि नामो से कहा जाता है और संसार के कारणों में से एक समझा जाता है

दूसरा नियम : सभी प्राणियों के उत्तम और निकृष्ट स्वाभाव हैं। अनेक मनुष्य प्रतिभावान, सौम्य और दयावान होते हैं, अनेक मुर्ख उद्दंड और निर्दय होते हैं। इसी प्रकार अनेक गौ, घोडा आदि पशु स्वाभाव से ही सीधे होते हैं और अनेक शेर, आदि क्रोधी और दौड़दौड़कर मारने वाले होते हैं यहाँ देखने वाली बात है की ये स्वभावविरोध शारीरिक यानी भौतिक नहीं बल्कि आध्यात्मिक है, जो चैतन्य बुद्धि और ज्ञान से सम्बन्ध रखता है। लेकिन ध्यान देने वाली है ये ज्ञान प्राणियों के सारे शरीर में व्याप्त नहीं है, क्योंकि यदि सारे शरीर में ये ज्ञान व्याप्त होता तो किसी का कोई अंग भंग यथा अंगुली, हाथ, पैर आदि कट जाने पर उसका ज्ञानंश कम हो जाना चाहिए लेकिन वस्तुतः ऐसा होता नहीं इसलिए यह निश्चित और निर्विवाद है की ज्ञानवाली शक्ति जो प्राणियों में वास करती है वो पुरे शरीर में व्याप्त नहीं है प्रत्युत वह एकदेशी, परिच्छिन्न और अनुरूप ही है क्योंकि सुक्षतिसूक्ष्म कृमियों में भी मौजूद है दूसरा तथ्य ये भी है की यदि पुरे शरीर में ज्ञानशक्ति मौजूद होती तो जैसे शरीर का आकर बढ़ता है वैसे उस शक्ति को भी बढ़ना पड़ता जबकि ऐसा होता नहीं और ये शक्ति परमाणुओ के संयोग से भी नहीं बनी क्योंकि ऊपर सिद्ध किया गया की ज्ञानवान तत्व, परमाणु संयुक्त होकर नहीं बन सकता और न ही ये हो सकता है की अनेक जड़ और अज्ञानी परमाणु एकत्रित होकर परस्पर संवाद ही जारी रख सकते हो। यदि कोई मनुष्य ब्रिटेन में जिस समय पर गाडी दौड़ा रहा है – तो उसी समय पूरी दुनिया में मौजूद इंसान उस गाडी और मनुष्य को नहीं देख पा रहे इसलिए प्राणियों में मौजूद ज्ञानवान शक्ति, अल्पज्ञ है, एकदेशी है, परिच्छिन्न है। इसलिए इस शक्ति को जीव, रूह और सोल के नाम से जानते हैं।

इस विस्तृत सृष्टि में जो कुछ कार्य हो रहा है, वह नियमित, बुद्धिपूर्वक और आवश्यक है। सूर्य चन्द्र और समस्त ग्रह उपग्रह अपनी अपनी नियत धुरी पर नियमित रूप से भ्रमण कर रहे

हैं। पृथ्वी अपनी दैनिक और वार्षिक गति के साथ अपनी नियत सीमा में घूम रही है। वर्षा, सर्दी और गर्मी नियत समय में होती है। मनुष्य और पशुपक्ष्यादि के शरीरो की बनावट वृक्षों में फूलो और फलो की उत्पत्ति, बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज का नियम और प्रत्येक जाती की आयु और भोगो की व्यवस्था आदि जितने इस सृष्टि के स्थूल सूक्ष्म व्यवहार हैं, सबमे व्यवस्था, प्रबंध और नियम पाया जाता है। नियामक के नियम का सब बड़ा चमकार तो प्रत्येक प्राणी के शरीर की वृद्धि और ह्रास में दिखलाई देता है। क्यों एक बालक नियत समय तक बढ़ता और क्यों एक जवान धीरे धीरे ह्रास की और – वृद्धावस्था की और बढ़ता जाता है इस बात का जवाब कोई नहीं दे सकता यदि कोई कहे की वृद्धि और ह्रास का कारण आहार आदि पोषक पदार्थ हैं, तो ये युक्तियुक्त और प्रामाणिक नहीं होगा क्योंकि हम रोज देखते हैं एक ही घर में एक ही परिस्थिति में और एक ही आहार व्यवहार के साथ रहते हुए भी छोटे छोटे बच्चे बढ़ते जाते हैं और जवान वृद्ध होते जाते हैं तथा वृद्ध अधिक जर्जरित होते जाते हैं। इन प्रबल और चमत्कारिक नियमो से सूचित होता है की इस सृष्टि के अंदर एक अत्यंत सूक्ष्म, सर्वव्यापक, परिपूर्ण और ज्ञानरूपा चेतनशक्ति विद्यमान है जो अनंत आकाश में फ़ैल हुए असंख्य लोकलोकान्तरो का भीतरी और बाहरी प्रबंध किये हुए हैं। ऐसा इसलिए तार्किक और प्रामाणिक है क्योंकि नियम बिना नियामक के, नियामक बिना ज्ञान के और ज्ञान बिना ज्ञानी के ठहर नहीं सकता। हम सम्पूर्ण सृष्टि में नियमपूर्वक व्यवस्था देखते हैं, इसलिए सृष्टि का यह तीसरा कारण भी सृष्टि के नियमो से ही सिद्ध होता है। इसी को परमात्मा, ईश्वर खुदा और गॉड कहते आदि अनेक नामो से पुकारते हैं हैं जिसका मुख्य नाम ओ३म है।

सृष्टि के ये तीनो कारण स्वयंसिद्ध और अनादि हैं।

मेरे मित्रो, ज्ञान और विज्ञान की और लौटिए,

सत्य और न्याय की और लौटिए

वेदो की और लौटिए….

आओ लौट चले वेदो की और।

ईश्वर विचार – तर्क आधार पर ईश्वर की सिद्धि

JUNE 30, 2015 LEAVE A COMMENT

जब हम संसार में किसी पदार्थ को देखते हैं तो हमें उस में दो प्रकार के पदार्थ प्रतीत होते हैं – एक परिणामी दूसरे अपरिणामी।

जितने साकार पदार्थ हैं वे सब परिणामी और जितने निराकार पदार्थ हैं वे अपरिणामी हैं।

परन्तु जब हम इन साकार पदार्थो में प्रथम मनुष्य शरीर को देखते हैं तो यह शरीर माता पिता के संयोग से उत्पन्न होता है बढ़ता है घटता है और अंत को नष्ट हो जाता है इससे हमें क्या अनुमान होता है जो पैदा हुआ है वो नष्ट भी होगा जिस में परिणाम है वह पैदा हुआ है। जब परिणामी पदार्थो को उत्पत्ति वाला सिद्ध कर लेते हैं तो हम व्यष्टि पदार्थ अर्थ एक व्यक्ति को छोड़ कर समष्टि जगत को देखते हैं तो यह ही परिणाम प्रतीत होता है की

अवयवी के अवयव परिणाम को प्राप्त होते हैं वह अवयवी भी परिणामी होता है क्योंकि सम्पूर्ण अवयवो का नाम अवयवी है जब हम इस प्रकार सूक्ष्म विचार करते हैं तो हमें जगत परिणामी प्रतीत होने लगता है हम जगत के परिणामी होने से उसकी उत्पत्ति का अनुमान कर लेते हैं यद्यपि मध्य अवस्था में उसकी उत्पत्ति का बोध अनुमान के बिना नहीं होता फिर भी शब्द प्रमाण से जगत हुतपन्न हुआ और जगत, संसार, सृष्टि इसके पर्यायवाचक जितने शब्द दिए जाते हैं सब के अर्थ उत्पत्ति वाले के हैं।

जब हमने जगत को उत्पत्ति वाला अनुभव किया तो हमारा विचार वह होता है की यह उत्पत्ति स्वाभाविक है या नैमित्तिक दूसरे हम जिस पदार्थ की उत्पत्ति जिस पदार्थ से देखते हैं उसका लय भी उसी पदार्थ में होता है इस से कार्यरुप सब पदार्थो में अनित्यता और कारणरूप पदार्थो में नित्यता का बोध होता है जब हम पांच भूतो में अर्थात पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश में सब पदार्थो का लय देखते हैं तो उन्ही पंच पदार्थो से इस जगत की उत्पत्ति का विचार करते हैं.

यद्यपि कार्य अवस्था इन पदार्थो की अनित्य है परन्तु कर्णावस्था में यह नित्य होते हैं जब हम जगत के उपादान कारण निमित्त भी हैं अथवा जगत पंचभूतों ही से उत्पन्न हुआ वा इन के बिना कोई और भी पदार्थ है ?

जब हम पृथ्वी को विचरते हैं तो जड़ प्रतीत होती है जल भी ज्ञानशून्य है अग्नि भी ज्ञान नहीं रखती वायु में भी ज्ञान का अभाव वही प्रतीत होता है आकाश ज्ञान से हीं है इस प्रकार के विचार से हम सम्पूर्ण भूतो को ज्ञान से रहित पाते हैं।

परन्तु जब हम संसार में जो सोने के बने गहने में सोने और गुण और चांदी में चांदी के गुण पाते हैं इस से हमको बोध होता है की कारण के गुण अनुकूल कार्य में गन रहते हैं। जब भूतो में ज्ञान गुण नहीं हैं तो उसके कार्यरूप जगत में भी ज्ञान नहीं हो सकता और जगत में मनुष्यो को ज्ञान से युक्त देखते हैं तो शीघ्र विचार उत्पन्न होता है की यह ज्ञान गुण किसका है ?

बहुत से लोग खासकर चार्वाकी कहते हैं पृथक भूतो में तो चैतन्यता नहीं किन्तु संयोग से उत्पन्न होती है यहाँ ध्यान देने वाली बात है की जो गुण एक एक में न रहे वह संयोग से उत्पन्न नहीं होता जैसे मैदे में मधुरता नहीं – जल में मधुरता नहीं उत्पन्न होती – चीनी में मधुरता है – जल में मिलाने से तुरंत मधुरता उत्पन्न हो जाती है।

दूसरे रेल के इंजन में पृथ्वी है, जल है, अग्नि है, वायु है, आकाश है परन्तु ज्ञानशक्ति नहीं है, मृतक शरीर में पांचो ज्ञानशक्ति का आधार कोई दूसरी वास्तु है। जब हम इस प्रकार सृष्टि में जड़ चैतन्य को दो स्वरूप करके विचार लेते हैं तो हमको सृष्टि में इनका संयोग और सृष्टि में स्वाभाव से संयोग है या निमित्त से यह विचार उत्पन्न होता है। जब हम बाज़ार जाते हैं तो हम को कभी कहीं ईंटे गिरी पड़ी पाती है तो हम अनुमान से जान जाते हैं ये स्वाभाविक गिरी होंगी। परन्तु यदि किसी स्थान पर १० की निश्चित संख्या में गिन गिन के किसी ने राखी हैं तो इससे यह सिद्ध होता है की जहाँ पर नियम हैं वह नैमित्तिक और जो वे नियम हैं वह स्वाभाविक हैं।

जब सृष्टि में नियम को देखते हैं तो इसके हर एक पदार्थ में नियम प्रतीत होता है, मनुष्य स्त्री के संयोग से लड़का उत्पन्न होता है, घोडा घोड़ी के संयोग से घोडा ही होता है, घोड़ी और गधे के संयोग से खच्चर – इसी प्रकार सब पदार्थ नियमानुसार प्रतीत होते हैं, गर्मी में देश घंटे की रात और सर्दी में १४ घंटे की – कहने का तात्पर्य जिधर देखो उधर नियम बंध रहा है फिर इसे किस युक्ति से स्वाभाविक माने ?

दूसरा जो स्वाभाविक गुण हैं वे सर्वदा एक रास रहते हैं वे बिना किसी निमित्त के बदलते नहीं जैसे जल का स्वाभाव शीतल है वह बिना अग्नि संयोग के उष्ण न होगा – इससे सिद्ध है की जल में उत्पन्न वह उष्णता अग्नि की है – न की जल की – इससे सिद्ध है की पंचभूतों में ज्ञान नहीं – ना ही वे स्वयं से संयोग वियोग कर ही सकते हैं क्योंकि पंचभूत जड़ पदार्थ हैं –

इसलिए भूतो के स्वाभाव से तो जगत की उत्पत्ति असंभव है – इसलिए यह निश्चित किया जाता है की जगत का निमित्त कारण ज्ञानशक्ति संपन्न सर्वशक्तिमान कोई ना कोई अवश्य ही है।

जब हम इस प्रकार ईश्वर को मानेंगे तो कुछ लोगो को शंका उत्पन्न होगी की –

ईश्वर ने जगत उत्पन्न किया है तो ईश्वर को किसने उत्पन्न किया ?

इसका उत्तर है की –

परिणामी पदार्थ कार्य होते हैं उनको कारण की अपेक्षा होती है यदि ईश्वर परिणामी हो तो उसका भी कारण हो मगर ईश्वर नित्य है अपरिणामी है – उसका कर्ता नहीं हो सकता।

यदि कोई कहे ईश्वर कहाँ है ?

तो उत्तर यही ठीक है रहने का ठिकाना एकदेशी के लिए होता है – विभु के लिए नहीं –

इसलिए ईश्वर निराकार शक्ति है जो जगत का निमित्त कारण है

इति सिद्धम

ईश्वर नियंता है, न्यायकारी है, आधीन नहीं

JUNE 30, 2015 LEAVE A COMMENT

मित्रो,

आज बात करते हैं सिद्धांतो और नियमो की – क्योंकि बिना इनके न तो धर्म संभव है न ही ज्ञान –

वैदिक विचार – ईश्वर ऐसा कुछ नहीं कर सकता जो सृष्टि नियम और सिद्धांत विरुद्ध हो – क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ है – न्यायकारी है – सत्य है – ज्ञानी है आदि आदि।

कुछ हिन्दू भाई धर्म तत्त्व से अनभिज्ञ होकर सृष्टि नियम व सिद्धांतो को ताक पर रखकर ईश्वर पर केवल दोष सिद्ध करके उसे न्यायकारी परमात्मा को अन्यायकारी और नियम विरुद्ध चलने वाला मान बैठते हैं – जिससे वो खुद ही नहीं जान पाते की ईश्वर क्या है – आइये एक छोटे से उदहारण से समझने की कोशिश करते हैं –

सिद्धांत क्या हैं और नियम क्या हैं – पहले ये समझना होगा –

सिद्धांत – जो अटल हो – सत्य हो – तर्कपूर्ण हो – जिनसे सिद्ध किया जाता है – ये छोटी सी परिभाषा है – समझने के लिए।

नियम – जो नियमित हो – जिनमे परिवर्तन न होता हो – जो मान्य हो – सत्य और न्याय पर आधारित हो – ये छोटी सी परिभाषा है – समझने के लिए।

2 + 2 = 4 ये एक बहुत छोटा सा सवाल है जिसे एक पहली कक्षा में पढ़ने वाला विद्यार्थी भी आसानी से हल कर सकता है – ये सवाल जिसका जवाब सैद्धांतिक और नियमानुसार नहीं बदल सकता – एक ही जवाब आएगा चाहे किसी भी प्रकार सिद्ध किया जाये।

यदि हम भी इस सवाल का उत्तर देंगे तो यही होगा – क्योंकि यह न्याय और सिद्धांतो की बात है – इसका कतई मतलब ये नहीं निकल सकता की हम इस सिद्धांत के आधीन हैं।

आधीनता और स्वाधीनता चेतन तत्वों में ही चरितार्थ हो सकती है – जड़ तत्वों में नहीं। क्योंकि सिद्धांत और नियम जड़ तत्व हैं – इसलिए कोई चेतन वस्तु इनके आधीन नहीं हो सकती।

अब कुछ लोग कहेंगे क्योंकि भारतीय संविधान है वो जड़ है मगर एक जज उसके आधीन है। तो यहाँ दो बाते समझने वाली हैं –

१. क्योंकि संविधान है – तो उसको किसीने बनाया होगा – और बनाने वाला चेतन होगा क्योंकि विचार और कर्म चेतन में ही संभव है जड़ में नहीं। इसलिए यदि आप कहो की कोई जज भारतीय संविधान के आधीन है तो पहले तो आपको यही सिद्धांत स्वीकार करना पड़ेगा की ईश्वर है क्योंकि इस सृष्टि के नियम और सिद्धांत स्वयं नहीं बन सकते उनको बनाने वाली कोई सत्ता होनी चाहिए जो चेतन हो इसलिए ईश्वर है।

२. जज आधीन नहीं, स्वतंत्र है क्योंकि वो अपने विवेक और न्याय से फैसला करता है। यदि जज किसी के आधीन हो तो न्याय नहीं कर सकता क्योंकि न्याय करने के लिए नियम होने चाहिए इसलिए वो नियमानुसार ही न्याय करेगा यदि नियमानुसार न्याय न करे तो पक्षपाती और दुष्ट कहलाये फिर उसको जज कोई कैसे कहे ? इसलिए की ईश्वर न्यायकारी है और न्याय के लिए नियम चाहिए क्योंकि वो सबको एकसमान न्याय करता है पक्षपात नहीं इसलिए वो नियंता है –

नियंता आधीन नहीं होता – नियंता नियम से न्याय करता है इसीलिए वो स्वतंत्र होना चाहिए – बिना स्वतंत्र हुए वो नियमपूर्वक न्याय नहीं कर सकता।

जीव नियमो के आधीन है क्योंकि जीव को कर्मो के फल भोग करने हैं। और ईश्वर स्वतंत्र है इसलिए नियमानुसार कर्मो के फल, जीव को भोग करवाता है।

अतः ईश्वर सर्वज्ञ, न्यायकारी है इसलिए स्वतंत्र है।

जीव अल्पज्ञ है, कर्मो के फल भोग हेतु परतंत्र है।

जगत और जगत का कारण जड़ है।

नमस्ते

परमपिता परमात्मा ने चार ऋषियों को चारो वेदो का प्रकश उनके आत्मा में किया था

JUNE 30, 2015 LEAVE A COMMENT

कोई वेद आगे पीछे पहले बाद में नहीं आया।

आक्षेप करिये – मगर जो आक्षेप का जवाब आपको मिल चूका – जिसमे आपकी सम्मति हो चुकी – तब पुनः उसी विषय को बार बार उठाना ये बुद्धिमानी नहीं – कृपया स्वयं एक बार इस पोस्ट को पढ़े फिर यदि कोई शंका हो तो बताये – अन्यथा इस सिद्धातं को जिस प्रकार सनातन मत मानता चला आ रहा है उसी प्रकार मानकर आगे बढ़िए – बाकी आपकी जैसी इच्छा वैसे करे।

वेदत्रयी : तीन प्रकार के मंत्रो के होने, अथवा वेदो मे ज्ञान,कर्म ओर उपासना तीन प्रकार के कर्तव्यो के वर्णन करने से वेदत्रयी कहे जाते है ।

यही बात सर्वानुक्रमणीवृत्ति की भूमिका मे ”षड्गुरुशिष्य” ने कही है-

”विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते|
ऋग् यजुः सामरूपेण मन्त्रोवेदचतुष्टये||”

अर्थात् यज्ञो मे तीन प्रकार के रूप वाले मंत्र विनियुक्त हुआ करते है|

तस्माद यज्ञात सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद यजुस्तस्मादजायत।। (यजु० 31.7)

उस सच्चिदानंद, सब स्थानो में परिपूर्ण, जो सब मनुष्यो द्वारा उपास्य और सब सामर्थ्य से युक्त है, उस परब्रह्म से ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और छन्दांसि – अथर्ववेद ये चारो वेद उत्पन्न हुए।

अन्य साक्षी :

यस्माद्दचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपकशन।
सामानि यस्य लोमानी अथर्वांगिरसो मुखं।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमःस्विदेव सः।। (अथर्व० 10.4.20)

अर्थ : जो सर्वशक्तिमान परमेश्वर है, उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (अंगिरसः) अथर्ववेद, ये चारो उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार रूपकालंकार से वेदो की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है की अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमो के सामान, यजुर्वेद ह्रदय के सामान और ऋग्वेद प्राण के सामान हैं, (ब्रूहि कतमःस्विदेव सः) चारो वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौन सा देव है ? उसको तुम मुझसे कहो, इस प्रशन का उत्तर यह है की (स्कम्भं तम) जो सब जगत का धारणकर्ता परमेश्वर है, उसका नाम स्कम्भ है, उसी को तुम वेदो का कर्ता जानो। (ऋ० भा० भू० वेदोत्पत्ति विषय)

ब्राह्मणो ने भी इस मान्यता को यथावत स्वीकार किया है –

“एवं वा श्वरेस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्।
यद्दग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्वांगिरसः।। (शत० 14.5)

अर्थात : उस महान शक्तिशाली परमात्मा के निश्वासरूप में प्रकट ये चारो वेद जो ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अंगिरा से प्रकट अथर्ववेद के नाम से प्रसिद्द हैं।

अन्य साक्षी :

“तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्र्यो वेदा अजायन्त, अग्नेऋग्वेदो, वायोर्यजुर्वेदः, सुर्यात्साम्वेदः।” (श० 11.5.2.3)

अर्थात : उन तपस्वी ऋषियों के माध्यम से परमात्मा ने अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद, इस प्रकार त्रयीविद्यारूप चार वेद प्रकट किये।

अब जब वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ दोनों ही प्रमाण हैं फिर भी कैसे कोई सनातनी ये आक्षेप कर सकता है की अथर्ववेद बाद में आया है ? क्या ये सनातनी ज्ञान होगा अथवा नवीन भूल ?

खैर मनुस्मृति से एक साक्षी और देते हैं :

अध्यापयामास पितण्शिशुरांगिरसः कविः।
पुत्रका इतिहोवाच ज्ञानेन परिग्रह्य तान।। (मनु० 2.126)

[इस प्रसंग में एक इतिवृत्त भी है] (अंगिरसः शिशुः कविः) आंगिवंशी “शिशु” नामक बालक विद्वान ने (पितृन्) अपने पिता के सामान चाचा आदि पितरो को (अध्यापयामास) पढ़ाया (ज्ञानेन परिग्रह्य) ज्ञान देने के कारण (तान “पुत्रकाः” इति ह उवाच) उनको हे पुत्रो इस शब्द से सम्बोधित किया।

कवि शब्द की व्युत्पत्ति : कविः शब्द ‘कु-शब्दे’ (अदादि) धातु से ‘अच इः’ (उणादि 4.139) सूत्र से ‘इः’ प्रत्यय लगने से बनता है। इसकी निरुक्ति है :

'क्रांतदर्शनाः क्रांतप्रज्ञा वा विद्वांसः (ऋ० द० ऋ० भू०)
"कविः क्रांतदर्शनो भवति" (निरुक्त 12.13)

इस प्रकार विद्याओ के सूक्ष्म तत्वों का दृष्टा, बहुश्रुत ऋषि व्यक्ति कवि होता है।
इसे "अनुचान" भी इस प्रसंग में कहा है [2.129] ब्राह्मणो में भी कवि के इस अर्थ पर प्रकाश डाला है –

"ये वा अनूचानास्ते कवयः" (ऐ० 2.2)

"एते वै काव्यो यदृश्यः" (श० 1.4.2.8)

"ये विद्वांसस्ते कवयः" (7.2.2.4)

शुश्रुवांसो वै कवयः (तै० 3.2.2.3)

शिशु अंगिरस – यह अंगिरावंश का एक विद्वान बालक था। बाल्यावस्था में मन्त्रद्रष्टा होने के कारण यह गुणाभिधान "शिशु" नाम से ही प्रसिद्द हो गया।
इसका यह आख्यान ताण्ड्य ब्राह्मण 13.3.23-24 और पञ्च ब्रा० 13.3.24 में यथावत आता है। वहां इसे "मन्त्रकृतां मन्त्रकृत" कहा है। ऋ० 9.112 सूक्त इसी शिशु ऋषि द्वारा दृष्ट है। सामवेद में यत्सोम चित्रम........." [उ० 3.2.13] तृच् को इसके द्वारा दृष्ट होने के कारण ही "शैशव साम" कहा गया है।

उपरोक्त वेद और इतिहास प्रमाणों से सिद्ध है की परमात्मा ने चारो ऋषिये के आत्माओ में एक एक वेद का प्रकाश एक ही समय में किया था। जब चारो वेदो ने स्वंय अर्थववेद के वेदत्व को स्वीकार किया है तो फिर अर्थववेद को नया बतलाकर वेद की सीमा से दूर करना मुर्खतामात्र है|

बाकी ज्ञानीजन विचार करे।

।। ओ३म ।।

वेद और मनुस्मृति का मूल

JUNE 29, 2015 LEAVE A COMMENT

कुछ पौराणिक महाज्ञानी और अल्पबुद्धि लोग दोनों ही कुछ दिनों से एक विषय पर वार्तालाप करते चले आ रहे हैं, विषय है या सवाल है कुछ भी है वो इस प्रकार है –

मनुस्मृति का मूल वेद में कहाँ है ?

इस सवाल का जवाब देने से पूर्व हम देखते हैं मूल का अर्थ क्या होता है ?

मूल का अर्थ होता है आधार, बुनियाद, जड़, आदि। यानी इस सवाल को इस प्रकार समझा जा सकता है –

मनुस्मृति का आधार वेद में कहाँ है ?

यहाँ दो बाते समझनी चाहिए –

1. वेद अपौरुष्य हैं – अर्थात वेद ईश्वर का नित्य ज्ञान है जो आदि सृष्टि में ही चार ऋषियों के हृदय में प्रकाशित किया गया था। इससे सिद्ध है की वेद में इतिहास नहीं हो सकता और जो वेद में इतिहास खोजे वो गधे के सर पर सींग खोजने का व्यर्थ कार्य ही कर रहा है। इसी कारण से वेदो को श्रुति कहा गया है। ये परंपरा सनातन काल से चली आ रही है पर खेद की आज कुछ तथाकथित विद्वान अपने स्वार्थ को पूरा करने के चक्कर में इस सनातन परम्परा का अपमान करने से भी नहीं चूक रहे।

2. मनुस्मृति महाराज मनु द्वारा बनाया गया मानवो के लिए निर्मित आचार, व्यव्हार आदि धर्मशास्त्र है जिसे स्मृति कहा गया है। इस धर्मशास्त्र में मनुष्यो को क्या कर्म करने और क्या नहीं करने आदि विषयो से सम्बंधित है, कहने का तात्पर्य है की धर्म पर चलना और अधर्म से पृथक रहने का मनुस्मृति में विधान किया गया है।

अब दोनों तथ्यों को ध्यान में रखकर ये तो सिद्ध हो जाता है की मनुस्मृति वेदो के बहुत बाद की रचना है और मनुस्मृति में महाराज मनु ने वेदो के मंत्रो को देख पढ़ कर बहुत विचार करने के उपरान्त ये धर्मशास्त्र बनाया था। ताकि समस्त मानव जाति का कल्याण हो।

अब सवाल है की श्रुति और स्मृति में अंतर क्या है ?

सामान्य रूप से वेद को ‘श्रुति कहा जाता है और धर्मशास्त्रा को ‘स्मृति। महाराज मनु ने स्पष्ट रूप से स्मृति को ‘धर्मशास्त्रा कहा है-

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रां तु वै स्मृतिः।

-मनुस्मृति 2/10

भावार्थ : वेद धर्म के मूल हैं। वेद में प्रतिपादित धर्म का ही सरल रूप से धर्मशास्त्रा में वर्णन हुआ है।

तो यहाँ स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गया की धर्म का मूल वेद है और वेद में प्रतिपादित धर्म का ही सरल रूप से धर्मशास्त्र यानी मनुस्मृति में वर्णन हुआ है।

इससे ये भी सिद्ध हुआ की मनुस्मृति का मूल वेद ही है। और इस आक्षेप का समाधान भी हो गया की मनुस्मृति का मूल वेद में कहाँ है।

महर्षि दयानंद और पंडित तारचरण के मध्य शास्त्रार्थ हेतु जो संवाद हुआ वो पठनीय है :

महर्षि दयानंद : क्या आप वेदो का प्रमाण मानते हैं वा नहीं ?

पंडित तारचरण : जो वर्णाश्रम में स्थित हैं उन सबको वेदो का प्रमाण ही है।

यहाँ पंडित तारचरण को भी सत्यभाषण ही करना पड़ा क्योंकि जो वेदो को प्रमाण न मानते ऐसा कहते तो बहुत ही निंदा होती – लेकिन ध्यान योग्य बात है की जब वेद को स्वयं ही प्रमाण मान लिया तब अन्य प्रमाण की इन्हे आवश्यकता क्या पड़ी ?

महर्षि दयानंद : कहीं वेदो में पाषाणादि मूर्ति पूजन का प्रमाण है वा नहीं ? यदि है तो दिखाइए और जो न हो तो कहिये नहीं है।

पंडित तारचरण : वेदो में प्रमाण है वा नहीं परन्तु जो एक वेदो का ही प्रमाण मानता है औरो का नहीं उसके प्रति क्या कहना चाहिए ?

यहाँ ध्यान से पढ़ने वाली बात है – ऋषि ने केवल मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में सवाल किया की क्या वेदो में मूर्तिपूजा का प्रमाण है ? इस पर तारचरण जी से कुछ कहते नहीं बना क्योंकि वो जानते थे की वेदो में मूर्तिपूजा का प्रमाण नहीं इसलिए अन्य प्रमाणों की और जोर देकर कहा की अन्य प्रमाण भी साक्षी के तौर पर लेने चाहिए मगर तारचरण जी ये भूल गए की खुद भी ऊपर उन्होंने स्वयं माना की जो भी वर्णाश्रम में स्थित है उसके लिए वेद ही प्रमाण है। तब जब वेद ही को वर्णाश्रम में स्थित के लिए प्रमाण मान तब अन्य प्रमाण की साक्षी क्यों ?

महर्षि दयानंद : औरो का विचार पीछे होगा। वेद का विचार मुख्य है। इस निमित्त इसका विचार पाहिले ही करना चाहिए क्योंकि वेदोक्त ही कर्म मुख्य है और मनुस्मृत आदि भी वेदमूलक है इससे इनका भी प्रमाण है क्योंकि जो वेद विरुद्ध और वेदो में अप्रसिद्ध है उनका प्रमाण नहीं होता।

यहाँ ध्यान योग्य पढ़ने वाली बात है, क्योंकि इससे पंडित तारचरण का पंडितव और महर्षि दयानंद का अद्भुद ज्ञान दोनों ही समझ आ सकते हैं – देखिये महर्षि ने कहा क्योंकि मनुस्मृति वेद पर आधारित है अर्थात जो वेद सम्मत है उसको महाराज मनु ने भी धर्म कहा और जो वेद विरुद्ध है उसे अधर्म कहा – इससे सिद्ध है की मनुस्मृति वेदमूलक है। मगर पंडित तारचरण की पंडताई देखिये :

पंडित तारचरण : मनुस्मृति का वेदो में कहाँ मूल है ?

अब देखिये धूर्तता और छल, ऋषि ने कहा मनुस्मिृति वेदमूलक है यानी वेद सम्मत बात मनुस्मृति में धर्म कहा है, मगर तारचरण जी अपनी धूर्तता करते हुए मनुस्मृति का वेदो में कहाँ मूल है ये सवाल पूछते हैं, खैर फिर भी महर्षि ने बहुत ही अच्छा जवाब देते हुए कहा :

महर्षि दयानंद : जो जो मनुजी ने कहा है सो सो औषधियों का भी औषध है ऐसा सामवेद के ब्राह्मण में कहा है।

यहाँ ये बात बहुत ही गूढ़ है जो महर्षि ने बताई – पंडित तारचरण समझ गये इसलिए अब इस विषय से हट गए क्योंकि जो इसी विषय पर रहते तो वेदो से प्रमाण देना होता की मूर्तिपूजा वेद सम्मत है – जो की कभी दे नहीं सकते थे – इसलिए फ़ौरन एक दूसरे पंडित विशुद्धानंद स्वामी ने प्रकरण को बदलते हुए आक्षेप करने शुरू करे।

इतने से ही पाठकगण समझ लेंगे की पौराणिक व्यर्थ ही आक्षेप मढ़ते हैं जवाब उनपर आजतक नहीं मगर फिर भी आक्षेप महर्षि पर लगाने हैं, खैर हम यहाँ ऋषि के समर्थन में और अनेक ऋषियों जैसे महर्षि व्यास और वाल्मीकि जिन्होंने मनु महाराज के श्लोको को अपने ग्रंथो में महत्त्व प्रदान किया पठनीय है :

महाभारत में मनुस्मृति के श्लोक –

महर्षि वेदव्यास (कृष्णद्वेपायन) रचित महाभारत में मनुस्मृति के श्लोक व् मनु महाराज कि प्रतिष्ठा अनेकों स्थानो पर आयी है किन्तु मनु में महाभारत वा व्यास जी का नाम तक नही ।

महाभारत में मनु महाराज की प्रतिष्ठा –
मनुनाSभिहितम् शास्त्रं यच्चापि कुरुनन्दन ! महाभारत अनुशासन पर्व , अ० ४ ७ – श ० ३ ५
तैरेवमुक्तोंभगवान् मनुः स्वयम्भूवोSब्रवीत् । महाभारत शांतिपर्व , अ० ३ ६ – श ० ५
एष दयविधि : पार्थ ! पूर्वमुक्त : स्वयम्भूवा । महाभारत अनुशासन पर्व , अ० ४ ७ – श ० ५ ८
सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् । महाभारत शांतिपर्व , मोक्षधर्म आदि ।
अद्भ्योSग्निब्राहतः क्षत्रमश्मनो लोहमुथितं ।
तेषाम सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिशु शाम्यति ।। – मनु अ० ९ – ३ २ १

ठीक यही मनु का श्लोक महाभारत शांतिपर्व अ० ५ ६ – श २ ४
में आया है और महाभारत के इस श्लोक से ठीक पूर्व २ ३ वें श्लोक में आया है –
“मनुना चैव राजेंद्र ! गीतो श्लोकों महात्मना”
अर्थात हे राजेंद्र ! मनु नाम महात्मा ने इन श्लोकों को कहा है !

इसी प्रकार मनु के जो जो श्लोक ज्यों के त्यों महाभारत में है ;
मैं यहाँ अब केवल उनके श्लोक नम्बर ही लिखा रहा हूँ

मनु ० १ १ /७ – महा० शांति अ ० १६५ – श ० ५
मनु ० १ १ /१२ – महा० शांति अ ० १६५ – श ० ९
मनु ० १ १ /१८ ० – महा० शांति अ ० १६५ – श ० ३ ७
मनु ० ६ /४५ – महा० शांति अ ० २४५ – श ० १५
मनु ० २ /१२० – महा०अनु ० अ ०१०४ – श ० ६४

अब वो श्लोक लिखते है जो मनु के है परन्तु कुछ परिवर्तन के साथ आयें है –

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोSनधियान स्त्रयते नाम बिभ्रति । । – मनु २ /१५७

यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
ब्राह्मणश्चानधियानस्त्रयते नाम बिभ्रति । । -महा शांति ३६/४७

अब केवल उनके श्लोक नम्बर ही लिखा रहा हूँ जो कुछ परिवर्तन के साथ आयें है –

मनु ० १ १ /४ – महा० शांति अ ० १६५ – श ० ४
मनु ० १ १ /१२ – महा० शांति अ ० १६५ – श ० ७
मनु ० १ १ /३७ – महा० शांति अ ० १६५ – श ० २ २
मनु ० ८ /३७२ – महा० शांति अ ० १६५ – श ० ६३
मनु ० २ /२३१ – महा० शांति अ ० १०८ – श ० ७
मनु ० ९ /३ – महा० अनु अ ० ४६ – श ० १४
मनु ० ३ /५५ – महा० अनु अ ० ४६ – श ० ३

लगभग मनु के ५ ० ऐसे श्लोक है जो ज्यों के त्यों वा कुछ परिवर्तन के साथ महाभारत में आये है ।
वाल्मीकि रामायण में मनुस्मृति के श्लोक –

महर्षि वाल्मीकि रचित रामायण में मनुस्मृति के श्लोक व् मनु महाराज कि प्रतिष्ठा आयी है किन्तु मनु में वाल्मीकि , राम जी आदि का नाम तक नही ।

वाल्मीकि रामायण में मनु महाराज की प्रतिष्ठा –

किष्किन्धा काण्ड में जब श्री राम अत्याचारी बाली को घायल कर उसके आक्षेपों के उत्तर में अन्यान्य कथनो के साथ साथ यह भी कहते है कि तूने अपने छोटे भाई सुग्रीव कि स्त्री को बलात हरण कर और उसे अपनी स्त्री बना अनुजभार्याभिमर्श का दोषी बन चूका है , जिसके लिए (धर्मशास्त्र) में दंड कि आज्ञा है ।
इस पृथिवी के महाराज भरत है (अतः तू भी उनकी प्रजा है) ; मैं उनकी आज्ञापालन करता हुआ विचरता हूँ फिर में तुझे यथोचित दंड कैसे ना देता ? जैसे –

श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्र वत्सलौ ||
गृहीतौ धर्म कुशलैः तथा तत् चरितम् मयाअ || वाल्मीकि ४-१८-३०

राजभिः धृत दण्डाः च कृत्वा पापानि मानवाः |
निर्मलाः स्वर्गम् आयान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा || वाल्मीकि ४-१८-३१

शसनात् वा अपि मोक्षात् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते |
राजा तु अशासन् पापस्य तद् आप्नोति किल्बिषम् || वाल्मीकि ४-१८-३२

उपरोक्त श्लोक ३० में मनु का नाम आया है और श्लोक ३१ , ३२ भी मनु महाराज के ही है ! उपरोक्त श्लोक किंचित पाठभेद (परन्तु जिससे अर्थ में कुछ भी भेद नही आया) मनु अध्याय ८ के है ! जिनकी संख्या कुल्लूकभट्ट कि टिकावली में ३१८ व् ३१९ है –

राजभिः धृत दण्डाः च कृत्वा पापानि मानवाः |
निर्मलाः स्वर्गम् आयान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा || वाल्मीकि ४-१८-३१

राजभिः धूर्त दण्डाः च कृत्वा पापानि मानवाः |
निर्मलाः स्वर्गम् आयान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा || मनु ८ / ३१८

शसनात् वा अपि मोक्षात् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते |
राजा तु अशासन् पापस्य तद् आप्नोति किल्बिषम् ‖ वाल्मीकि ४-१८-३२

शसनाद्वा अपि मोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद विमुच्यते |
अशासित्वा तू तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ‖ मनु ८/३१६

रामायण में स्पष्टतः मनु के श्लोकों (मनुना गीतौ श्लोकौ) कि प्रशंसा विधमान है ठीक उसी प्रकार जैसे महाभारत में थी "मनुना चैव राजेंद्र ! गीतो श्लोकों महात्मना" – महाभारत शांतिपर्व अ० ५ ६ – श २ ३

ऐतिहासिक ग्रंथो में ही इतिहास का वर्णन हो सकता है, वेद तो ईश्वर का नित्य ज्ञान है उसमे इतिहास नहीं हो सकता, क्योंकि वेद धर्म का मूल है इसलिए मनुस्मृति वेदमूलक है तभी उसका वर्णन और महाराज मनु की प्रतिष्ठा रामायण व महाभारत दोनों ही ग्रंथो में विस्तार से मिलती है, यदि अब भी कोई पौराणिक ना माने हठ करे तो इसे देखे :

इदं शास्त्रां तु कृत्वा-सौ मामेव स्वयमादितः।

विधिवद ग्राह्यामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन।।

-मनुस्मृति 1/58

अतएव मनु द्वारा उपदिष्ट होने से ही इसका नाम मनुस्मृति है।

महाराज मनु आदि अनेको ऋषियों ने धर्म का मूल वेदो के अनुसार जो नियम बनाये और उनका पालन करने की प्रेरणा दी वही धर्म कहा गया है। यदि कुछ महानुभाव वेद से उसे ना भी जोड़ते हुए 'चोदना' प्रेरणा तक ही सीमित रखे जैसे की व्यर्थ ही कोशिश काशी शास्त्रार्थ के दौरान विशुद्धानन्द जी ने की मगर वो भूल गए की कर्तव्य के मूल में प्रेरणा अवश्यम्भावी है अर्थात जिन लक्षणों, कर्तव्यों या नियमो में लोक को धारण करने की प्रेरणा मूलभूत रहती है वे धर्म हैं और उनका पालन आवश्यक माना जाता है, यही बात महर्षि ने विशुद्धानन्द जी को जवाब देते समय कही थी :

महर्षि दयानंद : धर्म के दस लक्षण मनुस्मृति में बताये हैं, धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध – फिर सवाल घूम फिर कर विशुद्धानन्द जी पर ही आ गिरा क्योंकि उन्होंने धर्म के स्वरुप को पाहिले 'चोदना' अर्थात प्रेरणा बता दिया फिर बाद में धर्म का केवल एक ही लक्षण बताया।

इससे काशी में मौजूद सभी पंडितो का पंडितव और आडमबर सबके सम्मुख निकल आया। नतीजा आजतक सभी पंडित महर्षि दयानंद पर व्यर्थ आक्षेप लगा रहे हैं, जवाब खुद के पास मौजूद नहीं और जिस महर्षि ने अपनी विद्वत्ता काशी ही नहीं सम्पूर्ण धरती पर वेदो के माध्यम से दिखाई वो कोई साधारण मनुष्य नहीं कर सकता।

निश्चय ही वो महामानव अर्थात महर्षि थे।

धन्य है तुझ को ए ऋषि तूने हमें जगा दिया।
सो सो के लुट रहे थे हम,तूने हमें जगा दिया।

अब भी चाहे तो अनेको पौराणिक मिथ्या आक्षेप और विलाप करने हेतु स्वतंत्र है।

लौटो वेदो की और।

नमस्ते

सगुण क्या निर्गुण क्या? प्रा राजेंद्र जिज्ञासु

JUNE 25, 2015 LEAVE A COMMENT

– अबोहर के डी.ए.वी. कॉलेज में कुछ वर्ष पूर्व दो योग्य युवा हिन्दी प्राध्यापक नियुक्त हुए। कुछ पुराने अध्यापकों से लेखन व साहित्य सृजन की चर्चा करते समय उन्होंने अपने पुराने सहयोगियों से मेरे लेखन-कार्य के बारे में कुछ सुना। एक दिन फिर धूप में खड़े-खड़े वे कुछ ऐसी ही चर्चा कर रहे थे। पुनः मेरा नाम किसी ने लिया तो वे बोले- उनका निवास कॉलेज पुस्तकालय के पीछे ही तो है। वे प्रायः कॉलेज के डाकघर पत्र डालने व कार्ड आदि लेने आते रहते हैं। जो दुबला-पतला व्यक्ति चलते-चलते यहाँ से पढ़ता-पढ़ता निकले बस समझलो- वह राजेन्द्र जिज्ञासु ही हो सकता है। वे यह बात कर ही रहे थे कि मैं चलते-चलते उधर से निकला। कुछ पढ़ता भी जा रहा था। मेरी उनसे भेंट करवाई गई। कुछ चर्चा छिड़ गई। क्या लिख रहे हो? आजकल किस विषय की खोज में लगे हो? कुछ ऐसे प्रश्न पूछे।

मैंने उन्हें अपने निवास पर दर्शन देने के लिए कहा। वे निमन्त्रण पाकर प्रसन्न हुए और दो दिन में मिलने आ गये। मैं अपने लेखन-कार्य में व्यस्त था। बातचीत चल पड़ी तो उन दो में से एक ने कहा- आर्यसमाज तो निर्गुण, निराकार की उपासना को मानता है, जब कि भक्तिकाल के कई सन्त सगुण, साकार ईश्वर की उपासना को मानते हैं।

यह कथन सुनकर इस लेखक ने उनसे कहा- आपके कथन में आंशिक सच्चाई है। आर्यसमाज तो ईश्वर को निर्गुण व सगुण दोनों मानता है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो निर्गुण न हो और कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो सगुण न हो।

मेरे मुख से निकले ये शब्द सुनकर वे दोनों चौंक पड़े। दोनों ही पीएच.डी. उच्च शिक्षित सज्जन थे। वे बोले हिन्दी साहित्य में तो अनेक लेखकों ने निर्गुण भक्ति को निराकार की उपासना और सगुण उपासना का अर्थ मूर्तिपूजा ही माना है। कुछ सन्त महात्माओं के नाम भी लिए।

उनसे निवेदन किया गया कि सन्तों को इस चर्चा में मत घसीटें। मैं भी बहुत नाम ले सकता हूँ। आप यह बतायें कि सगुण व निर्गुण इन दो शब्दों में जो 'गुण' शब्द पड़ा है, इसका अर्थ क्या है? कोई-सा शब्दकोष उठा लीजिये अथवा किसी ग्रामीण निरक्षर वृद्धा से पूछें कि 'गुण' शब्द का अर्थ क्या है? यह शब्द देशभर में प्रयुक्त होता है। सर्वत्र इसका आशय क्वालिटी सिफ़त ही जाना, माना व समझा जाता है। सद्गुण, अवगुण सब ऐसे शब्द यही सिद्ध करते हैं या नहीं? उनको मेरी बात जँच गई। वे इसका प्रतिवाद न कर सके।

अब उनसे पूछा कि जब गुण का अर्थ आप क्वालिटी विशेषतायें मानते हैं तो फिर 'सगुण' 'निर्गुण' की चर्चा में काया अथवा शरीर-आकार कैसे घुस गया? वे बोले- यह बात तो हमने पहली बार ही सुनी है। आपका तर्क तो बहुत प्रबल है। मैंने कहा- आप चिन्तन करिये। स्वाध्याय करिये। बहुत कुछ नया मिलेगा। आप अन्ध परम्पराओं की अंधी गुफाओं से निकलें। वेद, दर्शन, उपनिषद् तक पहुँचे। सत्य का बोध हो जायेगा। मान्य सोमदेव जी के 'जिज्ञासा समाधान' में सगुण-निर्गुण विषयक चर्चा पढ़कर यह प्रसंग देने का मैंने साहस किया है। आशा है कि पाठकों को इससे लाभ मिलेगा, प्रेरणा प्राप्त होगा

सोमयाग ऋषि दयानन्द प्रतिपादित यज्ञ

JUNE 22, 2015 4 COMMENTS

शान्तिधाम आर्यजगत् के लिये अब अपरिचित नाम नहीं है। यह इसके संस्थापक अनन्त आर्य के पुरुषार्थ और निष्ठा का परिणाम है। उन्होंने राष्ट्रीय संरक्षित वन प्रदेश के मध्य एक गाँव की निजी भूमि को खोजकर उसे क्रय किया। गाँव के लोग जंगली जानवरों के उत्पात के कारण गाँव छोड़कर बहुत पहले जा चुके थे, बाद के लोगों को पता भी नहीं था कि उनका कोई गाँव और उनकी जमीन भी है। ऐसी भूमि को खोजकर खरीदा और साठ एकड़ भूमि से आधी भूमि पर गुरुकुल की स्थापना की। आज अपने सहयोगियों के साथ श्री सत्यव्रत, श्री राधाकृष्ण आदि के पुरुषार्थ से स्वामी धर्मदेव के मार्गदर्शन में गुरुकुल चल रहा है। गुरुकुल का क्षेत्र कावेरी नदी के तट पर चारों ओर फैली पर्वतमाला के मध्य प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण है। यहाँ पर सोमयाग का आयोजन गत अनेक वर्षों से निरन्तर हो रहा है। सोमयाग की परम्परा तो बहुत पुरानी है। इस यज्ञ को सम्पन्न करने वाले परिवार आहिताग्नि होते हैं, जो अपने जीवन में दोनों समय यज्ञ करने का संकल्प ले चुके होते हैं। ऐसे लोग केवल पौराणिक परम्परा में ही शेष हैं। सस्वर वेदपाठ और यज्ञीय कर्मकाण्ड परम्परा को इन लोगों ने सुरक्षित रखा है। ये लोग कर्नाटक, महाराष्ट्र में तो अधिक हैं ही, अन्य दक्षिण भारत में भी कहीं-कहीं हैं।

आर्यसमाज में ऋषि दयानन्द ने इनकी चर्चा की है। अग्निहोत्र से अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ करने का विधान भी किया है। ऋषि ने शाहपुराधीश के यहाँ इस प्रकार का यज्ञ कराया है। आज भी शाहपुरा के महल में इस प्रकार की वेदी बनी हुई है। शाहपुरा में एक अन्य भवन में भी इस यज्ञ के तीनों कुण्ड बने हुए हैं, परन्तु आर्यसमाज में इस प्रकार के यज्ञों की कोई परम्परा नहीं चली और आर्यसमाज के लोग इसे पाखण्ड मात्र समझकर इसमें कोई उत्सुकता भी नहीं रखते थे। पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी अपने यहाँ शतपथ, मीमांसा, तैत्तरीय संहिता आदि को पढ़ाते हुए अपने शिष्यों को इन यज्ञों को देखने के लिए प्रेरित करते थे। इस परम्परा को पं. युधिष्ठिर मीमांसक जी ने आगे बढ़ाया, ऐसे यज्ञ करने वालों से सम्पर्क स्थापित किया और उनके आयोजनों में सम्मिलित होते रहे, जिसके परिणामस्वरूप इनसे पण्डित जी का आत्मीयभाव बढ़ा। सेलूकर जी, श्रौती जी आदि पण्डित जी के मित्रों में सम्मिलित रहे। सेलूकर एक बार अजमेर पधारे, तब सात दिन तक ऋषि उद्यान में रहकर यज्ञशाला में प्रवचन देते रहे। इस प्रकार इस कर्मकाण्ड से आर्यसमाज के विद्वानों का सम्पर्क हुआ और वह सम्पर्क बढ़ता रहा। जहाँ-जहाँ भी इस प्रकार के यज्ञों का आयोजन होता रहता है, वहाँ-वहाँ आर्यसमाज के विद्वान् और छात्रगण उसे देखने जाते रहते हैं। इससे कर्मकाण्ड के ग्रन्थों का पठन-पाठन भी आर्यसमाज के विद्वान् करने लगे हैं। पं. मीमांसक जी ने लिखा है- सबसे पहले पं.

सत्यव्रत जी ने श्रौतयज्ञों के परिचय पर पुस्तक लिखी थी। उसके पश्चात् तो मीमांसक जी ने तथा आचार्य विजयपाल जी ने श्रौत यज्ञों को देखकर उनका परिचय विस्तार से लिखा, जो वेदवाणी और पुस्तक रूप में पाठकों को सुलभ है।

शान्तिधाम के यज्ञ करने वालों का परिचय स्वतन्त्र रूप से है। शान्तिधाम के परिचय में बैंगलूर के कृष्ण भट्ट जी आये और उन्होंने सस्वर वेदपाठ के मह व से संस्था संचालकों को अवगत कराया। आयोजकों को लगा कि वेद पढ़ना है तो सस्वर ही क्यों न पढ़ा जाय? संचालकों ने इन परम्परागत वेदपाठियों से अपने छात्रों को वेदपाठ सिखाना प्रारम्भ किया। निकट आने पर इन विद्वानों में से आर्यसमाज के प्रति जो दुर्भाव बना हुआ था, वह कम हुआ।

सस्वर वेदपाठ के शिक्षण के साथ श्रौत यज्ञों की परम्परा भी जाननी चाहिए, इस भावना से शान्तिधाम के संचालकों ने आयोजकों से केरल में बड़े सोमयाग का आयोजन कराया। फिर अनेक स्थानों पर छोटे-बड़े आयोजन संस्था के सहयोग से होते रहे। वर्तमान में पाँच वर्षों से सोमयाग का आयोजन शान्तिधाम में हो रहा है। सारा व्यय यज्ञ करने-कराने वाले उठाते हैं। स्थान, आवास आदि की सुविधा गुरुकुल की ओर से दी जाती है। जो लोग यज्ञ को देखने जाते हैं, उनके भोजन, आवास आदि की व्यवस्था संस्था उदारता से करती है। स्थानीय परम्परा के अनुसार भोजन की विविधता और प्रचुरता अतिथियों को प्रसन्न और सन्तुष्ट करने वाली होती है। इन श्रौत यागों के आयोजन में एक और बात ध्यान देने योग्य है। ये यज्ञ कुछ लोग हिंसा करके करते हैं, कुछ लोग बिना हिंसा के करते हैं। शान्तिधाम के आयोजन में हिंसा नहीं थी, वे हिंसा की क्रियायें प्रतीकों से सम्पन्न करते हैं। वायवीय पशुयाग में आज्य पशु, अर्थात् एक पात्र में घी भर के उसे ही पशु मान लेते हैं, उसी की आहुति देते हैं। इसी प्रकार श्येनयाग के आयोजन में चिति निर्माण करते हुए, कछुआ तो जीवित रखा था। कहते हैं- वह अपने-आप नीचे निकल जाता है। एक मेढ़क को एक कुशा के थैले में डाल कर उसे वेदी पर घुमाया गया, परन्तु बाद में उसे छोड़ दिया गया। वेदी निर्माण करते हुए मनुष्य का, गाय का, बकरी का, घोड़े का, भेड़ का सिर-ये सब खिलौने के बने हुए थे, जिन्हें वेदी के अन्दर दबाया गया। दूध के लिए गाय और बकरी भी प्रतीक के रूप में बाँधी गईं। दूध तो बोतल में लाकर ही वेदी की अग्नि में डाला जाता था।

इस यज्ञ में जो विशेष आयोजन संस्था की ओर से किया गया था, वह था सोमयाग विषय पर गोष्ठी। इसमें अनेक स्थानीय विद्वानों के साथ आर्यसमाज के विद्वान् और सान्दीपनी वेद विद्या प्रतिष्ठान के सचिव डॉ. रूपकिशोर शास्त्री भी उपस्थित थे, जो गोष्ठी के अध्यक्ष थे। डॉ. रूपकिशोर जी के पुरुषार्थ से सस्वर वेद पाठशालाओं की एक लम्बी शृंखला स्थापित हो चुकी है, विशेष रूप से पौराणिक पाठशालाओं में कन्याओं को वेद सिखाने की परम्परा आपकी ऐतिहासिक उपल ि‍ध है। आपने अपनी प्रेरणा और दूसरों के सहयोग से आर्य संस्थाओं में भी बालकों के साथ बलिकाओं के सस्वर वेद सीखने की व्यवस्था कराई, यह वेद की सेवा का अच्छा उदाहरण है। इस गोष्ठी में आचार्य सनत्कुमार जी अपनी शिष्य मण्डली के साथ उपस्थित थे। आपने दृश्य उपकरणों से सोमयाग का परिचय और उसके वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डाला। इसके अतिरिक्त दो विश्वविद्यालयों के कुलपति तथा अनेक प्रतिष्ठित वैज्ञानिक भी इस गोष्ठी में उपस्थित थे, जिन्होंने अपने शोधपूर्ण विचार गोष्ठी में प्रस्तुत किये, जिन्हें श्रोताओं ने बड़ी रुचि से सुना। इनमें मीमांसा मर्मज्ञ वासुदेव पराञ्जपे भी थे। इस यज्ञ और गोष्ठी के अवसर पर एक विचार सामने आया, जिससे ऐसा लगने लगा कि कुछ लोग समझते हैं, वेद

को सस्वर पढ़ना ही शुद्धता की कसौटी है, बिना स्वर के वेद पढ़ना अशुद्ध है। इसी तर्क के आधार पर यह भी कहा गया कि जैसे वेद बिना स्वर के पढ़ना गलती है, वैसे ही कर्मकाण्ड की रीति को छोड़कर यज्ञ करना भी अशुद्ध है। यह विचार घातक है और ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के कार्यों को व्यर्थ करने वाला है। हमें प्रथम यह समझना चाहिए कि वेद है किसके लिए? वेद परमेश्वर का ज्ञान है, वेद मनुष्य मात्र के लिये है। यदि आप मनुष्य को वेद से दूर करते हैं तो आपका विधि-विधान वेद के प्रयोजन को सिद्ध नहीं करता, अतः ग्राह्य नहीं है। हमें समझना चाहिए कि वेद और यज्ञ में एक सतत सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में वेद सिद्धान्त है, ज्ञान है तो यज्ञ कर्म है। यज्ञ वेद का ज्ञानपूर्वक किया गया कर्म होने से यज्ञ वेद का व्यावहारिक या प्रायोगिक रूप है। वेद में ज्ञान या विज्ञान है तो विज्ञानपूर्वक यज्ञ किया जा सकता है, परन्तु सामान्य व्यक्ति के लिए भी तो वेद है, सामान्य व्यक्ति के लिये भी यज्ञ है, फिर उसको कैसे वञ्चित कर सकते हैं? पराम्परागत कर्मकाण्ड जहाँ लाखों रुपये व्यय करके बड़े-बड़े वेदज्ञों, वेदपाठियों द्वारा सम्पन्न किया जाता है तो सामान्य जनता के लिये क्या होगा? यज्ञ तो जनता के लिये कहा गया है। यह ठीक है कि कोई पढ़कर विशेषज्ञ, विद्वान् बनता है, परन्तु कोई कम पढ़कर सामान्य भी रहता है। जैसे पढ़ने का विशेषज्ञता से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार वेद और यज्ञ के भी सामान्य-विशेष दोनों से सम्बन्ध हैं।

पौराणिक परम्परा को ही ठीक और अन्तिम नहीं माना जा सकता। इन यज्ञों में हिंसा का विधान करके इनको भी तो विकृत किया गया है। ऋषि दयानन्द ने इस एकाधिकार को ही तो तोड़ा है। सब वेद सस्वर नहीं पढ़ सकते, परन्तु जो सस्वर पढ़ते हैं, वे भी तो अर्थज्ञान से रहित होने के कारण अधूरे हैं। केवल सस्वर वेद पढ़कर कर्मकाण्ड करने से तो वेद का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। स्वर और कर्मकाण्ड अर्थज्ञान में सहायक हैं, इसलिए स्वीकार्य हैं। अर्थज्ञान के बिना स्वर और कर्मकाण्ड का कितना मह व रह जायेगा, ऋषि दयानन्द ने इसी अर्थ के पक्ष को ही हमारे सामने रखा है। उन्होंने मनुष्य मात्र को वेद पढ़ने और यज्ञ करने का अधिकार दिया है तो वह वेद वैसा ही तो पढ़ेगा, जैसा उसे आता है, यज्ञ भी उतना ही कर पायेगा, जितनी उसे जानकारी है। उसकी जानकारी कम है, केवल इसिलिये उसे उसके अधिकार से वञ्चित नहीं किया जा सकता। अधिक जानेगा तो अधिक लाभ उठा सकेगा, कम जानेगा तो कम लाभ ले पायेगा। स्वामी दयानन्द संस्कार विधि के सामान्य प्रकरण में यज्ञ की विधि बताते हुए निर्देश करते हैं कि ''सब संस्कारों में मधुर स्वर से मन्त्रोच्चारण यजमान ही करे। न शीघ्र, न विलम्ब से उच्चारण करें, किन्तु मध्य भाग जैसा कि जिस वेद का उच्चारण है, करें। यदि यजमान पढ़ा हो तो इतने मन्त्र तो अवश्य पढ़ लेवे। यदि कोई कार्यक र्ाा जड़, मन्दमति, काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो, तो वह शूद्र है, अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारण में असमर्थ हो, तो पुरोहित और ऋत्विज मन्त्रोच्चारण करें और कर्म उसी मूढ यजमान के हाथ से करावें।'' क्या इस ऋषि वाक्य को सस्वर वेद पाठ और कर्मकाण्ड के सामने मिथ्या कर देंगे? ऋषि दयानन्द कन्याओं को वेद पढ़ाने का आग्रह करते हैं, इतना ही नहीं, ऋषि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदाध्ययन के अधिकार की चर्चा करते हुए सबको, मनुष्य मात्र स्त्री-पुरुषों को वेद पढ़ने का अधिकार प्रतिपादित करते हैं और यथेमां मन्त्र की व्याख्या में मनुष्य को अपने परिवार के लोगों के साथ अपने घर के सेवक और मजदूर को भी वेद पढ़ाने का निर्देश देते हैं। क्या ऐसी परिस्थिति में नौकर सस्वर वेद पढ़ेंगे या विधिपूर्वक यज्ञ करेंगे? वे जैसा जानते हैं, वैसा ही तो कर पायेंगे।

स्वामी दयानन्द का निर्देश वेद से है, अतः बाकी शास्त्र या परम्परा उसके सामने गौण है। वेद का आदेश स्वतः प्रमाण है। क्या ऋषि दयानन्द व्यवस्था देने के अधिकारी नहीं हैं? ऋषि दयानन्द से किसी आचार्य का मन्तव्य मेल नहीं खाता या विरोधी लगता है तो उसे विरोध न समझकर मत भिन्नता भी तो समझा जा सकता है। फिर इन यज्ञों के देखने या सस्वर वेद पढ़ने से आर्य समाज में चल रही परम्परा को अशुद्ध क्यों मानना चाहिए? जहाँ सस्वर वेदपाठ हमारा उत्कर्ष है, वहाँ तक पहुँचाने का मार्ग ऋषि दयानन्द को दिये अधिकार के द्वारा प्रशस्त किया गया है, अतः इस भ्रम की कोई सम्भावना नहीं है कि आर्यसमाज की यज्ञ परम्परा या वेदपाठ अशुद्ध या अग्राह्य है। कर्मकाण्ड भी वेद को समझने के लिये ही हैं। पूरे शतपथ ब्राह्मण में मन्त्रों के माध्यम से यज्ञ की क्रियाओं को मन्त्रों के साथ जोड़कर अभिप्राय को समझाया जा रहा है। मन्त्र, उसका अर्थ, यज्ञ की क्रिया में मन्त्रार्थ की संगति, मन्त्र के अर्थ और यज्ञ की क्रिया का जगत् में चल रहे निरन्तर यज्ञ से उसकी समानता बताना यज्ञ का उद्देश्य है। इस बात को ध्यान में रखकर महर्षि दयानन्द ने यज्ञ में मन्त्रों का विनियोग किया है। महर्षि दयानन्द ने यज्ञ में कर्मकाण्ड के साथ वेद मन्त्रों का विनियोग करते हुए यज्ञ से परमेश्वर की उपासना का होना कहा है। इस प्रकार महर्षि दयानन्द का यज्ञ विधान अधिक वैदिक व उत्कृष्ट है।

मनु महाराज ने वेद को समस्त धर्म का मूल कहा है। जिसका भी धर्म से सम्बन्ध है, उसका वेद से सीधा सम्बन्ध है। वेद के प्रकाश में मनुष्य कार्य कर सकता है। जैसे सूर्य के प्रकाश के बिना मनुष्य कार्य करने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार वेदरूपी ज्ञान चक्षुओं के बिना मनुष्य उचित-अनुचित का विवेक करने में असमर्थ रहा है। मध्य काल में समाज के एक वर्ग ने लोगों के ज्ञान चक्षुओं को छीन कर समाज को गहरे अन्धकार में धकेल दिया था, ऋषि दयानन्द ने उस अन्धे समाज को वेद रूपी ज्ञान चक्षु पुनः प्रदान किये। किसी भी प्रकार से इस अधिकार को क्षति पहुँचाना वेद विरोधी कार्य होगा, चाहे वह वेद के नाम पर ही क्यों न किया गया हो। हमें मनु के इन शब्दों को सदा स्मरण रखना चाहिए-

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।

अशक्यञ्चाप्रमेयञ्च वेदशास्त्रमिति स्थितिः।।

– धर्मवीर

स्तुता मया वरदा वेदमाता-११

JUNE 21, 2015 LEAVE A COMMENT

येन देवा न वियन्ति नो च विद्वषते मिथः।

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः।।

–अथर्व. ३.३०.४

मन्त्र में घर के बढ़ाने की बात है। यहाँ इसके लिए ब्रह्म शब्द कर प्रयोग किया गया है। ब्रह्म शब्द ईश्वर का भी वाचक है, क्योंकि वह सबसे बड़ा है। इसी प्रकार ज्ञान को भी ब्रह्म कहा

जाता है। जो ज्ञान में सबसे बढ़कर है, उसे ब्रह्मा कहा गया है। इसी कारण संसार के प्रारम्भ में जो सबसे ज्ञानी पुरुष हुआ, उसका भी नाम ब्रह्मा है। इसके लिए उपनिषद् में कहा गया है, ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव। देवताओं में प्रथम ब्रह्मा हुआ। आज भी यज्ञ आदि कर्मों में जो अधिक जानकार होता है, उसे ही हम अपना मार्गदर्शक चुनते हैं। उसे ब्रह्मा बनाते हैं।

मन्त्र में घर को भी बड़ा बनाने की बात की गई है। मन्त्र कहता है- मैं तुम्हारे घर को बड़ा बनाना चाहता हूँ। घर बड़ा होता है, समृद्धि से। घर को समृद्ध करने का उपाय इस मन्त्र में बताया गया है। उपाय क्या हो सकता है? उपाय है संज्ञानम्। संज्ञान का शास्त्रीय अर्थ ज्ञान है, चेतना है। हम इसे सामान्य भाषा में कहें तो समझ कह सकते हैं। घर को बड़ा बनाने के लिए, सम्पन्न या समृद्ध बनाने के लिए घर में रहने वाले सदस्यों को समझदार बनना होगा। सभी सदस्य समझदार होंगे, तभी घर परिवार समृद्ध होगा। घर में सबका समझदार होना आवश्यक है। एक भी नासमझ व्यक्ति घर की व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करके रख देता है। घर में सबकी समझदारी से ही व्यवस्था बनी रह सकती है। आजकल समझदार का अर्थ चालाक या स्वार्थी भी हो जाता है। लोग कहते हैं- यह व्यक्ति बड़ा समझदार है, उसे अपना काम बनाना आता है। ऐसे शब्द श्रेष्ठ अर्थ को नहीं देते, इसलिये दुनियादार, समझदार, व्यावहारिक आदि शब्द सदा उचित और श्रेष्ठ अर्थ में ही प्रयोग में नहीं आते, परन्तु वेद में इस समझदारी की कसौटी भी दी है। वेद कहता है- समझदार देव होते हैं। मनुष्यों को समझदार बनने के लिए देवों के गुण अपने में धारण करने होंगे। देवों का देवत्व जिन गुणों से आता है, उसे देवों के कर्म से समझा जा सकता है। देवों का एक पर्यायवाची शब्द है- अनिमेष। ऐसा माना जाता है कि देवता लोग कभी पलक नहीं झपकाते। क्यों नहीं झपकाते, इसे समझाने के लिये पुराण में कथा आती है। देवताओं ने और असुरों ने मिलकर समुद्र मन्थन किया। जो पहले मिला वह असुरों ने लिया, जो बाद में मिला वह देवताओं ने लिया। पहले मिलने वाली वस्तुओं में विष था, जिसे बाँटने के लिए कोई तैयार ही नहीं था, जो शिव के कण्ठ का अलंकरण बन गया। अन्त में अमृत का कलश निकला, जिस पर देवताओं ने अधिकार कर लिया। इसी अमृत के कारण देवता अमरता को प्राप्त हुए। असुर इस अमृत को पाने के लिए सतत संघर्षरत हैं, इस कारण देवताओं को अमृत की रक्षा के लिए सतत् जागना पड़ता है। वे इतने सावधान हैं कि पलक भी नहीं झपकाते। पलक झपकने की असावधानी भी उनसे अमृत कलश के छीने जाने का कारण बन सकती है। देवताओं के पास अमृत ही नहीं रहा तो देवत्व कैसे रहेगा? संस्कार विधि में बालक की दीर्घायु की कामना करते हुए जो मन्त्र पढ़े गये हैं, उनमें एक मन्त्र में कहा गया है- देवताओं की दीर्घायु का कारण अमृत है। उनके पास अमृत है, इसलिए वे दीर्घजीवी हैं- देवा आयुष्मन्तः ते अमृतेनायुष्मन्तः। अतः देव दीर्घजीवी अमृत से हैं। इसका अभिप्राय है कि जो मनुष्य समृद्ध होना चाहता है, उसे सावधान रहना होगा। सावधानी हटते ही दुर्घटना घटती है।

विवाह संस्कार में सप्तपदी कराते हुए चौथे कदम को मयोभवाय चतुष्पदी भव कहा है। यहाँ यह तो कह दिया, परन्तु कोई वस्तु नहीं बताई। अन्न के लिये पहला कदम, बल के लिये दूसरा, समृद्धि के लिये तीसरा, वैसे ही सुख के लिए चौथा। अब समझने की बात है कि समृद्धि के लिये जब तीसरा कदम कह दिया था तो चौथा कदम सुख के लिये कहने की क्या आवश्यकता थी? इससे पहले अन्न, बल और धन प्राप्त करने की बात कह चुका है, फिर पृथक् से सुख के लिये प्रयास करने की आवश्यकता कहाँ पड़ती है? परन्तु पृथक् कहने का अभिप्राय है, इन सब साधनों के होने के बाद भी घर-परिवार में सुख हो, यह आवश्यक नहीं है। भौतिक

साधनों का अभाव कष्ट देता है, परन्तु वे मुख्य रूप से शरीर तक ही सीमित रहते हैं। उन कष्टों के रहते हुए भी मनुष्य सुखी रह सकता है, परन्तु साधनों के रहते सुख का होना आवश्यक नहीं। सुख मानसिक परिस्थिति है, जबकि सुविधा शारीरिक वस्तु के अभाव में शारीरिक श्रम बढ़ जाता है, इतना ही है। सुख पाने के लिए मनुष्य के मन में देवत्व के भाव जगाना आवश्यक है, अतः मन्त्र में देवत्व के बाधक भावों को दूर करने के लिए कहा गया है।

स्तुता मया वरदा वेदमाता-१०

JUNE 7, 2015 LEAVE A COMMENT

मन्त्र में एक वाक्य आया है- वाचं वदतं भद्रया-वाणी सभी बोलते हैं, वाणी के प्रयोग दोनों हो सकते हैं। हानि के, लाभ के, मृदु के, कठोर के, सत्य के, असत्य के। कोयल की भाँति सभी की वाणी मीठी होती, सब एक-दूसरे के साथ मधुर वाणी का व्यवहार करते तो किसी को यह कहने की आवश्यकता ही नहीं होती कि मधुर वाणी बोलनी चाहिए। यदि ऐसा होता तो अच्छा नहीं होता, क्योंकि तब मेरा कोई अधिकार ही नहीं होता, मुझे मेरी इच्छा का प्रयोग करने का अवसर ही नहीं मिलता, विवेक की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। कोई दूसरे से अलग नहीं होता, कोई किसी से अच्छा तो किसी से बुरा भी नहीं होता। इस परिस्थिति में मेरे होने का अर्थ ही क्या होता? मेरी सत्ता मेरे अधिकार से प्रकट होती है, मेरा अधिकार मेरे अस्तित्व का प्रकाशक है।

जितना मुझे अच्छा करने का अधिकार है, उतना ही मुझे बुरा करने का अधिकार भी है। उसे मुझसे कोई नहीं छीन सकता, इसी कारण उनके फल को भी मुझसे कोई अलग नहीं कर सकता। यही कारण है कि मुझे मेरे कर्म का फल मिलता है, क्योंकि वे मेरे हैं, चाहे वे अच्छे हैं, चाहे वे बुरे। इसीलिए उपदेश देने की आवश्यकता पड़ती है। उपदेश से मेरे विवेक पर प्रभाव पड़ता है, मैं अपने विचार को बदल सकता हूँ। इसी प्रक्रिया को संकल्प- विकल्प कहा गया है। जब मनुष्य सोचता है कि मैं यह करूँगा तो मुझे लाभ होगा। मैं सोचता हूँ- मैं ऐसा करूँगा तो मेरी हानि होगी, मैं ऐसा नहीं करूँगा। यह मेरी दशा, मेरे निर्णय की भूमिका है। मैं निश्चय कर लेता हूँ, तब वह मेरा निर्णय होता है, उसका फल अच्छा या बुरा मेरा ही होता है।

वाणी भी मेरी है, मैं इसका अच्छा या बुरा कैसा भी उपयोग कर सकता हूँ। जब अच्छा उपयोग करता हूँ तो मुझे अच्छा फल मिलता है, बुरा उपयोग करता हूँ तो बुरा फल मिलता है। मुझे मेरी वाणी के अच्छे-बुरे का ज्ञान होना चाहिए। वेद कहता है- लाभ के लिए, पुण्य के लिये भद्र वाणी का प्रयोग करना चाहिए। भद्र का अर्थ शरीर के लिए, वर्तमान में लाभप्रद और मन, बुद्धि, आत्मा के लिए शान्तिप्रद होना है। यदि ऐसा नहीं तो केवल मधुर वाणी से भी कार्य चल सकता था। हम समझते हैं कि मीठा बोलना ही पर्याप्त है पर केवल मीठा नहीं, वह परिणाम में भी लाभप्रद होना चाहिए। इस मन्त्र भाग में बोलने वालों के लिए बहुवचन का प्रयोग किया गया है, अर्थात् परिवार में सभी सदस्यों को एक-दूसरे के साथ कल्याण कारिणी वाणी का प्रयोग करना चाहिए। वाणी का प्रभाव ही व्यवहार को प्रभावित करता है। मनुष्य आदर से बोलता है तो उसे प्रत्युत्तर में अनुकूल ही उत्तर प्राप्त होता है। यदि कठोरता से, असभ्यता से बोलता है तो निकटस्थ व्यक्ति भी अपमान का अनुभव करता है।

वाणी के सम्बन्ध में महाभारत में एक शिक्षाप्रद प्रसंग आया है। युधिष्ठिर युद्ध भूमि में घायल होकर शिविर में चिकित्सा के लिये उपस्थित हुए हैं। अर्जुन को बड़े भाई के घायल होने का समाचार मिलता है, वह तत्काल युद्ध छोड़ भाई को देखने शिविर में पहुँचता है। युधिष्ठिर ने पूछा- क्या युद्ध जीत लिया? अर्जुन ने कहा- नहीं। युधिष्ठिर ने अर्जुन के गाण्डिव को धिक्कार कह दिया। अर्जुन को क्रोध आया, उसने अपने बड़े भाई को मारने के लिए तलवार उठा ली। अर्जुन ने कहा- मेरी प्रतिज्ञा है कि जो गाण्डिव को धिक्कारेगा, उसके प्राण हरण करूँगा। श्री कृष्ण ने समझाया- मारना केवल तलवार से नहीं होता, बड़े भाई को 'तू' कह दे तो भी वह मर जायेगा। अर्जुन ने कह तो दिया, परन्तु फिर सोचने लगा कि उसने बड़े भाई का अपमान किया है। उसने कहा- अब इस अपराध के लिए मैं मरूँगा। श्री कृष्ण ने कहा- क्यों मरते हो? मरना भी कई प्रकार का होता है। मनुष्य के लिए आत्म-प्रशंसा भी मरने के समान है, तुम अपनी प्रशंसा स्वयं करो, मर जाओगे। मनुष्य वाणी से ही मरता है और वाणी से जीवन पाता है, अतः वेद ने कल्याणकारिणी वाणी के प्रयोग करने का आदेश दिया है।

हमारा परम मित्र –ईश्वर –सुकामा आर्या

JUNE 4, 2015 1 COMMENT

हम सब बचपन से एक तत्व के विषय में बहुत कुछ सुनते आए हैं, पर आज भी ध्यान से देखें तो उस तत्व के विषय में हमारी प्रवृत्ति वैसी नहीं बन पाई है, जैसी की होनी चाहिए। कारण, हमारी स्थिति श्रवण तक रही-

न श्रवणमात्रात् तत् सिद्धिः।

सिर्फ सुनने मात्र से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो जाती। मान लीजिए- हम रुग्ण हो गए। किसी मित्र ने बताया कि अमुक दवा ले लीजिए, तो क्या हम सुनने मात्र से स्वस्थ हो जाएँगे? नहीं, हमें बाजार से दवा लानी पड़ेगी, यथोचित समय पर उसका सेवन करना पड़ेगा, तब कहीं जाकर सम्भावना है कि हम स्वस्थ हो पाएँ। ठीक यही बात उस एक तत्व के विषय में भी घटती है। उस तत्व को हमें व्यक्तिगत स्तर पर, अनुभूति के स्तर पर लाना है, तभी हम अपने जीवन को सफल बना सकते हैं। वह अद्भुत त   व है- ईश्वर।

ईश्वर को समझने में सहायक उसका सबसे सरलतम गुण है- सर्वव्यापकता। किसी वस्तु को हम उसके गुणों से ही जानते हैं। इसी एक गुण को समझ लेने से उसके कई प्रमुख गुण भली प्रकार से समझ में आ जाते हैं।

ईश्वर सर्वज्ञ है, क्योंकि वह सर्वव्यापक है,

ईश्वर सर्वान्तर्यामी है, क्योंकि वह सर्वव्यापक है,

ईश्वर सर्वरक्षक है, क्योंकि वह सर्वव्यापक है,

वेद कहता है- स पर्यगात्- वह पहले से वहाँ पहुँचा हुआ है।

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि– सब तरफ उसके मुख हैं।

विश्वतो चक्षुः– सब जगह उसकी आँखें हैं।

अर्थात् वह ईश्वर इस जगत् के कण-कण में विद्यमान है। ''प्रभु सब में, सब कुछ है प्रभु में।'' यूँ समझें कि सारा संसार ईश्वर में डूबा हुआ है। हर दिशा में, हर सिम्त वह है-

जिधर देखता हूँ, खुदा ही खुदा है,

खुदा से नहीं चीज कोई जुदा है।

जब अव्वल और आखिर खुदा ही खुदा है,

तो अब भी वही कौन उसके सिवा है।

एक क्षण के लिए विचार करें कि माँ-बाप, भाई-बहन, सखा-मित्र आदि तब तक ही हमारी रक्षा कर पाते हैं, जब तक वे हमारे साथ हैं, हमारे साथ उपस्थित हैं। अपनी अनुपस्थिति में वे हमारा सहयोग नहीं कर पाते हैं, उनकी विवशता होती है। ईश्वर को अनुभूति के स्तर पर देखें, तो पता चलेगा कि वह हर क्षण हमारे पास है, हम उसकी उपस्थिति में उपस्थित हैं। उसकी हाजिरी में हाजिर हैं।

हम मुश्किल परिस्थिति में किससे सहायता माँगते हैं- माँ-बाप से, मित्रों से- जिनकी देने की शक्ति व सीमा सीमित है, जो दोहरे मापदण्ड वाले हैं। आज-इस क्षण अच्छे तो अगले ही क्षण बुरे, जिनके व्यवहार का हम अनुमान ही नहीं लगा पाते। दुनिया में सबसे अधिक अपूर्वानुमेय व्यवहार किसी प्राणी का है, तो वह इस छः फूट के मानव नाम के प्राणी का है। जानवरों का व्यवहार भी अधिकतम सीमा तक निर्धारित रहता है। कुत्ते को रोटी डालोगे तो वह स्नेह से पूँछ हिलाएगा, डण्डा दिखाओगे तो डरेगा, भौंकेगा, पर इस मनुष्य नामक प्राणी का तो पता ही नहीं चलता, जाने कब कौन-से पत्ते फेंक दे? परन्तु ईश्वर हमेशा एकरस है, उसके नियम अटल हैं, वह पक्षपात रहित होकर न्यायपूर्वक व्यवहार करता है, हर देश, काल व परिस्थिति में एक-सा ही रहता है। वस्तुतः वह ईश्वर ही हमारी मैत्री के सर्वाधिक लायक है।

यूँ ही काल की दृष्टि से देखें तो इस लोक के सम्बन्ध- माता-पिता, भाई-बन्धु, गुरुजन- सभी इस जीवन तक ही सीमित हैं। हम समाप्त तो सब सम्बन्ध समाप्त, पर ईश्वर से हमारा सम्बन्ध तो अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। इस शरीर के छूटने के बाद भी- हमेशा। लोक में भी जो वस्तुएँ या सम्बन्ध या मैत्री लम्बे काल तक चलती हैं, उनको हम अच्छा समझते हैं, मूल्यवान समझते हैं। ओल्ड इज गोल्ड मानते हैं। इस दृष्टि से भी ईश्वर हमारी मैत्री के मापदण्डों पर पूर्णतया खरा उतरता है, इसलिए हमें उससे मित्रता बढ़ाने व बनाए रखने पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

हमें समस्या कहाँ आती है? हम लोक के मित्रों व सम्बन्धों को तो समय देते हैं, पर ईश्वर के लिए समय निकालना हमें मुश्किल लगता है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमें ईश्वर के मह   व का पता नहीं, इसलिए सन्ध्या व ध्यान के लिए समय निकालना अत्यन्त कठिन लगता है। रुचि नहीं बनती है। हमें अपने पिता जी की १-२ करोड़ की संपत्ति नजर आती है। मित्रों की योग्यता, धन-वैभव, गुरुजनों का ज्ञान नजर आता है, परन्तु ईश्वर का परम ऐश्वर्य

हमारी आँखों से प्रायः ओझल ही रहता है। यह विचार कर लें कि जो पिताओं का भी पिता है, गुरुओं का भी गुरु है, माताओं की भी माता है- वह कितना मह वपूर्ण, विशिष्ट, वरिष्ठ सहयोगी सिद्ध होगा।

दूसरे पक्ष पर दृष्टिपात करें- अगर हम जरा-सा कुछ पिता जी के खिलाफ गए तो पिता जी जायदाद से बेदखल कर देंगे। कक्षा में अध्यापक की आज्ञा का उल्लंघन किया तो वे कक्षा से बाहर जाने को कह देंगे। संस्था के अधिकारी रुष्ठ हो गए तो वे संस्था से बाहर निकाल देंगे। एक क्षण के लिए विचार करें कि क्या ईश्वर कभी हमें अपने दायरे से बाहर निकाल सकता है? कभी नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं, क्योंकि वह सर्वव्यापक है, हर स्थान पर है। यहाँ से इस लोक से निकालेगा, तो दूसरे लोक में रख लेगा, लेकिन हमेशा अपने सान्निध्य में, अपने पास हमें रखेगा। क्या इस ईश्वरीय प्रेम के तुल्य कोई अन्य सांसारिक व्यक्ति का प्रेम हो सकता है? विचार करेंगे तो स्वयमेव ही उस परम सत्ता के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा, समर्पण व प्रेम का भाव उद्भूत हो जाएगा।

हम विकट-से-विकट परिस्थिति में डगमगाएँगे नहीं। एक बार समुद्र में कोई नवविवाहित जोड़ा नाव में बैठ कर जा रहा था। अन्य लोग भी नाव में सवार हो कर जा रहे थे। अचानक तूफान आया और नाव डगमगाने लगी। सभी लोग चिल्लाने लगे, परन्तु वह युवक प्रेम से ईश्वर का ध्यान करने लगा, ताकि अपने मन को विचलित होने से बचाकर अपनी सुरक्षा का समाधान ढूंढ सके। उसकी पत्नी ने पूछा कि सब लोग हाहाकार मचा रहे हैं और तुम ध्यान कर रहे हो? क्या तुम्हें भय नहीं लग रहा? तो उसने तत्काल पिस्तौल निकाल कर पत्नी की कनपटी पर रख दी। पत्नी मुस्कुराने लगी। युवक ने पूछा- क्या तुम्हें भय नहीं लग रहा? उसने कहा- नहीं। युवक ने पूछा- क्यों? पत्नी बोली- क्योंकि मैं जानती हूँ कि पिस्तौल मेरे प्रियतम के हाथ में है, वह मेरा नुकसान कर ही नहीं सकता। वह युवक बोला- ठीक इसी प्रकार यह नाव भी मेरे परमप्रिय मित्र, सखा ईश्वर के हाथ में है, जो उसको अभीष्ट मानकर करेगा, वही सुझाये हुए उपायों के भय से रहित होगा। यह विश्वास तभी बनता है, जब हम ईश्वर की सत्ता को सर्वव्यापक समझ लेते हैं-

आ गया तेरी शरण जब तो मुझे अब भय कहाँ?

मैं तेरा, किश्ती तेरी, साहिल तेरा, दरिया तेरा।

हमारी कमी, न्यूनता यहाँ रह जाती है, हम मानते हुए भी व्यावहारिक स्तर पर ईश्वर की अनुभूति नहीं रख पाते हैं। यूँ कहें कि थ्योरी की परीक्षा में तो सफल हो जाते हैं पर प्रैक्टिकल की परीक्षा में या तो उपस्थित ही नहीं होते या होते हैं तो अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। हमें दोनों परीक्षाओं में पास होना है।

इसके लिए आवश्यक है कि जीवन जीते हुए, दिनचर्या करते हुए, हम अपने परम मित्र की याद बनाए रखें। हमें हर क्षण महसूस हो कि हमारा परमप्रिय मित्र साथ है-

नहीं कहता हूँ, दुनिया से जुदा हो।

मगर हर काम में यादे खुदा हो।।

हम जिस-जिस वस्तु या व्यक्ति का चिन्तन करते हैं, उससे अनुराग हो ही जाता है या यूँ कहें कि जिस-जिस वस्तु या व्यक्ति से अनुराग होता है, उस-उस का चिन्तन करने से हमें सुख मिलता है, आनन्द मिलता है, तो क्यों न उस परम आनन्दमय, सुख के भण्डार हमारे परम मित्र का चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते चिन्तन किया जाए, उसको स्मरण में रखा जाए। इसको करने से दूसरा लाभ यह होगा कि हम गलत, बुरे कर्मों को करने से बच जाएँगे। जैसे अगर ट्रैफिक पुलिस वाला चौक में खड़ा हो तो हम लाल बत्ती का उल्लंघन नहीं करते हैं, हमें डर, भय होता है- चालान काट दिए जाने का। ठीक उसी प्रकार हम दिनचर्या में चलते हुए भी नियमों को नहीं तोड़ेंगे, क्योंकि हमारा ट्रैफिक पुलिस वाला मित्र तो हर क्षण ड्यूटी पर तैनात है, कभी भी कहीं भी हमें अकेला नहीं छोड़ता। हाँ, हम उसे समझने महसूस करने में नाकाबिल साबित होते हैं-

दिलबर तेरा तेरे आगे खड़ा है,

मगर नुक्स तेरी नजर में पड़ा है।

बचपन से लेकर आज तक कई मित्र बनाए, कई छोड़े, कई मिले, कई बिछुड़े, आज से एक उसकी मैत्री को बनाने में लगें, जो न केवल मित्रता-दिवस पर हमें याद आए, परन्तु हमेशा के लिए हमारे साथ आत्मसात् हो जाए। हम अपने पक्ष को उस मैत्री के लिए योग्य सिद्ध करें, तभी हम इस मित्रता को सही ढंग से, प्रेम से, कृतज्ञता से निभा पाने में सफल हो पाएँगे।

– ऋषि उद्यान, पुष्कर मार्ग, अजमेर

वेद प्रतिपादित देवहित-आयु और उसका परिमाण – डॉ. प्रशस्यमित्र शास्त्री

MAY 21, 2015 LEAVE A COMMENT

ऋग्वेद का निम्नलिखित प्रसिद्ध मन्त्र है, जिसे हम स्वस्तिवाचन में पढ़ने के साथ ही यजमान आदि के दीर्घ आयुष्य, आशीर्वाद एवं शुभकामना प्रकट करने के लिए भी पढ़ते हैं-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।

(ऋ. वेद १.८९.८)

इस मन्त्र में 'देवहित-आयु' की प्रार्थना की गई है। अब प्रश्न होता है कि यह देवहित-आयु क्या है तथा इसका परिणाम कितना है? यही नहीं, अपितु अनेक वेदमन्त्रों में चक्षुरादि इन्द्रियों के सबल होने के साथ ही जीवन एवं स्वास्थ्य आदि की जब कामना की जाती है तो वहाँ भी विशेषण के रूप में 'देवहित' शब्द प्रयुक्त होता है। जैसे-

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ता…… पश्येम शरदः शतम्।

जीवेम शरदः शतं..... भूयश्च शरदः शतात्।

(माध्यन्दिन यजु. ३६.२४)

आचार्य सायण का अर्थः यज्ञमय जीवन :- चारों वेदों के सुप्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य सायण 'भद्रं कर्णेभिः' आदि ऋग्वेदीय मन्त्र की व्याख्या में 'देवहितं यदायुः' इस पद का भाष्य करते हुए लिखते हैं-

'यदायुः षोडशाधिकशत प्रमाणं विंशत्यधिकशत प्रमाणं वा' अर्थात् 'देवहित-आयु' का तात्पर्य है- ११६ वर्ष की आयु अथवा १२० वर्ष की आयु।

अब प्रश्न होता है कि सायणाचार्य के इस अर्थ का आधार क्या है? 'देवहित-आयु' का प्रमाण ११६ या १२० वर्ष ही क्यों माना जाये? इसका उ ार हमें छान्दोग्य उपनिषद् के निम्न वाक्य से प्राप्त होता है-

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति

वर्षाणि तत्प्रातः सवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री

यानि चतुश्चत्वारिशद् वर्षाणि

तन्माध्यन्दिनं सवनं चतुश्चत्वारिशदक्षरस्त्रिष्टुप्

यान्यष्टाचत्वारिशद् वर्षाणि

तत् तृतीयं सवनम् इति। (छान्दोग्योप. ३.१६.१.४)

अर्थात् मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ही एक यज्ञ है। इस यज्ञमय जीवन के प्रारम्भिक २४ वर्ष प्रातः सवन है, जबकि अगले ४४ वर्ष माध्यन्दिन सवन है तथा अग्रिम ४८ वर्ष तृतीय सवन के रूप में समझना चाहिए। इस प्रकार इस का कुल योग ११६ वर्ष होता है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि सोमयाग के प्रातः, माध्यन्दिन एवं तृतीय सवन क्रमशः गायत्र, त्रैष्टुभ एवं जागत कहे जाते हैं। ये छन्द क्रमशः २४, ४४ एवं ४८ अक्षरों वाले होते हैं।

जहाँ तक १२० वर्ष का प्रश्न है, सम्भव है छान्दोग्योपनिषद् के किसी संस्करण में माध्यन्दिन सवन को भी ४८ वर्ष का स्वीकार किया गया हो।

मनुष्य की औसत आयु एक सौ वर्षः– वैदिक ग्रन्थों में मनुष्य की औसत आयु एक सौ वर्ष मानी गयी है। ऐतरेय आरण्यक में लिखा है-

शतं वर्षाणि पुरुषायुषो भवति। (ऐ.आर. २१२९)

अर्थात् पुरुष की सामान्य आयु एक सौ वर्ष होती है। अन्यत्र भी इसी प्रकार का भाव वैदिक ग्रन्थों में उपल ध है-

शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्यः (मैत्रायणी संहिता १६.४)

शतायुः पुरुषः शतेन्द्रियः (तै. संहिता २.३.११५)

माध्यन्दिन यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का द्वितीय मन्त्र है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

अर्थात् मनुष्य कर्म करते हुए सक्रिय सबल स्वस्थ्य रहकर ही एक सौ वर्ष पर्यन्त जीवन की कामना करे। यहाँ एक सौ वर्ष से तात्पर्य औसत रूप में एक सौ वर्ष है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि एक सौ वर्ष से अधिक जीवन नहीं है, क्योंकि मन्त्रों में कहा भी है-

भूयश्च शरदः शतात्। (माध्यन्दिन यजु. ३६.४)

माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है-

अपि हि भूयांसि शताद् वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति।

(मा. शतपथ १९.३.१९)

सम्प्रति भारतवर्ष में औसत आयु ६५ वर्षः– भारतवर्ष में इस समय मनुष्यों की आयु औसत रूप में केवल ६५ वर्ष मानी गई है, जबकि संयुक्त राष्ट्र के विश्व स्वास्थ्य संगठन के १९९५ के आँकड़ों के हिसाब से अमेरिका, यूरोप तथा जापान प्रभृति विकसित देशों के मनुष्यों की औसत आयु ७५ वर्ष तक मानी गयी है। इन देशों में पौष्टिक भोजन एवं आम चिकित्सा सुविधाओं की अच्छी व्यवस्था होने से ऐसा है।

अफ्रीकी महाद्वीप के कई देशों जैसे- सोमालिया, इथियोपिया, युगाण्डा आदि में तो औसत आयु मात्र ४० वर्ष ही मानी गई है। इन देशों में अधिक गरीबी, कुपोषण के साथ ही चिकित्सा व्यवस्था की जर्जर स्थिति होने से मृत्यु दर भी अधिक है, अतः औसत आयु बहुत कम है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अभी विश्व में वेद प्रतिपादित एक सौ वर्ष की औसत आयु कहीं भी परिलक्षित नहीं हो पा रही है।

'जरा' ही देवहित-आयु हैः- वास्तव में पूर्ण आयुष्य अर्थात् कम-से-कम एक सौ वर्ष की आयु के साथ ही स्वस्थ निरोग रहते हुए वृद्धावस्था के द्वारा मृत्यु को प्राप्त करना ही 'देवहित-आयु' की प्राप्ति है। रोग द्वारा अल्प समय में मृत्यु या दुर्घटना आदि के द्वारा आकस्मिक-मृत्यु की प्राप्ति का अभाव तथा पूर्ण निरोग रहते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त कर मृत्यु की प्राप्ति की स्थिति का नाम ही देवहित-आयु की प्राप्ति है। इस सम्बन्ध में वैदिक ग्रन्थों के निम्न प्रमाण द्रष्टव्य हैं-

जरा वै देवहितम्-आयुः। (मैत्रायणी. १.७.५)

यही वाक्य काठक संहिता तथा कपिष्ठल कठसंहिता में भी प्राप्त होता है। जैसे-

जरा वै देवहितमायुः (काठक संहिता ९.२) तथा (कपिष्ठल कठ संहिता ८.५)

अभीष्ट आयु एवं आरोग्य प्राप्ति के लिए यज्ञः– श्रीमद्भगवतगीता में लिखा है-

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्।।

(श्रीमद्भगवद्. ३.१०)

अर्थात् यज्ञ की रचना के साथ ही प्रजापति का यह निर्देश भी हुआ कि जो मनुष्य निरन्तर यज्ञ का अनुष्ठान करता है, वह अभीष्ट कामनाओं को निरन्तर प्राप्त करता रहता है। अभीष्ट एवं यथाकाम आयु की प्राप्ति में यज्ञ सहायक होता है। अथर्ववेद में इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र द्रष्टव्य है-

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।

यं भेषजस्य गुग्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते।।

(अथर्ववेद १९.३८.१)

अर्थात् जो अग्नि होम में गुग्गुल का प्रयोग करता है, उसे क्षय आदि रोग नहीं होता।

चिकित्साशास्त्रों में जहाँ विविध रोगों के निवारण के लिए विविध प्रकार की औषधियों एवं उनके द्वारा चिकित्सा करते हुए रोगों से मुक्ति का उल्लेख है, वहीं इष्टियों एवं यज्ञों के सम्पादन का भी सङ्केत करते हुए इनके माध्यम से मनुष्य को निरोग होने तथा उसकी आयु में वृद्धि का उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे-

प्रयुक्तया यया चेष्ट्या राजयक्ष्मा पुरा जितः।

तां वेदविहिताम् इष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत्।।

(चरक चिकित्सा स्थान ८.१२१)

जो लोग यज्ञ नहीं करते, उनका चिन्तन, मनन याज्ञिकों के समान सा िवक नहीं हो पाता तथा वे सदाचार की ओर भी उन्मुख नहीं हो पाते। दुराचारी एवं अधर्मात्मा व्यक्ति की आयु भी अल्प सम्भावित है, अतः महाभारत में भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से कहा है-

अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः।

(अनुशासन पर्व....)

जबकि चरित्रवान् एवं धार्मिक याज्ञिक प्रकृति के लोगों के बारे में वे कहते हैं-

'शतं वर्षाणि जीवति' वे स्वस्थ, सबली एवं निरोग होकर पूर्ण एक सौ वर्ष की आयु प्राप्त कर जरावस्था के द्वारा मृत्यु को प्राप्त करते हैं। यही वेद प्रतिपादित 'देवहित-आयु' भी है।

दीर्घ सन्ध्या से दीर्घ आयुः– मनुस्मृति के चतुर्थ अध्याय में लिखा है कि ऋषियों ने दीर्घकाल तक दीर्घ सन्ध्या एवं गायत्री जप के द्वारा दीर्घायु प्राप्त किया-

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।

प्रज्ञां यशश्च कीर्तिंच ब्रह्मवर्चसमेव च।।

(मनु. ४.९४)

अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र (१९.७१.१) से भी सङ्केत मिलता है कि गायत्री-जप से आयु, प्राण, कीर्ति आदि की प्राप्ति में वृद्धि होती है।

पञ्चमहायज्ञों में नृयज्ञ अर्थात् अतिथियज्ञ या घर में आये हुए विद्वान् सदाचार सफल अतिथि की पूजा का विधान भी 'यज्ञ' श द से बोध्य है। 'यज्ञ' का अर्थ बहुत व्यापक है। 'यज्ञ' श द पञ्चमहायज्ञों का वाचक है। इसका अर्थ केवल देवयज्ञ या अग्निहोत्र ही नहीं है। ब्रह्मयज्ञ अर्थात् सन्ध्या तथा अतिथि यज्ञ आदि भी यज्ञ में अन्तर्भूत है। इसी कारण विद्वान् अतिथि के प्रति नमन या सत्कार मात्र से तथा उनके द्वारा प्रयुक्त आशीर्वचन मात्र से भी मनुष्य की आयु की वृद्धि सम्भावित है। इसी कारण मनुस्मृति में कहा है-

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्।।

-मनुस्मृति २.११२

अस्तु! कुछ भी हो, वास्तव में 'देवहित-आयु' अर्थात् यज्ञमय जीवन का निर्माण करते हुए समस्त इन्द्रियों से स्वस्थ, सबल सक्रिय रहते हुए कम-से-कम ११६ वर्ष जीवन बिताकर जरावस्था द्वारा मृत्यु की प्राप्ति हो- हम इस वैदिक भावना को हृदयङ्गम कर सकते हैं। वेद ने हमें सङ्केतों में ही इसका उपदेश कर दिया है। हम वेद के इन सन्देशों को ठीक तरह से समझें तथा जीवन में क्रियान्वित करें तो निश्चय ही सार्थकता को प्राप्त कर सकते हैं। वेदमन्त्रों के उपदेश हमें जीवन की सफलता एवं उसके उद्देश्य के प्रति निरन्तर प्रेरित करते हैं।

बी-२९, आनन्द नगर, जेल रोड, रायबरेली-२२९००१ (उ.प्र.)

चलभाष– ०९४५१०७४१२३

स्तुता मया वरदा वेदमाता-९

MAY 20, 2015 1 COMMENT

सांमनस्य सूक्त के दूसरे मन्त्र में प्रथमशब्द था-अनुव्रत, जिसका अभिप्राय सन्तान का पिता के अनुकूल आचरण वाला होना है। इस मन्त्र में घर की सुख-शान्ति के लिए परिवार के सभी सदस्यों का सहज होना आवश्यक है। जहाँ सन्तान का पिता के अनुकूल आचरण वाला होना कहा है, वहीं पर सन्तान के माता के साथ कैसा व्यवहार हो, इसके लिये कहा गया है- माता भवतु संमना अर्थात् सन्तान का मन भी माता के अनुसार होना चाहिए। सन्तान के व्यवहार होना कहा गया है। यहाँ शंका हो सकती है कि माता-पिता का व्यवहार क्यों नहीं सन्तान के अनुकूल होना चाहिए? इसका उत्तर है- सामान्य रूप से माता-पिता का व्यवहार सन्तान के साथ प्रेमयुक्त और हितकारी होता ही है। व्यवहार के बनने-बिगड़ने की सम्भावना तो सन्तान के व्यवहार की है। घर में सन्तान के मन में यह भाव रहना आवश्यक है कि उनके माता-पिता, उनसे प्रेम करते हैं और उनका भला चाहते हैं। घर में बच्चों का मन अपने बड़े-छोटे भाई-बहनों के साथ होने वाले व्यवहार से प्रभावित होता रहता है। माता-पिता कभी छोटों को अधिक स्नेह करते दीखते हैं, तो कभी बड़ों को अधिक मह   व देते हैं। इससे साथ के बच्चों में प्रतिकूल प्रभाव होने की सम्भावना सदा ही बनी रहती है, यही अतः सन्तानों का माता-पिता से और परस्पर सम्बन्ध ठीक बना रहे, यही इस मन्त्र का विशेष भाव है।

बच्चों के व्यवहार के सामान्य बने रहने का एक मह   वपूर्ण बिन्दु है-पति-पत्नी के मध्य का व्यवहार। यही बच्चों के लिए आदर्श भी होता है और प्रेरक भी। माता-पिता जैसे परस्पर बोलते, व्यवहार करते हैं, वैसा ही बच्चे करते हैं, इसलिए मन्त्र में कहा गया है- जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु। अर्थात् पत्नी मधुर वाणी का व्यवहार करे। यदि परस्पर व्यवहार की भाषा कठोर होगी तो बच्चे भी वैसा ही सीखेंगे।

एक बार दिल्ली के बस अड्डे पर एक व्यक्ति अपना सामान एक बस से उतार कर दूसरी बस में ले जाना चाहता था। वह पहले कुछ सामान और अपनी तीन-चार साल की बच्ची को सामान के पास खड़ी कर पुनः शेष सामान व पत्नी को लेने बस की ओर बढ़ा, तो बच्ची ने अपनी बात कहते हुए पिता से कहा- पापा आपमें तो अक्ल ही नहीं है! यह बात इतने ऊँचे स्वर से कही गई थी कि पास खड़े यात्रियों का ध्यान उस पिता-पुत्री की ओर जाना स्वाभाविक था। बच्ची के पिता ने कुछ लज्जा का अनुभव करते हुए बच्ची को डाँटना चाहा तो मैंने उस व्यक्ति से कहा- भाई साहब, यह दोष बच्ची का नहीं है। आपकी पत्नी, आपको इतने मधुर सम्बोधन से पुकारती होगी, वही तो बच्ची कर रही है। आप उसे व्यर्थ ही डाँट रहे हैं। इसलिए बच्चों पर अच्छा प्रभाव डालने के लिए घर के वातावरण का अच्छा होना आवश्यक है।

मन्त्र में पत्नी को मधुमतीं वाचम्– मधुर वाणी बोलने के लिये कहा गया है, वहीं ऋषि दयानन्द संस्कार विधि के गृहाश्रम प्रकरण में इस मन्त्र का अर्थ करते हुए शान्तिवान् का अर्थ करते हैं- पति को भी पत्नी की बात शान्त भाव से सुननी चाहिए। सामान्य रूप से घर में एक ही बात बहुत बार कही-सुनी जाती है, इस कारण सुनने वाले को उससे आक्रोश आने लगता है। आक्रोश से सामने वाला भी आक्रोश में आ जाता है। जब कोई काम पत्नी या बच्चों के द्वारा बार-बार किया जाता है और घर के स्वामी को वह पसन्द नहीं है, तब आक्रोश, क्रोध, तनाव की स्थिति बनती जाती है।

घर में बच्चे भी अपने बारे में बार-बार टिप्पणियाँ सुनना पसन्द नहीं करते। माता-पिता इस बात पर ध्यान नहीं देते और बच्चों में प्रतिक्रिया होने लगती है। बच्चे या तो ऐसे माता-पिता से भयभीत होने लगते हैं, उनसे बचते हैं, उनसे संवाद स्थापित नहीं करना चाहते अथवा धृष्टता से उस कार्य को बार-बार करना चाहते हैं। ये दोनों ही परिस्थितियाँ घर के वातावरण को तनावपूर्ण बनाने के कारण बनती हैं। विशेष कर बच्चे अपने साथी या अतिथि के सामने डाँट या टिप्पणी सुनना नहीं चाहते। माता-पिता कि इस बात पर बच्चों के मन में कुण्ठा बनने लगती है, अतः घरेलू परिस्थितियों को सहज सामान्य रखने की नितान्त आवश्यकता है। वेद जहाँ पत्नी के लिए मधुर वाणी बोलने की बात करता है, वहीं पति को पत्नी की बात शान्तिपूर्वक सुनने का निर्देश करता है।

विवाह संस्कार में भी घर के वातावरण को अच्छा रखने के लिए सुनने का निर्देश दिया गया है- मम वाचं एकमना जुषस्व। यह मन्त्र दोनों द्वारा बोला जाता है। दोनों परस्पर कह रहे हैं- तुम मेरी बात को एकाग्र मन से सुनो। एकाग्रता से सुनने पर बात समझ में आती है, देर तक स्मरण रहती है और बात करने वाले के मन में सन्तुष्टि भी होती है, अतः मन्त्र में सन्तान को माता-पिता के अनुकूल आचरण वाला, पति-पत्नी को एक दूसरे की बात को शान्ति से सुनने वाला और मधुर वाणी बोलने वाला बनने के लिए कहा गया है।

ओ३म् वह सबका स्वामी है। रामनिवास गुणग्राहक

MAY 16, 2015 LEAVE A COMMENT

ओं हिरण्य गर्भः समवत्र्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽ आसीत्।
स्दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।
जो स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करने हारे सूर्य-चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं। जो उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का प्रसिद्ध स्वामी एक ही चेतन स्वरूप था। जो सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व वर्तमान था। सो इस भूमि और सूर्यादि को धारण कर रहा है। हम लोग उस सुख स्वरूप, शुद्ध परमात्मा के लिए ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अति प्रेम से विशेष भक्ति किया करें। (ऋषि भाष्य)
परमात्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप तो है ही साथ ही वह संसार के समस्त प्रकाश करने वाले सूर्य चन्द्रमा आदि लोकों को धारण भी कर रहा है। यजुर्वेद का बड़ा सर्वज्ञात मंत्र है- 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्'। उपासक समाधि-अवस्था में परमात्मा को पाकर, उस न्यारे-प्यारे प्रभु का साक्षात्कार करके आनन्द विभोर होकर सहसा कह उठता है- अरे। मैंने पा लिया उसे, उस महान् पुरुष को, जो सारे ब्रह्माण्ड में सुखपूर्वक शयन करता हुआ सब भक्तजनों को सतत् सुख प्रदान कर रहा है। शरीर रूपी पुरी में शयन करने के कारण मुझ जीवात्मा को पुरुष कहा जाता है और वह परम् पुरुष इस अनन्त सी दिखने वाली ब्रह्माण्ड पुरी में शयन कर रहा है। आहा। कैसा है वह? आदित्य वर्ण है। चमक और प्रकाश के लिए हमारे सामने सूर्य से बढ़कर कोई उदाहरण है ही नहीं। वह प्रभु भी आदित्य वर्ण है, सूर्य के समान चमकीला है, प्रकाश स्वरूप है। सुना है कि सूर्य में भी कुछ स्थान प्रकाश रहित है तो क्या परमात्मा भी…….अरे नहीं रे। परमात्मा में तो जितने भी गुण हैं वे सब पूर्णता से हैं। वह परम् पुरुष होने के साथ ही पूर्ण पुरुष भी है। उसका स्वरूप कहीं भी किंचित् भी प्रकाश शून्य नहीं है, वह तमस् अर्थात् अज्ञान-अन्धकार से नितान्त परे है। वह तो पूर्ण प्रकाशस्वरूप है, उसके प्रकाश की तुलना या उपमा संसार के किसी प्रकाशमान पदार्थ से नहीं की जा

सकती। ऋग्वेद में कहा है-'इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिः आगात् चित्रः प्रकेतो' (१-११३-१), 'इदं ज्योतिषाम् श्रेष्ठं ज्योतिः'= संसार में प्रकाश करने वाले इन समस्त प्रकाशकों में वह परमात्मा अतीव प्रकाशस्वरूप है। उस परम् प्रकाश प्रभु को, चित्रः प्रकेतः आगात् = अद्भुत प्रज्ञा व पुरुषार्थसम्पन्न पुरुष ही प्राप्त कर सकता है। कठोपनिषद् का ऋषि भी उद्घोष कर रहा है कि सूर्य चन्द्रमा व विद्युत की चमक भी उसकी चमक, उसके प्रकाश के सामने कुछ नहीं, इस लोक-अग्नि की तो चर्चा ही क्या? वेद बता रहा है कि विलक्षण गुण, कर्म स्वभाव वाला, अद्भुत प्रज्ञा (बुद्धि) और पुरुषार्थ (कार्य-व्यवहार) वाला धर्मनिष्ठ विद्वान् ही उस परमप्रकाश स्वरूप प्रभु को प्राप्त कर सकता है। समाधि-प्राप्त साधक ही- 'वेदाहमेतं पुरूषं महान्तं' कह सकता है। उसी की आत्मज्योति तप-साधना के द्वारा इतनी सक्षम व समर्थ हो सकती है जो उस परम् ज्योति का साक्षात् कर सके।

निर्धन-अभावग्रस्त व्यक्ति को एकाएक अपार धनराशि मिल जाए तो वह उसे सम्भाल नहीं पाता हमारी आँखों को देखने के लिए प्रकाश चाहिए, वह प्रकाश कम होगा तो असुविधा होगी लेकिन बहुत अधिक हो तो आँखें चुँधिया जाती हैं। बिजली चमकती है तो हमारी आँखंे स्वतः बन्द हो जाती है। ज्येष्ठ मास में दोपहर एक बजे कड़क-तेज धूप हो तो प्रायः सभी को धूप के काले चश्मे का सहारा लेना पड़ता है। स्पष्ट है कि हमारी सामथ्र्य जितनी होगी हम उतने ही किसी गुण या वस्तु का लाभ उठा सकते हैं। इसीलिए वेद बताता है कि उस परम् प्रकाशस्वरूप प्रभु को अद्भुत गुण सम्पन्न साधक जो तप-साधना के द्वारा अपना सामथ्र्य उतना बढ़ा लेते हंै, वे ही प्राप्त कर सकते हैं। तप के बारे में ऋषि कहते हैं- 'कायेन्द्रिय सिद्धिऽशुद्धि क्षयात् तपसः' (यो.२-५३) शरीर व इन्द्रियों की अशुद्धियों को नष्ट करके इन्हें साधना के योग्य बनाना ही तप है। 'तपति दुःखी भवति, तप्यते समर्थो वा भवति येन तत् तपः' अर्थात तप करने वाला प्रथम तप के कारण दुःखी होता है और आगे चलकर वह इस तप से प्रभु प्राप्ति का सामथ्र्य तक पा लेता है। प्रसंगवश अत्यन्त उपयोगी समझते हुए यहाँ तप का स्वरूप भी बतना उपयोगी रहेगा क्योंकि तप के बारे में हमारे देश में बहुत भ्रान्तियाँ पनप रही हैं। आज हम किसी भी जटाधारी, राख लपेटे हुए निरक्षर भट्टाचार्य पाखण्डी को देखकर उसे तपस्वी समझ बैठते हैं और उसकी सेवा को धर्म मानते हैं। हमारे ऋषि लिखते हैं- 'सत्यं तपो दमस्तपः स्वाध्याय स्तपः (तैत्तÛ)' अर्थात् सत्य बोलना, सत्याचरण करना तप है। मन-इन्द्रियों का दमन करना तप है तथा वेद आदि सद्ग्रन्थों का श्रद्धापूर्वक नित्य पढ़ना तप है। महर्षि मनु के शब्दों में- 'वेदाभ्यासहि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते' (२-१४१) अर्थात् वेद को स्वीकार करना, वेदमंत्रों पर चिन्तन-मनन और विचार करना, वेदपाठ करना, वेदमंत्रों का जाप करना तथा वेद का प्रचार-प्रसार करना, उपदेश करना- इन सब को मिलाकर वेदाभ्यास कहते हंै और इन पाँचों कर्मों में लगे रहने को महर्षि मनु परम् तप मानते हैं। योगदर्शन सूत्र २-२३ के भाष्य में महर्षि व्यास लिखते हैं- 'तपो द्वन्द्व सहनम्'- अर्थात् अपने कत्र्तव्य कर्म को करते हुए सर्दी-गर्मी, धूप-छाँव, सुख-दुःख, मान-अपमान, लाभ-हानि, सफलता-असफलता, राग-द्वेष आदि से विचलित हुए बिना लगे रहना, कत्र्तव्य कर्म करते रहना ही तप कहलाता है। ऐसे तप करने वाले को ही परमात्मा के प्रकाश स्वरूप का साक्षात् होता है। स्वप्रकाश स्वरूप परमात्मा ही प्रकाश करने हारे सूर्य-चन्द्रमा आदि को धारण कर रहा है। इसी मंत्र में आगे चल कर 'सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां' बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है- 'सो परमात्मा इस पृथ्वी और सूर्यादि को धारण कर रहा है। ऋषि ने स्तुति प्रार्थनोपासना के पाँचवे मंत्र में इस बात को दो बार कहा है। ऋषि ने स्तुति प्रार्थनोपासना के लिए जिन मंत्रों का चयन किया है, उनमें परमात्मा को इस सारे ब्रह्माण्ड का निर्माता, संचालक और स्वामी

सिद्ध करने का भूरिशः प्रयास किया गया है। इन मंत्रों का अर्थ सहित नित्य पाठ करने से कम से कम मेरे मन-मस्तिष्क पर तो यह प्रभाव पड़ा है कि मैं स्वयं को सदैव परमात्मा की निगरानी और नियंत्रण में अनुभव करता हूँ और ऐसी अनुभूति मुझे निर्भय और निर्दोष बनाने में बहुत सहायक है। पाठक स्वस्थ चित्त से विचार करें कि संध्या में आये अघमर्षण मंत्रों में परमात्मा को इस विश्व ब्रह्माण्ड का रचयिता और नियन्ता ही सिद्ध किया है। परमात्मा ने अपने ऋत ज्ञान और सत्रूप प्रकृति से तप पूर्वक इस ब्रह्माण्ड को बनाया। उसी ने सूर्य को बनाया और उसी ने दिन रात आदि को बनाकर इस निर्मित ब्रह्माण्ड को स्वाभाविक रूप से अपने नियंत्रण में किया हुआ है। तीसरे मंत्र में केवल यही प्रकट किया है कि परमात्मा ने सूर्य चन्द्र आदि विश्व को जैसे अब बनाया है वैसे ही पूर्व कल्प में बनाया था और ऐसा ही आगामी कल्पों में बनाएगा। इन तीन मंत्रों को महर्षि ने अघमर्षण नाम दिया है। वेद कहता है- 'ऋतस्य धीतिर्वृजनानि हन्ति' (ऋ 4.23.8) अर्थात् ऋत के धारण करने, ध्यान करने और चिन्तन-मनन करने से हमारी पाप वासनाएँ नष्ट होती हैं। अर्थात् परमात्मा द्वारा इस सृष्टि के बनाने और चलाने का वर्णन जहाँ भी आया है, जिन मंत्रों में ऐसा वर्णन है, उनके ध्यान और चिन्तन से हमारे अन्दर की पाप वृत्ति नष्ट होती है।

सत्य सनातन वैदिक धर्म आज की आवश्यकता- 'रामनिवास गुणग्राहक', वैदिक प्रवक्ता सम्पर्क- 07597894991

MAY 15, 2015 LEAVE A COMMENT

धर्म शब्द इतने व्यापक अर्थोें वाला है कि संस्कृत व अन्य किसी भाषा में इसका पर्यायवाची शब्द नहीं मिलता। मानव जीवन के लिए धर्म की उपयोगिता प्रकट करते हुए ऋषिवर कणाद वैशेषिक दर्शन में लिखते हैं- 'यतोऽभ्युदय निः श्रेयससिद्धि स धर्मः।(1.1.4) अर्थात् जिससे मनुष्य का यह लोक और परलोक दानों सुखद, शान्ति प्रद और कल्याणमय हों तथा मोक्ष की प्राप्ति हो, उसे धर्म कहते है। मीमांसा की भाषा में बात करें तो 'यथा य एव' श्रेयस्करः स धर्मः शब्देन् उच्यते' अर्थात मनुष्य मात्र के लिए जो भी कुछ श्रेयस्कर है, कल्याण प्रद है- वह धर्म शब्द से जाना जाता है। हमारे दर्शनकार ऋषियों के अनुसार धर्म मनुष्य के लिए एक अक्षय सुख, शान्ति व मोक्ष-आनन्द का देने वाला है धर्म की महत्ता और मानव जीवन के लिए उपयोगिता जान लेने के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर वह धर्म है क्या? मनुष्य का समग्र हित करने वाले धर्म का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का उत्तर भी हम ऋषियों से ही पूछें तो अधिक उत्तम होगा? महर्षि मनु महाराज की मान्यता है- 'वेदोऽखिलो धर्म मूलम्' अर्थात् सम्पूर्ण वेद ही धर्म का मूल है इसे और स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं 'वेद प्रतिपादितों धर्मः अधर्मस्तविपर्ययः' – अर्थात् जिस-जिस कर्म को करने की वेद आज्ञा देते हैं, वह-वह कर्म ही धर्म है, इसके विपरीत अधर्म है। महर्षि मनु के ये दोनों वचन बड़ी स्पष्ट घोषणा करते हैं कि ईश्वर की वेदाज्ञा का श्रद्धा और निष्ठा पूर्णक पालन करना ही वह सच्चा धर्म है।

जब संसार में ऐ मात्र वेदमत ही था, सब वेद धर्म को मानने वाले थे, तो क्या सबका जीवन सुख समृद्धि से परिपूर्ण था? ऋषि दयानन्द लिखते हैं- 'सृष्टि से ले के पाँच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एक मात्र राज्य था।''

अन्यत्र ऋषि लिखते हैं- ''स्वायंभुव राजा से लेकर पाण्डव पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा है।'' महाभाारत के युद्ध से पूर्व सर्वत्र वेद धर्म का बोलबाला था, वेद धर्म का पालन करने के कारण भारत का एक ओर भूगोल भर में चक्रवर्ती राज्य था, तो दूसरी ओर भारत को 'विश्व गुरु' और 'सोने की चिड़िया' जैसे गौरव पूर्ण सम्बोधनों के साथ पुकारा जाता था। भारत का वह प्राचीन गौरव, वह चक्रवर्ती राज्य आज हमारे लिए एक सुहाने सपने जैसा लगता है। प्रत्येक भारतवासी का हृदय चाहता है कि हमारे प्यारे राष्ट्र को वह गौरव पुनः प्राप्त हो जाए। हाँ, हाँ- हो सकता है, क्यों नहीं हो सकता? अगर हम उन्हीं वैदिक आदर्शों की जीवन के धरातल पर स्वीकार कर लें, ऋषियों के बताए हुए उसी वैदिक धर्म को अपने जीवन का आधार बना लें, तो कोई कारण नहीं कि हमें वह गौरव प्राप्त न हो। धर्म के सम्बन्ध में हमसे जो थोड़ी सी भूल महाभारत के बाद हो गई थी, उसे सुधार लें, तो भारत पुनः 'विश्व गुरू' और 'सोनेे की चिड़िया' बनकर अपने खोए हुए गौरव को पा सकता है। कितने भाग्यवान होंगे वे विवेकशील सज्जन, जो धर्म के नाम पर फैल चुकी अधार्मिक प्रवृतियों से ऊपर उठकर परमात्मा की वेद वाणी पर श्रद्धा टिकाते हुए युग परिवर्तनकारी अभियान में सक्रिय भूमिका निभाएँगे? महानुभावो। हम ऋषियों की सन्तान हैं, हमारे रोम-रोम में गौतम, कपिल कणाद और पतंजलि का तप, तेज और स्वाभिमान हिलोरें ले रहा है। उनकी तपः साधना से प्राप्त पावन प्रज्ञा से प्रसूत अथाह ज्ञान राशि आज भी हमारी प्रतीक्षा कर रही है कि हम उसे जीवन का अंग बनाकर उनकी तपस्या को सार्थक करें। उन ऋषियों ने ये अमूल्य ग्रन्थ हमारे कल्याण की भावना लेकर ही लिखे थे।

धर्म को लेकर कई बार हम बड़े गौरव के साथ कहते हैं कि हमारा धर्म सनातन धर्म है। हम सनातन का अर्थ समझ लें- काल वाचक तीन शब्द हैं। अधुनातन अर्थात् वर्तमान काल से या नवीन, दूसरा पुरातन अर्थात् प्राचीन काल से या पुराना और तीसरा है सनातन अर्थात् प्रारम्भ से या नित्य। जब हम सनातन धर्म कहते हैं तो इसका अर्थ होता है, प्रारम्भ में चलें आने वाला नित्य धर्म। और वह नित्य धर्म वेद ही हो सकता है, क्योंकि वह सृष्टि के प्रारम्भ से ही चला आ रहा है। धर्म के नाम पर वर्तमान में जो कुछ चल रहा है, वह माहभारत के युद्ध के बाद वेद विद्या के लोप हो जाने के बाद पैदा हुआ है। यह पुरातन तो हो सकता है सनातन नहीं हो सकता। सनातन तो वही है, जो वेदों में कहा है, सनातन तो वही है जो महर्षि मनु से लेकर याज्ञवल्य, गौतम, कपिल, कणाद व व्यास ने अपने ग्रन्थों में लिखा है।

ऋषि महर्षियों के बताए वेद धर्म को त्यागकर, सनातन धर्म के स्थान पर पुरातन प्रवृतियों को धर्म के रूप में स्वीकार करके आज हमारी क्या स्थिति हो गई है? धर्म के नाम पर पिछले कुछ वर्षों से जो कुछ देखने और सुनने को मिल रहा है, देश के विभिन्न क्षेत्रों से हमारे आधुनिक धर्माचार्यों की जो लीलाएँ देखने को मिल रही हैं, क्या उन सबको हम अपने सत्य सनातन धर्म का अंग मान सकते है? हमारे धार्मिक स्थलों का जो नैतिकक्षरण हो रहा है, भगवा वस्त्रों की गरिमा जिस ढंग से नीलाम की जा रही है, क्या यह हमारे सत्य सनातन धर्म के साथ मेल खाती है? धर्म दिखावे की वस्तु नहीं है। धर्म के नाम पर वर्तमान में हमारे धर्मस्थलों व धार्मिक आयोजनों में जो कुछ हो रहा है, यदि वही सनातन धर्म है, तो अधर्म की परिभाषा क्या होगी?

आज ज्ञान-विज्ञान का युग है, आज के युग में धर्म के नाम पर वह सब कुछ नहीं चल सकता जो पिछले हजारों वर्षों से चला आ रहा है। आज धर्म के सम्बन्ध में उठने वाले प्रश्नों को हम धर्म में 'अकल का दखल' नही होना चाहिए, कह कर नहीं टाल सकते। टालें भी क्यों? हमारे ऋषियों ने हमें धर्म ज्ञान के साथ यह भी सिखाया है- तर्क प्रमाणाभ्यां वस्तु सिद्धिः न

तु संकल्प मात्रेण' अर्थात् किसी वस्तु की सिद्धि तर्क और प्रमाणों से ही जाती है, संकल्प मात्र से नहीं। धर्म के सम्बन्ध में उठने वाले प्रश्नों के उत्तर हमें तर्क और प्रमाणों सहित देने होंगे।

की पूजा उपासना के अधिकार तक में सबको समान मानने वाला धर्म ही विश्व धर्म हो सकता है।

विश्वयापी भ्रातृभावः- सबको समान मानने के बाद दूसरी बात आती है कि सबाके अपना मानकर चलें। ऐसा धर्म जो विश्व के मानव मात्र को जापित, नस्ल तथा लिंग भोद में न बाँटकर सबको अपना समझने के उपदेश दे। मानव-मानव के साथ भाई-भाई जैसार अपनापन बनाने की शिक्षा व उपदेश देने वाला धर्म ही विश्वधर्म बन सकता है। धर्म के नाम पर किसी भी प्रकार का भोद भाव और अपने-पराये की भावना के रंग में रंगाा कोई धर्म विश्वमानव को क्यों कर स्वीकार होगा?

सर्वागींण विकास- विश्वधर्म की तीसरी विशेषता यह होनी चाहिए कि वह मनुष्य की सर्वागींण उन्नति एव समग्र विकास की सैद्धान्तिक रूपरेखा प्रस्तुत करता हो। मानव का शारीरिक विकास, बौद्धिक विकास, आत्मिक विकास, सामाजिक विकास आदि की सम्पूर्ण प्रक्रिया प्रस्तुत कर सकने वाले धर्म को विश्वमानव निःसंकोच होकर उत्साहपूर्वक स्वीकार करेगा ही। सामाजिक संरचना के प्रत्येक क्षेत्र में काम करने वाले डाॅक्टर, वकील, किसान, व्यापारी, व राज काज में लगे विभिन्न लोगों से लेकर श्रमिक तक के सम्पूर्ण जीवन के विकास की व्यवस्था देने वाले धर्म को विश्वधर्म माना जाना समय की माँग है।

वैज्ञानिक आधारः- विश्वधर्म चुने जाने की प्रतिस्पर्धा में विजयी होने वाले धर्म के सम्पूर्ण सिद्धान्त, उसके धार्मिक अनुष्ठान व धर्म सम्बन्धी अवधारणाएँ, मान्यताएँ पूर्णतः वैज्ञानिक होनी चाहिए। धर्म ग्रन्थों का विज्ञान के विरुद्ध होना संसार का सबसे बड़ा मानवीय अभिशाप है। विज्ञान विरुद्ध तथ्यों को धर्म का नाम देकर प्रचारित-प्रसारित करना किन्हीं लोगों के लिए सत्ता पाने या पेट भरने का कुटिल अभियान तो हो सकता है, धर्म नहीं।

वेद पढ़ने वाला कोई भी विवेकशील सज्जन, निष्पक्ष होकर विचार करे तो वह पाएगा कि 1893 में शिकागो के विश्वधर्म सम्मेलन में संसार भर के धर्माचार्यों, दार्शनिकों व वैज्ञानिकों ने विश्व-धर्म की जो चार कसौटी स्वीकार की थीं, उन पर संसार का एक मात्र सत्य सनातन वैदिक धर्म ही पूर्णतः खरा उतरता है।

धर्म कभी हमारे राष्ट्र की सबसे बड़ी शक्ति हुआ करता था, धर्म हमारे सामाजिक व पारिवारिक जीवन को मर्यादित रखता था। आज वही धर्म हमारे राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन से लेकर पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन में बिगाड़ और बिखराव ही पैदा कर रहा है। धर्म की वह पावनता हमें दुबारा लौटानी होगी। धर्म के सच्चे स्वरूप को समझकर उसके अनुसार जीवन बनाना होगा। धर्मशील सज्जनो और देवियो। धार्मिक बनना चाहते हो तो सच्चे धार्मिक बनो। धार्मिक दिखना अलग बात है तथा धार्मिक होना अलग बात है। धार्मिक दिखने, धर्मात्मा होने का दिखावा करने से धर्म का फल नहीं मिलता। असली और नकली धार्मिक को आज सामान्य जनता भी जानती है तो क्या परमात्मा नहीं जानता होगा? उसे धोखा देना सम्भव नहीं है, जो देने की कोशिश कर रहे हैं उन्हें भी समझाओ। धर्म की पावनता को नष्ट करने वालों से कह दो-

दे मुझको मिटा जालिम, मत धर्म मिटा मेरा।
ये धर्म मेरा मेरे ऋषियों की निशानी है।।

सत्य सनातन वैदिक धर्म का सच्चा स्वरूप जानने, वेद एवं वैदिक साहित्य प्राप्त करने के

लिए सम्पर्क करें।

'रामनिवास गुणग्राहक', वैदिक प्रवक्ता सम्पर्क-07597894991

स्तुता मया वरदा वेदमाता-५

APRIL 26, 2015 LEAVE A COMMENT

वेद कहता है हमारे अन्दर एक दूसरे के प्रति चाहना हो। परस्पर अभिलाषा होनी चाहिए। यह जो मानसिक परिस्थित है, इसका मन में विचार होने की भूमिका बन चुकी है, मनुष्य के मन में जब द्वेष नहीं होता, सहानुभूति का भाव किसी के प्रति अनुकूलता का लक्षण है। इस भाव की अधिकता ही अपनेपन को जन्म देती है। अपनापन स्वाभाविकता को बताता है। यदि हमारे मन में किसी के प्रति द्वेष नहीं है तो हम उसके कष्ट को देखकर उसे यह कष्ट क्यों मिल रहा है, इस प्रकार का दुःख उसको नहीं मिलना चाहिए इस प्रकार का विचार मन में आता है। अपनापन दूसरे के प्रति मन में निकटता का भाव उत्पन्न करता है। इस निकटता से उत्पन्न प्रसन्नता का विचार प्रेम को प्रकाशित करता है। समाज में जब कोई हमारे साथ सद्भाव दिखाता है तो हमें भी उसके प्रति सद्भाव प्रदर्शित करने की इच्छा होती है। सद्भाव की अधिकता होने पर दूसरे से उसकी अपेक्षा नहीं रहती, हमें वस्तु अच्छी लगती है। दूसरे व्यक्ति में सम्भव है जो भाव हमारे मन में है, वह न हो, या उतना न हो तब भी हम अपना सम्पूर्ण अपनापन देते हैं तो दूसरे पक्ष से कई बार उसप्रकार की अपेक्षा भी नहीं रहती। वेद कहता है प्रेम की आकांक्षा दोनों ओर से होनी चाहिए। इसलिए मन्त्र कहता है अन्योऽन्यमभिहर्यत– परिवार के सदस्यों में एक दूसरे के हित की चिन्ता होनी चाहिए। हम समुदाय में रहते हुए यदि अपने लाभ या अपने हित की बात ही सोचते हैं, सदा अपनी ही चिन्ता करते हैं तो स्वाभाविक रूप से यह मान लिया जाता है अब आपकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। जब कोई असमर्थ होता है तो उसकी चिन्ता की जाती है, उसके चाहने वाले उसका ध्यान रखते हैं। जब हमें लगता है यह व्यक्ति स्वयं अपना भला कर सकता है, अपना हित साध सकता है तब किसी के लिए उसके विषय में सोचना प्राथमिकता नहीं रहती। और हाँ सब अपना अपना सोचेंगे तो फिर वहाँ कोई दूसरे के बारे में क्यों सोचेगा?

अपने बारे में सोचना अपना हित चाहना बुरी बात नहीं है। यहाँ अनुचित तब होता है जब मनुष्य अपने बारे में सोचता है तब उसे दूसरे की चिन्ता नहीं होती या वह दूसरे की उपेक्षा कर देता है। अपनी चिन्ता करते हुए केवल अपनी ही चिन्ता होती है, दूसरे की चिन्ता नितान्त नहीं होती हैं। जब हम अपने को मुख्य न मानकर दूसरे की चिन्ता करते हैं, ऐसा सभी करते हैं तो सब सब की चिन्ता कर सकते हैं। अपनी चिन्ता में सब सम्मिलित नहीं हो सकते परन्तु एक-एक औरों की चिन्ता करे तो सबको सबकी चिन्ता हो जाती है। यह लाभ सबमें प्रेम भाव होने पर होता है। परिवार में सबको अपने तुल्य हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि की चिन्ता करनी चाहिए। इसी से सबमें परस्पर प्रीति बढ़ती है।

वेद मन्त्र में एक उपमा दी है वत्सं जातमिवाघ्न्या– जैसा एक गाय अपने सद्य जात बछड़े से करती है वेद में जो उपमायें दी गई वे स्वाभाविक हैं। संसार के पदार्थों में, व्यक्तियों के व्यवहार में सदा ही उन्हें देखा जा सकता है। सब उसे अनुभव कर सकते हैं। वेद कहता है हमें गति करनी चाहिए सूर्य और चन्द्र की भाँति। भगवान् ने सृष्टि कैसे बनाई, संसार की रचना कैसे की, वेद कहता है- यथापूर्वमकल्पयत् जैसे प्रत्येक सर्ग में ईश्वर सृष्टि की रचना

करता है उसी प्रकार रचना करता रहेगा। यहाँ भी प्रेम कैसा करना चाहिए जैसे एक गाय अपने सद्य जात बछड़े से करती है। गाय बछड़े से प्रेम करती है परन्तु उसका प्रेम तभी तक रहता है जब तक उसका बछड़ा असमर्थ होता है, अपनी माँ पर निर्भर होता है। जैसे ही बछड़ा बड़ा हो जाता है, गाय में उसप्रकार का प्रेम नहीं रहता। यह उपमा सम्भवतः इस बात को स्पष्ट करने के लिए है जब कोई प्राणी, या मनुष्य समर्थ हो जाता है तब उसके साथ उसप्रकार का सहयोग अपेक्षित नहीं होता। इसलिए प्रेम में केवल भावना नहीं औचित्य भी अपेक्षित है।

इसप्रकार इस मन्त्र में अपने व्यवहार को सुधारने के लिए मनुष्य को, अपने परिवार को प्रसन्न व सुखी रखने के लिए परस्पर द्वेष का न होना, एक दूसरे के सुख-दुःख को स्वात्मवत् समझना। परस्पर प्रसन्नता के लिए यत्न करना और प्रत्येक सदस्य में परिवार के सदस्यों के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने वाला वार्तालाप और व्यवहार करते रहना चाहिए। इसलिए मन्त्र में-

अविद्वेषम् सहृदयम्, सामनस्यम् के साथ अभिहर्यत कहा है।

मृत्यु के बाद आत्मा दूसरा शरीर कितने दिनों के अन्दर धारण करता है? आचार्य सोमदेव जी परोपकारिणी सभा

APRIL 24, 2015 23 COMMENTS

प्रश्न है–मृत्यु के बाद आत्मा दूसरा शरीर कितने दिनों के अन्दर धारण करता है? किन-किन योनियों में प्रवेश करता है? क्या मनुष्य की आत्मा पशु-पक्षियों की योनियों में जन्म लेने के बाद फिर लौट के मनुष्य योनियों में बनने का कितना समय लगता है? आत्मा माता-पिता के द्वारा गर्भधारण करने से शरीर धारण करता है यह मालूम है लेकिन आधुनिक पद्धतियों के द्वारा टेस्ट ट्यूब बेबी, सरोगसि पद्धति, गर्भधारण पद्धति, स्पर्म बैंकिंग पद्धति आदि में आत्मा उतने दिनों तक स्टोर किया जाता है क्या? यह सारा विवरण परोपकारी में बताने का कष्ट करें।

– एन. रणवीर, नलगोंडा, तेलंगाना

समाधान १– मृत्यु के बाद आत्मा कब शरीर धारण करता है, इसका ठीक-ठीक ज्ञान तो परमेश्वर को है। किन्तु जैसा कुछ ज्ञान हमें शास्त्रों से प्राप्त होता है वैसा यहाँ लिखते हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद् में मृत्यु व अन्य शरीर धारण करने का वर्णन मिलता है। वर्तमान शरीर को छोड़कर अन्य शरीर प्राप्ति में कितना समय लगता है, इस विषय में उपनिषद् ने कहा-

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानम्

उपसँ्हरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्य् आत्मानमुपसंहरति।।

– बृ. ४.४.३

जैसे तृण जलायुका (सुंडी=कोई कीड़ा विशेष) तिनके के अन्त पर पहुँच कर, दूसरे तिनके को सहारे के लिए पकड़ लेती है अथवा पकड़ कर अपने आपको खींच लेती है, इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीररूपी तिनके को परे फेंक कर अविद्या को दूर कर, दूसरे शरीर रूपी तिनके का सहारा लेकर अपने आपको खींच लेता है। यहाँ उपनिषद् संकेत कर रहा है कि मृत्यु के बाद दूसरा शरीर प्राप्त होने में इतना ही समय लगता है, जितना कि एक कीड़ा एक तिनके से दूसरे तिनके पर जाता है अर्थात् दूसरा शरीर प्राप्त होने में कुछ ही क्षण लगते हैं, कुछ ही क्षणों में आत्मा दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाता है। आपने पूछा है- आत्मा कितने दिनों में दूसरा शरीर धारण कर लेता है, यहाँ शास्त्र दिनों की बात नहीं कर रहा कुछ क्षण की ही बात कह रहा है।

मृत्यु के विषय में उपनिषद् ने कुछ विस्तार से बताया है, उसका भी हम यहाँ वर्णन करते हैं-

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्यसंमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति।।

– बृ. उ.४.४.१

अर्थात् जब मनुष्य अन्त समय में निर्बलता से मूर्छित-सा हो जाता है, तब आत्मा की चेतना शक्ति जो समस्त बाहर और भीतर की इन्द्रियों में फैली हुई रहती है, उसे सिकोड़ती हुई हृदय में पहुँचती है, जहाँ वह उसकी समस्त शक्ति इकट्ठी हो जाती है। इन शक्तियों के सिकोड़ लेने का इन्द्रियों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका वर्णन करते हैं कि जब आँख से वह चेतनामय शक्ति जिसे यहाँ पर चाक्षुष पुरुष कहा है, वह निकल जाती तब आँखें ज्योति रहित हो जाती है और मनुष्य उस मृत्यु समय किसी को देखने अथवा पहचानने में अयोग्य हो जाता है।

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकी भवति, न जिघ्रतीत्याहुरेकी भवति, न रसयत इत्याहुरेकी भवति, न वदतीत्याहुरेकी भवति, न शृणोतीत्याहुरेकी भवति, न मनुत इत्याहुरेकी भवति, न स्पृशतीत्याहुरेकी भवति, न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति, सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।।

– बृ.उ. ४.४.२

अर्थात् जब वह चेतनामय शक्ति आँख, नाक,जिह्वा, वाणी, श्रोत्र, मन और त्वचा आदि से निकलकर आत्मा में समाविष्ट हो जाती है, तो ऐसे मरने वाले व्यक्ति के पास बैठे हुए लोग कहते हैं कि अब वह यह नहीं देखता, नहीं सूँघता इत्यादि। इस प्रकार इन समस्त शक्तियों को लेकर यह जीव हृदय में पहुँचता है और जब हृदय को छोड़ना चाहता है तो आत्मा की ज्योति से हृदय का अग्रभाग प्रकाशित हो उठता है। तब हृदय से भी उस ज्योति चेतना की शक्ति को लेकर, उसके साथ हृदय से निकल जाता है। हृदय से निकलकर वह जीवन शरीर के किस भाग में से निकला करता है, इस सम्बन्ध में कहते है कि वह आँख, मूर्धा अथवा शरीर के अन्य भागों-कान, नाक और मुँह आदि किसी एक स्थान से निकला करता है। इस प्रकार

शरीर से निकलने वाले जीव के साथ प्राण और समस्त इन्द्रियाँ भी निकल जाया करती हैं। जीव मरते समय 'सविज्ञान' हो जाता है अर्थात् जीवन का सारा खेल इसके सामने आ जाता है। इसप्रकार निकलने वाले जीव के साथ उसका उपार्जित ज्ञान, उसके किये कर्म और पिछले जन्मों के संस्कार, वासना और स्मृति जाया करती है।

इस प्रकार से उपनिषद् ने मृत्यु का वर्णन किया है। अर्थात् जिस शरीर में जीव रह रहा था उस शरीर से पृथक् होना मृत्यु है। उस मृत्यु समय में जीव के साथ उसका सूक्ष्म शरीर भी रहता, सूक्ष्म शरीर भी निकलता है।

आपने पूछा किन-किन योनियों में प्रवेश करता है, इसका उत्तर है जिन-जिन योनियों के कर्म जीव के साथ होते हैं उन-उन योनियों में जीव जाता है। यह वैदिक सिद्धान्त है, यही सिद्धान्त युक्ति तर्क से भी सिद्ध है। इस वेद, शास्त्र, युक्ति, तर्क से सिद्ध सिद्धान्त को भारत में एक सम्प्रदाय रूप में उभर रहा समूह, जो दिखने में हिन्दू किन्तु आदतों से ईसाई, वेदशास्त्र, इतिहास का घोर शत्रु ब्रह्माकुमारी नाम का संगठन है। वह इस शास्त्र प्रतिपादित सिद्धान्त को न मान यह कहता है कि मनुष्य की आत्मा सदा मनुष्य का ही जन्म लेता है, इसी प्रकार अन्य का आत्मा अन्य शरीर में जन्म लेता है। ये ब्रह्माकुमारी समूह यह कहते हुए पूरे कर्म फल सिद्धान्त को ताक पर रख देता है। यह भूल जाता है कि जिसने घोर पाप कर्म किये हैं वह इन पाप कर्मों का फल इस मनुष्य शरीर में भोग ही नहीं सकता, इन पाप कर्मों को भोगने के लिए जीव को अन्य शरीरों में जाना पड़ता है। वेद कहता है-

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

ताँऽस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।

– यजु. ४०.३

इस मन्त्र का भाव यही है कि जो आत्मघाती=घोर पाप कर्म करने वाले जन है वे मरकर घोर अन्धकार युक्त=दुःखयुक्त तिर्यक योनियों को प्राप्त होते हैं। ऐसे-ऐसे वेद के अनेकों मन्त्र हैं जो इस प्रकार के कर्मफल को दर्शाते हैं। किन्तु इन ब्रह्माकुमारी वालों को वेद शास्त्र से कोई लेना-देना नहीं है। ये तो अपनी निराधार काल्पनिक वाग्जाल व भौतिक ऐश्वर्य के द्वारा भोले लोगों को अपने जाल में फँसा अपनी संख्या बढ़ाने में लगे हैं। अस्तु।